द्रव्य और करन्सी

लेखक

कान्ता नाथ गर्ग, एम० ए०, बी० काम०

प्रधान, चम्पा अग्रवाल कालेज, मथुरा

...ार महल इलाहाबाद : बम्बई
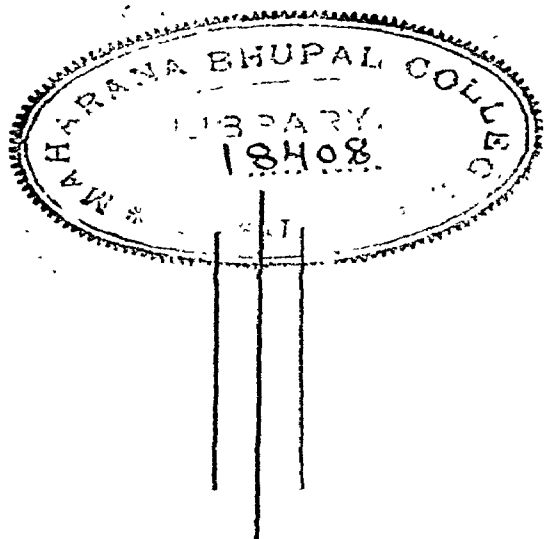
१९५६

मुद्रक—किताब महल ५६ ए० जीरो रोड इलाहाबाद
प्रकाशक—रामसजीवन मिश्र, सजीवन प्रिंटिंग प्रेस, कटरा प्रयाग ।

प्रस्तावना

स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक नागरिक के दायित्व बढ़ गये हैं, अतः देश के सामने जो कुछ भी प्रश्न हैं उन्हें उसे सुलझाना है। हमारे सामाजिक संगठन में द्रव्य का जो महत्व है वह किसी से छिपा नहीं है। अतः, इस सम्बन्ध में ज्ञान सभी के लिये अनिवार्य है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इस विषय पर यथेष्ठ प्रकाश डाला है। आशा है कि इससे विद्यार्थी समाज और जनता दोनों लाभ उठायेगी।

लेखक

विषय सूची

अध्याय

अध्याय १

विषय-प्रवेश

द्रव्य (Money) से तो हम सभी भली प्रकार परिचित हैं। ऐसा कौन व्यक्ति है जो इसके प्रति आकर्षित नहीं होता ! यह सब के लिए अत्यन्त आवश्यक है:—एक बालक इसे मिठाई अथवा चटपटा खरीदने के लिए चाहता है; एक विद्यार्थी इसे अपनी पुस्तकें खरीदने के लिए और स्कूल अथवा कालेज की फीस देने के लिए चाहता है तथा एक गृहस्थ इसे अपनी और अपने कुटुम्बियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चाहता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके विषय में हम सब कुछ जानते । यदि हम ऐसा समझते हैं तो गलती करते हैं। द्रव्य के विषय में ावश्यक बातें न समझ सकने के कारण ही वस्तुओं के मूल्य परिवर्तन वास्तविक कारण भी हम नहीं समझ पाते हैं। हमारे अनेक दुःखों का ा कारण यही है। सच तो यह है कि हम द्रव्य का विषय न तो अच्छी ह से समझ ही पाते हैं और न उस पर अपना प्रभुत्व ही स्थापित कर पाते । "द्रव्य की चाल प्रेम की चाल की भाँति कभी सीधी नहीं रहती।" प्राचीन वर्तमान समय में भिन्न-भिन्न देशों की सरकारों ने विनिमय का एक संतोष-क माध्यम खोज निकालने के अनेक प्रयत्न किए हैं। किन्तु उन्हें इसमें सफलता अभी तक प्राप्त नहीं हुई है।

१. द्रव्य खोजा नहीं गया वरन् स्वयं ही मिल गया है

संसार में एक ऐसा भी समय था जब किसी प्रकार का द्रव्य नहीं था । यूँ कहिये कि वस्तु विनिमय प्रणाली (Barter System) प्रच-ी। किन्तु वह प्रणाली चले हुए बहुत दिन नहीं हो पाये थे कि ी स्वयं ही उत्पत्ति हो गई । वस्तु विनिमय की मुख्य-मुख्य असु-

विधाओं, उदाहरणार्थ आवश्यकता का दोहरा संयोग ढूँढ़ निकालना, वस्तुओं के विनिमय का अनुपात तय करना और विनिमय का कोई एक सर्वमान्य माप न होना, इत्यादि ही के कारण ऐसा हुआ। इससे यह प्रतीत होता है कि द्रव्य का प्रयोग इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिए हुआ। किन्तु यह असत्य है। स्पालिंडग का कथन है कि प्राचीन काल में भी ऐसी अनेक वस्तुयें थीं, उदाहरणार्थ कौड़ी, मूँगा जिन्हें मनुष्य अपनी सामाजिक उन्नति के फल-स्वरूप अपने पास रखना चाहता था। जितनी अधिक मात्रा में ये वस्तुयें उसके पास होती थीं उतना ही अधिक धनाढ्य वह माना जाता था। अतः, चमड़े, पशु तथा प्रयोग की अन्य आवश्यक वस्तुओं का विनिमय एक बहुत बड़े काल तक इन्हीं कौड़ियों और मूँगों, इत्यादि में होता रहा और फिर कुछ समय के पश्चात् यही कौड़ियाँ और मूँगे इत्यादि उनकी आवश्यकता की वस्तुयें प्राप्त करने के लिए प्रयोग में आने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि इन वस्तुओं का प्रयोग शनैः-शनैः जाने बूझे बिना ही विनिमय के माध्यम के रूप में होने लगा और यह बढ़ता ही गया। फिर, यह अन्य काम भी करने लगे जो आज बहुत ही आवश्यक माने जाने लगे हैं।[1]

[1]स्पालिडग का कथन है कि यह बात हम कुछ ऐसी वस्तुयें लेकर समझ सकते हैं जिनका आविष्कार हाल ही में हुआ है। उदाहरण के लिए वाष्प-शक्ति ली जा सकती है। हवा की, पानी की और हाथ की मिलें शताब्दियों से काम करती आ रही थीं। जनता की आवश्यकताओं और उसके कामों की पूर्ति के लिए उस समय के आवागमन के साधन भी यथेष्ट समझे जाते थे। मिल और गाड़ियाँ चलाने के लिए किसी नई वस्तु की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी। किन्तु जब उसका आविष्कार हो गया तब उसके प्रयोग की खोज हुई और जब एक चीज निकल आती है तो उसकी आवश्यकता शीघ्र ही ब[ढ़] जाती है। यहाँ तक कि हम उस पर पूर्णतया निर्भर हो जाते हैं। द्रव्य [के] सम्बन्ध में भी यही बात है। पहिले तो लोग एक चीज को इसलिए विनिम[य] में ले लेते थे कि लोग उसे रखना चाहते थे। किन्तु धीरे-धीरे वह विनिमय [का] माध्यम बन गई और दूसरे कार्य करने लगी और कुछ समयोपरान्त अत्य[न्त] ही आवश्यक बन गई।

२. वस्तु विनिमय (Barter) का अर्थ और उसकी असुविधायें

आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को अधिक आवश्यक वस्तुओं से विनिमय करना वस्तु विनिमय (Barter) कहलाता है। वस्तु विनिमय किस प्रकार आरम्भ हुआ इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। मान लीजिये कि एक व्यक्ति के पास आवश्यकता से अधिक खालें हैं और वह यह देखता है कि उसके पड़ोसी के पास आवश्यकता से अधिक अनाज है। अतः, यदि उसे अनाज की कमी है और उसके पड़ोसी के पास खालों की कमी है तो अनाज और खाल में वस्तु विनिमय हो सकता है। कुछ लेखकों का मत है कि पहिले-पहल वस्तु विनिमय व्यक्तियों के बीच में न होकर समूहों के बीच में हुआ था। जो हो, वस्तु विनिमय में अनेक असुविधायें थीं। प्रथम असुविधा तो दोहरे संयोग का मिलना (Lack of double coincidence) था। इसके यह अर्थ हैं कि एक ही समय में ऐसे दो व्यक्तियों का मिलना कठिन हो जाता था जिनके पास एक दूसरे की चाहती वस्तुयें हों और साथ ही वह उनके पास फालतू हों। उदाहरणतः यदि श्याम को गायों की आवश्यकता है जो राम के पास हैं और राम को घोड़ों की आवश्यता है जो श्याम के पास हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि श्याम के पास फालतू घोड़े हों और राम के पास फालतू गायें हों। हो सकता है कि दो में से कोई भी बात न हो अथवा एक ही बात हो। दोनों बातों का होना तो बहुत ही कठिन है और इसके बिना वस्तु विनिमय नहीं हो सकता। दूसरी असुविधा यह है कि किस दर से वस्तुओं का विनिमय हो। प्रत्येक व्यक्ति के लिये वस्तुओं की उपयोगिता उसके मन के अनुसार होती है। ऊपर के उदाहरण में यदि राम के लिये एक घोड़े का मूल्य गाय है और श्याम के लिये एक गाय का मूल्य दो घोड़े हैं तो वस्तु विनिमय नहीं हो सकता। अतः, वस्तुओं के विनिमय के लिये कोई सर्वमान्य माप होना चाहिये। तीसरी असुविधा वस्तुओं के बाँटने की है। ऊपर के उदाहरण में यदि राम और श्याम दोनो एक गाय का मूल्य दो घोड़े रखें तो एक घोड़ा आधी गाय से बदला जा सकता है, किन्तु

आधी गाय का कोई मूल्य नहीं रह जाता। अतः, वस्तु विनिमय नहीं हो सकता।

३. वस्तु विनिमय सम्भव बनाने वाली दशायें

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु विनिमय किन दशाओं में सम्भव हो सकता है। प्रथम तो यह कि जन संख्या और वस्तु संख्या सीमित हो। ये जितनी सीमित होंगी उतनी ही आसानी से दोहरा संयोग प्राप्त हो सकेगा। आज कल जब जन संख्या बढ़ गई है और साथ ही वस्तुयें भी विभिन्न प्रकार की हो गई हैं, एक दूसरे की आवश्यक वस्तुयें मिलने का संयोग बड़ी कठिनाई से होगा। फिर प्रत्येक वस्तु का मूल्य अन्य सभी वस्तुओं में निर्धारित करना होगा जो असम्भव हो जायगा। हम जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी पसन्द और उपयोगिता की माप होती है। दूसरे, समाज बहुत ही पिछड़ी अवस्था में होना चाहिये। आजकल की स्थिति में जब उत्पादन बड़ी मात्रा में होता है, उपभोग की वस्तुओं का अन्त नहीं है विनिमय अप्रत्यक्ष होता है और विवरण का स्वरूप भी विशिष्ट है वस्तु विनिमय सम्भव नहीं है।

४. द्रव्य का महत्व

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि द्रव्य ने वस्तु विनिमय प्रथा ही समाप्त कर दी है। हमारे देश में ही यह प्रथा गाँवों में तो खूब ही प्रचलित है और साथ ही शहरों में भी स्त्रियाँ अपने फटे पुराने कपड़ों को शीशे और पत्थर की चीजों से बदल लेती हैं। यह अवश्य है कि यह प्रथा घटती जा रही है। यदि हम बाह्य व्यापार लें तो उसमें भी आयात (Imports) का मूल्य निर्यात (Export) से अदा किया जाता है। सारा भुगतान सोने और चाँदी में जो द्रव्य की तरह काम करते हैं नहीं हो सकता। किसी देश के पास इतना सोना, चाँदी हो ही नहीं सकता कि वह अपने आयात का भुगतान उन्हीं में करे। आजकल तो आयात के भुगतान में सोना, चाँदी दिया ही नहीं जाता। सन् १९१४-१८ के युद्ध के पश्चात् सोना कुछ ही देशों में इकट्ठा हो गया था। अतः,

अन्य देशों के पास उसकी कमी हो गई और उन्होंने भुगतान में इसका देना बन्द कर दिया। जिन देशों के पास अधिक सोना था उन्होंने भी यही किया। उदाहरण के लिये संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार ने भी अपने आयात के भुगतान में सोना न देने के ध्येय से सन् १९३० में हाउले स्मूठ टैरिफ़ एक्ट द्वारा आयातों पर बड़े-बड़े कर लगाकर उन्हें रोक दिया। थोड़े समय में ही इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये अन्य उपाय भी निकल आये जिनमें आयात के लिये लाइसेन्स देना, उनकी सीमा निश्चित कर देना, इत्यादि मुख्य थे। सन् १९३३ में फ्रांस में बारह हजार वस्तुओं के आयात की सीमा निश्चित की जा चुकी थी। बहुत से देशों ने अपने करन्सी के विनिमय पर नियन्त्रण लगा दिया था। इन सब का यह परिणाम हुआ कि बाह्य व्यापार में बड़ी रुकावटें पड़ गईं जिससे व्यापारिक विषमता (Trade Balances) के भुगतान के लिये अन्य प्रबन्ध (Clearing arrangements) करने पड़े। अतः, स्पष्ट है कि अब बाह्य व्यापार केवल वस्तु विनिमय ही रह गया है। हाँ, यह वस्तु विनिमय एक सुधरे ढंग का है। इसमें द्रव्य विनिमय का माध्यम तो नहीं रह गया है, किन्तु मूल्य मापक अवश्य रहता है। देशी व्यापार में भी यही बात है। संसार के उन्नतिशील देशों में क्रय-विक्रय के लिये चालू द्रव्य का प्रयोग बहुत कम होता है। विनिमय की वस्तुओं का द्रव्य में केवल माप हो जाता है। प्रायः माप साखपत्रों पर लिख दिया जाता है अथवा खातों में लिखकर ही बराबर हो जाता है।

५· वर्तमान युग, द्रव्य युग है

पीछे जो कुछ भी कहा गया है उसके साथ ही साथ यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग, द्रव्य युग है। वस्तुओं और कार्यों के मूल्य द्रव्य में ही निर्धारित होते हैं। हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति परोक्ष रूप से करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास किसी न किसी वस्तु अथवा काम का विशिष्टीकरण (Specialisation) है जिसके विनिमय के लिये उसका मूल्य द्रव्य में ही आँका जाता है। हाँ, यह द्रव्य चाहे शारीरिक रूप में अर्थात् विनिमय के माध्यम के तौर पर काम में आये या न आये। अतः, द्रव्य का वर्णन प्रमुख है।

सारांश

१. एक समय था जब द्रव्य प्रचलित नहीं था। बाद में यह प्राप्त हो गया। जो चीज द्रव्य बनी वह पहिले केवल अपने आकर्षण के कारण स्वीकृत होने लगी। धीरे-धीरे वह विनिमय की माध्यम बन गई। फिर, वह अन्य कार्य करने लगी।

२. द्रव्य से वस्तु विनिमय की असुविधायें अर्थात् दोहरे संयोग की आवश्यकता, मूल्यांकन की कमी और विभाजन की कठिनाई दूर हो गई है।

३. वस्तु विनिमय तभी सम्भव हो सकता है जब जन संख्या और वस्तुयें सीमित हों और समाज पिछड़ी अवस्था में हो।

४. किन्तु इससे वस्तु विनिमय प्रथा समाप्त नहीं हुई। गाँवों और शहरों में अब भी यह प्रचलित है। विदेशी व्यापार तो पूर्णतया वस्तु विनिमय प्रथा पर ही निर्भर है। देशी व्यापार में भी द्रव्य का उपयोग विनिमय के माध्यम के लिये कम होता जा रहा है।

५. तो भी हम द्रव्य के युग में तो रह ही रहे हैं। सभी वस्तुयें और सेवायें द्रव्य में आँकी जाती हैं जिससे विशिष्टता व्यापकता का रूप धारण कर लेती है और सारा संसार हमारी सेवा के लिये प्रस्तुत हो जाता है।

प्रश्न

१. "द्रव्य स्वयं ही प्राप्त हो गया; इसकी खोज नहीं की गई", व्याख्या कीजिये।

२. वस्तु विनिमय प्रथा (Barter) क्या है? इसकी असुविधायें समझाइये। यह किस दशा में काम कर सकती है?

३. क्या द्रव्य ने वस्तु विनिमय प्रथा समाप्त कर दी है? यदि नहीं तो वस्तु विनिमय प्रथा की इस समय क्या स्थिति है?

४. "वर्तमान युग द्रव्य युग है।" समझाइये।

अध्याय २

परिभाषा, प्रकृति, कार्य, लाभ तथा हानि

जब हम किसी विषय का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं तब प्रायः हम उसकी परिभाषा देखते हैं। वस्तुतः हम उस समय तक आगे बढ़ ही नहीं सकते जब तक कि हमारी समझ में यह नहीं आ जाता कि उसके अर्थ क्या हैं। द्रव्य को अंग्रेजी में मनी (Money) कहते हैं। मनी (Money) शब्द लैटिन शब्द मोनेटा (Moneta) से निकला है। यह देवी जूनो (Juno) का प्रारम्भिक नाम था। रोम में उसी के मन्दिर में द्रव्य (Money) का मुद्रण होता था। इटली के धर्म ग्रन्थों में जूनो स्वर्गीय देवी समझी जाती थी। अतः यह बात सत्य ही प्रतीत होती है कि द्रव्य के जूनों के मन्दिर में तैयार होने के कारण उसे इसी देवी के नाम के आधार पर मनी कहा जाता था। इसी से टकसाल अर्थात् द्रव्य बनने के स्थान को मिन्ट (Mint) कहा जाता है। लैटिन शब्द मोनेटा (Moneta) जो मुद्रा (Coin) का प्रतीक है मोनियो (Moneo) शब्द से बना है जिसके अर्थ 'बनाना' है और जो खुदाई अथवा मोहर से मूल्य बताता है। कुछ लेखकों का ऐसा मत है कि मनी (Money) शब्द उस प्राचीन आर्थिक दण्ड से निकला है जिसे रोम निवासी पालतू जानवरों के रूप में लिया करते थे। लैटिन शब्द पिक्यूनिया (Pecunia) जो मनी (Money) का पर्यायवाची है ढोर की सम्पत्ति (Property in cattle) के लिये प्रयोग में लाया जाता था और पीकस (Pecus) शब्द से निकला है जिसका अर्थ पालतू जानवर अथवा पालतू जानवरों का एक समूह है। वास्तव में यह पहिले द्रव्य के ही काम में प्रयोग में आते थे। रूम और यूनान में उस समय यही सम्पत्ति थी और यही विनिमय के माध्यम का काम करते थे। (Money) शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है। रह गया उसके अर्थ के

सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि उसके विषय में अभी तक कोई सर्वमान्य मत नहीं है। किन्तु जैसा कि अर्थशास्त्र के अन्य शब्दों के लिए है इसके लिए भी यही है कि जब तक जो अर्थ हम उन्हें देते हैं उन्हीं पर हम डटे रहें तब तक कोई हानि नहीं है। इसके लिए हमें भिन्न-भिन्न विचार वाले लेखकों द्वारा दी हुई इसकी परिभाषायें देखना और उनमें से एक को अपने लिए चुन लेना पड़ेगा।

द्रव्य (Money) की परिभाषा

द्रव्य की परिभाषा के संबंध में तीन विचार धारायें हैं। एक तो वह जिसमें द्रव्य में केवल धात्विक मुद्रा ही आती हैं। दूसरे वह जिसमें विनिमय के सभी माध्यम, उदाहरणार्थ, धात्विक द्रव्य, कागजी नोट, चेक, विनिमय बिल और ड्राफ्ट, इत्यादि आ जाते हैं और तीसरे वह जिसमें केवल धात्विक द्रव्य और वैधानिक रूप से ग्राह्य नोट ही आते हैं। निम्न परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

द्रव्य वह वस्तु है जिसे माल के भुगतान में अथवा व्यापार संबंधी अन्य लेन-देनों के परिशोध में बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में स्वीकृत किया जाता है—राबर्टसन[1]

धात्विक द्रव्य के ही विस्तृत क्षेत्र में स्वीकृत किये जाने के कारण यह परिभाषा प्रथम विचार धारा की द्योतक है।

द्रव्य क्रय शक्ति है—ऐसी चीज जो वस्तुओं के क्रय में काम आती है—कोल[2]

---

1. Money is a commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment for goods or in discharge of other kinds of business obligation—Robertson.

2. Money is purchasing power—something which buys things—Cole.

धात्विक द्रव्य नोटों और साख-पत्रों, उदाहरणार्थ चेकों, विनिमय बिलों और ड्राफ्टों सबों में क्रय-शक्ति होने और उनके वस्तु खरीद सकने के कारण यह परिभाषा दूसरी विचार धारा की द्योतक है।

द्रव्य किसी भी ऐसी चीज को कह सकते हैं जो विनिमय के माध्यम के रूप में किसी हिचकिचाहट के बिना ही हस्तांतरित और ऋण परिशोध के लिए साधारणतः स्वीकृत होती रहती है—एली[३]

द्रव्य में वह सभी वस्तुयें आ जाती हैं जो किसी समय किसी स्थान में किसी हिचकिचाहट के अथवा किसी विशेष जाँच के बिना चीजों और सेवाओं के क्रय के लिए और व्यय के भुगतान के लिए सामान्यतः चालू होती हैं—मार्शल[४]

धात्विक द्रव्य और वैधानिक रूप से ग्राह्य नोटों के ही किसी समय किसी स्थान में सामान्यतः स्वीकृत हो सकने के कारण ये परिभाषायें तीसरी विचार-धारा की द्योतक हैं।

२. करन्सी (Currency) के अर्थ

करन्सी नाम का एक दूसरा शब्द भी है जो प्रायः द्रव्य के स्थान में आता है। किन्तु यह सर्वदा उचित नहीं है। करन्सी की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'करियर' (currere) से है जिसका अर्थ चलना है। अतः केवल धात्विक द्रव्य और वैधानिक रूप से ग्राह्य नोटों के ही चालू होने के कारण उन्हीं को इसमें लाया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि करन्सी द्रव्य का पर्यायवाची तभी है जब हम द्रव्य की कोई ऐसी परिभाषा स्वीकृत करें जो तीसरी विचार-

[३] Money is anything that passes freely afrom hand to hand as a mediun of exchange and is genreally received in final discharge of debts Ely.

[४] Money includes all those things which are (at any time and place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses—Marshall.

धारा की द्योतक है। यदि हम द्रव्य के अर्थ सब प्रकार के विनिमय के माध्यम के लिए लेते हैं तो करन्सी का पता लगाने के लिए हमें उनमें से सब साख-पत्र निकाल देने होंगे। फिर, यदि द्रव्य के अर्थ केवल धात्विक द्रव्य के लिए जाते हैं तो हमें उसमें वैधानिक रूप से ग्राह्य नोट सम्मिलित करने पड़ेंगे।

इस पुस्तक में द्रव्य के अर्थ विनिमय के सब प्रकार के माध्यम से हैं। यदि विद्यार्थी निम्न गुर याद रखेंगे तो उनकी कठिनाई दूर हो जायगी—

द्रव्य = धात्विक द्रव्य + वैधानिकरूप से ग्राह्य नोट + साखपत्र।

करन्सी = धात्विक द्रव्य + वैधानिक रूप से ग्राह्य नोट = द्रव्य—साखपत्र।

३. द्रव्य की प्रकृति (Nature)

जहाँ तक द्रव्य की प्रकृति का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि वह एक ऐसा माध्यम है जिससे हम अपनी वस्तुओं और सेवाओं का दूसरों की वस्तुओं और सेवाओं से विनिमय करते हैं। यह स्वयं ही ध्येय नहीं है किन्तु ध्येय का एक माध्यम है। एक कंजूस को छोड़ कर अन्य कोई भी व्यक्ति इसे रखने के लिए नहीं चाहता बल्कि इसीलिए चाहता है कि इसमें एक सामान्य क्रय शक्ति है। यह अपने अधिकारी को समस्त वस्तुयें और सेवायें पाने का अधिकार प्रदान करता है। बेस्टन के अनुसार द्रव्य उपभोक्ता को उसकी वास्तविक आय को उपयुक्त समय में और उपयुक्त तरीके पर ग्रहण करने का अवसर देता है। यह इस बात का प्रमाणपत्र है कि माल के स्टाक पर किसी व्यक्ति का जो अधिकार है उसे समाज उस समय प्रदान कर देगा जिस समय वह उसे लेना चाहेगा। माध्यम होने के अतिरिक्त यह मूल्य मापक है जिससे हम भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य की तुलना कर सकते हैं। वस्तुतः आधुनिक काल में द्रव्य मूल्य मापक होने के कारण ही महत्वपूर्ण हो गया है। प्रायः हम वस्तुओं और सेवाओं को उनके बहुत विनिमय में वास्तविक द्रव्य पाये बिना ही बेच देते हैं। द्रव्य में उनका केवल माप कर लिया जाता है। बाद में एक लेखा दूसरे लेखे से पूरा हो जाता है। द्रव्य हमें अनेक तरीकों से सहायता पहुँचाता है।

४. द्रव्य के कार्य (Functions)

अब हमें द्रव्य के कार्यों की तरफ आना चाहिए क्योंकि हम उसे उस समय तक भली-भाँति नहीं समझ सकते जब तक हम उन्हें समझ न लें।

यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि आजकल भी सेवाओं और वस्तुओं का विनिमय अन्त में सेवाओं और वस्तुओं से ही होता है, किन्तु अधिकांश में द्रव्य बीच में आता है। सच तो यह है कि एक विनिमय को वह दो भागों में बाँट देता है। किसी विक्रय के बाद क्रय और क्रय के बाद विक्रय अवश्यंभावी है। द्रव्य इसलिये स्वीकृत किया जाता है कि वह अन्त में किसी के लिये दे दिया जाय।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि द्रव्य ऐसा माध्यम है जिससे विनिमय पूरे होते हैं। किन्तु यह काम (Medium of exchange) इसीलिये कर पाता है कि यह विनिमय की वस्तुओं का तुलनात्मक मूल्य आँक सकता है (Measure of value)। वस्तुतः यह बात कि एक वस्तु के लिये दूसरी वस्तु कितनी दी जाय तब तक मालूम हो ही नहीं सकती जब तक कि दोनों का मूल्य बताने वाली कोई तीसरी वस्तु न हो। बस, द्रव्य यही काम करता है। द्रव्य का यह कार्य अन्य कार्यों की अपेक्षाकृत बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह विनिमय के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि हिसाब के लिये अंक हैं, नाप के लिए फिट और इंच, इत्यादि हैं और तौल के लिये पौण्ड व सेर हैं और भाव प्रकट करने के लिये भाषा है। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है एक सीधे अथवा हिसाब के लेखा द्वारा किये गये विनिमय में शायद द्रव्य का माध्यम की तरह करने का काम न भी पड़े तो भी यह प्रत्येक विनिमय में मूल्यांकन का कार्य तो करता ही है। विनिमय करने वाले दोनों व्यक्ति अपनी-अपनी वस्तुओं का मूल्य द्रव्य की इकाइयों में अवश्य समझ लेते हैं। वह द्रव्य का प्रयोग तो करते ही हैं चाहे उसे हाथ में लें अथवा न लें।

उपर्युक्त कार्य द्रव्य के प्रधान (Primary) कार्य हैं। किन्तु इसके कुछ गौण (Secondary) और प्रासंगिक (Contingent) कार्य भी हैं।

गौण कार्य निम्नांकित हैं :—

(१) मूल्य संचन, (Store of value),

(२) मूल्य हस्तांतरण (Transfer of value),

(३) व्याक्षेपिक भुगतानों का प्रमाण (Standard for deferred payments) ।

ये कार्य प्रधान कार्यों के ऊपर ही निर्भर हैं ।

यह बात तो हम सभी जानते हैं कि हम वस्तुओं की अपेक्षाकृत द्रव्य में अधिक सुविधा से मूल्य संचन कर सकते हैं । श्रम और सेवायें तो बिल्कुल भी संचित नहीं की जा सकतीं । बात यह है कि यदि हम एक पल के लिये भी काम न करें तो यह श्रम अथवा सेवा सदा के लिये समाप्त हो जाती है । उपयोग की साधारण वस्तुयें भी अधिक दिनों तक संचित नहीं रह सकतीं । उनमें से कुछ तो समय पाकर और कुछ अन्य प्रकार से नष्ट हो जाती हैं ।

मूल्य का हस्तांतरण भी द्रव्य में बहुत आसानी से किया जा सकता है । इससे हमें बड़ी सहायता मिलती है । वस्तुओं का हस्तांतरण जैसा कि हम जानते हैं बहुत ही महँगा पड़ता है और उसमें बहुत असुविधा भी होती है । यदि द्रव्य न हो तो हमारी शिक्षा, हमारे खेल और हमारे आनन्ददायक सैर-सपाटे कुछ भी नहीं हो सकते ।

द्रव्य व्याक्षेपिक भुगतानों का प्रमाण भी है । इनके पूरा होने के पहिले कुछ समय बीतना बहुत ही आवश्यक है । अतः यदि इस बीच में वस्तुओं का मूल्य घट-बढ़ जाता है तो या तो ऋणी अथवा ऋणदाता जैसा भी हो कोई न कोई अवश्य हानि उठाता है । किन्तु यदि ये द्रव्य में व्यक्त होते हैं तो द्रव्य के मूल्य के अन्य वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्थिर होने के कारण उपर्युक्त हानि की सम्भावना कम से कम हो जाती है ।

अब हम प्रासंगिक कार्यों की ओर आते हैं जिनका महत्व केवल आज-कल के आर्थिक संगठन में ही है ।

(१) सम्मिलित उत्पत्ति का उपयुक्त बँटवारा—हम जानते हैं कि हमारी उत्पत्ति की प्रणाली बहुत ही पेचीदा है। वस्तुयें बड़े परिमाण में तैयार की जाती हैं और उनके लिये विशिष्ट श्रम की आवश्यकता पड़ती है। द्रव्य द्वारा एक सम्मिलित उत्पत्ति का उपयुक्त बटवारा हो जाता है। श्रम विभाजन जिस हद तक पहुँच गया है वह द्रव्य के इसी एक गुण के कारण सम्भव हो सका है। उत्पादन में कोई भी व्यक्ति तभी सम्मिलित सहयोग देता है जब वह यह समझता है कि सम्मिलित उपज का उपयुक्त भाग उसे मिल जायगा।

द्रव्य ही के कारण उपभोक्ता अपनी आय भिन्न-भिन्न खर्चों पर इस प्रकार बाँट पाता है कि जिससे उसे सबसे बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो जाती है।

(३) साख का आधार—साख का यह इतना बड़ा महल केवल द्रव्य के ही आधार पर खड़ा है। व्यवसाय का आजकल यही तो जीवन रक्त है। बड़े-बड़े काम इसी की सहायता से स्थापित हो सके हैं और अधिक परिमाण वाले उत्पत्ति के साधनों का यही एक मात्र सहारा है। साख प्रणाली के उत्पत्ति के बिना इनका प्रादुर्भाव हो ही नहीं सकता था।

(४) पूँजी को उत्पादन शक्ति—यह कि इसने पूँजी को उत्पादन शक्ति प्रदान कर दी है। इसके बिना वह इतनी द्रवित अवस्था में रह ही नहीं सकती और ऐसा न होने पर वह उत्पादन को सहारा भी नहीं दे सकती थी।

अँग्रेजी की निम्न पंक्तियों में द्रव्य के मुख्य तथा गौण कार्य भली-भाँति निहित हैं :—

"Money's a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store,
But as this does not complete the picture,
We may add transferability more."

५. द्रव्य से लाभ तथा हानि

लाभ—१. द्रव्य से वस्तु विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हो गईं। अब हम प्रत्येक वस्तु आसानी से बेंच और खरीद सकते हैं।

२. वस्तुओं की बिक्री आसानी से हो जाने के कारण उनका उत्पादन बढ़ गया है।

३. इनका क्रय भी आसानी से हो जाता है जिससे हमारा उपभोग भी बढ़ गया है।

४. बड़ी मात्रा में उत्पादन के लिये विभिन्न घटकों (Factors of pro duction) की उपलब्धि द्रव्य के कारण ही सम्भव हो गई है। श्रम विभाजन भी इसी के कारण सम्भव हो गया है।

५. वर्तमान समय का अधिकोषण एवम् आरोप इसी के कारण सम्भव हो सका है।

६. हम अपने श्रम का प्रतिफल द्रव्य के रूप में ही संचित रख सकते हैं। पहिले श्रम अथवा प्रतिफल व्यर्थ जाता था।

७. द्रव्य ने जिस आर्थिक ढाँचे को प्रोत्साहन दिया उससे राष्ट्रीय एकीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेल-जोल बढ़ा।

८. द्रव्य के कारण रूढ़ियाँ टूट गईं और मनुष्य आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो गया।

हानि—१. हम द्रव्य पर इतने निर्भर हो गये हैं कि उसके मूल्य के थोड़े से भी उतार-चढ़ाव से समाज पर भयंकर परिणाम होता है। बाजार की तेजी-मन्दी इसी के कारण होती है।

२. आज की सदोष वितरण पद्धति और व्यापारिक अनैतिकता का भी यही कारण है।

३. द्रव्य मूल्य मापक है किन्तु उपादेयता मापक नहीं है। यह त्याग का मापक भी नहीं है। अतः वस्तुओं के मूल्य भ्रामक होते हैं।

४. द्रव्य हमारी क्रियायों का केन्द्र बन गया है जिसके कारण हमारी प्रेम, संतोष और कला की उच्च भावनाएँ ढीली पड़ गई हैं।

५. साख की हानियाँ द्रव्य ही के कारण उत्पन्न हो गई हैं।

सारांश

१. द्रव्य शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं जिससे उसकी परिभाषायें भी भिन्न-भिन्न हैं। एक परिभाषा के अनुसार तो इसमें केवल धात्विक द्रव्य आते हैं, दूसरी के अनुसार इसमें धात्विक द्रव्य और वैधानिक रूप से ग्राह्य नोट आते हैं और तीसरी के अनुसार इसमें धात्विक द्रव्य, वैधानिक रूप से ग्राह्य नोट तथा साखपत्र सभी आ जाते हैं।

२. करन्सी के अर्थ चाल हैं। अतः; इसमें केवल धात्विक द्रव्य और वैधानिक रूप से ग्राह्य नोट ही सम्मिलित हैं।

३. द्रव्य स्वयम् का ध्येय नहीं है वरन् एक ध्येय का केवल माध्यम मात्र है। फिर, यह एक प्रकार का माप भी है जिससे भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य की तुलना भी की जाती है।

४. द्रव्य के कार्य मुख्य, गौण तथा प्रासंगिक हैं। मुख्य कार्य (१) विनिमय का माध्यम और (२) मूल्यांकन हैं। गौण कार्यों में (१) मूल्य संचन, (२) मूल्य हस्तांतरण तथा (३) व्याक्षेपिक भुगतानों का प्रमाण सम्मिलित हैं, और प्रासंगिक कार्य (१) सम्मिलित उत्पत्ति का विभाजन (२) सीमान्त उपयोगिता की समता, (३) साख के महल के आधार की तरह पर काम करना और (४) पूँजी को उत्पादन शक्ति देना, इत्यादि हैं।

५. द्रव्य से लाभ तथा हानि दोनों हैं:—लाभ (१) विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हो गईं, (२) बिक्री की आसानी के कारण उत्पादन वृद्धि (३) क्रय की आसानी से उपभोग वृद्धि, (४) बड़ी मात्रा का उत्पादन, (५) अधिकोषण और आरोप, (६) श्रम अथवा उसके प्रतिफल का संचन, (७) राष्ट्रीय एकीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेल जोल, (८) स्वतन्त्रता। हानि :—(१) तेजी, मन्दी, (२) सदोष वितरण पद्धति और व्यापारिक अनैतिकता, (३) भ्रामक मूल्य, (४) उच्च भावनाओं का ढीलापन, (५) साख की हानियाँ।

प्रश्न

१. द्रव्य की परिभाषा दीजिए और उसकी प्रकृति तथा कार्य बताइये।

२. द्रव्य और करन्सी की विभिन्नता समझाइये।

३. द्रव्य की परिभाषा दीजिये और उसके कार्यों का विवरण दीजिये। आधुनिक काल में वस्तु विनिमय प्रणाली इतनी महत्वपूर्ण क्यों होती जा रही है?

४. द्रव्य के लाभ तथा हानि बताइये।

५. द्रव्य किसको कहते हैं? आधुनिक काल में द्रव्य के महत्व की विवेचना कीजिये। (उ० प्र०)

अध्याय ३

द्रव्य का क्रमिक विकास

आजकल द्रव्य-प्रणाली कहीं भी पूर्ण रूप से सन्तोषजनक नहीं है। समय के साथ-साथ द्रव्य का भी क्रमिक विकास होता रहा है जो निम्नांकित है :—

१. वस्तु द्रव्य (Commodiy money), २. धात्विक द्रव्य (Metallic money) और ३. कागजी द्रव्य (Paper money)

१. वस्तु द्रव्य

भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न लोगों ने अनेक प्रकार की वस्तुओं का द्रव्य के रूप में प्रयोग किया है। प्राचीन काल में सर्व-प्रथम पालतू जानवर मनुष्य की सम्पत्ति समझे जाते थे। अतः, वह तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें जैसे तम्बाकू, खाल, कौड़ियाँ तथा नाव, इत्यादि द्रव्य के रूप में प्रयोग में आते थे। शिकारी जीवन काल में चमड़ा और समूर, पशु पालन काल में पालतू पशु जैसे गाय, बैल, इत्यादि तथा कृषि काल में अनाज द्रव्य के रूप में प्रयोग में आ चुके हैं। आजकल भी कहीं-कहीं पर इन वस्तुओं का द्रव्य के रूप में प्रयोग होता है, उदाहरण स्वरूप वैस्टन ने अपनी बैंकिङ्ग एण्ड करन्सी नामक पुस्तक में एक ऐसे पत्र के विषय में लिखा है जिसे हैरिस ने अपनी यात्रा के विवरण में 'लन्दन टाइम्स' के सम्पादक को लिखा था। उस पत्र से पता चलता है कि यार द्वीप में जो कैरोलीन द्वीप समूह में है वहाँ के निवासी पत्थरों के द्रव्य का प्रयोग करते हैं और छोटे लेन-देनों के लिए कौड़ियाँ चलती हैं। पाकिस्तान के उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश में आज भी राईफलें द्रव्य के रूप में प्रयोग में आती हैं। इसी प्रकार ऐसी अन्य वस्तुओं के भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं।

२. धात्विक द्रव्य

ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया त्यों-त्यों वस्तु द्रव्य की असुविधायें बढ़ती गईं। मनुष्य के यात्रा-प्रिय होने के कारण वह शीघ्र ही अपनी अतिरिक्त

वस्तुओं का विनिमय करने के लिए बहुत दूर-दूर जाने लगा; अतः, उसमें उसे असुविधायें प्रतीत होने लगीं। बात यह थी कि कभी-कभी ऐसा होता था कि जिस वस्तु को किसी देश के लोग द्रव्य रूप में प्रयोग में लाते थे उसी को दूसरे देश के लोग स्वीकार नहीं करते थे। अतः, उनके लिए यह बहुत ही आवश्यक हो गया कि वे पशु, तम्बाकू, खाल अथवा कौड़ी आदि की अपेक्षाकृत किसी ऐसी वस्तु का द्रव्य रूप में प्रयोग करें जो किसी एक देश में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण संसार में स्वीकृत हो सके। इसके फलस्वरूप मुख्य-मुख्य धातुयें जैसे सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा इत्यादि ही इस कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होने लगीं। यद्यपि इस बात का पता चलना कठिन है कि सर्वप्रथम कब, कैसे, कहाँ तथा किस धातु का द्रव्य रूप में प्रयोग किया गया। तो भी कुछ लेखकों का यह मत है कि सोना, चाँदी, ताँबा और लोहा यह चार धातुयें क्रमशः द्रव्य के प्रयोग में आईं तथा इन धातुओं का आविष्कार भी इसी क्रम से हुआ। किन्तु यह अधिक सत्य प्रतीत होता है कि इन धातुओं का आविष्कार सभी प्रदेशों में इसी क्रम से नहीं हुआ। सोने के मूल्य और गुणों को लोग बहुत प्राचीन काल में ही जान गये थे। इसकी चमक और सुन्दरता उन्हें बहुत पसन्द थी। इसके अतिरिक्त इसमें अक्षय-शीलता भी है जिससे वे इसे सदा से ही अपने पास रखते आ रहे हैं। इसके विनिमय के माध्यम तथा मूल्यांकन के लिए सब जगह स्वीकृत होने के बहुत पहिले ही यह इसी कारण मूल्य संचय के लिए काम में आने लगा था। यही बात अन्य धातुओं विशेषतः चाँदी के साथ भी थी।

इन धातुओं को लोग केवल संचित ही नहीं करना चाहते थे वरन् उनसे अनेक प्रकार के जेवर भी बनते थे जिन्हें स्त्री-पुरुष सभी पहिनते थे।

इस बात का समुचित प्रमाण मिलता है कि भारत, मिश्र, असीरिया, बेबीलन तथा अन्य प्राचीन देशों के निवासी धातुओं का प्रयोग द्रव्य के रूप में करते थे। द्रव्य के प्रयोग के लिए प्रारम्भ में सोने-चाँदी के छोटे-छोटे टुकड़े कर लिये जाते थे। किन्तु कुछ समयोपरान्त लोग उनकी छड़ें बना लेते थे जिनमें से विनिमय के समय वस्तुओं के मूल्य के अनुकूल टुकड़े काटे जा सकते थे। उस समय ये टुकड़े किसी एक नाप के नहीं होते थे। किन्तु

धीरे-धीरे लोगों ने इन्हें केवल एक ही नाप के बनाना प्रारम्भ किया। फिर, इनकी तौल निर्धारित हो जाने के पश्चात् यह स्वाभाविक ही था कि उनका मूल्य उन पर अंकित कर दिया जाय। मुद्राओं पर मूल्य सर्वप्रथम व्यापारी महाजनों ने ही अंकित करना प्रारम्भ किया था। नये स्थान खोद कर वस्तुओं का पता लगाते समय अब भी ऐसी प्राचीन मुद्रायें प्रायः मिल जाया करती हैं। जो हो, मुद्राओं का क्रमिक विकास होता गया। किन्तु प्रारम्भिक तथा मध्यकालीन मुद्राओं में कोई अधिक भेद नहीं था। अतः, यह कहा जा सकता है कि मुद्रा बनाने की रीति में बहुत दिनों तक कोई विशेष प्रकार की उन्नति नहीं हुई। प्राचीन मुद्राओं में एक विशेष बात यह है कि यद्यपि वे तौल में समान हैं तो भी उनकी नाप और मुटाई में भेद है।

मुद्रा बनाने की रीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन सोलहवीं शताब्दी में उस समय हुआ जब अमरीका की खानों में चाँदी तथा अन्य कीमती धातुओं का बहुत अधिक मात्रा में पता चला और यह बराबर योरोप में आती रहीं। इन धातुओं का पता लगने पर लोगों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो गया कि वे मुद्रा बनाने की प्रणाली सुधारें। अतः, इसी हेतु भिन्न-भिन्न स्थानों पर नये-नये खोज और प्रयोग होने लगे। मुद्रा बनाने के लिए सर्वप्रथम इटली के निवासियों ने रोलिङ्ग मिल तथा स्क्रिउ प्रेस नामक मशीनों का आविष्कार कियां। तत्पश्चात् स्पेन, फ्रान्स और इङ्गलैंड के निवासियों ने इसे सीखा। इङ्गलैंड में इस प्रकार की सबसे पहिली मशीन रानी एलिज़बेथ के समय में सन् १५६१ में लन्दन टावर में स्थानित की गई। यह मशीन उस समय घोड़ों द्वारा चलाई जाती थी। अठारहवीं शताब्दी में एक दूसरी मशीन वाष्प मुद्रण प्रेस का आविष्कार हुआ तथा मुद्रा काटने, उनके किनारे बनाने और उन पर छाप लगाने के लिए भी ज्वाइण्ट प्रेस तथा अन्य कई मशीनों का आविष्कार हुआ। इन आविष्कारों के कारण मुद्रा बनाने की प्रणाली में बहुत अधिक सुधार हो गया।

प्रारम्भ में मुद्रा बनाना जनता के ही हाथ में था। किन्तु बाद में भिन्न-भिन्न देश की सरकारों ने यह अधिकार अपने हाथों में ले लिया और प्रत्येक

बादशाह ने अपनी अलग मुद्रा निकाली। इसीलिए तो एक लेखक ने कहा है कि मुद्रा बनाना राजाओं का जन्म सिद्ध अधिकार हो गया।*

३. कागजी द्रव्य

यद्यपि यह निश्चय नहीं है कि कागजी द्रव्य का चलन कब से आरम्भ हुआ किन्तु फिर भी चीन देश के प्राचीन कागजी द्रव्य से पता चलता है कि सन् ८०७ में उस देश में इसका चलन था। थंग वंश के राजा हयान सांग ने उक्त वर्ष के लगभग अपनी प्रजा के लिए यह नियम बना दिया था कि वह अपनी कीमती जायदाद सरकारी खजानों में जमा कर सकती है और उसके स्थान में उसे ऐसी रसीदें दे दी जाती थीं जो स्वतन्त्र द्रव्य (Fey-thsian) के नाम से प्रसिद्ध थीं और उस राजा के राज्य भर में चल सकती थीं। ये द्रव्य भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न थे तथा उनका भुगतान केवल उसी प्रान्त की राजधानी में हो सकता था। इनका चलन दिन प्रति दिन बढ़ता गया तथा लोग इन्हें व्यापार के लिए यात्रा में अपने साथ रखने लगे और लौटने पर भी सरकारी खजानों में नहीं जमा करते थे। इसका फल यह हुआ कि सरकार को यह भय हुआ कि इनके लोकप्रिय होने के कारण कहीं धात्विक द्रव्य का चलन बन्द न हो जाय। अतः, उसने इनके चलने पर रोक लगा दी।

यूरोप में कागजी द्रव्य का चलन सर्वप्रथम इटली के सरकारी बैङ्कों द्वारा प्रारम्भ हुआ तथा इङ्गलैण्ड में यह प्रजातन्त्र राज्य स्थापित होने के कुछ पूर्व वहाँ के महाजन बैङ्करों द्वारा चलाया गया। आजकल संसार भर में प्रायः कागजी द्रव्य के चलन का ही रिवाज है जो धात्विक द्रव्य में नहीं बदले जाते। अपरिवर्तनशील कागजी द्रव्य में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि यह आवश्यकता से अधिक चालू हो जाता है। युद्ध काल में अधिकांश देशों की सरकार प्रायः इसका अत्यधिक प्रसार कर देती है, उदाहरणार्थ रूस में जब सन् १९१४ में १६३३० लाख रूबिल्स के कागजी द्रव्य चालू थे और उनके

*The right of coinage became inherent in the bones of the kings.

Tender Money)—यह द्रव्य असीमित मात्रा में ग्राह्य होता है। चाहे जितने का भुगतान हो वह इसमें किया जा सकता है। हमारे यहाँ के नोट और रुपये इसी कोटि के हैं।

७. ऐच्छिक द्रव्य (Optional Money)—भुगतान में इन्हें स्वीकार करना लेनदार की इच्छा पर निर्भर रहता है जैसे चेक, विनिमय बिल इत्यादि।

८. चलन द्रव्य (Money of circulation)—जो द्रव्य वास्तव में चलन में होता है उसे चलन द्रव्य कहते हैं। हमारे यहाँ की सम्पूर्ण करन्सी चलन द्रव्य है।

९. लेखा शोधन द्रव्य (Money of Account)—चलन द्रव्य के विपरीत लेखा शोधन द्रव्य वह होता है जिसमें केवल हिसाब रक्खा जाता है, किन्तु, वह चलन में नहीं होता। किसी समय जब इंगलैण्ड में १८१६ के पहिले पाउण्ड नाम की कोई मुद्रा नहीं थी तब भी हिसाब पाउण्ड ही में रक्खे जाते थे, अतः वह चलन द्रव्य न होते हुये भी लेखा शोधन द्रव्य था। फिर, सावरन बनी। वैसे तो सावरन और पाउण्ड एक ही द्रव्य था, किन्तु क्योंकि वह सावरन ही कहलाता था, इससे सावरन तो चलन द्रव्य था, किन्तु, पाउण्ड लेखा शोधन द्रव्य था। आजकल पाउण्ड नोट चलन द्रव्य है। किन्तु विश्वविद्यालयों, इत्यादि में शुल्क के दर गिनी में दिये हैं, और गिनी चलन में नहीं है। एक गिनी के स्थान पर १ पौं० १ शि० दिया जाता है। अतः, गिनी लेखा शोधन द्रव्य तो है, किन्तु, चलन द्रव्य नहीं है। इङ्गलैण्ड में क्राउन, हाफ क्राउन इत्यादि चलन द्रव्य हैं किन्तु, लेखा शोधन द्रव्य नहीं हैं।

इनके अतिरिक्त, धात्विक द्रव्य और कागजी द्रव्य के अपने-अपने पृथक-पृथक प्रकार होते हैं वे उनके अपने अध्यायों में दिये हुये हैं।

सारांश

द्रव्य विभिन्न प्रकार के होते हैं, चाहे वह धात्विक हों अथवा कागजी। इनके प्रकार हैं:—प्रमाप, सहायक, सांकेतिक, विधिवत ग्राह्य, सीमित विधिवत ग्राह्य, असीमित विधिवत ग्राह्य, ऐच्छिक, चलन, लेखा शोधन, इत्यादि।

प्रश्न

१. सहायक द्रव्य और सांकेतिक द्रव्य पृथक-पृथक भी हो सकते हैं। उदाहरण देकर समझाइये।

२. रुपया प्रमाप और सांकेतिक दोनों है। समझाइये।

३. विधिवत ग्राह्य द्रव्य किसे कहते हैं? सीमित और असीमित विधिवत ग्राह्य द्रव्य क्या है? ऐच्छिक द्रव्य किसे कहते हैं?

४. चलन द्रव्य और लेखा शोधन द्रव्य में क्या भेद है? स्पष्ट कीजिये।

अध्याय ५

धात्विक द्रव्य

धात्विक द्रव्य का चलन मुद्राओं के रूप में होता है। मुद्रायें धातु के वे टुकड़े हैं जिनकी तौल और शुद्धता उन पर लगी हुई छाप द्वारा प्रमाणित होती है। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि इन्हें बनाने की कला भिन्न-भिन्न स्थितियों में होकर निकल चुकी है। पहिले धातु के छोटे-छोटे टुकड़े ही मुद्रायें मानी जाती थीं किन्तु अब वे मशीनों द्वारा बनाई जाती हैं। अब जाली मुद्रायें बनाना बहुत कठिन है। आज कल की मुद्राओं को न केवल सुन्दर बनाने के लिए बल्कि इसलिए भी कि उनकी नकल दूसरे लोग न बना पावें, टकसाल तरह-तरह की तरकीबों का प्रयोग करती है। जैसे मुद्रा में किनारा छोड़कर छापना, किनारे कुछ उठा देना, इत्यादि। आजकल मुद्राओं की नाप, बनावट और तौल ऐसी होती है कि उनका प्रयोग करने और उन्हें जेब में रखकर ले जाने में लोगों को सुविधा रहती है।

१. भिन्न-भिन्न प्रकार के धात्विक द्रव्य

मुद्रायें २ प्रकार की होतीहैं :—(१) नैसर्गिक अथवा पूर्ण मुद्रा और (२) सांकेतिक मुद्रा। नैसर्गिक अथवा पूर्णमुद्रा—इसे प्रामाणिक मुद्रा भी कहते हैं। जहाँ कहीं भी यह चलती है वहाँ यह लेन-देन का निपटारा करने के लिए प्रधान मुद्रा होती है। इसकी निम्नलिखित ३ विशेषतायें हैं :—

(१) इसकी ढलाई के लिये जनता के लिए टकसाल खुली रहती है अर्थात् लोगों को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपनी इच्छानुसार टकसाल में धातु की मुद्रायें बनवा लें। भले ही मुद्रा छपवाने की टकसाल उनसे कुछ मजदूरी ले अथवा न ले।

(२) इस मुद्रा का विनिमय मूल्य इसकी धातु के मूल्य के बराबर होता है। और यदि इन दोनों में कुछ अन्तर होता है तो वह अन्तर केवल उतना ही होता है जितना टकसाल मुद्रा बनाने के लिये लेती है।

(३) यह मुद्रा अपरिमित रूप में विधानतः ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender) होती है। अर्थात् वस्तुओं का मूल्य और ऋण अदा करने के लिये इसे किसी भी परिमाण में दिया जा सकता है तथा प्रत्येक को इसे अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है। यदि कोई साहूकार अपने वस्तुओं के मूल्य अथवा ऋण का भुगतान किसी अन्य रूप में करवाना चाहता है तो इसके लिये ऋणी को स्वतंत्रता है कि वह उस पर राजी हो अथवा न हो।

सांकेतिक मुद्रा—यह नैसर्गिक मुद्रा की सहायक बनकर चलती है तथा उसके मूल्य के एक अंश की होती है जो इस पर छपा रहता है। इसकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) जनता को इस बात की स्वतंत्रता नहीं रहती कि वह इन्हें अपनी इच्छानुसार टकसाल से बनवा ले। अतः, इन मुद्राओं की ढलाई सीमित होती है तथा सरकार ही आवश्यकतानुसार इनका प्रसार करती है।

(२) इनका विनिमय मूल्य इनकी धातु के मूल्य से अधिक होता है।

(३) इनका वैधानिक ग्राह्य सीमित होता है। अर्थात् किसी सीमित मूल्य और ऋण का ही इन मुद्राओं में भुगतान किया जा सकता है। उस सीमा से अधिक मुद्रा लेना साहूकार अस्वीकार कर सकता है।

उदाहरण—यद्यपि आजकल हिन्दुस्तान की करन्सी में कोई भी पूर्ण मुद्रा नहीं है फिर भी यहाँ पर अनेक प्रकार की सांकेतिक मुद्रायें जैसे पाई, अधेला, पैसा, अधन्ना, एकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी और अठन्नी पाई जाती हैं। रुपया न पूर्ण मुद्रा है और न सांकेतिक ही। पूर्ण मुद्रायें जनता टकसाल में ढलवा सकती है तथा उनका वाह्य मूल्य उनके धात्विक मूल्य के बराबर होता है और सांकेतिक मुद्राओं का ग्राह्य सीमित होता हैं, अतः, यह दोनों में से एक भी नहीं है। फिर भी जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे सन् १८९३ के पूर्व इसका चलन पूर्ण मुद्राओं की भाँति ही था।

२. मुद्रण तथा उससे सम्बन्धित अन्य शब्द

स्वतन्त्र मुद्रण—(Free Coinage)—जब टकसाल से कोई भी व्यक्ति अपने वास्ते मुद्राओं की ढलाई करवा सकता है तब यह ढलाई स्वतन्त्र मुद्रण कही जाती है।

प्रतिबन्धित मुद्रण (Restricted Coinage)—जब टकसाल में जनता मुद्रण नहीं करा सकती, केवल सरकार आवश्यकतानुसार मुद्रण कराती है तब प्रतिबन्धित मुद्रण कहा जाता है, जैसे हमारे यहाँ की मुद्रण पद्धति है।

शुल्क रहित मुद्रण (Gratuitous Coinage)—जब टकसाल जनता से ढलाई का व्यय नहीं लेती तब ढलाई शुल्करहित कही जाती है।

शुल्क सहित मुद्रण (Non-gratuitous Coinage)—जब टकसाल जनता से ढलाई का व्यय ले लेती है तब ढलाई शुल्कसहित कही जाती है।

मुद्रा ढलाई (Brassage)—जब टकसाल जनता से मुद्रण ढलाई का वास्तविक व्यय लेती है तब वह व्यय मुद्रा ढलाई कहा जाता है।

मुद्रा ढलाई लाभ (Seigniorage)—जब टकसाल जनता से मुद्रा ढलाई के वास्तविक व्यय से अधिक व्यय लेती है तब जितना अधिक लिया जाता है वह मुद्रा ढलाई लाभ कहा जाता है। कुछ लोग पूरे व्यय को ही मुद्रा ढलाई लाभ कहते हैं।
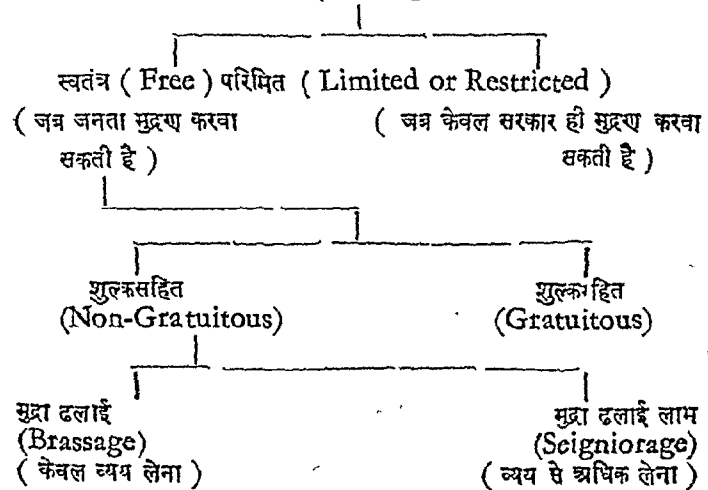
मुद्रा ढलाई या तो सरकार अलग ले लेती है अथवा ढलाई के लिए प्राप्त धातु में से काट कर वसूल कर लेती है। धातु काटकर वसूल करने में वह उसके स्थान पर खोट (alloy) मिला देती है। खोट मिलाने से मुद्रा सख्त हो जाती है और वह कम घिसती है।

निःशुल्क मुद्रण का महत्व—निःशुल्क मुद्रण का यह महत्व है कि इससे किसी देश की करन्सी की मात्रा अपने आप घटती-बढ़ती रहती है। निःशुल्क मुद्रण निम्नांकित कारणों से ठीक समझा जाता है :—

(१) जिस प्रकार सरकार का यह कर्तव्य है कि वह देश में अमन-चैन रक्खे और यह कार्य वह निःशुल्क करता है उसी प्रकार देश में अच्छी करन्सी रखना भी उसका कर्तव्य है तथा उसके लिये भी उसे कुछ न लेना चाहिये।

(२) मुद्रा ढालने का खर्च इतना कम होता है कि उसे सरकार अपनी आय में से सरलता से खर्च कर सकती है।

(३) जब मुद्रण स्वतन्त्र और साथ ही साथ निःशुल्क होता है तब धातु और द्रव्य में समानुपात रहने के कारण करन्सी की मात्रा स्वयम् ही आवश्यकतानुसार ठीक हो जाती है। बात यह है कि ढलाई न देने के कारण अनुपात में तनिक सी भी असमानता होने पर मुद्रा प्रसार की स्थिति में तो मुद्रायें गला अथवा निर्यात कर दी जाती हैं और मुद्रा संकुचन की स्थिति में ढलवा ली जाती हैं।

(४) जब ढलाई का व्यय मुद्राओं में से काट लिया जाता है तो उनका मूल्य देश में तो अधिक और विदेशों में कम हो जाता है जिनसे विनिमय में कठिनाई पड़ती है।

(५) जब ढलाई के लिये कुछ खर्च देना पड़ता है तब अन्य देशों से खरीदी हुई वस्तुओं का भुगतान करते समय मुद्राओं का निर्यात करने में देशी व्यापारियों की हानि होती है। अतः, यह हानि पूरी करने के लिये वे प्रायः वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देते हैं।

यद्यपि उपरोक्त कारणों से निःशुल्क मुद्रण होना चाहिए तो भी इसका

सबसे बड़ा दोष यह है कि ऐसा होने पर लोग मुद्रायें बिना कारण ही गला देते हैं। किन्तु सरकार मुद्रा गलाना अवैध घोषित करके यह बुराई बहुत कुछ दूर कर सकती है।

निकृष्टता (Debasement)—जब किसी निकृष्ट मुद्रा में निर्धारित मात्रा से कम धातु होती है तब वह मुद्रा निकृष्ट मुद्रा कहलाती है। जितनी मात्रा में मुद्रा कम होती है उस मात्रा को निकृष्टता (Debasement) कहते हैं। मुद्रायें निम्नांकित कारणों से खराब हो जाती हैं :—

(१) टकसाल के अधिकारी ईमानदारी से मुद्रा न ढालें। (२) लोग मुद्रा की धातु किसी चालाकी से निकाल लें। और (३) मुद्राये प्रयोग करने से घिस जायें। तीसरी अवस्था में मुद्रायें घिस गईं कहा जाता है। मुद्रायें घिस जाना (Deterioration) निकृष्टता से इस बात में भिन्न है कि जब कि घिसावट स्वाभाविक घिसावट के फलस्वरूप होता है निकृष्टता अधिकारियों *अथवा जनता की बेईमानी के फलस्वरूप होती है।*

उदाहरण - इंगलैंड के इतिहास से हमें इस चीज का उदाहरण मिलता है कि टकसाल के अधिकारी मुद्रा बनाने में किस प्रकार बेईमानी कर सकते हैं। हैनरी अष्टम ने टकसाल में जान-बूझकर मुद्रायें खराब बनवायीं तथा इससे जो लाभ हुआ उसे अपने स्वयम् के लिये रख लिया।

जहाँ तक जनता द्वारा मुद्रा खराब होने का प्रश्न है यह प्रायः सभी देशों में हर समय हुआ है और होता है। प्राचीन काल में जब मुद्रा बनाने के लिये सोने अथवा चाँदी के साथ कोई अन्य धातु नहीं मिलाई जाती थी तब लोग नई मुद्रायें रगड़-रगड़ कर उनकी तौल कम कर दिया करते थे। इस प्रकार से रगड़कर मुद्राओं की तौल कम कर देने को उत्काचन(Abrasion) कहते हैं। आजकल मुद्रायें रगड़कर उनकी तौल कम करना इसलिये सम्भव नहीं है कि उनके कीमती धातु और सस्ती धातु दोनों से मिलकर बने होने के कारण वे काफी कड़ी होती हैं। लोग मुद्राओं से अच्छी तरह धातु खरोंच कर भी उन्हें खराब बना डालते थे। ऐसा करने को खरोंच (Clipping) कहते हैं। यह बुराई दूर करने के लिये ही वर्तमान मुद्राओं के दोनों ओर छाप लगा दी जाती है और उनके किनारे काँटेदार (Milled) बना दिये जाते

हैं। आजकल मुद्रायें खराब करने का एक नया तरीका निकला है जो यह है कि कुछ रासायनिक पदार्थों की सहायता से उसका सार निकाल लिया जाता है (Sweating)। किन्तु ऐसा करने से मुद्राओं का रङ्ग-रूप बिगड़ जाता है जिससे यह मालूम पड़ जाता है।

अधिक प्रयोग में आने के कारण भी मुद्रायें घिस जाती हैं। १८६६ में जेवन्स (Jevons) ने पता लगाया था कि इँगलैण्ड में साढ़े इकतीस प्रतिशत पौंड और पचास प्रतिशत आधे पौंड की मुद्राओं की तौल निर्धारित तौल से कम थी। उस समय यह स्वाभाविक ही था क्योंकि मुद्राओं के घिसने के कारण जो हानि होती थी उसे लोगों को देना पड़ता था। बैंक आफ इँगलैण्ड वह सभी हल्की मुद्रायें वापिस कर देता था जो उसके पास आती थीं। उसके फल-स्वरूप ही दूसरे बैंक भी मशीनों में तौल-तौलकर भारी मुद्रायें अपने पास रख लेते थे तथा हल्की मुद्रायें लोगों को प्रसार के लिये दे देते थे। सन् १८८४ में इँगलैण्ड के सभी बैंकों ने इस प्रश्न पर विचार किया और तत्पश्चात् १८८६ में सरकार ने एक नया मुद्रा-विधान पास किया जिसके अनुसार उसने अपने खर्च पर महारानी विक्टोरिया के शासन के पूर्व की सभी मुद्रायें लोगों से वापिस ले लीं। हाँ, उसने केवल वही मुद्रायें नहीं लीं जिन्हें लोगों ने जान-बूझकर निकृष्ट कर दिया था। इसका प्रमाण यही था कि वह चार ग्रेन से अधिक घिस गई थीं। इन कम तौल वाली मुद्राओं को सरकार ने सोने के रूप में अवश्य खरीद लिया तथा अन्य पुराने सावरन व हाफ् सावरन को लेकर वहाँ की टकसाल ने बैंक आफ इँगलैण्ड द्वारा उनके बदले में लोगों को पूरे मूल्य की दूसरी मुद्रायें दे दीं। साथ ही साथ सरकार ने यह भी घोषित कर दिया कि ता० २८ फरवरी सन् १८९१ के बाद महारानी विक्टोरिया के शासन के पहिले की मुद्राओं का प्रसार देश में न रहेगा। इस नियम के अनुसार उन सभी सोने की मुद्राओं का चलन भी बन्द कर दिया गया जो तौल में ३ ग्रेन से कम थीं। इसके पश्चात् सरकार समय-समय पर तारीखें निर्धारित करके पुरानी मुद्रायें वापिस लेने अथवा उनका चलन बन्द करने लग गई है। हमारे देश में भी सरकार ने बराबर इसी नीति का पालन किया है। विक्टोरिया और एडवर्ड के रुपयों और अठन्नियों का चलन अब बन्द

है तथा सरकार ने उन्हें वापिस ले लिया था। फिर चाँदी के सभी रुपये वापिस ले लिये गये।

छूट (Remedy)—प्रारम्भिक अवस्था में जब मुद्रा ढालने की मशीनें अच्छी न थीं सभी मुद्राओं की तौल और बनावट एक सी नहीं होती थी। अतः, टकसाल को कुछ रियायत दी जाती थी जिसे छूट (Remedy) कहा जाता था। आजकल ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि मुद्रा ढालने की मशीनें ऐसी अच्छी हैं कि वे एक ही तौल और बनावट की मुद्रायें ढाल सकती हैं।

पिक्स की परीक्षा—(Trial of the Pyx)—पिक्स उस संदूक का नाम था जिसमें टकसाल में बनी हुई मुद्राओं के नमूने जाँच के लिए डाले जाते थे। इसके लिए सराफ कम्पनी के फ्रीमैन द्वारा निर्वाचित जूरी चुने जाते थे। इनकी परीक्षा या जाँच पिक्स की परीक्षा कहलाती थी। आधुनिक काल में इस प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है।

नैसर्गिक अथवा पूर्ण मुद्राओं के मूल्य में कमी करना (मुद्राविलोपन अथवा अवमूल्यन) (Devaluation of a Standard Coin) – पूर्ण मुद्राओं के मूल्य दो प्रकार से कम हो जाते हैं—एक तो उन्हें खराब करने पर (Debasement) जिनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है और दूसरे जब सरकार जान-बूझकर विधानतः पूर्ण मुद्रा में सम्मिलित अच्छी अथवा कीमती धातु का अनुपात घटा कर अन्य सस्ती धातु का अनुपात बढ़ा देती है जो मुद्राविलोपन अथवा अवमूल्यन (Devaluation) कहा जाता है। अतः, मुद्राविलोपन अथवा अवमूल्यन (Devaluation) का वही अर्थ नहीं है जो मुद्रा खराब करने (Debasement) का है। मुद्राओं का मूल्य इस प्रकार कम (Devaluate) करके सरकार एक अनुचित अथवा परोक्ष रूप में उनके धन का मूल्य कम कर देती है जो सर्वथा अनुचित है।

एक धातुमान (Monometallism)—एक धातुमान करन्सी की उस प्रथा को कहते हैं जिसके अनुसार किसी देश में भिन्न-भिन्न मूल्य की सभी मुद्रायें एक ही धातु (सोना अथवा चाँदी) की चलती हैं। किन्तु आजकल

किसी भी देश में ऐसी करन्सी नहीं चलती। अतः, अब एक धातुमान उस करन्सी प्रथा को कहते हैं जिसके अनुसार देश की प्रधान मुद्रा (Principal coins) केवल एक ही धातु की होती है। इसका उदाहरण हमें प्रथम युद्ध के पूर्व इङ्गलैण्ड में प्रचलित करन्सी प्रथा से मिलता है किन्तु कुछ लोग इस एक धातुमान प्रथा को प्रथम प्रकार के एक धातुमान प्रथा से भिन्न करने के लिये इसे संमिश्र वैधानिक मुद्रा प्रथा (Composite legal tender system) कहते हैं। भिन्न-भिन्न लेखकों ने एक धातुमान के इन दो रूपों को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। पहिले रूप को हम कट्टर एक धातुमान (Orthodox monometallism) तथा दूसरे को संशोधित एक धातुमान (modified monometallism) कह सकते हैं।

इङ्गलैंड का एक धातुमान अथवा संमिश्र वैधानिक मुद्रा प्रथा—इस प्रथा के अनुसार इङ्गलैंड में सोने की मुद्रायें पाँच पौंड, दो पौंड, एक पौंड (सावरन) और आधा पौंड (आधा सावरन) प्रधान मुद्रायें थीं और चाँदी की मुद्रायें क्राउन, डबल फ्लोरिन, हाफ क्राउन, फ्लोरिन, शिलिंग, छः पेंस, चार पेंस, (ग्रोट) तीन पेंस, पेनी तथा ब्रांज (ताँबा और टीन मिली धातु) के पेनी, आधापेनी, तथा फार्दिंग सहायक मुद्रायें थीं। प्रधान मुद्राओं में नैसर्गिक अथवा पूर्ण मुद्राओं की तथा सहायक मुद्राओं में सांकेतिक मुद्राओं की सम्पूर्ण विशेषताएँ पाई जाती थीं। हाँ, चाँदी की मुद्राओं का ग्राह्य (Tender) चालीस शिलिंग और ब्रांज की मुद्राओं का ग्राह्य केवल एक शिलिंग तक सीमित था।

द्विधातुमान (Bimetallism)—द्विधातुमान उस करन्सी प्रथा को कहते हैं जिसमें दो प्रधान मुद्रायें चलती हैं जिनमें से प्रायः एक तो चाँदी की तथा दूसरी सोने की होती हैं। इसकी मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

१. दोनों का स्वतन्त्र मुद्रण होता है।
२. दोनों मुद्रायें असीमित रूप से विधानतः ग्राह्य होती हैं।
३. दोनों के बीच में विधान द्वारा निश्चित अनुपात होता है।

द्विधातुमान किसी भी देश में अधिक समय तक सफलीभूत नहीं हुआ। बात यह है कि दोनों मुद्राओं के धातुओं के मूल्य में बाजार में लगातार घट-बढ़ होने के कारण इनका विधान द्वारा निर्धारित अनुपात अधिक समय तक स्थिर रखना असम्भव है। इसके विषय में आगे चल कर अधिक वर्णन किया जायगा।

लंगमान पद्धति (Limping Standard)—इसे हम अपूर्ण द्विधातुमान कह सकते हैं। इसमें दो धातुओं की मुद्रायें चलती हैं। (१) ये अपरिमित रूप से विधानतः ग्राह्य होती हैं। (२) ये एक निश्चित अनुपात से चलती हैं। (३) इनमें से केवल एक का स्वतन्त्र मुद्रण होता है। १६१४-१८ के युद्ध के पहिले यह करन्सी प्रणाली फ्रान्स और अमेरिका के संयुक्त प्रदेश में प्रचलित थी। इन दोनों देशों में सोने और चाँदी दोनों धातुओं की मुद्रायें अपरिमित रूप से विधानतः ग्राह्य थीं। हाँ, स्वतन्त्र मुद्रण केवल सोने की मुद्राओं का होता था।

समानान्तर मान (Parallel Standard)—यह पहिले ही बताया जा चुका है कि द्विधातुमान में दोनों मुद्राओं का अनुपात स्थिर रखना असंभव हो जाता है। अतः, जब सोना और चाँदी दोनों की मुद्रायें अपरिमित रूप से ग्राह्य होती हैं, तथा उन दोनों का स्वतन्त्र मुद्रण होता है किन्तु उनका पारस्परिक अनुपात निश्चित नहीं होता तब उस करन्सी प्रथा को समानान्तर मान पद्धति कहते हैं। उनका अनुपात उन मुद्राओं के धातुओं का बाजारू मूल्य घटने-बढ़ने के कारण बदलता रहता है।

मिश्रित धातुमान (Symetallism)—इस करन्सी प्रथा में प्रधान मुद्रा दो धातुओं से मिश्रित धातु की ढाली जाती है। इसका अनुसरण आज तक किसी देश ने नहीं किया है। इसका सुझाव सर्वप्रथम अल्फ्रेड मार्शल ने किया था। इस प्रथा का यह दोष है कि इन मुद्राओं के जाली बनने पर साधारण जनता जाल जल्दी नहीं समझ सकती।

३. अच्छी मुद्राओं के लक्षण

अच्छी मुद्राओं के कुछ विशेष लक्षण होते हैं जिनमें से निम्न अत्यंत ही आवश्यक हैं :—

(१) इन्हें एक सुविधाजनक नाप तथा तौल का होना चाहिये। इसके यह अर्थ है कि इन्हें न तो बहुत बड़ा और न बहुत छोटा तथा न बहुत भारी और न बहुत हल्का होना चाहिये। यदि रुपया आधे सेर ताँबे का बनाया जाय तो उसकी अनर्थकता की कल्पना कीजिए। यही बात किसी अन्य मुद्रा के लिये भी कही जा सकती है। इसी तरह से बहुत छोटी मुद्रा भी बहुत असुविधाजनक होती है। उदाहरण के लिए हम अपने यहाँ की चाँदी की दुअन्नी ले सकते हैं जो इसी कारण बन्द कर दी गई थी।

(२) मुद्राओं की बनावट ऐसी होनी चाहिये जिससे वह खरोंच कर अथवा रसायनिक पदार्थों में डाल कर खराब न किये जा सकें। इनके उठाव और किनारे बहुत बढ़िया होने चाहिये। इन्हें जनता बना न सके।

(३) इनका विनिमय मूल्य इनके ऊपर ऐसी लिपियों में अंकित होना चाहिये जो साधारण लोग भी पढ़ लें। भारतीय मुद्राओं में देवनागरी लिपि अवश्य रहनी चाहिये। ऐसा भी सम्भव है कि लोग अपढ़ हों। अतः, मुद्रा ऐसी होनी चाहिए जिसका विनिमय मूल्य उसे देख कर ही पहिचाना जा सके।

(४) इन्हें काफी सख्त होना चाहिये जिससे इनके घिसने पर इनकी धातु का अधिक ह्रास न हो। यही कारण है कि आजकल की मुद्राओं में मिलावट जरूर रहती है।

(५) घिसी हुई मुद्रायें बराबर वापिस ले लेनी चाहिए। ऐसा न होने से जन साधारण के विश्वास में कमी हो जाने की आशङ्का रहती है।

सारांश

१. धात्विक द्रव्य दो प्रकार का होता है :—प्रथम नैसर्गिक, पूर्ण अथवा प्रमाणिक मुद्रा, द्वितीय सांकेतिक मुद्रा। पूर्ण मुद्रा प्रधान मुद्रा होती है। इसकी मुख्य-मुख्य विशेषतायें—(क) इसका स्वतन्त्र मुद्रण, (ख) इसका बाह्य तथा आंतरिक मूल्य बराबर होना और (ग) इसका अपरिमित रूप से विधानतः ग्राह्य होना है। सांकेतिक मुद्रा सहायक मुद्रा होती है। यह

प्रधान मुद्रा की एक अंश होती है। इसका मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है। इसकी विशेषतायें (क) परिमित मुद्रण, (ख) विनिमय मूल्य का धात्विक मूल्य से अधिक होना, और (ग) परिमित रूप में विधानतः ग्राह्य होना है।

२. मुद्रण स्वतंत्र अथवा प्रतिबन्धित हो सकता है। स्वतंत्र मुद्रण शुल्क-सहित अथवा निःशुल्क मुद्रण हो सकता है। निःशुल्क मुद्रण में सरकार मुद्रा मुफ्त ढालती है तथा शुल्क सहित मुद्रण में सरकार मुद्रा ढलाई का व्यय लेती है। मुद्रा ढलाई (Brassage) उस शुल्क को कहते हैं जो व्यय के बराबर हो। मुद्रा ढलाई लाभ (Siegniorage) मुद्रा ढलाई लाभ को कहते हैं।

स्वतन्त्र और निःशुल्क मुद्रण अनेक प्रकार से हितकर होता है। मुद्राओं को लोग कई प्रकार से खोटा तथा तौल में कम कर देते हैं। इसके लिए यही उपाय है कि सरकार कम तौल वाली मुद्रायें जनता से वापिस ले ले। प्राचीन काल में मुद्रा ढालने की मशीनें अधिक अच्छी न थीं। अतः, टकसाल बिल्कुल एक ही नाप-तौल की मुद्रायें नहीं गढ़ पाती थी। सरकार भी इसके लिये कुछ ढील रखती थी। टकसाल की इस स्वतन्त्रता को छूट (Remedy) कहते थे। पिक्स की परीक्षा का अर्थ उन मुद्राओं की परीक्षा से है जो नमूने की पिक्स (सन्दूक) में जमा की जाती थीं। जब सरकार प्रमाणिक मुद्रा की बहु-मूल्य धातु की मात्रा कम कर देती है तब यह मुद्रा-विलोपन अथवा अवमूल्यन (Devaluation) कहा जाता है। एकधातुमान में केवल एक ही धातु की बनी हुई प्रधान मुद्रा चलती है। द्विधातुमान में दो प्रधान मुद्रायें चलती हैं और उनके पारस्परिक विनिमय का अनुमान निर्धारित कर दिया जाता है। इनमें प्रामाणिक मुद्रा की सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। लंगमान पद्धति में यद्यपि दो प्रधान मुद्रायें होती हैं किन्तु उनमें से एक का मुद्रण स्वतन्त्र नहीं होता। समानान्तर मान पद्धति में दो मुद्रायें प्रधान मुद्रायें होती हैं तथा उन दोनों का मुद्रण भी स्वतन्त्र होता है। हाँ, उनके विनिमय के मूल्य का अनुपात निर्धारित नहीं रहता। यह बाजार की दशानुकूल बदलता रहता है। मिश्रित धातुमान (Symetallism) में दो धातुओं से मिश्रित धातु की बनी हुई मुद्रा प्रधान मुद्रा होती है। यह प्रथा आज तक किसी देश ने नहीं अपनायी।

अच्छी मुद्राओं के कुछ विशेष लक्षण हैं—(१) सुविधाजनक नाप तथा तौल (२) बढ़िया उठान (३) किसी साधारण लिपि में मूल्यांकन, (४) धातु की सख्ती और (५) पुरानी मुद्राओं की वापसी।

प्रश्न

१. "नैसर्गिक मुद्रा और सांकेतिक मुद्रा," दोनों के अर्थ और विशेषताएँ स्पष्ट रूप से लिखिये।

२. (क) निम्नलिखित का अर्थ लिखो :—स्वतन्त्र और प्रतिबन्धित मुद्रण, निःशुल्क मुद्रण, मुद्रा ढलाई और मुद्रा ढलाई लाभ।

(ख) क्या स्वतन्त्र और निःशुल्क मुद्रण-प्रणाली अधिक हितकर है? इसके पक्ष और विपक्ष के तर्क लिखिये!

३. निम्नलिखित का अर्थ पूर्णतः समझा कर लिखिये :—छूट, पिक्स की परीक्षा, एक धातुमान, द्विधातुमान, संमिश्र वैधानिक मुद्रा प्रथा, लगमान पद्धति, समानान्तर मान पद्धति, मिश्रित धातुमान, द्विधातुमान, लगमान और समानान्तरमान पद्धति।

४. मुद्रायें खोटी करना और उनके विलोपन अर्थात् अवमूल्यन का क्या अर्थ होता है? मुद्रायें किस प्रकार खोटी की जाती हैं इसका उदाहरण भी लिखिये।

५. अच्छी मुद्राओं में कौन-कौन से लक्षण होने चाहिये? उन्हें समझाकर लिखिये।

६. धातु मुद्रा किसको कहते हैं? स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई तथा परिमित मुद्रा ढलाई का अर्थ समझा कर लिखिए। उ० प्र०

अध्याय ६

कागजी द्रव्य

यद्यपि कागजी द्रव्य का चलन बहुत पहिले ही शुरू हो गया था किन्तु फिर भी वर्त्तमान शताब्दी में इसका महत्व बहुत ही बढ़ गया है। इसमें, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, कागजी नोट तथा साख-पत्र दोनों ही सम्मिलित हैं। किन्तु इस अध्याय में हम केवल कागजी नोटों के विषय में ही अध्ययन करेंगे। साख और साख-पत्रों के लिये इस पुस्तक का दूसरा भाग देखिए।*

१. कागजी नोट के भेद

नोट निम्न प्रकार के होते हैं:—

(१) प्रतिरूप दर्शक (Representative)

(२) परिवर्तनशील (Convertible)

(३) अपरिवर्तनशील (Inconvertible)

प्रतिरूप दर्शक नोट—जब कागजी द्रव्य का चलन प्रारम्भ हुआ था उस समय सभी नोट प्रतिरूप दर्शक थे। बात यह थी कि प्रधान मुद्रा, सोना और चाँदी तो सरकार के पास जमा रहती थी और उनके प्रतिनिधि नोट बाजार में चलते थे। जितनी मात्रा में नोट चलते थे उतनी ही मात्रा में मुद्रा, सोना और चाँदी सरकार के पास कोष में रहती थी। नोट की मात्रा कोष से कभी अधिक न होती थी। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में प्रचलित स्वर्ण नोट (Gold assignates) और भारतीय करन्सी तथा अर्थ सम्बन्धी

* उ० प्र० परिषद् के पाठ्यक्रम के अनुसार यह पहिले पर्चे का विषय है।

राजकीय कमीशन द्वारा सुझाये हुए स्वर्ण पाट प्रमाणपत्र (Gold Bullion Certificates) इनके अच्छे उदाहरण हैं।

परिवर्तनशील नोट—परिवर्तनशील नोट विश्वसनीय नोट भी (fiducious note) नोट कहे जाते हैं। इनके मूल्य का एक अंश प्रमाणिक मुद्रा तथा सोने और चाँदी के कोष में रख लिया जाता है। यह तो मानी हुई बात है कि सब नोट एक साथ ही परिवर्तन के लिए नहीं आ सकते। अतः, यह आवश्यक नहीं है कि कोष में प्रधान मुद्रा और सोने चाँदी की मात्रा उतनी ही रहे जितने के नोट निकाले गये हैं। कुल नोटों के कुछ अंश की प्रधान मुद्रा तथा सोना चाँदी रखने से काम चल जाता है। शेष भाग लागत पर लगा दिया जाता है। यह भाग विश्वसनीय भाग (Fiduciary or invested portion) कहा जाता है। इसके मुख्य लाभ तीन हैं:—

(१) नोट निकालने वाले को व्याज के रूप में कुछ आय हो जाती है।

(२) यह आवश्यक नहीं है कि चालू नोटों की मात्रा कोष में रखे हुये सोने-चाँदी की मात्रा से सीमित रहे।

(३) इस करन्सी पद्धति से धातु की काफ़ी बचत हो जाती है। संसार में सोने की मात्रा थोड़ी और सीमित है। अतः, ऐसे नोटों के चलन से ही संसार के प्रत्येक देश में स्वर्णमान स्थापित किया जा सकता है।

अपरिवर्तनशील नोट—प्रतिरूप दर्शक तथा परिवर्तनशील नोटों के वाहक को यह अधिकार होता है कि वह अपनी इच्छानुकूल उन्हें सोने, चाँदी अथवा मुद्राओं में बदलवा ले। किन्तु अपरिवर्तनशील नोट के वाहक को ऐसा कोई अधिकार नहीं रहता। किसी देश में भी इनका चलन तो केवल इस कारण ही होता है कि वहाँ की सरकार विधान के बल पर उन्हें चालू रखती है। द्रव्य की अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर लगभग प्रत्येक देश की सरकार ने ऐसे नोटों का प्रसार समय-समय पर किया है। घरेलू युद्ध के समय सर्वप्रथम अमेरिका की सरकार ने ही 'ग्रीन बैक्स' (Greenbacks) नामक

नोट चालू किये थे। फ्रांस की क्रान्तिकारी सरकार ने और बैंक आफ इङ्गलैण्ड ने भी नैपोलियन युद्धों के समय ऐसे नोट चालू किये थे। सन् १९१४-१८ के यूरोपीय युद्ध के समय भी अधिकांश देशों की सरकारों ने ये नोट निकाले थे।

२. नोट निकालने के अधिकारी

ये नोट बैंक अथवा सरकार निकालती है। जिन नोटों को बैंक निकालती है वे प्रायः अधिक अच्छे होते हैं। वास्तव में नोट निकालना या बदलना सरकार का कर्तव्य नहीं है। सरकार द्वारा निकाले गये नोटों में उतनी लचक नहीं होती जितनी अच्छी करन्सी में होनी चाहिये।

सरकारी नोटों के अवगुण—१. लचक की कमी—इसका यह अर्थ है कि उनकी मात्रा आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती। व्यापार के लिये सब समय द्रव्य की एक ही मात्रा में आवश्यकता नहीं पड़ती। कभी व्यापार अधिक और कभी कम होता है। अतः, अधिक व्यापार के समय अधिक द्रव्य और कम व्यापार के समय कम द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। यदि द्रव्य की मात्रा आवश्यकतानुसार नहीं घटती-बढ़ती तो वस्तुओं के मूल्य में अधिक घट-बढ़ होती रहती है जिससे वाणिज्य बहुत कुछ अनिश्चित-सा हो जाता है। यह सभी जानते हैं कि सचेत से सचेत सरकार को भी इस बात का पता नहीं लग सकता कि व्यापार के लिए किस समय कितने द्रव्य की आवश्यकता है। बात यह है कि देश के व्यापार से उसका उतना प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता जितना कि व्यापारियों अथवा बैंकों का होता है। फिर, यदि यह मान भी लिया जाय कि सरकार इस आवश्यकता का अनुमान लगा सकती है तब भी सरकारी नोटों में यह कठिनाई रहती है कि अवसर पड़ने पर सरकार उन्हें उतनी जल्दी घटा-बढ़ा भी नहीं सकती। यह तो सभी को विदित है कि प्रायः सभी सरकारी कामों में विलम्ब हुआ करता है।

२. दूषित नियन्त्रण—सरकार के सभी बातों में प्रमुख होने के कारण सरकारी नोटों का नियंत्रण भी उतनी अच्छी तरह से नहीं हो सकता जितनी अच्छी तरह से बैंक नोटों का हो सकता है। यह सम्भव है कि उसके नियमों

की अवहेलना हो और राज्य स्वयम् अपनी स्वार्थ सिद्धि की प्राप्ति के उद्देश्य से द्रव्य प्राप्त करने के लिये नोटों का अत्यधिक प्रसार कर दे। प्रजातन्त्र राज्य में यही हो सकता है क्योंकि उसमें भी अधिकारी दल ऐसे ही नोटों का प्रसार कर देते हैं।

३. नोटों का अत्यधिक प्रसार—सरकारी नोटों में सबसे बड़ा डर तो यह रहता है कि वह प्राय: देश की उन्नति सम्बन्धी अनेक योजनायें पूरी करने के लिये अथवा युद्ध लड़ने के लिए जो द्रव्य की आवश्यकता होती है उसे पूरा करने के लिये नोट अत्यधिक मात्रा में निकाल देती है। इससे करन्सी का मूल्य घट जाता है।

इतना होने पर भी कहीं-कहीं सरकार नोट निकालती है। भारतवर्ष में भी सन् १८६१ से १६३५ तक सरकार के ही नोट चलते रहे। ऐसा इसलिये होता है कि प्रारम्भिक स्थिति में जनता का विश्वास बैंकों के प्रति उतना नहीं होता जितना सरकार के प्रति होता है। दूसरे, क्योंकि देश की मुद्रा की व्यवस्था प्राचीन काल से ही सरकार करती रही है, अतः लोगों की यह धारणा होती है कि पत्र मुद्रा भी सरकार द्वारा ही निर्गमित होनी चाहिए। तीसरे, लोग यह समझते हैं कि पत्र मुद्रा से उत्पन्न लाभ लेने का अधिकारी उसे निर्गमित करने वाला ही है, अत: सरकार को यह लाभ तभी मिल सकता है जब वह इन्हें निर्गमित करे।

बैंकों द्वारा निकाले गये नोटों के लाभ—बैंकों द्वारा निकाले गये नोटों में वह अवगुण नहीं पाये जाते जो सरकारी नोटों में होते हैं। बैंकों द्वारा प्रकाशित नोटों में आवश्यक लचक पाई जाती है, बैंक व्यापारियों के बिल और हुण्डियों के आधार पर ही नोट निकालते हैं। अतः, जब व्यापार तेजी से चलता है तब बिल और हुण्डियाँ अधिक निकलने पर नोट भी अधिक मात्रा में निकलते हैं। किन्तु जब व्यापार मन्दा पड़ जाता है तब ऐसा नहीं होता और नोटों की मात्रा घट जाती है। ऐसे समय में कम बिल निकलते हैं। अतः, नोट भी कम निकलते हैं।

फिर, जब बैंक नोटों का प्रसार करते हैं, तब वह सरकारी निरीक्षण में

होता है। अतः, विधान की अवहेलना नहीं की जा सकती। साथ ही बैंक अपनी सम्पत्ति के कुछ भाग के बराबर अथवा किसी सीमित रकम तक ही सरकार को द्रव्य उधार दे अथवा सरकारी कागज खरीद सकते हैं। अतः, उनके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह अधिक मात्रा में नोटों का प्रसार करके सरकार के लिये द्रव्य का प्रबन्ध कर दें।

एक अथवा कई बैङ्कों द्वारा नोट निकाला जाना—अधिकांश देशों में प्रारम्भ में एक से अधिक बैङ्कों ने नोट निकाले थे। किन्तु बाद में भिन्न-भिन्न देशों की सरकार ने यह उचित समझा कि प्रत्येक देश में नोट निकालने का पूर्ण अथवा शेषाधिकार केवल एक बैंक को ही दे दिया जाय। यह परिवर्तन निम्न कारणों से हुआ :—

(१) जब देश में कई बैंक नोट निकालते थे तब यह सम्भव नहीं था कि कुल नोटों की मात्रा आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई जा सके।

(२) यदि एक ही बैंक नोट निकालता है तब उससे यह लाभ होता है कि देश में चालू नोटों का एक ही रूप और मूल्य रहता है।

(३) जब एक बैंक नोट निकालता है तब सरकार नोट प्रसार पर अधिक सुविधा के साथ नियन्त्रण रख सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार को इस बात में भी सुविधा रहती है कि वह बैङ्क से उस लाभ का कुछ भाग ले सके जो उसे नोट निकालने के कारण प्राप्त होता है।

(४) एक बैंक के नोट निकालने पर उसकी संचिति का केन्द्रीयकरण होने से वह समय पड़ने पर अधिक कुशलता से प्रयोग में लाई जा सकती है।

३. नियंत्रण के ढंग

सरकार नोट प्रसार पर कम से कम निम्नांकित सात प्रकार से अपना नियन्त्रण रख सकती है। वैसे तो इनमें से प्रत्येक के अपने गुण तथा दोष हैं। किन्तु एक अच्छी नियंत्रण पद्धति में जितना अधिक लोच, मितव्ययता, परिवर्तनशीलता और चलनाधिक्य से सुरक्षा के गुण होंगे उतना ही वह उपादेय होगी।

निश्चित विश्वसनीय चलन प्रथा—(Fixed Fiduciary Issue Method)—यह वह ढंग है जिसमें किसी निश्चित रकम तक ही नोटों के कोष में सरकारी कागज रक्खे जाते हैं तथा उसके अतिरिक्त जो नोट प्रसार होता है उसके लिये धात्विक कोष रक्खा जाता है। ऐसा करने के दो प्रधान दोष हैं :—

(१) इससे करन्सी में लचक नहीं रह जाती। बात यह है कि जब देश में आंतरिक अथवा बाह्य माँग के कारण कोष में सोने की कमी हो जाती है तब करन्सी की मात्रा भी घटानी पड़ती है।

(२) जब सोने-चाँदी की कमी होती है और करन्सी की माँग अधिक होती है तब नोटों की मात्रा बढ़ाई नहीं जा सकती।

उपरोक्त दोष होते हुये भी इससे यह लाभ होता है कि करन्सी की मात्रा आवश्यकता से अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। इस ढग का सर्वप्रथम प्रयोग इङ्गलैंड में सन् १८४४ में हुआ था किन्तु उसमें लचक न होने के कारण सन् १६२८ में इसका कुछ सुधार कराके इसमें लचक लाने का प्रयत्न किया गया था। उस वर्ष सरकारी कोष को यह अधिकार मिल गया था कि वह आवश्यकता पड़ने पर बैंक आफ इगलैण्ड को दो वर्षों तक अधिक से अधिक निश्चित विश्वसनीय सीमा (२६०० करोड़ पौण्ड) से भी अधिक के विश्वसनीय नोट निकालने की आज्ञा दे दे।

२. निश्चित परिमाण में नोट निकालना (Maximum Note Issue)—इसमें सरकार पहिले से ही नोट निकालने की अधिक से अधिक मात्रा निश्चित कर देती है। फ्रांस में सन् १८७० से १६२७ तक नोट निकालने की यही प्रथा थी। इसमें सबसे बड़ा दोष तो यह है कि आधुनिक समय में करन्सी की बढ़ती हुई माँग इससे पूरी नहीं की जा सकती और साथ ही साथ सरकार इस बात का दायित्व भी नहीं लेती कि वह नोटों का अत्यधिक प्रसार हो जाने पर जब आवश्यकता पड़ेगी तब उसे कम कर देगी। फिर, निश्चित परिमाण विधान द्वारा धीरे-धीरे बढ़ता ही जाता है।

३. सरकारी कागजों के आधार पर ही नोट निकालना—इसमें जिस मूल्य के नोट निकाले जाते हैं उस मूल्य के ही सरकारी कागज कोष में रक्खे जाते हैं। इसके अतिरिक्त नोटों का परिमाण बैंककी प्राप्त पूँजी और कोष के बराबर सीमित कर दिया जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रीय बैंकों के नोटों का नियन्त्रण सर्वप्रथम इसी प्रकार किया गया था। इस ढंग में भी यही दोष है कि इसमें लचक नहीं है।

४. जिसमें नोटों की पूरी मात्रा का कुछ प्रतिशत सोने अथवा चाँदी में और व्यापारिक बिलों और सरकारी साख-पत्रों में रक्खा जाता है—इसमें कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बैंक कुछ शर्तों पर निर्धारित प्रतिशत से कम भी सोने-चाँदी का कोष रख सकता है। जर्मनी ने सर्वप्रथम सन् १८७६ में यह प्रथा अपनायी थी। फिर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने सन् १९-१३ में संघ कोष प्रणाली (Federal Reserve System) का प्रारम्भ करने के समय यह प्रथा अपनायी थी। अन्त में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तो प्रायः बहुत से देशों ने यही प्रथा अपना ली।

इसमें यह लाभ है कि इस ढंग से करन्सी आवश्यकतानुकूल घट-बढ़ सकती है और साथ ही साथ उसका अत्यधिक प्रसार भी नहीं हो सकता है।

५. जिसमें नोटों की पूरी मात्रा के कुछ भाग के बराबर सोने चाँदी का कोष रख लिया जाता है किन्तु शेष के लिए यह निश्चित नहीं रहता कि किस प्रकार का कोष रक्खा जायगा—इस ढंग से नोट निकालने वाले बैंक की सम्पूर्ण सम्पत्ति (Assets) नोटों के भुगतान के लिए दायी समझी जाती है। इस तरीके में बैंक को चौथे तरीके की अपेक्षा नोट निकालने के लिये अधिक स्वतन्त्रता मिल जाती है।

६. जिसमें कई बैंक नोट निकालते हैं और वह नोटों का एक निश्चित प्रतिशत प्रधान बैंक में सोने अथवा सरकारी साख-पत्रों में जमा रखते हैं—यह प्रथा अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में आज भी प्रचलित है। वहाँ सभी सदस्य बैंक एक निश्चित अनुपात के अनुसार सरकारी साख-पत्र खरीदते और उन्हें संघ कोष मंडल (Federal Reserve Board) में जमा रखते हैं।

७ नोटों का कुछ अंश दूसरे देशों के सरकारी साख-पत्रों में मिला दिया जाता है—यह प्रथा भारतवर्ष में ही प्रचलित है।

नोट निकालने के करन्सी और बैंकिङ्ग सिद्धांत—प्रारम्भ में नोट निकालने के सम्बन्ध में केवल दो ही सिद्धांत थे जिन्हें करन्सी और बैंङ्किग सिद्धान्त कहते हैं। वास्तव में उपरोक्त सात सिद्धांतों में भी कुछ परिवर्तन के साथ-साथ इन्हीं दो सिद्धांतों की प्रधानता है। करन्सी सिद्धांत के अनुसार किसी देश में उतनी ही मात्रा में नोटों का चलन होना चाहिए जितनी मात्रा में नोट निकालने वाले बैंक अथवा सरकार के पास सोना मौजूद है। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब सोने के अतिरिक्त सरकारी साख-पत्र होने पर भी नोट निकाल दिये गये हैं। सन् १८४४ के बैंक आफ् इङ्गलैंड चार्टर ऐक्ट के अनुसार वहाँ कुछ निश्चित मात्रा के नोट सरकारी कागजों के आधार पर भी निकाल दिये जाते हैं। अतः, ऐसा कहा जा सकता है कि करन्सी सिद्धान्त के अनुसार नोट स्वर्णापाट प्रमाण की तरह ही है। बैंकिङ्ग सिद्धान्त के अनुसार यह मत है कि नोट निकालते समय केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नोटों का प्रसार देश की वास्तविक आवश्यकताओं के अनुसार ही होना चाहिए। इसके मुख्य प्रवर्तक लन्दन वेस्टमिनिस्टर बैंक के प्रधान मैनेजर डा० गिल्बर्ट थे। वे यह बात बिल्कुल अनावश्यक समझते थे कि नोटों का प्रचार स्वर्णापाट की उसी मात्रा तक सीमित किया जाय जो बैंङ्क और सरकार के पास मौजूद हो। उनका यह मत था कि नोटों को कृत्रिम रूप से नियंत्रित न करके स्वयम् ही नियन्त्रित होने देना चाहिए। वह कहते थे कि नोटों का प्रसार जब कभी भी आवश्यकता से अधिक होगा तब लोग स्वयं ही उन्हें सरकार अथवा बैंक को वापिस कर देंगे जिससे उनकी मात्रा अपने आप ही कम हो जायगी। उनके अनुसार नोटों के प्रसार की मात्रा देश के व्यापार और खेती की आवश्यकता के अनुसार अपने आप ही घटती-बढ़ती रहती है। कहना न होगा कि इस सिद्धांत का पालन होना कठिन है क्योंकि, जैसा भिन्न-भिन्न देशों का अनुभव है, नोटों का प्रसार सदैव आवश्यकता के अनुसार अथवा होशियारी से नहीं किया जाता। बैंक बहुधा संदेहजनक व्यापारों के लिए द्रव्य उधार दे दिया करते हैं। अतः, यह परमावश्यक है कि इनके ऊपर उचित नियन्त्रण बना रहे। इसका

यह तात्पर्य नहीं है कि सम्पूर्ण नोटों के बराबर अथवा विश्वसनीय नोटों के अतिरिक्त सभी नोटों के लिए स्वर्णपाट रहना चाहिए वल्कि यह कि अनावश्यक नोटों का अत्यधिक प्रसार रोकने के लिए कुछ न कुछ उपाय अवश्य प्रयोग करने चाहिए।

४. अपरिवर्तनशील नोटों के अवगुण

अपरिवर्तनशील नोटों में स्वतः कोई दोष नहीं है किन्तु उनसे इस कारण हानि होती है कि उनका प्रायः अत्यधिक प्रसार कर दिया जाता है। जिस प्रकार माँग और पूर्ति के नियमानुसार किसी अन्य वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है उसी प्रकार द्रव्य का मूल्य अथवा द्रव्य की अन्य वस्तु खरीदने की शक्ति भी द्रव्य की माँग और पूर्ति पर निर्भर है। उसके अत्यधिक प्रसार होने पर उसका मूल्य घट तथा कम प्रसार होने पर बढ़ जाता है। जब अपरिवर्तनशील नोटों की मात्रा ठीक आवश्यकता के अनुसार ही रहती है तब उनका मूल्य स्थिर रहता है किन्तु अधिक प्रसार होने पर उनका मूल्य घट जाता है। यही बात परिवर्तनशील नोटों और धात्विक द्रव्य के साथ भी पाई जाती है। अत्यधिक प्रसार होने पर तो सभी करन्सी प्रथाओं में द्रव्य का मूल्य घट जाता है। अपरिवर्तनशील नोटों के अत्यधिक प्रसार का प्रभाव किसी प्रकार के भी द्रव्य प्रसार की तरह ही सम्पूर्ण वस्तुओं के मूल्यों पर पड़ता है।

यदि हम सर्वप्रथम सोने का मूल्य लें तो उनका सोने से कोई सम्बन्ध न होने के कारण यह बढ़ जाता है। किसी भी देश के अपरिवर्तनशील नोटों का मूल्य तभी ही कम होता है जब उनका दिन प्रतिदिन अत्यधिक प्रसार होने के कारण उनके प्रति लोगों का विश्वास उठ जाता है। सोने के मूल्य में जितनी बढ़ती होती है उतनी ही द्रव्य के मूल्य में घटती होती है।

इसी भाँति इनका मूल्य घट जाने पर अन्य वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ जाता है। सोने का मूल्य बढ़ने के कारण आयात करने वालों को खरीदी हुई वस्तुओं का मूल्य अधिक देना पड़ता है। अतः इसका यह परिणाम होता है कि वे अपनी वह हानि पूरी करने के लिए उनका मूल्य बढ़ा देते हैं और जब उनका मूल्य बढ़ जाता है तब उनकी देखा देखी अन्य वस्तुओं का मूल्य भी

बढ़ जाता है। प्रत्येक देश ने यह अनुभव किया है कि नोटों का मूल्य घटने पर वस्तुओं का मूल्य और भी तेजी से बढ़ता है। उनका अत्यधिक प्रसार होने के कारण उन पर से लोगों का विश्वास हट जाता है। वास्तव में अपरिवर्तनशील नोटों की सफलता लोगों के विश्वास पर ही निर्भर है और जब कभी भी लोगों का विश्वास हट जाता है तब करन्सी का मूल्य बहुत तेजी से घटने लगता है। यदि विदेशी करन्सी स्वर्ण पर निर्धारित है तब जिस देश के नोट अपरिवर्तनशील हैं। उसके नोटों का मूल्य उनमें उतना ही घट जाता है जितना सोने का मूल्य उसमें बढ़ जाता है। किन्तु जब विदेशी करन्सी भी अपरिवर्तनशील होती है तब उनके मूल्य में उतनी ही घट होती है जितनी कि उन करन्सियों के मूल्य की सोने तथा अन्य वस्तुओं में होती है।

अपरिवर्तनशील नोटों के चलन में आते ही प्रमाणिक मुद्रा का विचलन हो जाता है। १९१४-१८ के युद्ध काल में संयुक्त राज्य में नोटों के अपरिवर्तनीय घोषित होते ही सावरन और अर्ध सावरन चलन से निकल गये। लोगों ने उन्हें अपने पास रख लिया। उनके मूल्य अधिक हो गए।

५. कागजी द्रव्य के लाभ

कागजी द्रव्य के अनेक लाभ :—(१) कागजी द्रव्य धात्विक द्रव्य का स्थान ले लेता है जिससे वह सोना और चाँदी जो धात्विक द्रव्य के काम में आता था अन्य उत्पादक कामों में लाया जाने लगता है। किसी देश में प्रचलित सोने और चाँदी के द्रव्य की तुलना हम उस बड़ी सड़क से कर सकते हैं जो स्वयं तो कुछ नहीं करती किन्तु फिर भी उसके द्वारा सम्पूर्ण प्रकार की वस्तुयें जैसे अन्न, घास आदि बाजार ले जाई जाती हैं।

'यदि मैं एक रूपक का प्रयोग करूँ तो यह कहा जा सकता है कि बैंकिङ्ग की कुशल प्रणाली से और सोने चाँदी के द्रव्य के स्थान पर कागजी द्रव्य के चलन से एक ऐसा आकाश मार्ग तैयार हो जाता है जो मानो देश की अगणित सड़कों को आवागमन के प्रयोग से मुक्त करके घास उत्पन्न करने वाले

मैदानों तथा अनाज उत्पन्न करने वाले खेतों में परिणत कर देता है और फिर उनसे भूमि और श्रम की वार्षिक उपज बढ़ा देता है।'‡

(२) कागजी द्रव्य से बड़ी बचत होती है। धात्विक द्रव्य बनाने में जो व्यय होता है उसकी तुलना में इसे बनाने का द्रव्य बहुत कम होता है। धात्विक द्रव्य में उनके संघर्ष से भी जो हानि होती है वह कागजी द्रव्य में नहीं होती।

(३) कागजी द्रव्य बहुत हलका तथा उठाने में बड़ा सुविधाजनक होता है। वस्तुतः इसमें यही एक गुण ऐसा है जो इसे एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में बड़ी सहायता पहुँचाता है। जब बड़े-बड़े भुगतान और विशेषतः दूर-दूर करने होते हैं, तब यह गुण बहुत ही काम का होता है।

(४) इससे एक आर्थिक लाभ भी है। बात यह है कि आवश्यकता पड़ने पर जैसे युद्ध इत्यादि होने पर सरकार को द्रव्य की कमी के कारण परेशान नहीं होना पड़ता। ऐसे अवसरों पर यह नोट छपवा कर अपना काम चला सकती है।

६. कागजी द्रव्य से हानियाँ

कागजी द्रव्य से कुछ हानियाँ भी हो सकती हैं :—(१) नोट का और विशेषतः परिवर्तनशील नोटों का अत्यधिक प्रसार बहुत ही स्वाभाविक है। अतः, इसके फल-स्वरूप जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है उनकी क्रय-शक्ति बहुत ही कम हो जाती है। किन्तु इसके नियंत्रण के भी कई ढंग हैं और उनमें से एक अपनाया जा सकता है।

(२) कागजी द्रव्य का चलन सीमित होता है। यह किसी एक देश का

---

‡ The judicious operation of banking and substituting paper money in the place of a great part of gold and silver by providing if I may be allowed so violent a metaphor, a sort of wagon way through the air, enable the country to convert, as it were, great number of highways into good pastures and cornfields and thereby to increase very considerably, the annual produce of its land and labour.'

ही द्रव्य होता है। अतः, उसके बाहर नहीं चलता। आजकल जब स्वर्ण का भुगतान नहीं किया जाता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ती हैं।

(३) कागजी द्रव्य में मूल्य अविनाशिता नहीं है। इसके पानी में भीग जाने से, आग से जल जाने पर, इत्यादि, इसके मूल्य की हानि हो जाती है।

सारांश

१. नोट तीन प्रकार के होते हैं :—(१) प्रतिरूप दर्शक (२) परिवर्तनशील, और (३) अपरिवर्तनशील प्रतिरूप दर्शक नोटों की मात्रा उनके स्थान पर रक्खे गए कोष में जितनी प्रमाणिक मुद्रायें और धातु होती हैं उससे अधिक नहीं होती। परिवर्त्तनशील नोटों के लिये जो कोष होता है उसमें कुछ मुद्रायें और धातु रक्खे जाते हैं और शेष कहीं पर लगा रहता है। इन दोनों प्रकार के नोटों के वाहकों को इनके स्थान पर प्रमाणिक मुद्रायें तथा धातु प्राप्त करने का अधिकार रहता है। अपरिवर्तनशील नोटों के लिये कोष में तो चाहे जो रक्खा जाय, किन्तु उनके वाहकों को उनके स्थान पर प्रमाणिक मुद्रायें तथा धातु प्राप्त करने का अधिकार नहीं रहता।

२. किसी देश में बैङ्क अथवा सरकार ही नोट निकालते हैं। सरकारी नोटों में जो अवगुण पाये जाते हैं जैसे लचक की कमी, दूषित नियंत्रण और मूल्य की अस्थिरता वे बैङ्क नोटों में नहीं पाये जाते। तो भी कहीं कहीं सरकार को ही नोट निकालने पड़ते हैं। बैंकों के नोटों में कई कारणों से यह अधिक अच्छा होता है कि एक देश में कई बैङ्कों की अपेक्षा एक ही बैङ्क को नोट निकालने का अधिकार प्राप्त रहे।

३. नोटों पर नियन्त्रण कम से कम सात प्रकार से किया जा सकता है किन्तु इसमें से दो मुख्य हैं। (१) बैंकिंग सिद्धान्त के अनुसार और (२) करन्सी सिद्धान्त के अनुसार। बैंकिंग के सिद्धान्त में यह लाभ है कि उसमें लचक पाई जाती है।

४. अपरिवर्तनशील नोटों में सबसे बड़ा अवगुण यह है कि वे आवश्यकता से अधिक चालू कर दिये जाते हैं जिससे सोने, चाँदी, अन्य वस्तुओं तथा विदेशी करन्सी में उनकी विनिमय शक्ति कम हो जाती है।

५. नोट चालू करने से धात्विक द्रव्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार कीमती धातुओं को अन्य प्रयोगों में लाया जा सकता है। कागजी द्रव्य से यह भी लाभ है कि वे सस्ते पड़ते हैं। उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में भी सुविधा होती है और समय पड़ने पर वे सरकारी व्यय की पूर्ति करने में सहायक होते हैं।

६. कागजी द्रव्य की तीन मुख्य असुविधायें हैं। (१) अत्यधिक प्रसार होना, (२) उनका एक सीमित क्षेत्र में चालू होना और (३) मूल्य अविनाशिता का न होना।

प्रश्न

१. नोट कितने प्रकार के होते हैं? प्रत्येक की विशेषतायें लिखिए। अपरिवर्तनशील नोटों का सबसे बड़ा अवगुण क्या है तथा उनके चलन का लोगों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

२. बैङ्क और सरकारी नोटों के गुण और अवगुण लिखिये। किसी देश में कई बैङ्कों की अपेक्षा एक ही बैङ्क के हाथ में नोट चलाने क अधिकार होना क्यों अधिक हितकर है?

३. नोटों का नियन्त्रण किन-किन तरीकों से किया जा सकता है? प्रत्येक के गुण और अवगुण लिखिये। बैंकिंग और करन्सी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपना मत प्रगट कीजिये।

४. अपरिवर्तनशील नोटों के प्रसार का क्या प्रभाव पड़ता है? उनके प्रसार करने में सबसे बड़ी हानि क्या है तथा उसे कैसे दूर किया जा सकता है?

५. किसी देश में अपरिवर्तनशील नोटों के चलन से सोने, अन्य वस्तुयें और विदेशी करन्सियों में उनकी विनिमय शक्ति किस प्रकार घट जाती है?

६. पत्र मुद्रा किसको कहते हैं? उसके लाभ तथा हानियों का वर्णन कीजिये। (उ० प्र०)

७. राज्य द्वारा चलाये हुये नोटों और बैं द्वारा चलाये हुये नोटों की तुलना कीजिये। इन दोनों में से आप किसे अच्छा समझते हैं और क्यों? (उ० प्र०)

अध्याय ७

ग्रीशम का नियम

द्रव्य सदैव दुःख देता रहा है और उस समय तक ऐसा ही करता रहेगा जिस समय तक कि हम वह सब नियम न जान जायँगे जिनसे करन्सी की सारी प्रथायें शासित होती हैं। कहना न होगा कि द्रव्य सम्बन्धी ये नियम वैज्ञानिक हैं राजनैतिक नहीं। वास्तव में यह उन प्रवृत्तियों के द्योतक हैं जो कुछ परिस्थितियों के फलस्वरूप विशेष कारणों द्वारा स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं। न तो ये किसी के द्वारा बनाये ही जाते हैं और न इन्हें पालन करवाने के लिये पुलिस और न्यायाधीश ही नियुक्त होते हैं। बस ऐसे नियमों में से ही एक ग्रीशम का नियम है जो रानी एलिजाबेथ के नाइट के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है इसी नाइट ने वह राजकीय विज्ञप्ति निकलवाई थी जिसमें यह नियम सर्वप्रथम निहित है।

१. ग्रीशम द्वारानिकलवाई हुई राजकीय विज्ञप्ति में निहित नियम

ग्रीशम द्वारा निकलवाई हुई राजकीय विज्ञप्ति में जो नियम निहित था वह यह है कि 'जब एक ही धातु की, किन्तु तौल और गुण में विभिन्न, बहुत सी मुद्रायें एक ही विनिमय मूल्य पर साथ-साथ चलती हैं तब अधिक खराब मुद्रायें अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देती हैं पर अच्छी बुरी मुद्राओं को कभी बाहर नहीं निकल पातीं।'*

---

* If coins of the same metal, but of varying weight and quality circulate together at the same nominal value the worse coins will drive the better from circulation, but the better will never drive out the worse.

इस नियम की अस्वाभाविकता—यह नियम बड़ा अस्वाभाविक प्रतीत होता है क्योंकि साधारणतया मनुष्य अच्छी चीज प्रयोग में लाता है और बुरी चीजों का बहिष्कार कर देता है किन्तु मुद्राओं के प्रयोग में वह ऐसा करता हुआ नहीं पाया जाता। इसका कारण यह है कि जब अच्छी और बुरी दोनों मुद्राओं का मूल्य द्रव्य के रूप में तो उस देश में वही होता है जिसमें वे चालू होती हैं किन्तु पाट (Bullion) के रूप में उनका मूल्य कम तथा अधिक रहता है तो मनुष्य अच्छी मुद्रायें अपने पास बचा कर रखता है अथवा उन्हें गला कर पाट के रूप में बेच देता है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में पाट के रूप में दे देता है तथा बुरी मुद्रायें बाजार में चलाता है।

२. इस नियम का मार्शल द्वारा दियागया रूप

उपर्युक्त रूप में ग्रीशम का नियम केवल एक धातुमान में ही लागू होता था। अतः, मार्शल ने उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है जिससे वह सब प्रकार के द्रव्यमान में लागू हो सकता है। उसका परिवर्तन इस भाँति है 'यदि घटिया करन्सी की मात्रा सीमित नहीं होती तो वह बढ़िया करन्सी को चलन से बाहर कर देती है।' *

ग्रीशम का नियम भिन्न-भिन्न प्रकार की करन्सियों में निम्न प्रकार लागू होता है :—

१. एक धातुमान—एक धातुमान में जब एक ही मूल्य की नई (पूरी तौल की) और पुरानी (घिसी हुई) मुद्राओं का चलन होता है तब पुरानी (घिसी हुई) मुद्रायें अर्थात् घटिया करन्सी नई (पूरी तौल की) मुद्राओं अर्थात् बढ़िया करन्सी को चलन के बाहर कर देती है। यह नियम प्रत्यक्ष रूप में प्रचलित देखकर ही ग्रीशम ने इसकी राजकीय विज्ञप्ति करवाई थी। उस समय लन्दन टावर में एक मिल स्थापित की गई थी जिसके कारण मुद्राओं को हाथ से बनाने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। यह मिल घोड़ों

---

* 'An inferior currency, if not limited in amount, drives superior currency out of circulation.'

द्वारा चलती थी। सच तो यह है कि आजकल के यांत्रिक उसे अवश्य ही बहुत बेडौल तथा खराब समझते। किन्तु वह उस समय ऐसी अच्छी मुद्रायें बनाती थीं जो उसके पहिले कभी नहीं बन सकी थीं। अतः, हाथ से बनी हुई और मशीन से बनी हुई दोनों प्रकार की मुद्रायें बाजार में किसी भेद-भाव बिना द्रव्य के भुगतान के लिये प्रयोग में आती थीं। जो हो, सरकार इस बात की आशा करती थी कि नया द्रव्य जो अच्छा था पुराने द्रव्य का जो बुरा था शीघ्र ही पूरी तरह से स्थान ले लेगा। किन्तु ऐसा नहीं हुआ और उस समय के राजनीतिज्ञों को इसमें बड़ा आश्चर्य मालूम हुआ कि लोग ऐसे हठी क्यों हो गये हैं जो अच्छी करन्सी छोड़कर बुरी करन्सी का उपयोग करते हैं। घोड़े बराबर टावर में काम करते थे और अगणित मुद्रायें निकल रही थीं। किन्तु इतने पर भी वे उतनी शीघ्र ही गायब हो जाती थीं जितनी शीघ्र कि वह निकलती थीं। बाजार में तो वह नजर ही नहीं आती थीं। किन्तु इसका कारण ग्रीशम ने बता दिया और सत्य सामने रख दिया।

२. द्विधातुमान—जब दो धातुओं की मुद्रायें किसी देश में एक साथ चलती हैं और उनका विनिमय मूल्य परस्पर निर्धारित रहता है अर्थात् पक्का द्विधातु मान होता है तब भी ग्रीशम का नियम अपना काम करता है।

बाजार में तो उन दोनों मुद्राओं की धातु का मूल्य सदैव घटता-बढ़ता रहता है। अतः, उसके अनुसार उन मुद्राओं का जो विनिमय मूल्य होता है वह निर्धारित विनिमय मूल्य से बहुत ही भिन्न होता है। इसके फलस्वरूप वह मुद्रायें जिनका निर्धारित विनिमय मूल्य धातुओं के बाजारू विनिमय मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है (घटिया करंसी) उन मुद्राओं को जिनका निर्धारित विनिमय मूल्य धातुओं के बाजारू विनिमय मूल्य की अपेक्षा कम होता है (बढ़िया करन्सी) चलन से बाहर कर देती है। फ्रांस और संयुक्त राष्ट्र अमरीका की करंसी में उस समय यही हुआ जब वहाँ पर द्विधातुमान प्रचलित थी। वास्तव में इन देशों में उस समय वैकल्पिक मान (Alternating Standard) था अर्थात् कभी एक करंसी और कभी दूसरी करंसी जो घटिया करंसी हो जाती थीं वही चलती थी।

३. घटे हुए मूल्य की कागजी करन्सी —जब घटे हुए मूल्य की कागजी करंसी और धात्विक करंसी साथ-साथ चलती है तब घटे हुये मूल्य की कागज़ी करंसी (घटिया करसी) धात्विक करंसी (बढ़िया करंसी) को निकाल बाहर करती है। इसका उदाहरण (सन् १९१४-१८) के युद्ध के समय और उसके बाद की योरोपीय देशों की करंसियों से मिलता है। इस समय संयुक्त राज्य (U. K.) में स्वर्ण मुद्रायें चलन में नहीं रह गईं। यही बात जर्मनी में भी हुई।

ग्रीशम के नियम में रुकावट (प्रतिबन्ध)

जिस प्रकार अर्थशास्त्र के अधिकांश नियम परिस्थिति विशेष में लागू होते हैं और उनके संबन्ध में यह कहा जाता है कि "अन्य बातों में कोई परिवर्तन न होने पर ही," वे सत्य हैं, उसी प्रकार ग्रीशम का नियम भी कुछ रुकावटों के साथ ही सत्य है। मार्शल ने उक्त नियम को इस बंधन से बाँध दिया है कि "यदि घटिया करन्सी सीमित न हो।" ग्रीशम का नियम निम्न स्थितियों में नहीं लागू होता :—

१. जब घटिया और बढ़िया करंसी दोनों की मात्रा आवश्यकता से अधिक नहीं होती—तब दोनों प्रकार की करन्सियाँ मिलकर व्यापार की बढ़ती हुई करंसी की माँग पूरा नहीं कर पातीं। अतः, घटिया करन्सी उस दशा में बढ़िया करन्सी को चलन से बाहर नहीं करती।

२. जब बढ़िया मुद्राओं का धात्विक मूल्य उनके निर्धारित विनिमय मूल्य से कम होता है—तब भी लोग उन्हें जमा करके, गला करके अथवा विदेशों में भुगतान करके चलन से बाहर नहीं करते। अतः, उस दशा में भी यह नियम लागू नहीं होता।

३. जब लोग घटिया करन्सी के प्रयोग का विरोध करते हैं—कभी-कभी घटिया करन्सी इतनी खराब होती है कि लोग उसे बिल्कुल पसन्द नहीं करते। पिछले महायुद्ध के पश्चात् लोगों ने घटे हुए मूल्य की करन्सी लेना बन्द कर दिया। अतः, भिन्न-भिन्न देशों के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे अपने यहाँ की करन्सी का मूल्य स्थिर रखने के लिए उचित उपाय करें।

४. जब किसी देश में प्रचलित कई मुद्राओं में से एक की ग्राह्यता (Tender)—विधानतः सीमित होती है तब भी यह नियम लागू नहीं हो पाता।

३. घिसी हुई मुद्राओं की वापसी

ग्रीशम के नियम में निहित सत्यता समझ लेने के बाद भिन्न-भिन्न देशों की सरकारों ने यह आवश्यक समझा कि वे घिसी हुई मुद्रायें वापिस ले लें। ऐसा करने के समय सरकार जनता को प्रायः यह सूचना दे दिया करती है कि लोगों को किसी विशेष प्रकार की छाप की मुद्रायें एक निश्चित तारीख तक राजकीय कोष में जमा कर देनी चाहिए। हमारे देश में भी पहिले विक्टोरिया और एडवर्ड की छाप की मुद्रायें जमा करा ली गई थीं। फिर समय-समय पर अन्य मुद्रायें भी वापिस करा ली गई हैं। मुद्रायें जमा करवाते समय सरकार अपने कोष से यह कह देती है कि वह उन्हें वापिस लेते समय उनकी तौल पर अधिक ध्यान न दे। हाँ, जाली मुद्रायें अवश्य न ले। हमारे देश में रुपये और अठन्नियाँ उस समय विधानतः ग्राह्य नहीं रह सकते जब निर्धारित तौल से दो प्रतिशत से अधिक कम हो जाती है। वस्तुतः इस दो प्रतिशत तौल की कमी प्रयोग में आते रहने के कारण स्वाभाविक कमी समझी जा सकती है।

सारांश

१. ग्रीशम का नियम पूर्णतः विपरीत और विचित्र प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। मनुष्यों का यह स्वभाव ही होता है कि वह अच्छी मुद्रायें अपने पास जमा रक्खें और बुरी मुद्रायें विनिमय में दे दें।

२. मार्शल ने ग्रीशम के नियम में कुछ परिवर्तन कर दिया है जिससे कि वह सब प्रकार का करन्सियों में लागू हो सकता है। (१) एक धातु में पुरानी घिसी हुई मुद्रायें नई, पूरी मुद्राओं को तथा (२) द्विधातुमान में वह मुद्रायें जिनका मूल्य उनके बाजारू धात्विक मूल्य से अधिक निर्धारित कर दिया गया है उन मुद्राओं को जिनका मूल्य उनके बाजारू धात्विक मूल्य से कम निर्धारित है तथा (३) गिरे हुए मूल्य वाले कागज के नोट प्रमाणिक मुद्राओं को चलन के बाहर कर देते हैं। ग्रीशम का नियम केवल कुछ बन्धनों के साथ ही लागू हो सकता है।

३. ग्रीशम का नियम समझ लेने के बाद भिन्न-भिन्न देशों की सरकारों ने प्रयोग में आने के कारण जो मुद्रायें घिस गई हैं उन्हें वापिस लेना प्रारम्भ कर दिया है। मुद्रायें वापिस लेते समय सरकार को यह अवश्य ध्यान में रखना पड़ता है कि वह जाली तो नहीं है।

प्रश्न

१. संक्षेप में तथा उदाहरणों सहित यह बताइये कि ग्रीशम का नियम क्या है तथा वह किन-किन स्थितियों में लागू रहता है।

२. "दूषित द्रव्य अच्छे द्रव्य को चलन के बाहर कर देता है" इस पर अपने विचार प्रकट करिये।

३. 'कुरूप द्रव्य अच्छे द्रव्य को चलन के बाहर डाल देता है।' इस उक्ति को सविस्तार समझाइये। क्या यह सदैव सत्य है? (उ० प्र०)

अध्याय ८

द्रव्य का परिमाणिक सिद्धांत

द्रव्य के संबंध में ग्रीशम के नियम की भाँति एक अन्य महत्वपूर्ण नियम भी है किन्तु इसका पता ग्रीशम के समय से बहुत पहिले ही लग चुका था। कहा जाता है कि रोम के प्रसिद्ध जूरिस्ट (Jurist) जुलियस पालस ने सर्व प्रथम इस नियम का पता लगाया था। उसका मत था कि द्रव्य की विनिमय शक्ति (मूल्य) उसके परिमाण पर निर्भर रहती है। उसने अपने कथन की पुष्टि में अपने समय की स्थिति से कुछ उदाहरण भी दिये थे। तत्पश्चात् अन्य प्रसिद्ध लेखकों ने भी इस नियम के सम्बन्ध में अपने मत प्रकट किये हैं।

१. द्रव्य के परिमाणिक सिद्धांत का प्रारम्भिक रूप

यह भली प्रकार विदित है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग के आधार पर उसकी पूर्ति पर निर्भर रहता है। बस, इसी प्रकार द्रव्य का मूल्य भी उसकी माँग के आधार पर उसकी पूर्ति पर निर्भर रहता है। अर्थशास्त्र में इस सम्बन्ध का एक विशेष सिद्धांत प्रचलित है जिसे द्रव्य का परिमाणिक सिद्धांत कहा जाता है। यह सिद्धांत प्रारम्भिक अवस्था में इस प्रकार था :—

"यदि अन्य परिस्थितयाँ जैसी की तैसी ही बनी रहें तो जिस अनुपात में द्रव्य का परिमाण परिवर्तित होता है (घटता बढ़ता है) ठीक उसके विपरीत उसी अनुपात में द्रव्य की विनिमय शक्ति (मूल्य) परिवर्तित होती है (घटती-बढ़ती है)।"

इस नियम की सत्यता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिये। उदाहरणार्थ यदि एक ही मूल्य वाली चार वस्तुओं का विनिमय करना है और किसी के पास वह चारों वस्तुयें खरीदने के निमित्त चार ही रुपये हैं तब प्रत्येक वस्तु का मूल्य वह केवल एक रुपया ही दे सकेगा। किन्तु यदि वस्तुओं की संख्या चार ही रहे और रुपयों की संख्या ४ के स्थान पर ८ हो

जाय तब वह प्रत्येक वस्तु का मूल्य २ रुपये दे सकेगा। इसके विपरीत यदि वस्तुओं की संख्या दुगुनी अर्थात् ८ हो जाय और रुपयों की संख्या ४ ही रहे तब प्रत्येक वस्तु का मूल्य आधा रुपया ही दिया जा सकेगा। वस्तुओं के मूल्य के संबन्ध में यद्यपि यह नियम है कि वस्तुओं का परिमाण बढ़ने पर उनके दाम घटते तथा परिमाण घटने पर उनके दाम बढ़ते हैं फिर भी उनका मूल्य ठीक उसी अनुपात में नहीं घटता-बढ़ता जिस अनुपात में उनका परिमाण घटता-बढ़ता है। किन्तु द्रव्य का मूल्य तो ठीक उसी अनुपात में घटता-बढ़ता है जिस अनुपात में उसका परिमाण घटता-बढ़ता है।

"यदि अन्य परिस्थितियाँ जैसी की तैसी बनी रहें—इन शब्दों का महत्व—द्रव्य का पारिमाणिक सिद्धांत बताते समय हम यह कह चुके हैं कि यह सिद्धांत तभी लागू होता है जब अन्य परिस्थितियाँ जैसी की तैसी ही बनी रहें। इन शब्दों का महत्व हम निम्न-प्रकार से समझ सकते हैं।

(१) किसी देश में केवल किसी विधानतः ग्राह्य द्रव्य का ही प्रयोग होना चाहिये। इसके विपरीत यदि अन्य प्रकार के द्रव्य (साख-पत्रों) का भी प्रयोग है तब यह नियम लागू नहीं होता अथवा यों कहिये कि उस परिस्थिति में द्रव्य के परिमाण के परिवर्तन में सभी प्रकार के द्रव्य के परिमाण का परिवर्तन लेना चाहिये।

(२) द्रव्य के चलन की गति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। द्रव्य की पूर्ति द्रव्य के चलन की गति बढ़ने से बढ़ती और घटने से घटती है।

(३) सम्पूर्ण द्रव्य का चलन होना चाहिए अर्थात् उसका कुछ अंश लोगों के पास जमा न रहना चाहिए। यदि वह जमा है तो चलित द्रव्य का परिमाण उसी मात्रा में घट जाता है।

(४) सब वस्तुओं के विनिमय का माध्यम द्रव्य ही होना चाहिये अन्यथा उसकी माँग वस्तुओं के परिमाण के अनुसार नहीं रहती।

(५) देश में उधार लेन-देन की प्रथा न होनी चाहिये। इसका भी माँग पर प्रभाव पड़ता है।

(६) वस्तुओं की विनिमय की गति में भी कोई परिवर्तन न होना चाहिये अन्यथा माँग में अन्तर पड़ जायगा।

(७) इनके अतिरिक्त अन्य परिस्थितियाँ जैसी की तैसी ही बनी रहें इन शब्दों से यह भी अर्थ लगाया जाता है कि वस्तुओं की उत्पत्ति उनके विनिमय की दर और देश की जन-संख्या में भी कोई परिवर्तन न हो।

इस प्रकार पारिमाणिक सिद्धांत की सत्यता के लिए उपर्युक्त बातें होनी आवश्यक हैं। किन्तु आधुनिक काल में जब समाज और देश की गति बड़ी तेजी से बदल रही है उपर्युक्त बातें होना असम्भव है।

२. पारिमाणिक सिद्धांत का आधुनिक रूप

उपर्युक्त बातें ध्यान में रखते हुये आधुनिक लेखकों ने पारिमाणिक सिद्धांत के पुराने रूप में कुछ परिवर्तन करना अथवा उसे किसी अन्य रूप में प्रगट करना आवश्यक समझा। अतः, उसका नया रूप इस भाँति है।

'वस्तुओं का औसत मूल्य साधारणतः चालू द्रव्य के परिमाण और उसकी चलन की गति (पूर्ति) के परिवर्तन के साथ-साथ ठीक उसी दिशा और अनुपात में परिवर्तित होता है तथा विनिमय की क्रयशीलता (द्रव्य की माँग जो विनिमय की वस्तुओं और उनके मूल्य के गुणनफल के बराबर होती है) के परिवर्तन के साथ-साथ उसके विपरीत दिशा में और अनुपात में परिवर्तित होती है।'* यहाँ पर यह नियम दो दृष्टिकोण से दिया गया है—एक तो द्रव्य की पूर्ति (परिमाण इत्यादि) के दृष्टिकोण से और दूसरे द्रव्य की माँग (विनिमय की क्रयशीलता-वस्तुओं के परिमाण इत्यादि) के दृष्टिकोण से। जब वस्तुओं का मूल्य साधारणतः द्रव्य का परिमाण, इत्यादि घटने से घटता तथा बढ़ने से बढ़ता है तब वही साधारणतः वस्तुओं का परिमाण, इत्यादि घटने से घटता तथा बढ़ने से बढ़ता है। प्रथम में परिवर्तन होने से वस्तुओं के मूल्य का परिवर्तन उसी दिशा में तथा द्वितीय में परिवर्तन होने से यह विपरीत दिशा में होता है। यही कथन

---

*"The general level of prices tends to vary directly in proportion with the quantity of money in circulation and its rapidity, i. e., its supply and inversely with the activity of exchange, i. e., the demand for money indicated by the goods to be exchanged multiplied by their prices."

वस्तुओं के मूल्य तथा द्रव्य के दृष्टिकोण से भी कहा जा सकता है। वस्तुओं का मूल्य तो द्रव्य का परिमाण, इत्यादि बढ़ने से आनुपातिक रूप में बढ़ता और घटने से आनुपातिक रूप में घटता है और द्रव्य का मूल्य, द्रव्य का परिमाण, इत्यादि बढ़ने से आनुपातिक रूप में घटता और घटने के आनुपातिक रूप में बढ़ता है। कहना न होगा कि द्रव्य का मूल्य उसकी क्रयशक्ति है।

उपर्युक्त में 'साधारणतः' शब्द बड़े महत्व का है। अर्थशास्त्र के सभी नियम साधारणतः लागू होते हैं। इस नियम के प्रारम्भिक रूप में जो 'यदि अन्य परिस्थितियाँ जैसी की तैसी ही बनी रहें' था उसी के स्थान में इस आधुनिक रूप में यह 'साधारणतः' शब्द है। यदि परिस्थितियाँ बदल जाती हैं तो साधारण स्थिति नहीं रह जाती।

वस्तुओं का औसत मूल्य—वस्तुओं का औसत मूल्य काल्पनिक है। यह केवल अंकगणित की वस्तु है। किन्तु यह आवश्यक इसलिए है कि सब वस्तुओं के दाम न तो एक साथ घटते-बढ़ते हैं और न यह बढ़ती-घटती एक सी ही है। जब कुछ वस्तुओं के दाम बढ़ते हैं, तब कुछ के घट भी सकते हैं, इत्यादि और यदि एक वस्तु का दाम दुगना हो गया है तो दूसरों का शायद ड्योढ़ा अथवा, ढाई गुना हो गया हो। अतः, औसत तो निकालना ही पड़ता है। अब यह औसत सूची अंक (Index number) बनाकर निकाला जाता है। सूची अंक पहिले तो केवल अध्ययन की ही वस्तु थे किन्तु अब यह काम में भी आने लगे हैं। वस्तुतः, द्रव्य की क्रयशक्ति में जो इतने शीघ्र परिवर्तन होते हैं उससे दीर्घकालिक अनुबंधों (Contracts) में जो द्रव्य में ही रहते हैं उचित समन्वय (Adjustment) करने के लिए बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। जब-जब मजदूरियाँ एक बड़े समय के लिए द्रव्य में स्थिर हो जाती हैं जिसके अंदर जीवन निर्वाह की लागत बढ़ जाती है तब समय बीतने पर उस मजदूरी से उससे कम वस्तुयें मिलती हैं जो मजदूरी स्थिर होने के समय मिलती थी। बस, इसके फलस्वरूप झगड़े उठ खड़े होते हैं और जब मूल्य वृद्धि मापक कोई साधन नहीं होता तब उन्हें तै करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। किन्तु यदि परिवर्तन की माप के लिए कोई ऐसा साधन रहता है जिस पर सभी का विश्वास होता है

तब मजदूरी संबंधी समझौता होने में आसानी पड़ती है। संयुक्त राज्य में मालिकों तथा कर्मचारियों के संगठनों के बीच में ऐसे समझौते हो गए हैं कि जिनसे जीवन निर्वाह की लागत में परिवर्तन होते ही लगभग ३० लाख मजदूरों की मजदूरी में व्यवस्थित तथा स्वयंगतिक समन्वय हो जाता है। इनसे अपरिवर्तनशील नोटों का मूल्य स्थिर रखने में भी बड़ी सहायता मिलती है। बात यह है कि सूची अंक बढ़ने से नोटों का परिमाण घटा और घटने से बढ़ा दिया जाता है, और इस तरह से मूल्य स्थिर रखे जाते हैं। कृत्रिम करन्सी इन्हीं पर निर्धारित रहती है।

द्रव्य की माँग और पूर्ति—ऊपर द्रव्य की माँग और पूर्ति का प्रयोग हुआ है। अब, हमें इन्हें और विस्तृत रूप में समझ लेना चाहिए।

द्रव्य की माँग—प्रत्येक अर्थशास्त्री यह जानता है कि माँग और इच्छा पर्यायवाची नहीं हैं। माँग केवल वह इच्छा है जिसके पृष्ठ पर पूर्ति की शक्ति है। अस्तु, हम जो सेवायें कर सकते हैं और हमारे पास जो वस्तुयें हैं वह जब बाजार में बिकने आती हैं तभी वह द्रव्य की माँग बन जाती हैं। दूसरे शब्दों में यही द्रव्य के मूल्य हैं। अतः, यदि यही मूल्य बढ़ जाता है अर्थात् अधिकाधिक वस्तुयें और सेवायें बिक्री के लिये आती हैं तो द्रव्य का मूल्य भी बढ़ जाता है। वह अधिक खरीद कर सकता है और इस तरह से उसकी शक्ति अधिक हो जाती है। किन्तु यहाँ पर यह बात भी ध्यान रखनी चाहिये कि जितनी वस्तुयें तथा सेवायें बिक्री के लिये आती हैं वह सभी द्रव्य से नहीं बिकतीं। उनमें से कुछ परस्पर विनिमय हो जाती हैं, अतः, वह द्रव्य की माँग नहीं बनतीं।

द्रव्य की पूर्ति—द्रव्य की पूर्ति से उस द्रव्य का मतलब है जिसके बदले में हम लोग वस्तुयें खरीदना और काम करवाना चाहते हैं। द्रव्य की पूर्ति का प्रमाण प्रसारित किये हुये सम्पूर्ण द्रव्य के बराबर नहीं होता। बात यह है कि प्रसारित द्रव्य का कुछ अंश लोगों के पास व्यर्थ पड़ा रहता है। इसके अतिरिक्त हमें द्रव्य शब्द का अर्थ भी स्पष्टतया ध्यान में रखना चाहिये। इसमें केवल प्रमाणिक मुद्रा ही नहीं वरन् उसके साथ-साथ भिन्न प्रकार की सांकेतिक मुद्रायें, कागज के नोट और सभी प्रकार के साख-पत्र भी आ जाते हैं। अब, किसी

समय भी द्रव्य की पूर्ति का ठीक पता लगाना बिल्कुल असम्भव है। फिर, एक बात यह है कि बैङ्कों के फेल होने से तथा राजनैतिक हलचलों और अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों के कारण भी जो कि किसी राष्ट्र में मंदी ले आते हैं द्रव्य की पूर्ति में कमी कर देते हैं। इसके विपरीत जिन स्थितियों से जनसाधारण का विश्वास बढ़ता है और बाजार को स्फूर्ति मिलती है उनके कारण यह बढ़ जाती हैं।

इसके अतिरिक्त द्रव्य की पूर्ति का अर्थ केवल उस द्रव्य के परिमाण से नहीं है जो वस्तुयें खरीदने अथवा काम करवाने के लिये आता है। वास्तव में इसमें हमें उसकी कार्य-कुशलता का भी ध्यान रखना पड़ता है। हम उस द्रव्य को अधिक कार्य कुशल कहते हैं जो एक जगह रक्खा रहने अथवा एक बार प्रयोग में आने की अपेक्षा कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुयें खरीदने के प्रयोग में आता है तथा जो चालू रहता है। परन्तु द्रव्य चलन की गति का पता लगाना बहुत ही कठिन है। जो हो, अर्थशास्त्रियों ने इसका पता लगाने के लिये यह गुर निकाला है :—

$$\text{ग} = \frac{\text{ख}}{\text{द्र}}$$

इसमें ग = द्रव्य के प्रसार की गति, ख = समाज अथवा देश का कुल खर्च और द्र = प्रसारित द्रव्य का औसत परिमाण।

जब द्रव्य के परिमाण में कोई घट-बढ़ होती है तब उसका प्रभाव द्रव्य के चलन की गति पर भी पड़ता है। अतः, द्रव्य की पूर्ति का ठीक-ठीक पता लगाना असम्भव है।

द्रव्य की माँग और पूर्ति में से एक में से घट-बढ़ होने का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है। जब देश में द्रव्य का परिमाण अधिक हो जाता है तब उसमें वस्तुओं की उत्पत्ति बढ़ने में भी प्रोत्साहन मिलता है और जब उसका परिमाण कम हो जाता है तब उत्पत्ति भी कम हो जाती है। इसी प्रकार उत्पत्ति और व्यापार में परिवर्तन होने से उसका प्रभाव उधार लेन-देन के परिमाण पर भी पड़ता है।

३. पारिमाणिक सिद्धांत की आलोचना

इस सिद्धान्त की बहुत आलोचना की गई है। प्रथम तो यह कि इसमें कोई विशेषता नहीं है। यह माँग एवम् पूर्ति का ही तो सिद्धान्त है। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं द्रव्य के मूल्य का परिवर्तन तो उसकी पूर्ति के अनुपात में होता है जब अन्य वस्तुओं के मूल्य का परिवर्तन उनकी पूर्ति के अनुपात में नहीं होता। बात यह है कि द्रव्य की माँग तो उसके विनिमय कार्य पर निर्भर है जो उत्पादन में परिवर्तन हुए बिना नहीं बदलता। इसके विपरीत वस्तुओं की माँग उनकी उपयोगिता के कारण होने पर स्वयम् ही बदलती रहती है। इसके अतिरिक्त द्रव्य की उपयोगिता उसकी राशि पर निर्भर न होकर उसकी क्रय शक्ति पर निर्भर है जब वस्तुओं की उपयोगिता उनकी मात्रा पर निर्भर है। अतः द्रव्य में लोच नहीं है, अथवा यह समानुपातिक (unitary) है।

दूसरे, यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त माँग एवम् पूर्ति नियम पर आश्रित स्वयम् सिद्ध सत्य है। अतः, इसे इतना महत्व क्यों दिया जाता है? इसका उत्तर यह है कि इस सिद्धान्त के द्वारा मूल्य ठीक रक्खे जा सकते हैं। अतः, बैंकिंग के अध्ययन में इस पर बल देना उचित ही है।

तीसरे, यह कि यह सिद्धान्त काल्पनिक है। वस्तुतः द्रव्य की पूर्ति के ठीक-ठीक आँकड़े हमें ज्ञात ही नहीं हो पाते। किन्तु, ठीक-ठीक आँकड़े ज्ञात न होने पर भी इसकी सत्यता तो प्रमाणित है ही। अतः, यही यथेष्ट है।

चौथे, यह कि मूल्य कभी-कभी द्रव्य के परिमाण में परिवर्तन के कारण नहीं वरन् अन्य कारणों से बदलते हैं। इसका उत्तर यह है कि ऐसी स्थिति में भी द्रव्य का परिमाण बदल कर उनका स्तर ठीक किया जा सकता है।

४. द्रव्य के पारिमाणिक सिद्धांत की गणित के रूप में अभिव्यक्ति

प्रोफेसर इरविंग फिशर ने इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित गुर का प्रयोग किया है। in english

$$PT = MV + M'V' \text{ or } P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

$$\text{मू व} = \text{द ग} + \text{द' ग'} \text{ अर्थात् मू} = \frac{\text{द ग} + \text{द' ग'}}{\text{व}}$$

जब मू = वस्तुओं का मूल्य; व = विनिमय की सम्पूर्ण वस्तुएँ, द = कानूनी द्रव्य का परिमाण, ग = कानूनी द्रव्य के प्रसार की गति, द' = चालू साख द्रव्य का परिमाण, ग' = चालू साख द्रव्य की गति।

द्रव्य के पारिमाणिक सिद्धान्त के उपरोक्त गुर में द्रव्य के प्रसार की गति, साख द्रव्य का परिमाण और उसके चलन की गति तथा व्यापार की दशा और परिमाण भी सम्मिलित कर दिये गये हैं। बात यह है कि यदि इनमें से किसी में भी कोई परिवर्तन होता है तो उस परिवर्तन का प्रभाव वस्तुओं के मूल्य पर पड़ता है अब इसमें यदि परिस्थितियाँ जैसी की तैसी बनी रहें अथवा 'साधारणत:' शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह सब ले लिये हैं। प्रोफेसर चैपमैन ने उपरोक्त गुर में कुछ परिवर्तन कर दिया है। उनके अनुसार 'मू' का अर्थ वस्तुओं के मूल्य के स्थान पर द्रव्य का मूल्य, (उसकी विनिमय अथवा क्रयशक्ति) होता है।

$$\text{अतैव मू} = \frac{\text{व}}{\text{द ग} + \text{द' ग'}}$$

यह गुर बिलकुल सही मालूम पड़ता है क्योंकि द्रव्य की क्रयशक्ति वस्तुओं के कुल परिमाण के अनुकूल और द्रव्य की पूर्ति के प्रतिकूल ही बदलती है।

उपरोक्त गुरों का अन्तिम सारांश—उपरोक्त गुरों में यह बतलाया गया है कि द्रव्य और वस्तुओं के परिमाण में परिवर्तन होने का वस्तुओं के मूल्य और द्रव्य की क्रयशक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है। अब, हम प्रत्येक गुर की विशेष-विशेष बातें लेंगे।

प्रोफेसर इरविंग फिशर के गुर—से पता चलता है कि द्रव्य और वस्तुओं के परिमाण में जो परिवर्तन होता है उसका वस्तुओं के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है जो निम्नलिखित है—

(१) (वस्तुओं का कुल परिमाण वही रहते हुए) द्रव्य का परिमाण बढ़ने पर वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ता है।

(२) (वस्तुओं का कुल परिमाण वही रहते हुए) द्रव्य का परिमाण घटने पर वस्तुओं का मूल्य भी घटता है।

(३) (द्रव्य की मात्रा वही रहने पर) वस्तुओं की कुल मात्रा अर्थात द्रव्य की माँग घटने पर वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है।

(४) (द्रव्य की मात्रा वही रहने पर) वस्तुओं की कुल मात्रा अर्थात द्रव्य की माँग बढ़ने पर वस्तुओं का मूल्य घट जाता है।

प्रोफेसर चैपमैन का गुर हमें यह बताता है कि द्रव्य और वस्तुओं की मात्रा में जो परिवर्तन होता है उनका द्रव्य के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। उसके सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित बातें याद रखनी चाहिए—

(१) (द्रव्य की मात्रा वही रहने पर) कुल वस्तुओं की मात्रा बढ़ने से द्रव्य का मूल्य भी बढ़ जाता है।

(२) (द्रव्य की मात्रा वही रहने पर) कुल वस्तुओं की मात्रा घटने पर वस्तुओं का मूल्य भी घट जाता है।

(३) (वस्तुओं की कुल मात्रा वही रहने पर) द्रव्य की मात्रा घटने पर द्रव्य का मूल्य बढ़ जाता है।

(४) (कुल वस्तुओं की मात्रा वही रहने पर) द्रव्य की मात्रा बढ़ने पर द्रव्य का मूल्य घट जाता है।

५. द्रव्य के मूल्य और मात्रा में परिवर्तन सम्बन्धी प्रयोग होने वाले कुछ शब्द

मूल्य वृद्धि (Appreciation)—जब द्रव्य की क्रय-शक्ति बढ़ती है तब हम कहते हैं कि द्रव्य का मूल्य बढ़ गया है। उदाहरणार्थ यदि पहिले एक रुपये का ५ सेर गेहूँ मिलता था और अब ६ सेर मिलता है तब हम कह सकते हैं कि पहिले की अपेक्षा द्रव्य का मूल्य बढ़ गया है। इसी प्रकार वस्तुओं का मूल्य घटने का अर्थ द्रव्य का मूल्य बढ़ना है। द्रव्य की मात्रा घटने पर अथवा व्यापार और वस्तुओं की उत्पत्ति बढ़ने पर ही वस्तुओं का मूल्य घट जाता है।

मूल्य ह्रास (Depreciation)—जब द्रव्य की क्रय-शक्ति घट जाती है तब हम कहते हैं कि द्रव्य का मूल्य घट गया है। उदाहरणार्थ यदि पहिले १ रुपये

का ३ सेर गेहूँ मिलता था किन्तु अब २ सेर मिलता है तब हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का मूल्य घट गया है। वस्तुओं का मूल्य बढ़ने का अर्थ द्रव्य का मूल्य घटना या उत्पत्ति और व्यापार में घटी होना होता है।

द्रव्य प्रसार(Inflation)—जब द्रव्य (साख-पात्र भी) की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि लगभग सभी वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं और मूल्य की क्रय-शक्ति घट जाती है तब हम कहते हैं कि यह मूल्यप्रसार है। जब द्रव्य की घट-बढ़ सोने-चाँदी की घट-बढ़ पर निर्भर रहती है तब द्रव्य प्रसार कुछ स्वाभाविक कारणों (जैसे खानों से धातुओं की उत्पत्ति बढ़ने अथवा अन्य देशों से धातुओं का आयात बढ़ने, इत्यादि) से ही हो सकता है। सन् १८९६ से १९११ तक वस्तुओं का दाम बढ़ने का यही कारण था कि दक्षिणी अफ्रीका में सोने की खानों का पता चला था तथा प्रथम महायुद्ध में और उसके पश्चात् स्वीडन, नारवे, स्पेन और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में इसी कारण वस्तुओं का दाम बढ़ा था कि वहाँ सोने का आयात बढ़ गया था। किन्तु सरकार द्रव्य प्रसार प्रायः जान-बूझ कर करती है विशेषकर युद्ध के समय। सन् १९१४-१८ की और सन् १९३९-४५ की लड़ाई में और उनके पश्चात् ऐसा ही हुआ था।

द्रव्य प्रसार के ही सम्बन्ध में वेस्टन ने अपनी पुस्तक बैंकिंग और करन्सी में लिखा है कि आस्ट्रिया में जब सेनायें प्रथम युद्ध समाप्त होने पर घर लौटीं और उनके लिये कोई काम न था—देश के प्रायः सभी उद्योग-धन्धे नष्ट हो चुके थे—लाखों आदमी काम बिना थे तब उस देश की सरकार के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह उनके लिए कोई उपाय सोचे। अन्य उपायों में से एक उपाय यह भी था कि वही काम जिसे पहिले रेलवे का एक कुली करता था अब ६ या ८ कुली करने लगें और उन्हें दैनिक वेतन दिया जाय। किन्तु मजदूरी देने के लिये आवश्यक द्रव्य नहीं था। अतः, छापेखाने में दिन-रात सरकार कागज के नोट छापने लगी जिनसे उनकी मजदूरी दी जाती थी। कुछ समय पश्चात् ही इन नोटों का लगभग कुछ ही मूल्य न रह गया और लोग कहने लगे कि इन कागज के टुकड़ों से हम अपनी आवश्यक चीजें जैसे चाय, गोश्त रोटी और चीनी नहीं खरीद सकते, हम किराया नहीं दे सकते, अपने बच्चों को नहीं खिला सकते और न हम अपनी स्त्री और बच्चों के लिये कपड़े खरीद

सकते हैं। लोगों की इस शिकायत पर सरकार ने उन्हें सान्त्वना दी और छापेखाने में और अधिक नोट छपने लग गये। यहाँ तक कि नोटों की मात्रा दुगुनी हो गई। किन्तु वह नोट छपने से कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि चीजों की उत्पत्ति ज्यों की त्यों ही बनी रही। एक सज्जन ने कहा था कि रूस छोड़ने के पहिले मैंने एक ग्लास दूध का मूल्य लड़ाई के पहिले के २६ पौंड के बराबर के रुबिल्स (रूसी करन्सी) दिये थे; एक डबल रोटी के लिये लड़ाई के पहिले के ४०० पौंड के बराबर रुबिल्स दिये थे और मेरा खर्च लड़ाई के पहिले के ८००० पौंड मासिक अथवा ९६००० पौंड वार्षिक के बराबर था। अतः, रूसी सरकार ने यह देखकर कि लोगों को दैनिक साधारण आवश्यक वस्तुयें खरीदने के लिये अपने जेब नोटों से भरकर बाजार जाना पड़ता है अब कम रुबिल्स के नोटों के स्थान पर २५००० अथवा ५०,००० रुबिल्स के नोट छाप दिये हैं ताकि लोगों को उन्हें ले जाने में असुविधा न हो।

द्रव्य संकुचन (Deflation)—जब द्रव्य (साख-पत्र की भी) की मात्रा इतनी घट जाती है कि साधारण रूप से वस्तुओं का मूल्य घट जाता है और द्रव्य की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है तब उसे द्रव्य संकुचन कहते हैं। द्रव्य संकुचन सन् १९२० से सन् १९३० तक और सन १९३० से सन् १९४० तक था। सन् १९२० के पश्चात् यह उन देशों में हुआ था जो अपने यहाँ सन् १९२० तक वस्तुओं का मूल्य अधिक हो जाने पर उसे घटाना चाहते थे। हमारे देश में भी सन् १९२० से १९३० तक के अंदर लगभग ८६ करोड़ रुपयों का द्रव्य संकुचन किया गया था। सन् १९२० से १९४० के अन्दर यह आर्थिक संकटों के कारण ही हुआ था। इस समय कुछ वर्षों तक इटली में और फिर फ्रांस में द्रव्य संकुचन किया गया था। इटली में वहाँ की तानाशाही (Fascist) सरकार ने दो बार अर्थात् सन् १९३१ और सन १९३४ में द्रव्य संकुचन किया था। सभी सरकारी और प्राइवेट नौकरों की तनख्वाह घटाने के लिये सरकार ने हुक्म निकाल दिया था। कुछ निश्चित खर्च जैसे मकान और जमीन का किराया, इत्यादि सरकार ने घटा दिया था। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुओं का मूल्य भी सरकार ने नियन्त्रण में रखकर घटा दिया था। सरकारी हुक्म और नियंत्रण के विरुद्ध जनता ने जो कुछ भी आवाज उठाई, सरकार ने उसकी तनिक भी परवाह

नहीं की। इसमें सन्देह है कि द्रव्य संकुचन का यही परिणाम उन देशों में भी हो सकता है जिनमें इटली की उस समय की भाँति वहाँ की सरकार ताना-शाही नहीं है। फ्रांस में भी सन् १९३५ में द्रव्य संकुचन किया गया था किंतु जनता के विरोध पर बाद में उसे छोड़ दिया गया। हॉलैंड और बेलजियम में जनता के विरोध के कारण वहाँ की सरकारें द्रव्य संकुचन कार्यरूप में नहीं ला सकीं।

नियन्त्रित द्रव्य प्रसार (Reflation)—जब वस्तुओं का मूल्य पहिले की औसत पर लाने के लिये द्रव्य (साख-पत्र भी) की मात्रा बढ़ा दी जाती है तब उसे नियंत्रित द्रव्य प्रसार (Reflation)। कहते हैं। वस्तुतः, यह द्रव्य प्रसार ही है किन्तु नियंत्रित है। अनियंत्रित द्रव्य प्रसार अत्यन्त हानिकारक होता है क्योंकि उससे देश की सम्पूर्ण आर्थिक परिस्थितियाँ बिल्कुल बिगड़ जाती हैं। द्रव्य प्रसार को लोग बुरा समझते थे इसी कारण नियंत्रित द्रव्य-प्रसार को लोग इस नाम (Reflation) से पुकारने लगे। सन् १८३१ में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में सर्वप्रथम इस (Reflation) शब्द का उस समय प्रयोग किया गया था जब कि वहाँ वस्तुओं का मूल्य सन् १९२९ के मूल्य के बराबर बढ़ाने के लिए सरकार को द्रव्य प्रसार करना आवश्यक हो गया था किन्तु वहाँ की जनता के विरोध के कारण यह योजना त्याग देनी पड़ी थी।

९. द्वितीय महायुद्ध के समय भारतवर्ष में द्रव्य प्रसार

सर्वप्रथम हमें यह जानना चाहिये कि द्वितीय महायुद्ध के समय भारतवर्ष में द्रव्य प्रसार हुआ अथवा नहीं। यह तो सभी को विदित है कि तब से वस्तुओं का मूल्य बहुत अधिक बढ़ गया है। पहिले तो लोगों का यह ख्याल था कि वस्तुओं का मूल्य अधिक मुनाफा लेने, सट्टा करने और सरकार की ओर से उचित मूल्य नियन्त्रण न होने के कारण बढ़ गये हैं। किन्तु वास्तव में उनका वह ख्याल ठीक न था। वस्तुतः, युद्ध के समय की आर्थिक परिस्थितियों का ही वस्तुओं के मूल्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ रहा था।

मूल्य बढ़ने के कारण—युद्ध के समय देश की रक्षा के लिये लड़ने वाले सिपाहियों तथा रक्षक दल के सभी कर्मचारियों की आवश्यकताएँ बढ़ती गई। दूसरी ओर वस्तुओं की उत्पत्ति में जो भी वृद्धि हुई—वह केवल युद्ध के सामान

की ही हुई। इसके अतिरिक्त उपभोक्ताओं, विशेषतः रक्षक-दल के सिपाहियों और सरकारी कर्मचारियों की क्रय शक्ति बढ़ गई थी क्योंकि काम में वृद्धि होने के कारण बहुत-सी स्त्रियों और पुरुषों को नये नये काम मिल गये थे। बँधी तनख्वाह पाने वालों के अतिरिक्त प्रायः सभी लोग ऐसे समय में द्रव्य की दृष्टि से अधिक धनवान प्रतीत होते हैं (यद्यपि वस्तुओं की दृष्टि से धनवान नहीं होते)। युद्ध काल में बाजार में प्रायः सभी प्रकार की वस्तुएँ घट गईं थीं। अतः, इस कारण और विशेषकर अधिक मुनाफा लेने या सट्टा करने के कारण उनके मूल्य खूब बढ़ गये थे। किन्तु वस्तुओं का मूल्य बढ़ने का प्रधान कारण क्रय-शक्ति का बढ़ना ही था तथा वह वृद्धि कम करके सौदागरों का अधिक मुनाफा लेना और सट्टा करना कम किया और वस्तुओं का मूल्य घटाया जा सकता था।

करन्सी की मात्रा में वास्तविक वृद्धि— सन् १६३६ की अपेक्षाकृत सन् १६४५-४६ तक में १०४६ करोड़ रुपयों के नोटों का अधिक प्रसार हो चुका था। १ सितम्बर १६३६ को भारतवर्ष में कुल १७२ करोड़ रुपयों के नोट चलन में थे किन्तु सन् १६४५-४६ के वर्ष के अन्तिम मास में १२१८ करोड़ रुपयों के नोट चलन में थे। इतने वर्षों के अन्दर ही रुपयों और छोटे सिक्कों का प्रसार भी क्रमशः १४६ करोड़ और ७० करोड़ रुपयों से बढ़ गया था। यहाँ हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जब नोट, रुपयों व छोटे सिक्कों का अत्यधिक प्रसार होता है तब उनके साथ-साथ साख-पत्रों का चलन भी बढ़ जाता है। इन वर्षों में बैंकों में जमा की मात्रा भी काफी बढ़ गई थी।

द्रव्य प्रसार के कारण—सरकार के बजट में जब कमी पड़ती है तब उसे पूरा करने के लिये सरकार प्रायः द्रव्य प्रसार करती है। फिर, जब सरकार अत्यधिक प्रसार की हुई करन्सी खर्च कर देती है तब वही जनता के हाथों में आय के रूप में आ जाती है और करन्सी का वह भाग जो बढ़े हुए टैक्स या सरकारी रूप से नहीं निकल जाता बाजार में जनता के प्रयोग में आने वाली चीजों के बदले में आ जाता है।

इसके अतिरिक्त भारत सरकार को तो ब्रिटिश सरकार के उपलक्ष में इस देश में काफी चीजें खरीदनी पड़ती थीं और वह चीजें खरीदते समय भारत सरकार ने स्वभावतः यहाँ के सौदागरों का भुगतान भारतीय करन्सी में ही किया

जो ब्रिटिश सरकार की स्टर्लिङ्ग साखपत्रों के बदले में निकाली गई। अतः, यह स्पष्ट है कि यदि भारत सरकार ब्रिटिश सरकार के उपलक्ष में माल न खरीदती अथवा उक्त प्रकार से उसका भुगतान न करती तो द्रव्य प्रसार उतना अधिक न होता जितना कि इस कारण से हुआ। इसमें संदेह नहीं कि द्रव्य प्रसार करते समय नोटों के कोष (Reserve) की दशा काफी अच्छी थी किन्तु, फिर भी द्रव्य प्रसार का परिणाम देश के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ।

द्रव्य प्रसार रोकने के उपाय—द्रव्य प्रसार रोकने के लिए अनेक उपाय सोचे गये, किन्तु ब्रिटिश सरकार का भारत से ऐसा सम्बन्ध था कि उन उपायों में से किसी को भी कार्य रूप में परिणत न किया जा सका।

(१) उन उपायों में से एक यह था कि ब्रिटिश सरकार के लिए खरीदे हुए माल का भुगतान ब्रिटिश सरकार की भारतीय सम्पत्ति (assets) को बाजार में बेच कर कर दिया जाता। उधार पट्टा (Lease and Lend) ऐक्ट पास होने के पूर्व अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में ऐसा ही किया गया था किन्तु ब्रिटिश सरकार को भारत के सम्बन्ध में यह बात स्वीकृत न थी। वह अपने लोगों की सम्पूर्ण सम्पत्ति इस देश में ज्यों की त्यों बनाये रखना चाहती थी। कुछ समय पश्चात् इस उपाय का जिक्र करना भी अनावश्यक हो गया क्योंकि उस समय तक ब्रिटिश सरकार द्वारा खरीदे हुए माल का दाम उसकी भारतीय सम्पत्ति के दाम से कई गुना अधिक हो गया था।

(२) इसके अलावा उस माल का भुगतान भारत सरकार राष्ट्र की बचत लेकर भी कर सकती थी और उसने ऐसा किया भी किन्तु इसमें उसे अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई। बात यह थी कि जनता किसी प्रकार का सहयोग नहीं कर रही थी। अतः, भारत सरकार ने जो कुछ भी किया वह सब बल प्रयोग करके किया जिसका फल कभी अच्छा नहीं होता।

(३) युद्ध के बाद वाले वर्षों में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने यहाँ पर विदेशी सरकारों के उपलक्ष में काफी सोना और चाँदी बेचा। सरकार के अनुसार यह प्रसारित करन्सी वापस लेने के लिए ही किया गया था। किन्तु निष्पक्ष भाव से विचार करनेपर यह पता चलता है कि सरकार ने ऐसा भारतीय करन्सी का संकु-

चन करने के लिए नहीं बल्कि अन्य सरकारों को मुनाफा देने के लिए किया था। बैंक ने सोना-चाँदी बहुत ही ऊँचे दामों में बेचा और जब इनका दाम घटने लगा तब बेचना बन्द कर दिया।

७. द्रव्य प्रसार अथवा चीजों के दाम बढ़ने के परिणाम

(१) इससे उधार देने वालों को घाटा तथा उधार लेने वालों को लाभ होता है। बात यह है कि जिस समय रुपया उधार दिया गया था उस समय उतने रुपयों में रुपया लौटाने के समय की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में चीजें मिल सकती थीं। इसी प्रकार ब्याज मिले हुये रुपयों से भी पहिले की अपेक्षा कम माल मिलता है।

(२) किसान, कारीगर, थोक अथवा फुटकर व्यापारियों को द्रव्य प्रसार से केवल इसीलिए लाभ हो जाता है कि वे अपना माल अपने पास रोके रखते हैं तथा उसे तभी बेचते हैं जब उसका मूल्य बढ़ जाता है। इस प्रकार द्रव्य प्रसार के कारण चीजों की उत्पत्ति और लोगों के जीवनोपार्जन करने के साधनों में वृद्धि होती है।

(३) मजदूरों या बँधी तनख्वाह पाने वाले अन्य व्यक्तियों को इससे नुकसान होता है क्योंकि जब चीजों का दाम बढ़ता है तब साथ ही साथ लोगों की मजदूरी या तनख्वाहें नहीं बढ़तीं और यदि उनमें कुछ बढ़ती होती भी है तो वह उस अनुपात में नहीं होती जिसमें चीजों के दाम बढ़ते हैं। तनख्वाह की बढ़ती का अनुपात चीजों के दामों की बढ़ती के अनुपात की अपेक्षाकृत सदैव बहुत कम होता है।

(४) उपरोक्त कारण से समाज तथा मजदूर वर्ग में बहुत हलचल होने लगती है और मजदूर लोग प्रायः ऐसे समय पर ही हड़तालें किया करते हैं।

(५) उपभोक्ताओं को द्रव्य प्रसार अथवा चीजों के दाम बढ़ने पर बहुत नुकसान और कष्ट होता है क्योंकि अपना पिछला रहन-सहन का ढङ्ग बनाये रखने के लिए उन्हें अब अधिक रुपया खर्च करना पड़ता है।

(६) अपने देश के किसान व अन्य माल की उत्पत्ति करने वाले लोग विदेशी बाजारों में अन्य देशों का मुकाबिला नहीं कर सकते। बात यह है कि

चीज़ों का दाम बढ़ने के कारण चीजों की उत्पत्ति करने के खर्च भी बढ़ जाते हैं जिससे उस देश की चीजों का दाम विदेशी चीजों की अपेक्षा पहिले से अधिक हो जाता है।

(७) द्रव्य प्रसार से और चीजों का दाम बढ़ने से जिनकी आय कुछ बढ़ जाती है वह यह समझने लगते हैं कि अब वे पहिले की अपेक्षाकृत अधिक धनी व सुखी हैं। अतः, अपना खर्च बढ़ा लेते हैं। इस झूठी आय वृद्धि व उन्नति का प्रभाव देश की आर्थिक परिस्थिति पर अत्यन्त बुरा होता है क्योंकि इससे लोगों में लापरवाही के साथ खर्च करने की आदत पड़ जाती है।

८. द्रव्य संकुचन अथवा चीजों के दाम घट जाने के परिणाम

द्रव्य प्रसार की भाँति द्रव्य संकुचन का भी परिणाम देश की आर्थिक परिस्थिति के लिए अत्यन्त हानिकर होता है।

(१) उधार देने वालों को लाभ तथा उधार लेने वालों को हानि होती है, क्योंकि रुपया उस समय लिया गया था जब कि उतने रुपयों की अभी की अपेक्षा कम मात्रा में चीजें मिली थीं।

(२) किसान, शिल्पकार, थोक या फुटकर व्यापारियों को पहिले की अपेक्षा कम दाम मिलता है जिससे वस्तुओं की उत्पत्ति कम तथा व्यापार सस्ता हो जाता है। इसके फलस्वरूप ही देश में बेकारी फैल जाती है जिसका परिणाम देश के लिए अत्यन्त खराब होता है। कृषक पदार्थों के दाम तो और भी अधिक तेजी से घट जाया करते हैं क्योंकि उनके उत्पन्न करने में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक समय लगता है। अतः, उन्हें उत्पन्न करते समय जो कुछ खर्च किया जा चुकता है उतना खर्च फिर चीजों का दाम घटने के कारण माल बेचकर प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(३) बँधी तनख्वाह वालों को चीजों के दाम घटने (द्रव्य संकुचन) से लाभ होता है। अब वे उतने ही रुपयों से अधिक चीजें खरीद सकते हैं। हाँ, ऐसे समय में उनकी तनख्वाह भी कुछ घट जाया करती है किंतु वह घटी प्रायः चीजों के दाम की घटी से कम ही होती है।

(४) उपभोक्ताओं को इससे फायदा होता है क्योंकि अब उन्हें चीजें कम दाम पर मिल सकती हैं। किंतु साथ ही साथ बहुत से लोगों की नौकरियाँ भी छूट जाती हैं।

(५) यदि साथ ही साथ अन्य देशों में भी चीजों के दाम नहीं घट जाते तो इससे देश का निर्यात बढ़ जाता है। किंतु ऐसे समय में विदेशी सरकारें ऐसे देश की चीजें अपने यहाँ लेने में तरह-तरह की बाधायें या रुकावटें खड़ी कर देती हैं।

(६) चूँकि ऐसे समय पर देश की उन्नति की प्रगति कम हो जाती है इससे सारे देश का नुकसान होता है। चीजों का दाम घटने पर व्यापारियों या अन्य लोगों का कोई नया काम प्रारम्भ करने के लिए कोई उत्साह नही रह जाता।

चीजों का दाम स्थिर रखनेकी आवश्यकता—जिस प्रकार कम तौलने से खरीदने वाले तथा अधिक तौलने से बेचने वाले को नुकसान होता है उसी प्रकार द्रव्य का क्रयशक्ति बदलते रहने पर सबों को नुकसान होता है। यदि साधारणतः चीजों के दाम बढ़ जाते हैं तो उससे उधार देने वालों व बँधी तनख्वाह पाने वालों को काफी नुकसान होता है और उसी प्रकार चीजों के दाम घट जाने से उधार लेने वाला का नुकसान होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि द्रव्य की क्रयशक्ति का अधिक घटना-बढ़ना सदैव हानिकर होता है। चीजों का दाम बढ़ना-घटना दोनों हानिकर होता है। दाम बढ़ने से चीज़ की उत्पत्ति अनावश्यक बढ़ जाती है और दाम घटने पर यह अनावश्यक घट जाती है। अतः, यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश या समाज की भलाई की दृष्टि से द्रव्य की क्रय-शक्ति यथासम्भव स्थिर रहे जिसके फलस्वरूप देश के उत्पत्ति, काम-काज और अन्य आर्थिक परिस्थितियों में भी स्थिर रूप से क्रमशः उन्नति होती जाय। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चीजों का दाम सदैव एक-सा रहना चाहिये बल्कि चीजों का दाम घटते बढ़ते रहना चाहिये क्योंकि उसके बिना तो लोग व्यापार करना ही बिल्कुल बन्द कर देंगे अथवा उसमें लोगों की रुचि न रह जायगी। एक लेखक का मत है कि चीजोंके दाम समुद्र कीलहरों की भाँति तेज़ी से न घट-बढ़ कर नदी की तरंगों की भाँति धीरे-धीरे घटते-बढ़ते रहना चाहिये।

सारांश

१. द्रव्य का परिमाणिक सिद्धांत पूर्णरूपेण सत्य है। हाँ, वह केवल कुछ ही स्थितियों में लागू होता है।

२. किन्तु इसका आधुनिक रूप ऐसा है कि जिसमें ये सब स्थितियाँ बतलाना आवश्यक नहीं है। उसमें वस्तुओं के औसत मूल्य का पता सूची अंकों द्वारा लगाया जाता है। रह गई द्रव्य की माँग और उसकी पूर्ति सो द्रव्य की माँग, प्रस्तुत सेवाओं तथा बिक्री के लिये आई हुई वस्तुओं से निर्धारित होती है और उसकी पूर्ति क्रय के लिये प्रस्तुत द्रव्य से निर्धारित होती है। इसकी चाल की गति से भी यह निर्धारित होती है। फिर, द्रव्य की माँग और पूर्ति का एक दूसरे के ऊपर भी प्रभाव पड़ता है।

३. इस सिद्धांत की बहुत आलोचना की गई है। १. यह माँग एवम् पूर्ति का ही सिद्धांत तो है। किंतु दोनों में भिन्नता भी है। द्रव्य की माँग उत्पादन में परिवर्तन हुये बिना नहीं बदलती और इसकी उपयोगिता इसकी राशि पर निर्भर नहीं है। २. इस पर इतना बल क्यों दिया जाता है? यह मूल्य स्थाई रखने का एक ढङ्ग बतलाता है। ३. सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती। तो भी यह सत्य तो है ही। ४. मूल्य अन्य कारणों से भी बदलते हैं। किंतु वे द्रव्य का परिमाण बदल कर भी ठीक किये जा सकते हैं।

४. प्रो० अरविंग फिसर और चैपमेन ने इसे गणित द्वारा समझाया है। उन्होंने जो गुर दिये हैं उनसे हमें द्रव्य और वस्तुओं के पारिमाणिक परिवर्तन का जो प्रभाव क्रमशः वस्तुओं के मूल्य और द्रव्य के मूल्य पर पड़ता है वह काफी स्पष्ट रूप में मालूम हो जाता है।

५. द्रव्य की मूल्य वृद्धि का अर्थ उसकी क्रयशक्ति की वृद्धि और मूल्य ह्रास का अर्थ उसकी क्रयशक्ति की कमी है। इसके अतिरिक्त द्रव्य प्रसार उस स्थिति को कहते हैं जब उसकी पूर्ति उसकी माँग से अधिक होती है। इसी तरह से द्रव्य संकुचन की वह स्थिति है जब उसकी माँग उसकी पूर्ति से अधिक होती है। नियन्त्रित द्रव्य प्रसार को अंग्रेजी में (Reflation) कहते हैं।

६. द्वितीय महायुद्ध के समय में भारतवर्ष में बहुत द्रव्य प्रसार हुआ और सत्य तो यह है कि दैनिक मूल्य वृद्ध का यही एक मुख्य कारण था। निसन्देह अधिक लाभ लेने और सट्टा करने की प्रवृत्तियों का भी इस पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा किन्तु यदि द्रव्य प्रसार का सहारा न मिला होता तो उनका इतना प्रभाव न पड़ता। द्रव्य प्रसार प्रायः इसलिये होता है कि सरकार अपनी आय से अपना व्यय पूरा न कर सकने के कारण अत्यधिक नोट निकलवा लेती है। किन्तु भारतवर्ष में यह इसलिये हुआ कि यहाँ पर संयुक्त राज्य और मित्र राष्ट्रों के लिए बहुत-सा सामान खरीदा गया जिसका भुगतान यहाँ की सरकार ने नोट निकलवा कर किया। हाँ, यदि अंग्रेजों की यहां की सम्पत्ति यहीं पर बेच दी जाती और लोगों से ब्रिटिश सरकार के लिये ऋण माँगा जाता तो शायद ऐसा न होता। किंतु अंग्रेजों और भारतवासियों में उस समय जो सम्बन्ध था उसके कारण यह सम्भव नहीं था। राष्ट्रीय बचत द्वारा भी ऐसा किया जा सकता था। फिर, रिज़र्व बैंक ने द्रव्य प्रसार रोकने के लिये यहाँ कुछ सोना भी बेचा था यद्यपि उसका मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के लिये लाभ कमाना था।

७. वस्तुओं के मूल्य में घट-बढ़ होने का एक बहुत विस्तृत प्रभाव पड़ता है। इससे देश में रहने वाले विभिन्न प्रकार के लोगों की स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो जाता है। अतः, इसे रोकना ही चाहिये।

८-९. वस्तुओं की मूल्य वृद्धि से एक प्रकार की औद्योगिक धूम मच जाती है जो प्रायः अनुचित होती है। इसके विपरीत उनके ह्रास से इसका उल्टा होता है जो भी ठीक नहीं होता। अतः उन्हें, स्थिर रखना चाहिये। किंतु चाहे हम द्रव्य का पारिमाणिक सिद्धांत भली-भाति समझ जायँ और उसी के अनुसार उसकी पूर्ति को उसकी माँग के अनुसार रक्खें किन्तु मूल्य स्थिर रहना असम्भव है। लेकिन मूल्य की यह थोड़ी-सी अस्थिरता आवश्यक भी है।

प्रश्न

१. द्रव्य पारिमाणिक सिद्धांत बताइये और उसे भली-भाँति समझाइये। अपने उत्तर के साथ उपयुक्त उदाहरण भी दीजिये।

२. द्रव्य का पारिमाणिक सिद्धांत समझाइये और वह जिन बन्धनों में सही है उन्हें स्पष्ट कीजिये।
३. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—द्रव्य प्रसार, द्रव्य संकुचन, नियंत्रित द्रव्य प्रसार, द्रव्य की मूल्य वृद्धि, द्रव्य का मूल्य ह्रास।
४. क्या आप समझते हैं कि द्वितीय महायुद्ध के समय यहाँ पर द्रव्य प्रसार की स्थिति थी? यदि ऐसा था तो यह क्यों हुआ और उसके रोकने के क्या उपाय थे?
५. वस्तुओं की मूल्य वृद्धि का क्या प्रभाव पड़ता है? क्या यह व्यापारिक घूम के लिए अनिवार्य है?
६. द्रव्य के पारिमाणिक सिद्धांत को एक ओर तो एक बहुत ही बड़ा आविष्कार माना जाता है तथा दूसरी ओर यह नितान्त कल्पित समझा जाता है। उपर्युक्त कथन का विश्लेषण कीजिये।
७. द्रव्य का पारिमाणिक सिद्धांत क्या है? उसे समझाइये। (उ० प्र०)
८. द्रव्य के मात्रा सिद्धांत की व्याख्या कीजिये और उसकी सीमाओं का भी उल्लेख कीजिये। (उ० प्र०)
९. भारत में वस्तुओं के मूल्य में अनुचित बढ़ोतरी कहाँ तक द्रव्य के अत्यधिक प्रसार के कारण हुई है?
इस बढ़ती का इन पर क्या प्रभाव पड़ा यह बतलाइये :—
(अ) कृषक (ब) निश्चित वेतन भोगी समुदाय (स) लेनदार। (उ० प्र०)

———

अध्याय ६

द्रव्य मान

मान का अर्थ वह वस्तु है जिससे हम अन्य वस्तुओं की तुलना कर सकें।

उदाहरणार्थ लम्बाई नापने का मान गज, तौल नापने का मान मन, सेर, छटाँक, इत्यादि हैं। कोई मान चुनते समय यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि वह फिर बाद में न बदले। प्राचीन काल में लम्बाई नापने के मान की भाँति लोगों ने यह भी आवश्यक समझा था कि चीजों का मूल्य नापने के लिये भी कोई ऐसा मान होना चाहिए जो बाद में ज्यों का त्यों बना रहे। इसके लिये लोगों ने शुद्ध सोने या चाँदी की एक निश्चित तौल का मान बनाना ही सर्वश्रेष्ठ समझा था।

१. द्रव्य मान की परिभाषा

द्रव्य मान उस मान को कहते हैं जिसके द्वारा द्रव्य का मूल्य ठीक रखा जाता है। यदि वह मान सोने का है तो उसे स्वर्ण मान कहते हैं और यदि वह अन्य की वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के बराबर है तो उसे तालिका मान (Tabular Standard) कहते हैं। इसी प्रकार जब एक देश के द्रव्य का मूल्य दूसरे देश के द्रव्य से आँका जाता है, जैसे भारतवर्ष के रुपये का मूल्य ब्रिटेन के स्टर्लिङ्ग से आँका जाता था, तब यह द्रव्य मान विशेष विनिमय मान कहलाता है।

२. द्रव्य मान के भेद

द्रव्य मान निम्न प्रकार के होते हैं :—

- द्रव्य मान
  - धात्विक मान
    - एक धातु मान
      - स्वर्ण मान
        - स्वर्ण मुद्रा मान
        - स्वर्ण पाट मान
        - स्वर्ण विनिमय मान अथवा स्वर्ण करन्सी विनिमय मान
      - रजत मान
    - द्विधातु मान
      - लंगमान
      - समानांतर मान
  - विनिमय मान
    - डालर विनिमय मान
    - स्टर्लिङ्ग विनिमय मान
  - तालिका मान
  - अपरिवर्तनशील कागजी द्रव्य मान
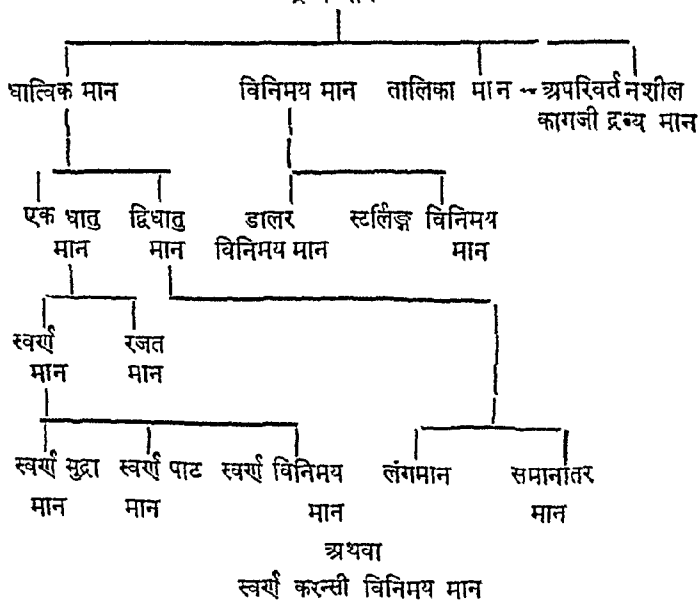
३. स्वर्ण मान

स्वर्ण मान—उस करन्सी प्रथा को कहते हैं जिसके अनुसार किसी देश के द्रव्य का मूल्य सोने से निर्धारित रक्खा जाता है। स्वर्ण मान तीन प्रकार का होता है—(१) स्वर्ण मुद्रा मान, (२) स्वर्ण पाट मान, (३) स्वर्ण विनिमय मान, अथवा स्वर्ण करन्सी विनिमय मान।

स्वर्ण मुद्रा मान—सर्वप्रथम स्वर्ण मान का चलन इसी रूप में हुआ था तथा बहुत दिनो तक लोग स्वर्ण मुद्रा मान को ही स्वर्ण मान समझते रहे। स्वर्ण मुद्रा मान में स्वर्ण का प्रयोग विनिमय के माध्यम तथा मूल्यों की माप

दोनों रूप में होता है अर्थात् सोने की मुद्रायें टकसाल में स्वतंत्रता से गढ़ाई जा सकती हैं और वे सोने की मुद्रायें प्रमाणिक मुद्रायें भी होती हैं तथा उन्हीं मुद्राओं का देश में प्रसार भी होता है। और यदि साथ ही साथ कागज के नोट भी चलते हैं तब उन नोटों को सोने की मुद्राओं से बदला भी जा सकता है।

स्वर्ण मुद्रा मान की प्रधान विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) सोने की मुद्राओं का देश में चलन रहता है।

(२) टकसाल जनता के लिए ये मुद्रायें गढ़ने के लिए सदैव खुली रहती हैं।

(३) सोने के आयात और निर्यात में कोई रुकावट या बन्धन नहीं होता।

(४) यदि साथ ही साथ कोई अन्य करन्सी भी देश में चलती है, तो उसे उन सोने की मुद्राओं से बदला जा सकता है।

स्वर्ण मुद्रा मान सर्वप्रथम ग्रेट ब्रिटेन में सन् १८१६ में चालू किया गया था यद्यपि बाद में संसार के अन्य देशों ने भी उसे आदर्श मान समझ कर उसका चलन आरम्भ कर दिया। किन्तु सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के समय तथा उसके बाद स्वर्ण मुद्रा मान का चलन बन्द हो गया तथा उसके स्थान पर अन्य प्रकार के स्वर्ण मान चलने लगे।

स्वर्ण पाट मान—स्वर्ण पाट मान स्वर्ण मुद्रा मान का ही एक सुधरा हुआ रूप है तथा सर्व प्रथम सन् १९२५ में इङ्गलैण्ड ने इसे चालू किया था। इस करन्सी प्रथा में यद्यपि मूल्यों की माप के रूप में सोने का प्रयोग होता है किन्तु मुद्राओं के रूप में उसका चलन नहीं होता। अतः, स्वर्ण पाट मान को हम स्वर्ण करन्सी बिना स्वर्ण मान कह सकते हैं। स्वर्ण पाट मान में सरकार सोने की मुद्रायें चालू नहीं रखती किन्तु देश में चालू करन्सी के बदले में सोना देने की जिम्मेदारी अवश्य लेती है। देश की चालू करन्सी चाहे कागजी नोट की हो अथवा कम मूल्य वाली धातु की मुद्राओं की जिनके विनिमय का अनुपात सरकार द्वारा निर्धारित रहता है। इस प्रकार स्वर्ण पाट मान में चालू करन्सी और सोने के बीच एक ऐसा अनुपात निर्धारित हो जाता है जो यथा संभव सदैव स्थिर रहता है। इसमें सोने का आयात और निर्यात भी रोक-टोक

के बिना हो सकता है। इङ्गलैण्ड के पश्चात् अन्य देशों में भी इसका चलन प्रारम्भ हो गया था।

स्वर्ण पाट मान की मुख्य-मुख्य बातें प्रायः स्वर्ण मुद्रा ही से मिलती-जुलत। अन्तर केवल इतना ही है कि स्वर्ण पाट में सोने का विनिमय अन्यी करन्सी से केवल निश्चित मात्रा में हो सकता है। अतः, वर्ण पाट मान भी स्वर्ण मुद्रा मान की भाँति एक अच्छी करन्सी प्रथा है क्योंकि जब तक घटिया चालू करन्सी का विनिमय सोने में हो सकता है तब तक हमें इस बात पर विशेष ध्यान न देना चाहिये कि देश में कागज के नोट या घटिया धातु की मुद्रायें चलती हैं। इङ्गलैण्ड में सन् १९२६ से १९३१ तब स्वर्ण पाट मान चालू रहा।

स्वर्ण विनिमय मान अथवा स्वर्ण करन्सी विनिमय मान—स्वर्ण विनिमय मान अधिकतर स्वर्ण पाट मान की भाँति ही होता है। इसमें भी चालू करन्सी सोने की नहीं होती बल्कि नोटों की या अन्य धातु की मुद्राओं की ही होती है। इनका विनिमय सोने अथवा सोने की विदेशी मुद्राओं से केवल बाहर भेजने के लिये ही हो सकता है। जब चालू मुद्राओं की बदली विदेशी सोने की मुद्राओं से हो सकती है। तब उस करन्सी प्रथा को कुछ लोग स्वर्ण करन्सी विनिमय मान भी कहते हैं। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय और स्वर्ण पाट मान में यह मुख्य भेद है कि स्वर्ण पाट मान में तो चालू करन्सी का विनिमय सोने से देश की आंतरिक आवश्यकताओं के लिये भी हो सकता है। किन्तु स्वर्ण विनिमय मान में उनका विनिमय केवल देश के बाहर सोना भेजने के लिये ही होता है। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान में सरकार के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि सदैव अपने पास बहुत सोना जमा रखे। इसके विपरीत उसके लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि वह उन देशों के बैंकों में जहाँ स्वर्ण मान है काफी सोना जमा रखे। स्वर्ण विनिमय मान को सर्व-प्रथम सन् १८७७ में हालैण्ड ने चालू किया था। फिर, सन् १८९२ में रूस और आष्ट्रिया हंगी ने भी इसे अपना लिया था। इसके बाद सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् मध्य यूरोप के उन देशों ने भी इसे अपनाया था जिन्हें युद्धकाल में उनकी करंसी का मूल्य बहुत घट जाने के कारण अपनी करन्सी प्रथा ही बदल देनी पड़ी। सन् १९२२ की जेनेवा कान्फ्रेंस ने भी भिन्न-भिन्न देशों को स्वर्ण

विनिमय मान अपनाने के लिए ही सलाह दी थी और गत ४४ वर्षों में प्रायः प्रत्येक देश की करन्सी पर स्वर्ण विनिमय मान के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों का ही अधिक प्रभाव पड़ा है।

स्वर्ण मुद्रा मान और स्वर्ण विनिमय मान की अपेक्षाकृत स्वर्ण पाटमान के लाभ—ये लाभ निम्न लिखित हैं:—

(क) स्वर्ण मुद्रा मान से तुलना—(१) सोने की मुद्रायें चालू करना वास्तव में स्वर्ण मान को अधूरे रूप में रखना है। सोने की मुद्राओं का चलन रहने पर उनमें सम्मिलित सोने का दाम उनके घिसने के कारण बदलता रहता है।

(२) इसके अतिरिक्त स्वर्ण पाट मान चालू करने में अधिक खर्च नहीं पड़ता। स्वर्ण मुद्रा मान में मुद्रा घिसते रहने के कारण सरकार को जो हानि होती है उससे बचत हो जाती है। इसमें मुद्राओं के गढ़ने का खर्च भी बच जाता है और स्वर्ण मान की अपेक्षा इसमें प्रत्येक देश को करन्सी के लिए कम मात्रा में सोना रखने की आवश्यकता पड़ती है।

(३) उपरोक्त कारण से संसार के बहुत से देशों के लिए यह संभव हो जाता है कि वे अपने यहाँ स्वर्ण मुद्रा मान के लिए अपेक्षाकृत स्वर्ण पाट मान ही रक्खें। वास्तव में स्वर्ण पाट मान के चलन का कारण ही यह था कि संसार में सोने की मात्रा सीमित और कम थी।

(४) प्रत्येक देश अपने यहाँ बचा हुआ सोना भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योगों लगाकर बहुत आय कर सकता है।

(५) सरकार के पास कोष में रक्खा हुआ सोना विनिमय को स्थिर बनाये रखने के लिए चालू मुद्रा के सोने की अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होता है।

(ख) स्वर्ण विनिमय से तुलना—(१) यद्यपि स्वर्ण विनिमय मान में स्वर्ण पाट मान के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं किन्तु इसका सबसे बड़ा अवगुण यह है कि स्वर्ण-विनिमय मान में जनता का उतना अधिक विश्वास नहीं रहता जितना कि स्वर्ण पाट मान में रहता है।

(२) उपरोक्त कारण से स्वर्ण विनिमय मान होने पर देश में लोगों में बैंकिंग और उद्योग-धंधों में रुपया लगाने की आदत की वृद्धि नहीं होने पाती।

(३) उपरोक्त कारण से देश में चीजों की उत्पत्ति घट जाती है अथवा देश के धन और माल से विदेशी लोग लाभ उठाने लगते हैं। हमारे देश में ऐसा ही हुआ है।

(४) स्वर्ण विनिमय मान स्वयं गतिशील नहीं होता क्योंकि स्वयं गतिशील करंसी में (१) जैसे स्वर्ण मुद्रा मान में जब मुद्राओं की मात्रा प्रसार में व्यापार की आवश्यकता से अधिक हो जाती है तब प्रचलित मुद्राओं का अधिक भाग गला दिया जाता है अथवा विदेश भेज दिया जाता है और (२) स्वर्ण पाट मान में जब प्रचलित करंसी की मात्रा अधिक होती है तब करंसी का अधिक भाग सरकार को दे दिया जाता है तथा उसके बदले में सोना ले लिया जाता है। स्वर्ण विनिमय मान में भी प्रचलित करन्सी की मात्रा उस दशा में कम हो जायगी जब विदेश भेजने के लिए सोने के बदले में उसे दे दिया जायगा किन्तु ऐसा करना बहुत कुछ सरकार की इच्छा पर निर्भर रहता है। सरकार सम्पूर्ण बचे हुए सोने की मात्रा के बराबर या उससे कम मात्रा में भी करंसी घटा सकती है। सन् १९२५ की भारतीय करन्सी कमीशन की रिपोर्ट पढ़ने से यह पता चलता है कि भारतवर्ष में उस समय जब यहाँ स्वर्ण विनिमय मान था ऐसा ही किया गया था। ऐसे मौकों पर भी जब करंसी के अधिकारियों को स्टर्लिङ्ग बेचना पड़ा था सरकार ने करन्सी नहीं घटाई थी।

(५) स्वर्ण विनिमय मान में लचक नहीं पाई जाती अर्थात् देश के आर्थिक संकट काल और व्यापार अधिक बढ़ने पर करन्सी बढ़ाने के लिए भी इसमें कोई उपाय नहीं पाया जाता। जब फसलें कट जाती हैं और माल खेतों से उठा लिया जाता है तब करन्सी की माँग बढ़ जाती है और वह माँग माल बाहर भेजे बिना पूरी नहीं की जा सकती। हाँ, कुछ अंश तक करन्सी की यह बढ़ी हुई माँग साख पत्रों और कागजी द्रव्य की मात्रा बढ़ाकर पूरी की जा सकती है।

स्वर्ण मान का क्या अर्थ होता है—हम पहिले ही बता चुके हैं स्वर्ण मान सोने की मुद्राओं का चलन किये बिना भी सम्भव है। अब, प्रश्न यह है कि स्वर्ण मान कैसे स्थापित रखा जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि हम स्वर्ण मान को उस दशा में स्थापित रख सकते हैं जब प्रचलित द्रव्य का मूल्य

सोने में पाया जाता हो। यह भी सम्भव है कि देश में सोने की मुद्राओं का चलन तो हो किन्तु वहाँ का मान स्वर्ण मान न होकर कुछ और हो। हमारे देश में कुछ वर्षों पहिले तक चाँदी की करन्सी चलती थी किन्तु चूँकि सन् १८६३ से इसका मूल्य चाँदी में नहीं निर्धारित किया जाता था अतः, हम यह नहीं कह सकते थे कि हमारे देश में चाँदी मान है। यही बात सोने की धातुओं के चालू रहते हुए भी हो सकती है। अतः, ऐसी स्थिति में जब कि सोने की मुद्रायें प्रचलित हों यह आवश्यक है कि टकसाल जनता के लिये स्वतन्त्रता से सोना लेकर उसकी मुद्रायें गढ़ दिया करे और यदि देश में कोई अन्य करन्सी प्रचलित है तो उसे सरकार की जनता को इच्छानुसार सोने से एक निश्चित अनुपात में बदल देना चाहिये। ऐसी दशा में एक औंस सोने का मूल्य सोने की मुद्राओं अथवा प्रचलित करन्सी में ही निर्धारित किया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में १ औंस सोने का मूल्य ३ पौंड १७ शि० १०½ पेंस था यद्यपि बैंक आफ इङ्गलैण्ड उसके बदले में केवल ३ पौंड १७ शि० ९ पेंस ही देता था। इस भाँति बैंक की दर टकसाल की दर से कम थी किन्तु साथ ही साथ टकसाल में सोना बेंचने में लोगों को सबसे बड़ी असुविधा यह थी कि उन्हें मुद्रा पाने के लिये कई दिन तक लगातार ठहरना पड़ता था जिससे लोगों को व्याज की हानि होती थी। सोने के इस भाव को टकसाल द्वारा निश्चित सोने का भाव (Mint price of gold) कहते हैं। जब तक इङ्गलैण्ड में सावरन चलते थे १ औंस सोने का मूल्य ३ पौं० १७ शि० १०½ पें० होता था। जब सावरन का चलन बन्द हो गया किन्तु कागजी करन्सी का सम्बन्ध सोने से बना रहा तब इतने ही मूल्य के नोट १ औंस सोने में बदले जा सकते थे। स्वर्ण मान का यह भी अर्थ होता है कि सोने के आयात और निर्यात में कोई सरकारी रुकावट न हो और यदि कोई हो भी तो सरकार को कम से कम विदेशी विनिमय की सुविधा अवश्य कर देनी चाहिये।

स्वर्ण मान टूटना तथा उसके टूटने का परिणाम—स्वर्ण मान सर्वप्रथम १९१४-१८ के युद्ध काल में और उसके बाद टूट गया था; और फिर सन् १९२९-३२ के मन्दीकाल में टूट गया। हाँ, उसके टूटने के कारण इन दोनों समयों में भिन्न-भिन्न थे।

१६१४-१८ के महायुद्ध काल और उसके बाद स्वर्ण मान का टूटना—कुछ देशों में जैसे फ्रांस, जर्मनी, रूस तथा आस्ट्रिया हंग्री में वहाँ की सरकारों ने स्वर्ण मान विधान बनाकर तोड़ दिया था। किन्तु अन्य देशों में जैसे इङ्गलैण्ड और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में सोने के निर्यात करने की कठिनाइयों के कारण ही स्वर्ण मान न चल सका था। इङ्गलैण्ड में यद्यपि स्वर्ण मान कानून से नहीं हटाया गया था किन्तु उसके हटने का कारण चीज भेजने की कठिनाइयाँ और साथ ही साथ सरकारी दबाव थे। युद्ध में सम्मिलित होते समय सन् १६१७ में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने स्वर्ण मान को विधानतः हटा दिया था। स्वर्ण मान न केवल युद्ध में सम्मिलित देशों में ही हटाया गया था बल्कि उन देशो में भी जो युद्ध से अलग थे। यहाँ तक कि युद्ध के समाप्त होते-होते लगभग उन सभी ३५ देशों में स्वर्ण मान हटा दिया गया था जहाँ वह युद्ध के पहिले चल रहा था। यद्यपि १६१६ में युद्ध की समाप्ति पर अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने इसे फिर चालू कर दिया था।

युद्ध में सम्मिलित देशों में स्वर्ण मान टूटने का कारण—(१) युद्ध में सम्मिलित देशों के ऐसे समय में स्वर्ण मान तोड़ने का वही कारण था कि जो साधारणतः उसके अपनाने का था और वह कारण यह था कि संसार में सोने की मात्रा लगभग ज्यों की त्यों बनी रहती है। प्रति वर्ष खानों से जो भी नया सोना निकाला जाता है वह पूर्ण मात्रा की तुलना में लगभग नहीं के समान है। महायुद्ध के कारण युद्ध में सम्मिलित देशों की सरकारों को इस बात के लिये बाध्य हो जाना पड़ा था कि वे युद्ध लड़ने के लिये काफी धन एकत्रित करें और वह उसे केवल नये कर लगाकर अथवा ऋण लेकर अथवा दोनों द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकते थे। अतः, उन्हें बाध्य होकर ऐसी करन्सी का अत्यधिक प्रसार करना पड़ा जिसके लिये वे कोष में सोना नहीं रखते थे अथवा जिसे बदलने का उन्होंने कोई दायित्व नहीं लिया था। किन्तु द्रव्य प्रसार द्वारा सरकारी आय करना उसी तरह का काम है जिस तरह अनाज का बीज खा डालना है। कुछ-कुछ देशों में करन्सी का इतना अधिक प्रसार हो गया था कि युद्ध के समाप्त होते-होते वहाँ करन्सी की व्यवस्था सँभालना अत्यन्त दुष्कर हो गया।

२. युद्ध में सम्मिलित देशों ने स्वर्ण मान इस कारण से भी हटाया कि वे अपने यहाँ के सोने के कोष की रक्षा चाहते थे। द्रव्य प्रसार तथा नोट न बदले जाने के कारण चीजों का दाम अत्यन्त बढ़ गया अर्थात् सोने का दाम बढ़ गया। इस कारण लोगों ने आयात की वस्तुओं का भुगतान करने के लिए सोना विदेश भेजना उचित समझा। ऐसी दशा में सरकार ने सोने का निर्यात रोक दिया जिसके फलस्वरूप स्वर्ण मान अपने आप टूट गया।

युद्ध से अलग रहने वाले देशों में स्वर्ण मान टूटने का कारण— युद्ध से अलग रहने वाले देशों में स्वर्ण मान टूटने का यह कारण था कि उनके यहाँ सोने का मूल्य अन्य वस्तुओं की अपेक्षाकृत बहुत घट गया था। युद्ध में सम्मिलित देशों ने अपनी आवश्यक चीजों को खरीदने के लिये इन देशों को अपना अधिकांश सोना बेच दिया और इतना अधिक सोना पा सकने की सुविधा होने पर इन्हें सोने की कोई आवश्यकता ही न रह गई। इसका परिणाम यह हुआ कि चीजों के दाम बढ़ गए या हम यों कह सकते हैं कि वस्तुओं के रूप में सोने का मूल्य घट गया। सन् १६१६ में जब अमेरिका के संयुक्त प्रदेश ने फिर स्वर्ण मान ग्रहण किया तथा सोने के निर्यात पर से बन्धन हटा लिया गया तब सोना काफी मात्रा में जापान और अर्जेन्टाइना जैसे देशों को भेजा गया। उस समय भी इन देशों में स्वर्णमान था। जैसा अमेरिका के सूची अंक देखने से मालूम होता है मई १६२० में सोने के रूप में चीजों का दाम १६१३ की अपेक्षाकृत २·५ गुना हो गया था अर्थात् सोने का दाम चीजों के रूप में घटकर ⅖ हो गए थे। फिर, अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में तुरन्त ही १ वर्ष के अन्दर ही सरकार ने चीजों का दाम घटाकर पहिले के दामों का ४० प्रतिशत कर दिया। अन्य देश जहाँ उस समय स्वर्ण मान था अपने यहाँ चीजों का दाम इतना न घटा सके। अतः, उनके यहाँ दाम बढ़े रहने के कारण उनकी व्यापारिक विषमता उनके विपक्ष में हो गई और उन्हें स्वर्ण का निर्यात रोकने के लिए बाध्य हो कर स्वर्ण मान हटाना पड़ा। इसलिए कुछ समय पश्चात् केवल अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में ही स्वर्ण मान रह गया तथा चूंकि अब द्रव्य के लिए किसी देश को सोना खरीदने की आवश्यकता न थी अतः, संसार का

सम्पूर्ण आवश्यकता से अधिक सोना अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में ही एकत्रित हो गया।

पहिली बार स्वर्ण मान टूट जाने के पश्चात् उसे फिर स्थापित करने की आवश्यकता—युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् तथा अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के फिर से स्वर्ण मान चालू करने पर प्रायः सभी अन्य देशों ने यह उचित समझा कि वे फिर स्वर्ण मान चालू करें क्योंकि जब दुनिया के सभी देशों की करन्सी पहिले सोने पर निर्भर थी तब चीजों के भाव तथा करन्सी विनिमय अधिक स्थिर रहते थे तथा उस समय न तो आंतरिक और न वाह्य व्यापार में ही कोई असुविधायें थीं। किन्तु स्वर्ण मान हटने पर अब चीजों के भाव और विनिमय स्थिर रखने में अनेक कठिनाइयाँ होने लगीं। अतः, कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए ही अप्रैल १६२२ में जेनेवा में एक कान्फ्रेन्स हुई जिसमें यूरोप के सभी देशों, जापान और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने देश की आर्थिक परिस्थिति ठीक करने के लिए इस बात पर जोर दिया कि भविष्य में प्रत्येक देश को द्रव्य प्रसार रोकना चाहिये तथा अपनी करन्सी को स्थिर बनाना चाहिये।

१६२२ की जेनेवा कान्फ्रेंस की सिफारिशें—उस कान्फ्रेंस ने सर्व प्रथम भिन्न-भिन्न देशों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये एक योजना निकाली जिससे यह मालूम पड़ने लगा कि भिन्न-भिन्न देशों की करन्सी प्रथा का दुनिया की सोने की कुल माँग पर और उसके फल-स्वरूप अन्य देशो की द्रव्य-प्रणाली पर क्या प्रभाव पड़ता है। महायुद्ध के पूर्व प्रत्येक केंद्रीय बैंक अपने यहाँ की करन्सी का मूल्य सोने के रूप में स्थिर रक्खा करता था इसलिये उनका पारस्परिक मूल्य भी लगभग सदैव निश्चित रहा करता था। किंतु वस्तुओं में भिन्न-भिन्न देशों के द्रव्यों का मूल्य घटता-बढ़ता रहता था क्योंकि द्रव्य के हेतु भिन्न-भिन्न देशों को सोने की माँग घटती-बढ़ती रहती थी। इस कारण उपरोक्त कान्फ्रेंस ने यह सलाह दी कि भिन्न-भिन्न देशों के केंद्रीय बैंकों को आपस में सहयोग करके सोने के मूल्य पर उचित नियंत्रण रखना चाहिये। हम इसे एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान कह सकते हैं। उसके अतिरिक्त दुनिया में प्राप्त सोने की

सीमित मात्रा ध्यान में रखते हुये ही कान्फ्रेंस ने यह भी सलाह दी कि प्रत्येक देश स्वर्ण विनियम अथवा स्वर्ण पाट के रूप में ही स्वर्ण मान रक्खे। वास्तव में इस समय वह भी देश जहाँ युद्ध के पूर्व सोने की मुद्रायें चलती थीं अब उनके यहाँ नोट अधिक प्रिय हो जाने के कारण सोने की मुद्राओं का चलन बंद करने को तैयार थे। केवल स्वीटजरलैंड और हालैंड ने बाद में भी सोने की मुद्रायें चालू करनी चाही थीं। किंतु वे इसमें सफल नहीं हो सके। अब तो लगभग प्रत्येक देश को यह पूर्णतया विदित हो गया है कि स्वर्ण मुद्रा मान की अपेक्षाकृत स्वर्ण पाट मान अथवा स्वर्ण विनिमय मान ही अधिक उपयोगी है।

पहली बार स्वर्ण मान टूटने के पश्चात् उसका फिर चलना—अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने सर्व प्रथम फिर से स्वर्ण मान चालू किया। तत्पश्चात् पूर्वीय यूरोप के उन सभी देशों ने भी जिनकी द्रव्य-प्रणाली अत्यन्त खराब हो गई थी फिर इसका चलन किया। इस बार इन देशों ने धात्विक कोष पर अधिक जोर नहीं दिया। वरन् उसके स्थान में वे विदेशी विनिमयों का कोष रखने लगे। इससे हम समझ सकते हैं कि उन देशों ने स्वर्ण मुद्रा मान के स्थान पर वस्तुतः स्वर्ण विनिमय मान प्रारम्भ किया। इसके बाद ग्रेट ब्रिटेन ने सन् १९२५ में स्वर्ण पाट मान के रूप में स्वर्ण मान प्रारम्भ किया और फिर संसार के भिन्न-भिन्न देशों में स्वर्ण मान हो गया। यहाँ तक कि जून १९३१ तक में स्पेन के अलावा प्रायः उन सभी देशों में जिनमें महायुद्ध के पूर्व स्वर्ण मान था, फिर दुबारा स्वर्ण मान हो गया। किन्तु साथ ही साथ इस बार भिन्न-भिन्न देशों ने संसार में प्राप्त सोने की सीमित मात्रा ध्यान में रखते हुये उसे कोष में रखने का विचार त्याग दिया था।

सन् १९२९-३३ के मंदी काल में और उसके पश्चात् स्वर्ण मान फिर टूटना—सन् १९२९ में भिन्न-भिन्न देशों का रुख स्वर्ण मान के प्रति फिर बदल गया। १९१४-१८ के युद्ध के समाप्त होने के बाद अब चीजों का दाम घटना फिर से प्रारम्भ हो गया था। सन् १९२५ में ही संसार को आर्थिक व्यवस्था सुधारने के निमित्त सब देशों ने मिलकर एक सामूहिक प्रयत्न किया था तथा उनके प्रयत्न के आधार पर ही स्वर्ण मान फिर से स्थापित हो पाया था। किन्तु अब वे प्रयत्न सब निष्फल होने लगे। २९ अक्टूबर १९२९ को न्यूयार्क स्टाक

इक्सचेंज में हिस्सों के दाम अचानक बहुत तेजी से घट गये जिसके फलस्वरूप प्रायः संसार के सभी अन्य देशों में भी इनके भाव गिर गये। यद्यपि वे उतनी जल्दी नहीं गिरे जितनी जल्दी अमेरिका में गिरे थे। इस मंदी के पहिले कुछ देशों ने यह प्रयत्न भी किया था कि वे अन्य देशों से द्रव्य उधार ले कर अपने यहाँ की आर्थिक परिस्थिति सुधारें। किन्तु वह मंदी प्रारम्भ होने के कुछ समय पूर्व से ही अब उनके लिये अन्य देशों से ऋण भी नहीं मिल सकता था। अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र ही अधिक तर अन्य देशों को ऋण दिया करता था। किन्तु अब मंदी के बाद वह भी न तो ऋण देने के योग्य ही था और न ऋण देना ही चाहता था। वस्तुतः, ऋण लेने वाले देशों की आर्थिक परिस्थिति पहिले की अपेक्षाकृत अब बहुत खराब हो गई थी। इसके फलस्वरूप उन देशों को अब न केवल ऋण पाये बिना ही बल्कि पहिले लिये हुये ऋण तथा उसका सूद चुकाने की समस्या सुलझाने का प्रश्न हल करने की पड़ी। अतः, परिस्थितियाँ सुधारने के लिये ही अब उन्होंने अपने यहाँ आयात पर रोक लगाना प्रारम्भ कर दिया। व्यापारिक विषमता उनके पक्ष में रही। किन्तु इसका यह प्रभाव पड़ा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चलना दुष्कर हो गया तथा सम्पूर्ण संसार में चीजों के भाव गिर गये। औद्योगिक देशों की अपेक्षाकृत कृषिप्रधान देशों में आर्थिक परिस्थिति और भी अधिक गंभीर हो गई। औद्योगिक वस्तुओं की अपेक्षाकृत कृषक वस्तुओं के भाव अधिक जल्दी घटते हैं। ऐसा होने पर अरजेन्टाइना और युरुग्वे ने दिसम्बर १९२९ में सोने में भुगतान करन बन्द कर दिया; कनैडा ने उसी माह सोने के निर्यात पर रुकावटें खड़ी कर दीं, यद्यपि कुछ ही समय के लिये कनैडा ने फिर जून, १९३० में स्वर्ण मान चालू कर दिया था। १९३० में ब्राजील, चाइल, वेनेजुला, पैरुग्वे, पीरू, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के विनिमय दर गिर गये और स्वर्ण निर्यात बिंदु के नीचे पहुँच गये। इन देशों के पश्चात् औद्योगिक देशों की बारी आई। अधिकांश औद्योगिक देश यूरोप में ही पाये जाते हैं। अतः, फ्रांस ने जो अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के बाद अन्य देशों को पहिले ऋण दिया करता था, कुछ समय तक अन्य देशों की सहायता की। किन्तु वह भी काफी समय तक उनकी सहायता न कर सका। उसकी सहायता के फलस्वरूप कुछ देशों की आर्थिक परिस्थिति कुछ दिनों तक तो अवश्य

ही बिगड़ने से रुक गई किंतु यह अधिक दिनों तक न हो सका। आस्ट्रिया में सर्व प्रथम सङ्कट ने उग्र रूप धारण कर लिया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पुन-सङ्गठन के फलस्वरूप उसकी आर्थिक दशा वैसे ही बहुत बुरी हो गई थी। किन्तु इस पर भी उसके पड़ोसी देशों ने उसके माल के आयात पर काफी कर लगा दिये थे। वहाँ का आस्ट्रियन क्रेडिट आन्स्टाल्ट, जो इतिहास की दृष्टि से केन्द्रीय और मध्यवर्ती यूरोप में सबसे बड़ा बैङ्क समझा जाता था, फेल हो गया। इसके बाद जर्मनी का डानत बैङ्क भी फेल हो गया। इन दो केन्द्रीय बैङ्कों के टूटने के फलस्वरूप अन्य देशों में भी अपने यहाँ के केन्द्रीय बैङ्कों के प्रति जनता का विश्वास उठ चला। बैङ्क आफ इङ्गलैण्ड से भी, जहाँ पहिले लगभग प्रत्येक देश अपना धन जमा रखता था, लोगों ने अपना-अपना धन निकालना प्रारम्भ कर दिया जिससे इङ्गलैण्ड से अन्य देशों को काफी मात्रा में सोना चला गया तथा बाद में सरकार ने सोने की यह बाहर जाती हुई चाल रोकने के लिए ही अपने यहाँ से स्वर्ण मान हटा दिया। वास्तव में इंगलैण्ड सब कठिनाइयाँ होते हुए भी बहुत परिश्रम से १९२५ के बाद स्वर्ण मान बनाये रहा। स्वर्ण मान रखने के लिए अन्य देशों की अपेक्षाकृत इंगलैण्ड को अधिक कठिनाई इस कारण हुई कि इंगलैण्ड ने अपने यहाँ पौण्ड का मूल्य पुराने स्वर्ण समता के बराबर ही निर्धारित किया था जब कि अन्य देशों ने अपनी-अपनी करन्सी का विनिमय अनुपात पहिले से कम विनिमय समता पर किया था। इसके फलस्वरूप वहाँ पर चीजों के देशी और विदेशी भावों में काफी विषमता हो गई। इसे दूर करने का वास्तव में कोई उपाय न था। इङ्गलैंड में स्वर्ण मान टूटने का परिणाम अत्यन्त गम्भीर और हानिकर सिद्ध हुआ। अन्य देशों ने भी अपने यहाँ स्वर्ण मान हटा दिया। १९३१ के अन्तिम मास तक कनैडा, भारतवर्ष, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत सभी उपनिवेश, स्वीडन, डेनमार्क, फिनलैण्ड और जापान ने स्वर्ण मान हटा दिया था। मेक्सिको ने इसे जुलाई १९३१ में ही हटा दिया था। दक्षिणी अफ्रीका के कुछ देशों ने इसे १९३१ में तोड़ा तथा अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने इसे अप्रेल १९३३ में हटाया और बाद में दक्षिणी अमेरिका के देशों ने भी इसे हटा दिया। यहाँ तक कि १९३३ के मध्य तक में वास्तविक स्वर्ण मान केवल फ्रांस में रह गया। इसके अतिरिक्त यह नाम मात्र के लिए जेकोस्लोवाकिया, पोलैंड,

मिश्र, नार्वे, स्विटजरलैंड और वेलजिम में भी बना रहा। किन्तु इसे बनाये रखने के लिये इन देशों को अपने यहाँ की करन्सी की विनिम दर कई बार घटानी पड़ी। १९३४ में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने अपने यहाँ फिर से स्वर्ण पाट मान चलाना चाहा किन्तु वह उसमें सफल नहीं हुआ। इस पर भी संसार भर में वही ऐसा देश है जहाँ की सरकार आज भी ३५ डालर प्रति औंस की दर से सोना खरीदने को तैयार है।

दुबारा स्वर्ण मान टूटने के कारण—अब हम इस चीज का सरलता से अनुमान कर सकते हैं कि १९२९-३३ की मदी में या उसके पश्चात् स्वर्ण मान टूटने का प्रधान कारण सोने के मूल्य में वृद्धि अथवा अन्य वस्तुओं का भाव गिर जाना था। १९२०-३० में चीजों की उत्पति बढ़ गई थी किन्तु द्रव्य की मात्रा नहीं बढ़ी थी। वस्तुतः, भिन्न-भिन देशों में सोने की कमी हो गई थी अमेरिका के सयुक्त राष्ट्र ने, जहाँ सबसे अधिक सोना था, अपना सोना बाहर नहीं जाने दिया। स्वर्ण मान में यह आवश्यक है कि सोने का आयात—निर्यात भिन्न-भिन्न देशों में बराबर होता रहना चाहिये ताकि जिन देशों में सोना अधिक है उन देशों से वह ऐसे देशों को भेजा जा सके जहाँ वह कम है। जब भिन्न-भिन्न देशों की करन्सी का सोने से संबन्ध रहता है तब सोने की मात्रा बढ़ने से करन्सी की मात्रा भी बढ़ जाती है। अतः, चीजों का भाव बढ़ जाता है तथा व्यापार की विषमता प्रतिकूल हो जाती है और सोना बाहर जाने लगता है। इसी तरह से जिन देशों में सोने की मात्रा कम होती है उनमें ठीक इससे विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। किन्तु अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में उस समय ऐसा नहीं हुआ। अपने यहाँ सोने की मात्रा बढ़ जाने पर भी उसने करन्सी की मात्रा नहीं बढ़ने दी। इस कारण सोना वहाँ से बाहर नहीं जा सकता था। कुछ समय पहिले जब इगलैंड से सोने का आयात होना प्रारम्भ हुआ था तब उसके फलस्वरूप वहाँ पर करन्सी का अत्यधिक प्रसार हो जाने के भय से अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र इङ्गलैंड की सोना भेजने की यह नीति बुरी और शत्रुतापूर्ण समझता था। किन्तु उसे शीघ्र ही अपना विचार बदलना पड़ा तथा उसने अब यह समझ लिया कि देश में अधिक मात्रा में सोना जमा हो जाना उसके लिए अहितकर नहीं था। अतः, उसने अपने यहाँ का सोने का निर्यात

रोक दिया। फिर कुछ समय तक तो वह यूरोप से आया हुआ सोना अपने यहाँ केवल अमानत के रूप में रक्खा समझता रहा किन्तु बाद में उसने उसे अपने यहाँ के सोने के स्टाक में सम्मिलित कर लिया। अब, वह करन्सी प्रसार के प्रयोग में नहीं आ सकता था। यदि सोने की वृद्धि के साथ-साथ वहाँ पर करन्सी का भी प्रसार होता तो समस्त संसार की आर्थिक परिस्थिति ही बदल गई होती। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में कभी-कभी छोड़कर अधिकतर यह सन् १९-३१ तक बराबर बढ़ता ही रहा और जब कभी थोड़े समय के लिये भी इसका निर्यात होना प्रारम्भ हो जाता था तभी वहाँ के पत्र, बैंक और सरकारी लोग सभी हलचल मचाने लगते थे। निस्सन्देह सन् १९२५ के बाद इसने अन्य देशों को काफी ऋण भी दिया था तथा उसके लिए इसे उन देशों को कुछ सोना भी भेजना पड़ा। किन्तु इसके साथ-साथ इसकी व्यापारिक विषमता बराबर इसके पक्ष में होती गई जिससे इसके यहाँ सोना आता ही रहा। हाँ, १९-३१ के आर्थिक संकट के बाद अक्टूबर १९३१ से मार्च १९३३ तक में जब इसने स्वर्ण मान त्याग दिया तब तक इसके यहाँ से बराबर सोना बाहर जाता रहा। वास्तव में स्वर्णमान का त्याग यहीं रोकने के लिये किया गया था। फिर चार महीनों तक, जब तक कि डालर का मूल्य स्थिर नहीं हो गया इसके यहाँ से सोने का निर्यात और आयात दोनों रुका रहा। किन्तु इसके बाद, फिर इसके यहाँ बीच-बीच में कुछ दिन छोड़-कर सन् १९४२ तक बराबर सोना आता रहा। अंतिम यह कि वाशिंगटन के राजकीय क्षेत्रों ने समय-समय पर कई वक्तव्य निकालकर संसार के सामने यह स्पष्ट कर दिया गया है कि न तो वह सोने का क्रय ही बन्द करेंगे और न उसका भाव ही घटायेंगे। जहाँ तक है उसमें वृद्धि ही की जा सकती है। स्वर्ण मान की सफलता के लिये एक अन्य बात भी आवश्यक है जो यह है कि प्रत्येक देश अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हो। किन्तु इस समय ऐसा नहीं हो सका। दुबारा स्वर्णमान हटाने के पहिले ही प्रत्येक देश की यह नीति हो गई थी कि वहाँ अपने यह के व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण रक्खे।

अधिकांश देशों में विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन में, चीजों के आंतरिक और विदेशी भावों में इसी बीच में काफी विषमता उत्पन्न हो गई थी। अतः, उन्हें

काफी मात्रा में सोने का निर्यात करना पड़ा और बाद में उसका निर्यात बन्द करने के हेतु ही उन्होने स्वर्ण मान छोड़ दिया।

उपरोक्त दोनों अवसरों पर स्वर्ण मान टूटने के पश्चात् किये गये उपायों में अन्तर—पहली बार स्वर्ण मान टूटने पर भिन्न-भिन्न देशो ने जो कुछ किया था वह उसके दुबारा टूटने पर जो कुछ किया गया था उससे भिन्न था। पहिली बार स्वर्ण मान टूटने पर लोगो ने स्वर्ण मान फिर ग्रहण करना चाहा। किन्तु इस बार उसके टूटने पर किसी ने उसे फिर ग्रहण करने की पर-वाह न की। पहिली बार स्वर्ण मान टूटने पर निम्नलिखित उपाय किए गए थे :—

(१) कुछ देशों ने उनके यहाँ अत्यधिक प्रसार हो जाने के कारण जिसके फलस्वरूप उनकी करन्सी की क्रय-शक्ति ही समाप्त हो गई थी उन्हें रद्द करके उनके स्थान पर स्वर्ण से सम्बन्धित एक नई करन्सी चालू की।

(२) कुछ देशो ने अपनी करन्सी का ह्रास रोका और फिर गिरे हुए मूल्य पर ही उसका मूल्य बाँध दिया। यह द्रव्य अवमूल्यन (Devaluation) था। कुछ ने विलोपित करन्सी का पुराना नाम ही रक्खा जैसे फ्रांस ने और कुछ ने उसका नाम बदल दिया।

(३) कुछ देशों ने द्रव्य सकुचन करके पुराने टकसाली दर पर फिर से अपनी करन्सी स्वर्ण से बाँध दी।

किन्तु दुबारा स्वर्ण मान टूटने पर यह सब नहीं हुआ :—

(१) एक तो द्रव्य का अत्यधिक प्रसार कहीं भी नहीं था, जिससे करन्सियाँ रद्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

(२) दूसरे किसी देश ने द्रव्य संकुचन करके फिर से स्वर्ण मान नहीं अपनाया।

(३) जहाँ स्थिति बहुत बिगड़ गई थी, वहाँ भी पहिले तो करन्सी का मूल्य गिरने दिया गया ; किन्तु जब स्थिति सँभलने योग्य हो गई तो इसे रोका गया। इतने पर भी स्वर्ण मान नहीं अपनाया गया। करन्सी किसी आधार बिना ही अपनी विनिमय दर पर चलती रही। कुछ देशों में जैसे बेल्जियम और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में अवश्य द्रव्य अवमूल्यन किया गया।

इस समय विनिमय नियन्त्रण प्रारम्भ हो गया। भिन्न-भिन्न देश की सरकारों ने अपनी करन्सियों की विनिमय दर निश्चित कर दीं, और उन्हीं पर वह विनिमय के सौदे करने लगे। यह विनिमय दर वास्तविक दरों से ऊँची रक्खी गई, किन्तु सरकारों को विनिमय का एकाधिकार मिल जाने के कारण इसमें कोई कठिनाई नहीं पड़ी। हाँ, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अवश्य अड़चन पड़ने लगी जिससे अनेक उपायों (Clearing arrangements) का अवलम्बन लेना पड़ा।

अंतिम यह कि इस समय करन्सियों की विनिमय दर में अनावश्यक घट-बढ़ रोकने के लिये प्रत्येक देश में विनिमय समता कोष (Exchange Equalisation Funds) खुल गये।

स्वर्ण मान के गुण और दोष—सन् १९१९ में युद्ध से निवृत हो जाने पर जब संसार के मुख्य-मुख्य राष्ट्र उस समय की बिगड़ी हुई परिस्थिति सँभालने का एक यही उपाय देख रहे थे कि वह लोग फिर से स्वर्ण मान अपना लें तब कुछ लोग इस स्वर्ण मान की आलोचना करने लग गये थे। उनका कहना था कि :—

(१) **सोने की क्रय-शक्ति बहुत घटती-बढ़ती है**—वास्तव में उसमें अब वह स्थिरता नहीं रह गई थी जिसका संकेत इसी अध्याय में पहिले किया जा चुका है। सोने का बाजार अब केवल एक देश के अर्थात् संयुक्त राष्ट्र के ही हाथ में गया था। १९ वीं शताब्दी में लोगों का यह ध्यान था कि सोने का बाजार बड़ा विस्तृत है। इतना विस्तृत कि एक देश में इसके सम्बन्ध में चाहे जो कुछ भी हो उसका कोई प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता है। वह समझते थे कि सोना-चाँदी जब चाहे तब विदेशों में खरीदा जा सकता था। किंतु उस समय भी ऐसा नहीं था। सोने की मूल्य स्थिरता और उसका हर समय प्राप्त हो सकना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बिना सम्भव ही नहीं है। हाँ, १९२२ की जेनेवा कान्फ्रेंस के समय तक यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो चुकी थी और यही कारण था कि जैसा कि पहिले बताया जा चुका है भिन्न-भिन्न देशों की स्वर्ण की माँग का और उसी के परिणाम-स्वरूप उसके मूल्य का नियंत्रण रखने के

उद्देश्य से ही उसमें एक अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान का सुझाव रक्खा गया था। उनका यह विचार था कि इस तरह से मूल्य और विनिमय दर दोनों का ही नियंत्रण हो सकेगा। युद्ध के पूर्व जो राष्ट्रीय स्वर्ण मान था उसमें ऐसा न होकर केवल विनिमय दर पर ही नियंत्रण रहता था।

२. स्वर्ण मान न तो मूल्य और न विनिमय दर ही ठीक रखने के लिए आवश्यक है—कुछ लोगों का तो यह विचार था कि मूल्य और विनिमय दर दोनों में से किसी को भी निर्धारित रखने के लिए स्वर्ण मान रहना आवश्यक नहीं है। कीन्स का विशेष तौर पर यह कहना था कि करन्सी की स्थिरता स्वर्ण मान बिना भी रह सकती है और वास्तव में प्रत्येक द्रव्य-प्रणाली का एक यही तो ध्येय रहता है।

(क) बहुत सा सोना रखना और उसे बढ़ाने के लिये और खरीदना वास्तव में बिल्कुल निरर्थक है और उससे करन्सी की स्थिरता खतरे में पड़ जाती है—कीन्स का कहना था कि बहुत सा सोना रखना और उसे बढ़ाने के लिये और अधिक खरीदना बिल्कुल निरर्थक है। सोने के प्रयोग से सच तो यह है कि करन्सी की स्थिरता जाती रहती है। बात यह है कि जिन देशों के पास फालतू सोना है वह जब चाहे तब उससे बाजार भर कर उसका मूल्य गिरा सकते हैं। अथवा जो देश अभी तक सोने का कम प्रयोग करते आ रहे हैं और स्वर्ण विनिमय मान से ही संतुष्ट हैं वही कहीं उसे अपने कोष में रखने के लिए उसका क्रय न करने लग जायँ।

(ख) विनिमय दरों की घट-बढ़ कोई धात्विक माध्यम रक्खे बिना ही केवल विनिमय मान द्वारा ही रोकी जा सकती है—लोगों का यह कहना था कि सब देशों का एक ही द्रव्य मान रखने का यही लाभ है कि जिससे विनिमय दरों की घट-बढ़ बहुत कम की जा सकती है। किन्तु इसके लिये भी कीन्स का कहना था कि यह भी कोई धात्विक माध्यम रक्खे बिना ही केवल विनिमय मान से पूरी की जा सकती है। उसका कथन था कि प्रत्येक देश अन्य देशों की करन्सियों का कोष रख कर अपना विनिमय दर स्थिर रख सकता है। वास्तव में आज कल यही हो भी रहा है।

(ग) वस्तुओं के मूल्य की स्थिरता से विनिमय दर भी स्थिर रह सकती है और इसके लिए धात्विक माध्यम की आवश्यकता नहीं है। यह तो केवल द्रव्य की पूर्ति को उसकी माँग के अनुसार रखने से ही संभव हो सकती है—कीन्स के अनुसार तो विनिमय दरों की स्थिरता की भी आवश्यकता नहीं थी। वह तो वस्तुओं के मूल्य को स्थिर रखना चाहता था, और यह निस्संदेह ही धात्विक माध्यम के बिना द्रव्य की पूर्ति को केवल उसकी माँग के अनुसार रखकर ही संभव हो सकता था। साथ ही वह इस बात की आशा रखता था कि जब प्रत्येक देश के मूल्य स्थिर रहेंगे तो उनके विनिमय दर भी स्थिर रहेंगे और यह सही भी था।

यही विचार गस्टव कासिल नाम के अन्य अर्थशास्त्री का भी था जिसने काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली है। सन् १९२८ के अपने एक लेख में उसने यह कहा था कि गत् महायुद्ध के समय भिन्न-भिन्न देशों की करन्सियों में जो क्रांति हो गई थी उसके बाद उन्होंने उन्हें स्थिर रखने के लिये जो स्वर्ण मान अपनाया था वह आवश्यक नहीं था। संसार में सभी जगह कागजी मान था और यदि इसी कागजी द्रव्य की क्रयशक्ति सब जगह स्थिर कर दी जाती तो संसार भर में एक संतोषजनक द्रव्य प्रणाली हो जाती।

मूल्य स्थिरता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि भिन्न-भिन्न करन्सियों का समन्वय स्वर्ण से ही हो। अब तक जो कुछ जाँच की जा चुकी है उससे उचित रूप से नियन्त्रित कागजी मान से ही काम चलने की संभावना बड़ी अच्छी तरह से मालूम पड़ने लगी है।

किन्तु उसका यह भी कहना था कि यह सब होते हुये भी उस समय लोगों को यह बात समझा देना असंभव थी। कागजी द्रव्य को नियन्त्रित न रख सकने के कारण उन्हें जो कटु अनुभव हो चुका था उसके कारण उनके हृदयों में इसके विरुद्ध एक बहुत बड़ी घृणा पैदा हो गई थी जिसे हटाना उस समय तो किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था। अतः, कोई भी योजना चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न होती, किन्तु उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये यह समय उपयुक्त नहीं था। यदि संसार में भिन्न-भिन्न देशों को उस समय इस बात के लिये बाध्य भी किया जाता और उन्हें यह समझाया जाता कि भली-भाँति

नियन्त्रण रखने पर कागजी मान से अनेक लाभ हैं तो महायुद्ध के पश्चात् करन्सियों का मूल्य स्थिर करने की समस्या सुलझाने में और भी देर होती। अतः, इसे तो छोड़ना ही था। उस समय तो संसार में एक अच्छी करन्सी प्रणाली शीघ्र ही स्थापित करना बहुत आवश्यक था। उसे स्थापित करने में थोड़ा सा समय भी नष्ट नहीं किया जा सकता था।

ऊपर हमने स्वर्णमान के अवगुणों का उल्लेख तो कर दिया है किन्तु उसके बहुत से गुण भी हैं। किसी करन्सी के लिये यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि वह वस्तुओं के साधारण मूल्य पर निर्भर होने की अपेक्षा किसी अच्छी धातु पर निर्भर हो।

वस्तुओं के साधारण मूल्य पर निर्भर होने की अपेक्षाकृत करन्सी के किसी धातु पर निर्भर होने की आवश्यकता—जब इङ्गलैण्ड में स्वर्ण पाट मान था, तब १९२६ में बाल्फर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर बहुत जोर दिया था कि किसी देश की करन्सी के साधारण चीजों के भावों पर निर्भर होने की अपेक्षाकृत किसी धातु पर निर्भर होना बहुत ही आवश्यक है। जब कोई करन्सी चीजों के साधारण दामों पर आश्रित होती है तब उस करन्सी मान को मूल्य का मिश्रित मान (Composite standard of value) कहते हैं और यह सदैव बिल्कुल ठीक भावों पर नहीं आश्रित रहता। चीजों के भाव पिछले सौदों से ही एकत्रित किये जाते हैं। इस कारण वह ठीक नहीं हो सकते और यदि यह भी मान लिया जाय कि ठीक भाव चुनना सम्भव है तो मूल्य के मिश्रित मान में यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि चीजों के भावों में सदैव घट-बढ़ होने के कारण इसका यह आधार भी समय-समय पर बदला जाय। किन्तु यदि सरकार वह आधार समय-समय पर बदलती है तो व्यापारियो को इस बात का कभी विश्वास ही नहीं हो सकता कि वह ईमानदारी बरतती है। न लोगों को इस बात का विश्वास ही हो सकता है कि करन्सी का नियन्त्रण करने वाले पदाधिकारियों में आवश्यक योग्यता, ईमानदारी की दृढ़ता और उनमें राजनैतिक अथवा आर्थिक स्थितियों से अथवा आर्थिक स्थितियाँ उचित रूप से न समझ सकने से जो भ्रम उत्पन्न हो जाता है उससे मुक्त रहकर सक्षम कार्य करने की यथोचित शक्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त

है। आधुनिक साख का सारा ढाँचा इसी बात पर निर्भर है कि व्यापारियों का अन्ततः उस आधार पर कितना विश्वास है जिस पर वह खड़ा हुआ है और सच तो यह है कि इस समय संसार की जो स्थिति है उसमें यह विश्वास किसी ऐसी करन्सी प्रथा में हो ही नहीं सकता जो स्वर्ण के आधार पर नहीं है।

सारांश—अन्त में सारांश रूप में कहा जा सकता है कि दुबारा स्वर्ण मान टूटने के पश्चात् से सम्पूर्ण संसार में नियन्त्रित करन्सी प्रथा ही चालू है। अतः, लोगों ने स्वर्ण मान के उपरोक्त गुणों और अवगुणों का पूरी तरह से अनुभव प्राप्त कर लिया है।

स्वर्ण और स्वर्ण मान का भविष्य—चूँकि आजकल संसार में नियंत्रित करन्सी प्रथा का ही चलन है अतः, द्रव्य के प्रयोग के लिये सोने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती। हाँ, विनिमय दरों की घट-बढ़ ठीक रखने के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने के लिये जो विनिमय समता अथवा अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष बनाये गये हैं उनमें इसका प्रयोग अवश्य किया जाता है। अतः, सोने अथवा स्वर्ण मान के भविष्य के सम्बन्ध में इधर लोगों को काफी सन्देह उत्पन्न हो गया था। यद्यपि १९३०-४० में कुछ देश सोने के लिये लगभग पागल से थे किन्तु उस हालत में भी यूरुप के अधिकतर देश उस पागलपन से दूर रहे। उस समय भारतवर्ष और कुछ सोना उत्पन्न करने वाले देशों से जैसे दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, रूस, और कनैडा से सोने का निर्यात भी हुआ था किन्तु इतना होते हुये भी अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में जो सोना उत्पन्न हुआ था उसके अलावा भी उसने अन्य देशों में सोने का आयात किया।

सोने का भविष्य निर्धारित करने में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र, इंगलैंड, फ्रांस और रूस का ही सबसे बड़ा हाथ रहेगा। इसका कारण यह है कि (१) अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के पास सबसे अधिक सोना जमा है, (२) इंगलैंड के ऊपर ब्रिटिश साम्राज्य के ३ मुख्य सोना उत्पन्न करने वाले देशों—दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और कनैडा की उन्नति सुरक्षित रखने की जिम्मेदारी है, (३) फ्रांस को सोने के भविष्य के सम्बन्ध में अकथनीय विश्वास है, तथा (४) रूस स्वयं सोना उत्पन्न करने वाला देश है। अतः, यह चार देश कभी नहीं

पसन्द नहीं कर सकते कि सोने का दाम घट जावे। वस्तुतः, ये देश उसका मूल्य बढ़ाना ही चाहते हैं।

द्रव्य के नियन्त्रण में भी कठिनाइयाँ हैं। साख का आधार तो सदैव के लिये स्वर्ण ही रहेगा। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष में भी जिसकी स्थापना अभी हाल ही में हुई है सोने को एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

स्वर्ण के सम्बन्ध में जो आशंका १६३५ में प्रारम्भ हुई थी और १६३७ में बहुत बढ़ गई थी वह भी बहुत शीघ्र ही दूर हो गई थी। इससे भी यही पता चलता है कि लोग सोना कितना पसन्द करते हैं। उपर्युक्त आशंका का समय स्वर्ण की परीक्षा का समय था, और यह उसमें भी सफल उतरा। अतः, हम यह कह सकते हैं कि इसका भविष्य बुरा नहीं हो सकता।

रह गया स्वर्ण मान का भविष्य। सो भविष्य में इसे उस रूप में तो कहीं भी ग्रहण नहीं किया जा सकता जिस रूप में यह पहिले था।

हाँ, विभिन्न करन्सियो की स्वर्ण समता अवश्य अन्तर्राष्ट्रीय कामो के लिए निर्धारित रहेगी। कुछ देशों में यह शायद आन्तरिक कामों के लिये भी हो। किन्तु यह सब तभी सम्भव है जब भिन्न भिन्न देशों की सरकारो में पूर्ण सहयोग हो। अस्तु इस ध्येय की पूर्ति के लिये हाल ही में अनेक योजनायें निकाली गई हैं और उनमें से एक के अनुसार आजकल काम भी चल रहा है।

वह योजना जिसके अनुसार आजकल काम चल रहा है अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष योजना है। इसे ब्रिटन के उड्स सम्मेलन ने निकाला था।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष योजना

यह संक्षेप में निम्नांकित है :—

(१) इसका निर्धारित कोष एक हजार करोड़ डालर रक्खा गया है, और निम्नलिखित देशो का हिस्सा निश्चित कर दिया गया है :—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका २७५ करोड़, संयुक्त राज्य १३० करोड़, रूस १२० करोड़, चीन ५५ करोड़, फ्रांस ४५ करोड़, भारतवर्ष ४० करोड़, बेल्जियम २२.५

करोड़, कनाडा ३० करोड़, आस्ट्रेलिया २० करोड़, निदरलैंड २७·५ करोड़, द० अफ्रीका १० करोड़, ईराक ८ करोड़, ईरान २·५ करोड़, ग्रीस ४ करोड़, आइसलैंड १ करोड़, मिश्र ४·४ करोड़, इथिओपिया ·६ करोड़ आयरलैंड और लिबेरिया प्रत्येक ·५ करोड़। प्रत्येक देश अपना निश्चित हिस्सा उसके २५ प्रतिशत अथवा उसके पास जितना सोना अथवा स्वर्ण विनिमय है उसके १० प्रतिशत तक इनमें से जो कम हो उतना तो सोने में और शेष अपनी करन्सी में दे सकता है। भिन्न-भिन्न देशों की अपनी करन्सी तो उसी केन्द्रीय बैंक में तथा स्वर्ण सब का एक ऐसी जगह में रक्खा जाता है जहाँ सब सदस्य निश्चित कर देते हैं।

(२) प्रत्येक सदस्य देश की करन्सी का मूल्य उसके सदस्य बनने के समय ही निर्धारित हो जाता है। फिर, इसमें किसी समय भी १० प्रतिशत तक का उलट-फेर किया जा सकता है। अब इसके पश्चात् भी यदि किसी देश को कोई उलट-फेर करना है तो वह १० प्रतिशत तक और कोष की सम्मति से हो सकता है। इसके अतिरिक्त सब करन्सियों का मूल्य भी कोष की सम्मति से किसी समय भी अधिक से अधिक १० प्रतिशत तक अदला-बदला जा सकता है। कोष और सदस्यों के बीच के सब लेन-देन सम मूल्य पर होते हैं।

(३) सदस्य देश कोष केवल अपने सरकारी खजाने (Treasury) केन्द्रीय बैंक स्थिरता कोष (Stabilisation fund) और आर्थिक संस्थाओं द्वारा ही लेन-देन कर सकते हैं। प्रत्येक सदस्य देश अपनी करन्सी के अथवा स्वर्ण के विनिमय में किसी भी दूसरे देश की करन्सी केवल उसी हद तक प्राप्त कर सकता है जिस हद तक उसे वह चालू भुगतान के लिए चाहिये। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि जिस देश की करन्सी कोष को दी जा रही है उसके कोष के पास सम्पूर्ण करन्सी यदि वह उसके निर्धारित हिस्से के ७५ प्रतिशत से कम है तो ७५ प्रतिशत होने के बाद पिछले १२ महीनों के अन्दर उसके हिस्से के २५ प्रतिशत से और कुल २०० प्रतिशत से अधिक न हो जाय। फिर, यदि कोष को यह प्रतीत होने लगे कि किसी सदस्य देश की करन्सी की इतनी माँग है कि कोष के पास उसका जो हिस्सा है उससे वह अधिक

तो वह उसे सब देशों के बीच में किसी न्याययुक्त ढंग पर बाँट दे। एक बात और है और वह यह है कि जब तक किसी भी सदस्य देश का यह अधिकार है कि वह अपनी करन्सी के विनिमय में कोष से किसी अन्य सदस्य देश की करन्सी खरीद सकता है तब तक उसे यह भी आवश्यक है कि वह उस देश से उसकी करन्सी अथवा स्वर्ण के विनिमय में अपनी करन्सी भी खरीदने के लिये तैयार रहे।

(४) किसी सदस्य देश की करन्सी की अपने पास कमी रोकने के लिये कोष का यह भी अधिकार है कि वह उसे या तो उधार ले ले अथवा सोना देकर खरीद ले।

(५) किसी सदस्य देश को विदेशी करन्सी बेंचते समय कोष यह भी कह सकता है कि उसने एक वर्ष के अंदर जितनी विदेशी करन्सी खरीदी है उसका अधिक से अधिक आधा तो वह सोने में अवश्य दे दे। किंतु यह बात तभी कही जा सकती है जब उस देश के पास सोने अथवा सोने में परिवर्तित होने वाली विदेशी करन्सियाँ इतनी काफी हैं कि उसका जो हिस्सा कोष में निर्धारित किया गया है वह उससे अधिक है। इसके अतिरिक्त, यदि किसी सदस्य का सोने और सोने में परिवर्तित होने वाली करन्सियों का स्टाक कोष के आर्थिक वर्ष के अन्दर बढ़ गया है तो कोष उससे यह भी कह सकता है कि वह अपने बढ़े हुये स्वर्ण, इत्यादि के कम से कम आधे की अपनी करन्सी कोष से खरीद ले। हाँ, इसमें यह अवश्य है कि कोष के पास उस देश की करन्सी उसके निर्धारित हिस्से के ७५ प्रतिशत से कम न बचे और साथ ही उस देश के पास सोने और सोने में परिवर्तित होने वाली करन्सियों का स्टाक उसके कोष के निर्धारित हिस्से से कम न हो।

(६) कोई सदस्य देश कोष के साधन अपने यहाँ से लगातार जाने वाली पूँजी का भुगतान पूरा करने के लिये प्रयोग में नहीं ला सकता और यदि ऐसा हो रहा है तो कोष उसे इस सम्बन्ध में आवश्यक नियंत्रण करने के लिये कह सकता है। इस धारा का यह अभिप्राय नहीं है कि निर्यात संबंधी अथवा व्यापार, बैंकिंग और अन्य कामों के सिलसिले में जो बड़े-बड़े लेन-देन होते हैं उनमें किसी प्रकार की बाधा डाल सके। न इसका उद्देश्य पूँजी का ऐसा

आवगमन रोकना ही है जो सदस्य देश के स्वयं के सोने और विनिमय के साधनों से पूरा किया जा सकता है और जो कोष के उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं है।

(७) सदस्य देशों का यह भी दायित्व है कि (अ) वह स्वर्ण के सौदे उसके निर्धारित मूल्य के बाहर न करें, (ब) वह अन्य करन्सियों का विनिमय अपने बाजारों में किसी ऐसी दर पर न होने दें जो उनकी स्वर्ण में जो विनिमय दर है उसके और अपनी करन्सी का जो मूल्य निर्धारित है उसके बराबरी का नहीं है और (स) न उन्हें अन्य सदस्य देशों ही से उनके जो दिन प्रति दिन अंतर्राष्ट्रीय सौदे होते हैं उनके भुगतान में कोई बाधा ही डालनी चाहिये और न कोष के अनुमति के बिना उन्हें किस. अविवेकपूर्ण अथवा बहु-मुखी करन्सी व्यवस्था में पड़ना चाहिये।

(८) कोष ने सदस्य देशों को तीन वर्षों के अन्तर्काल के लिये कुछ छूट भी दे दी थी जो अब भी चालू है। प्रथम तो इस अवधि के अन्दर उन्हें विनिमय संबंधी नियन्त्रण रखने, दिन प्रतिदिन के अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के भुगतान में बाधा डालने और अविवेकपूर्ण अथवा बहुमुखी करन्सी व्यवस्था में पड़ने का भी अधिकार दे दिया गया है। दूसरे, उन्हें इस बीच में दूसरी करन्सियाँ अथवा स्वर्ण देकर कोष से अपनी करंसी खरीदने के लिये भी मजबूर नहीं किया जा सकता।

कोष का अब तक का कार्य—कोष की प्रारम्भिक बैठक मार्च १६४६ में हुई थी। उसमें कोष के और उसी से सबंधित अंतर्राष्ट्रीय बैंक के कार्यारम्भ के विषय में बहुत-सी बातें ते हुई थी। फिर, इसकी प्रथम वार्षिक बैठक सितम्बर १६४६ में हुई। तब से हर साल इसकी वार्षिक बैठकें होती हैं। कोष के सदस्य बराबर बढ़ते जा रहे हैं, हाँ, रूस इसका सदस्य नहीं बना। वास्तव में रूस का हिस्सा तीसरा था। किन्तु उसके इसमें न सम्मिलित होने के कारण अब चीन और फ्रांस के हिस्से तीसरे और चौथे हो गये हैं। भारतवर्ष का हिस्सा छठें से पाँचवाँ हो गया है। कोष के प्रथम पाँच सदस्यों को उसके संचालक मण्डल में अपने स्थायी सदस्य भेजने का अधिकार है। अतः भारतवर्ष का भी वहाँ पर एक स्थाई सदस्य है। शेष सब सदस्य अपने में से सात सदस्य संचालक मण्डल में भेजते हैं। वैसे तो फ्रांस का हिस्सा तो बाद में ४५ करोड़

डालर से बढ़ाकर ५२॥ करोड़ डालर कर दिया गया था, किन्तु इससे किसी सदस्य के क्रम में अन्तर नहीं पड़ता। भारतवर्ष के विभाजन का भी भारतवर्ष पर कोई असर नहीं पड़ा। उसका हिस्सा और उसका क्रम पहिले ही की तरह बना हुआ है। कोष ने अपना कार्यारम्भ मार्च १६४७ में किया था। तब तक प्रत्येक सदस्य देश ने अपना हिस्सा जमा कर दिया था। भारतवर्ष ने भी ऐसा ही किया था। कोष ने मई सन् १६४७ में सर्व प्रथम फ्रांस, निदरलैंड को विदेशी करन्सियाँ दी थीं। इसके बाद यह बराबर सब की माँग कुछ न कुछ तो अवश्य ही पूरा करता आ रहा है। भारतवर्ष को भी यह बराबर डालर विनिमय में देता जा रहा है। प्रत्येक सदस्य देश ने अपनी करन्सी की स्वर्ण और डालर में विनिमय समता बदल दी है। पहिले तो यह विनिमय समता प्रायः वही रक्खी गई थी जो उस समय चालू थी। भारत के रुपये की विनिमय समता ३·३०२ रु० प्रति डालर अथवा ०·२६८६०१ ग्राम्स स्वर्ण प्रति रु० रक्खी गई थी। किन्तु सितम्बर १६४६ में संयुक्त राज्य ने अपनी विनिमय समता गिरा दी। इसके बाद बहुत से देशों ने उसका अनुकरण किया। भारत ने भी यही किया। अब भारतीय करन्सी की विनिमय समता २१ सेंट=०·१८६६२१ ग्राम्स स्वर्ण रक्खी गई है। इस दर से स्वर्ण का मूल्य १६६.६६७ रु० प्रति औंस है।

४. रजत मान

रजत मान वह करन्सी प्रथा है जिसके अनुसार किसी देश के द्रव्य का मूल्य चाँदी से सम्बन्धित रहता है। यद्यपि स्वर्ण मान की भाँति उसके भी तीन रूप रजत मुद्रा मान, रजत पाट मान और रजत विनिमय मान हो सकते हैं किन्तु आज तक रजत मुद्रा के ही रूप में इसका चलन हुआ है। रजत मुद्रा मान में मूल्य मापने और विनिमय का माध्यम बनने, इन दोनों कामों के लिए चाँदी का प्रयोग किया जाता है अर्थात् चादी की मुद्रायें स्वतंत्रता से बनती हैं और साथ ही साथ वे मुद्रायें प्रामाणिक मुद्रायें भी होती हैं। इन्हीं का चलन भी होता है। यदि साथ ही में कागजी द्रव्य भी चलता है तो उन नोटों को लोग अपनी इच्छानुसार चाँदी की मुद्राओं में बदलवा सकते हैं।

स्वर्ण मान या द्विधातुमान के पहिले चाँदी मान ही संपूर्ण संसार में था। भारतवर्ष में यह १८९३ तक तथा चीन में १९३५ तक चालू था। किन्तु इसमें कुछ ऐसे अवगुण हैं कि जिनके कारण संसार में भिन्न-भिन्न देशों ने इसे धीरे-धीरे त्याग दिया।

रजतमान के अवगुण—(१) इसका सबसे बड़ा अवगुण यह है कि सोने की तुलना में यह उतना मूल्यवान नहीं है। अतः, संसार के उन्नतिशील देशों ने इसे त्याग दिया।

(२) चाँदी के मूल्य में अधिक घट-बढ़ होती है। इस कारण ही १८७२ के पश्चात् इसका मूल्य अधिक घट जाने पर भारतवर्ष ने १८९३ में इसे त्याग दिया था। चीन ने भी १९३५ में इसका दाम अधिक बढ़ जाने के कारण उसी वर्ष इसे छोड़ दिया।

(३) जब किसी देश का विदेशी व्यापार उसके प्रतिकूल होता है तब विदेशों को भुगतान करने के लिये उन्हें चाँदी भेजना सुविधाजनक नहीं होता। इसलिए रजत मान तभी तक चल सका जब तक कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि नहीं हुई।

(४) जब संसार के मुख्य-मुख्य देशों ने रजतमान छोड़कर स्वर्ण मान ग्रहण कर लिया था तब अन्य देशों के लिए भी यह अत्यंत कठिन हो गया कि वे अपनी-अपनी करन्सी का ठीक-ठीक मूल्य उन देशों की करन्सी में निर्धारित कर सकें।

रजत मान के विषय में यह कह देना पर्याप्त होगा कि इनका भविष्य उज्ज्वल नहीं है तथा कोई देश इसे फिर न ग्रहण करेगा।

५. द्विधातु मान

द्विधातु मान की विशेषताओं और उसके दोषों के बारे में तो हम पहिले ही बता चुके हैं। द्विधातु मान की प्रथा एक पुरानी करन्सी प्रथा है जो मध्यकाल में भिन्न-भिन्न देशों में चालू थी। किंतु हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम इसके इतिहास के सम्बन्ध में अधिक विचार करें। हमें तो यहाँ पर केवल

यह देखना है कि युद्ध के पूर्व के स्वर्ण मान की अपेक्षाकृत यह कहाँ तक अच्छा अथवा बुरा है। १६ वीं शताब्दी में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र और फ्रांस में द्विधातु मान ही चालू था तथा अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में तो द्रव्य सम्बन्धी सुधार के लिए इसे बार-बार सुझाया गया है। यहाँ तक कि १८६६ में वहाँ के राष्ट्रपति का चुनाव भी प्रधानतः द्विधातु मान की समस्या के आधार पर ही हुआ था।

१८०३ में फ्रांस ने इसे ग्रहण किया था तथा १ औंस सोना १५½ औंस चाँदी के बराबर माना गया था। किंतु १८११ से १८५० तक बाजार के अनुपात के उपरोक्त सरकारी अनुपात से सदैव अधिक रहने के कारण अर्थात् सोने के मूल्य की अपेक्षाकृत चाँदी के मूल्य का सरकार द्वारा अधिक निर्धारित किये जाने के कारण वहाँ पर चाँदी की मुद्रायें ही चलती रहीं। वह बुरी मुद्रायें थीं, अतः, उन्होंने सोने की मुद्राओं का जो अच्छी मुद्रायें थीं चलन रोक रक्खा। किंतु १८५२ से १८६४ तक परिस्थिति विपरीत हो गई। अतः, द्विधातु मान के समय में वहाँ पर वैकल्पिक मान (Alternating standard) चलता रहा, अर्थात् कभी चाँदी की मुद्राओं का और कभी सोने की मुद्राओं का प्रसार रहा। दोनों मुद्रायें कभी एक साथ नहीं चलीं।

१८६५ में फ्रांस ने यूरुप के कुछ देशों (बेलजियम, इटली, स्विटजरलैंड और बाद में ग्रीस) के साथ लैटिन यूनियन नाम का द्रव्य संबंधी एक समझौता किया। इसका अभिप्राय चाँदी की छोटी मुद्राओं का चलन से हटना रोकने का था। इसमें निम्न शर्तें थीं :—

(१) सोने की और चाँदी की (पाँच फ्रैंक की) $\frac{9}{10}$ खरी धातु की मुद्रायें तो किसी भी सीमा तक बन सकती थीं। यह उपर्युक्त सभी देशों में एक ही तौल की और विधानतः ग्राह्य थीं।

(२) चाँदी की छोटी मुद्राओं की तौल तो पाँच फ्रैंक की चाँदी की मुद्रा के अनुपात में ही रक्खी गई थी। हाँ, उसमें खरी धातु केवल ८३५ के अनुपात में थी जिससे वह सांकेतिक मुद्रा, के रूप में थी और देश के बाहर नहीं जा सकती थी। ये मुद्रायें प्रत्येक देश में उसकी जनसंख्या के अनुसार ही ढल

सकती थी, और जहाँ बनती थी वहाँ पर केवल ५० फ्रैंक तक के लिये विधानतः ग्राह्य थीं।

किंतु यह समझौता हुआ ही था फिर कुछ ऐसी घटनायें घटीं कि बाजार १५½ : १ से ऊपर हो गया और उससे द्विधातु मान वाले देशों में चाँदी भर जाने की आशंका हो गई। अतः, १८७४ में इस यूनियन की एक बैठक बुलाई गई जिसमें पाँच फ्रैंक की रजत मुद्राओं की ढलाई के लिये टकसाल बन्द कर दिये गये और उनके चालू करने की सीमा बाँध दी गई। अतः, इन देशों में नाम के लिए तो अब भी द्विधातुमान था, किंतु वास्तव में वह संमिश्र वैधानिक मुद्रा प्रथा (Composite legal tender system) थी। अतः, यह कहा जा सकता है कि इन देशों में स्वर्ण करन्सी होते हुये भी यह रजत करन्सी पसंद करते थे जो सन् १९१४ तक रही। फ्रांस में बैङ्क नोटों का कोष सोने और चाँदी दोनों में रहता था और केन्द्रीय बैङ्क उनका भुगतान जिस धातु में चाहें उसी में कर सकते थे।

अमेरिका में द्विधातु मान ही था। वहाँ पर निर्धारित दर १५:१ के अनुपात में थी। अतः, जब तक बाजारू दर फ्रांस द्वारा निर्धारित दर की ही तरह रही तब तक वहाँ पर सोना मुद्रण के लिए गया ही नहीं। १८०४ में वहाँ का निर्धारित दर बदल दिया गया, और यह १६:१ के लगभग कर दिया गया। अतः, पहिले के बिल्कुल विपरीत होने लगा जिससे चाँदी मुद्रण के लिये नहीं पहुँच पाती थी और अन्त में चाँदी के डालर बिल्कुल विलीन हो गए। १८७३ में वहाँ जो मुद्रण विधान पास हुआ था उसमें चाँदी का डालर प्रमाणिक मुद्राओं की तालिका में नहीं रखा गया था अतः, इसका बहुत विरोध हुआ। वहाँ उस समय चाँदी के खदान वाले राजनैतिक क्षेत्र में बड़े प्रभावशाली थे। उधर चाँदी की यूरोपीय माँग बन्द हो जाने के कारण उनकी यथेष्ट हानि हो चुकी थी। फिर, जब इधर उनके देश में भी ऐसा ही हुआ तो वह इसे सहन न कर सके। उनके विरोध के कारण उनमें और सरकार में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार वहाँ पर प्रतिवर्ष एक निश्चित परिमाण में रजत डालर मुद्रित होने लगे। किन्तु इन डालरों के कारण सरकार की भी बड़ी आर्थिक हानि हुई जिससे १८९३ में उसने पिछला समझौता रद्द कर दिया।

इसका यह फल हुआ कि यह प्रश्न एक राजनैतिक प्रश्न बन गया, किंतु १८९६ में यही विषय लेकर जो वहाँ पर वहाँ के राष्ट्रपति का चुनाव हुआ था उसके फलस्वरूप यह बिल्कुल समाप्त हो गया। फिर, १९०० का स्वर्ण मान विधान पास हो जाने पर वहाँ पर भविष्य के लिये पूर्ण स्वर्ण मान स्थापित हो गया।

सन् १९२९ की मंदी के समय वहाँ पर फिर द्विधातु मान के पक्षियों का प्रभाव बढ़ गया। अत, राष्ट्रपति रूजवेल्ट को यह घोषित करना पड़ा कि वहाँ की सरकार का वहाँ पर फिर द्विधातु मान स्थापित करने का विचार है। यही नहीं, अगले वर्ष वहाँ एक विधान भी पास हुआ जिसके अनुसार वहाँ करन्सी की धात्विक कोष का चतुर्थांश चाँदी में रक्खा जाने लगा। इस नीति के फलस्वरूप वहाँ की सरकार ने संसार के सभी देशों से काफी चाँदी खरीदी और साथ ही वहाँ के लोगों के पास जो उनकी निजी चाँदी थी उसे उसने जबर्दस्ती खरीद लिया। इसके अतिरिक्त, चाँदी का सरकारी भाव भी काफी ऊँचा निर्धारित कर दिया गया—इतना ऊँचा कि वह देश की उस समय की परिस्थितियाँ देखते हुए बिल्कुल ही अनुचित था। इस सब का यह परिणाम हुआ कि चाँदी में काफी सट्टेबाजी होने लगी जिससे पहिले तो उसका भाव बहुत बढ़ा किन्तु बाद में गिर गया। संसार भर में उस समय केवल चीन ही एक ऐसा देश था जिसके यहाँ रजत मान था। किन्तु इस घट-बढ़ के कारण उसने भी उसे छोड़ दिया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका अब भी द्विधातु मान के पक्ष में है। किन्तु उसके अनुभव से हम सब सबक ले सकते हैं। जुलाई १९४६ में उसने चाँदी का भाव ७१.११ सेंट से बढ़ा ९०.५ सेंट प्रति आउंस कर दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान—अब हम अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान पर विचार करेंगे। कुछ लोगो का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान के चलन में एक अन्य नियम भी लागू होता है जो ग्रीशम के नियम की अपने आप काट कर देता है। यह नियम प्रतिशोध नियम (Law of compensatory action) है। अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान में सब देश दोनों धातु की मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय दर एक ही सी तो निर्धारित करेंगे और उन धातुओं की

बाजारू विनिमय दर भी उन्हीं के यहाँ निर्धारित होगी। अतः, जब कभी दोनों प्रकार की मुद्राओं के पारस्परिक विनिमय दर और दोनों धातु की बाजारू दर में कोई विषमता होगी तब वह स्वयम् ही टकसाल द्वारा उनमें मुद्रायें ढलने से ठीक हो जायगी। यदि चाँदी का मूल्य घट और सोने का मूल्य बढ़ जायगा जिसके यह अर्थ हुए कि चाँदी की मुद्राओं का मूल्य ऊँचा और सोने की मुद्राओं का मूल्य नीचा होजायगा तब चाँदी की मुद्रायें ढलने और सोने की मुद्रायें गलने लगेंगी। यह क्रम सारे संसार में होगा इससे चाँदी की माँग बढ़ जायगी, अतः, उसकी पूर्ति घट जायगी। इसके विपरीत सोने की माँग घट जायगी, अतः, उसकी पूर्ति बढ़ जायगी

इस प्रकार धातु के रूप में चाँदी की मात्रा घटने और धातु के रूप में ही सोने की मात्रा बढ़ने से चाँदी का दाम सोने के रूप में बढ़ जयगा। इसलिये पहिले चाँदी का मूल्य घटने और सोने का मूल्य बढ़ने के कारण जिन लोगों ने चाँदी के सिक्के गढ़वाना और सोने के सिक्के गलवाना शुरू कर दिया था उनकी यह मनोवृत्ति अब अपने आप बदल जायगी तथा इस प्रकार सोने और चाँदी के सिक्कों के मूल्यों का अनुपात अपने आप ठीक हो जायगा। उनके इस प्रकार ठीक होते रहने को हम द्विधातु मान का प्रतिशोध कार्य कहते हैं। द्विधातु मान का यह प्रतिशोध कार्य केवल किसी एक देश तथा कुछ देशों में द्विधातु मान रहने से नहीं हो सकता क्योंकि सिक्का बनाने के लिये कम दाम वाली धातु की बढ़ी हुई माँग और गल जाने से ज्यादा दाम वाले धातु की बढ़ी हुई पूर्ति—एक या कुछ देशों में ही सीमित होने के कारण—अन्तर्राष्ट्रीय बाजार म धातुओं की पूर्ति पर उतना प्रभाव नहीं डाल सकती जितना अंतर्राष्ट्रीय द्विधातु मान में सम्भव है। अतर्राष्ट्रीय द्विधातु मान में सिक्के गलाना या सिक्के गढ़ना जिसका प्रभाव धातुओं की पूर्ति पर पड़ता है संसार के सम्पूर्ण देशों में होता है। अतः, उसका प्रभाव पड़ता है।

द्विधातु मान के लाभ—यद्यपि द्विधातु मान में सबसे बड़ा अवगुण यह है कि दो धातु के सिक्कों के मूल्य का सरकारी अनुपात प्रायः बाजार के अनुपात से बदलता रहता है किन्तु इस अवगुण के होते हुए भी द्विधातु मान विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान के अनेक लाभ हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

(१) सोने और चाँदी दोनों की पूर्ति से उन पर आश्रित द्रव्य की भी मात्रा इतनी पर्याप्त हो जाती है कि द्रव्य के लिये धातु की कमी कभी नहीं प्रतीत होती।

(२) दोनों की वार्षिक उत्पत्ति मिलकर इतनी पर्याप्त होती है कि वह लोगों की वार्षिक उन्नति के अनुकूल ही होती है जिससे चीजों के भाव भी नहीं घट पाते।

(३) सोने और चाँदी दोनों धातुओं के सिक्कों के चलने से चाँदी उत्पन्न व एकत्रित करने वाले देशों की भी उन्नति हो सकती है। अभी तक तो लोग द्रव्य के लिये चाँदी की अपेक्षाकृत सोने को ही अधिक श्रेष्ठ समझते हैं। अतः, चाँदी उत्पन्न करने वाले देशों को व्यर्थ की हानि उठानी पड़ती है।

द्विधातु मान का भविष्य—१६ वीं शताब्दी के अन्तिम कुछ वर्षों से इस बात का प्रयत्न किया गया था कि भिन्न-भिन्न देश अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान ही अपना लें। फ्रांस अथवा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के कहने पर इसी हेतु सन् १८७८ और १८८१ में पेरिस में तथा १८९२ में ब्रसेल्स में लगातार तीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुये। किंतु उनमें से कोई भी सफल नहीं हुआ। द्विधातु मान का प्रश्न तो अब बहुत पुराना पड़ गया है। इस समय तो यह प्रश्न है कि द्रव्य के सम्बन्ध में धातुओं का प्रयोग ही समाप्त किया जा सकता है अथवा नहीं। इस स्थिति में द्विधातु मान के समर्थक चाहे जो कुछ कहें, किंतु इसका तो अब कोई प्रश्न ही नहीं है।

६. द्विधातु मान के संशोधित रूप

ऊपर पक्के द्विधातु मान के विषय में कहा गया है। किंतु इसके कुछ संशोधित रूप भी हैं। वास्तव में राष्ट्रीय द्विधातु मान में जो ग्रीशम का नियम लागू हो जाता है वह दूर करने के लिये इसके यह संशोधित रूप निकाले गये हैं। अतः, इन संशोधित रूपों में एक तो लंगमान (Limping Standard) है और दूसरा समानांतर मान (Parallel Standard) है। इसके विषय में थोड़ा सा तो धात्विक द्रव्य के अध्याय में ही बताया जा चुका है। पहिले का उदाहरण तो हमें लेटिन यूनियन से मिलता है। हम जानते हैं कि

चाँदी का स्वतंत्र मुद्रण बंद था। १६१४-१८ के युद्ध के पूर्व फ्रांस और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका दोनों में सोने की मुद्राओं के साथ-साथ चाँदी की मुद्रायें भी चालू थीं। वे विधानतः असीमित रूप से ग्राह्य थे और सोने की मुद्राओं के साथ एक निश्चित दर से बदले जाते थे। किंतु ये टकसाल में जनता द्वारा कहीं भी नहीं ढलवाये जा सकते थे। समानांतर मान के उदाहरण तो बहुत से देशों की करन्सी से प्राप्त होते हैं। इङ्गलैंड ने सब प्रथम १६३३ में सोने की मुद्रायें चलाई थीं और तब से वे चाँदी की मुद्राओं के साथ-साथ वहाँ पर चलती थीं। टकसाल दोनों प्रकार की मुद्राओं के स्वतंत्र मुद्रण के लिए खुली थीं और वे दोनों असीमित मात्रा में विधानतः ग्राह्य थीं। किंतु उनके पारस्परिक विनिमय के लिए कोई निश्चित दर नहीं थी। यह दर उसी अनुपात के अनुसार बदलती रहती थी जिसके अनुसार उन दोनों मुद्राओं की आंतरिक धातु के मूल्य का अनुपात बदलता रहता था। किंतु ऐसा केवल १७१७ तक ही हुआ जब सोने की मुद्रा (गिन्नी) का मूल्य २१ शि० निर्धारित कर दिया गया। किन्तु इसे निश्चित करते ही *ग्रेशम का नियम लागू हो गया* और उसके फलस्वरूप चाँदी की मुद्रायें जिनकी आंतरिक धातु का मूल्य उनके विनिमय दर से अधिक हो गया था प्रसार के बाहर हो गईं। इस कारण बाद में इङ्गलैंड ने संमिश्र वैधानिक मुद्रा प्रथा ग्रहण कर ली जिसके अनुसार केवल सोने की मुद्रायें (सावरन) ही प्रामाणिक मुद्राओं के रूप में और चाँदी की मुद्रायें केवल सांकेतिक मुद्राओं के रूप में चलती रहीं। इसके अतिरिक्त १८३५ के पूर्व जब भारतवर्ष में ब्रिटिश सरकार ने रजत मान ग्रहण किया उस समय तक हमारे देश में सोने और चाँदी दोनों धातुओं की मुद्रायें चलती थीं। दोनों ही असीमित मात्रा में विधानतः ग्राह्य थे तथा दोनों के स्वतंत्र मुद्रण के लिये टकसाल खुली थीं। किन्तु उन दोनो मुद्राओं के विनिमय का अनुपात विधान द्वारा निर्धारित नहीं था। वह अनुपात बाजार की परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता था।

७. विनिमय मान

विनिमय मान वह करन्सी प्रथा है जिसमें एक करन्सी का विनिमय किसी दूसरी करन्सी से एक निश्चित अनुपात के अनुसार निर्धारित कर दिया जाता

है। स्वर्ण विनिमय मान के बारे में हम यह पहिले ही देख चुके हैं कि इसमें देशी करन्सी का विनिमय विदेश भेजने के लिये सोने से होता है। किन्तु विनिमय मान में इसका विनिमय सोने के साथ-साथ एक विदेशी करंसी में भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में जब यह विदेशी करन्सी स्वर्ण मान पर निर्भर होती है तो कुछ लोग इसे स्वर्ण करन्सी विनिमय मान भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसे वह करन्सी विनिमय मान कहा जाता है जिसमें यह परिवर्तित हो सकती है। प्रायः यह करन्सियाँ स्टर्लिङ्ग अथवा डालर ही हैं। अतः; यह मान स्टर्लिङ्ग विनिमय मान अथवा डालर विनिमय मान कहा जाता है। जब स्टर्लिङ्ग और डालर का स्वर्ण से समन्वय नहीं रहता तब इन्हें स्वर्ण करन्सी विनिमय मान नहीं कहा जा सकता।

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भिक १० वर्षों में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान सर्व-प्रथम भारतवर्ष में चालू हो गया था। किन्तु जब तक स्टर्लिंग और सोने में समन्वय था तब तक तो वह स्वर्ण मान (स्वर्ण करन्सी विनिमय मान) ही था। वास्तव में उस समय तो स्टर्लिङ्ग विनिमय मान और स्वर्ण मान दोनों एक ही समझे जाते थे। सर्व प्रथम बैबिंगटन स्मिथ कमीशन ने ही इन दोनों में भेद बतलाया। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय स्टर्लिंग और सोने का समन्वय नहीं रह गया था। इसके पहिले इस बात का लोगों को कभी ध्यान न था। इस मान में यह आवश्यक है कि हमारे देश और ग्रेट ब्रिटेन दोनों में काफी मात्रा में कोष रक्खे जायँ ताकि विनिमय दर से हमारे देश की और ब्रिटिश सरकार की हुन्डियों का भुगतान उस कोष में से हो सके।

भारतवर्ष में बिलों का भुगतान स्वर्ण मान और कागजी करन्सी दोनों के कोष से किया जाता था तथा उन दोनों कोषों का कुछ अंश भारतवर्ष में और कुछ ग्रेट ब्रिटेन में रक्खा जाता था। ब्रिटिश सरकार का भारत मंत्री भारत के ऊपर की हुण्डियाँ (काउंसिल बिल) ब्रिटिश व्यापारियों की सुविधा के लिये एक निश्चित विनिमय दर के आधार पर (१ रुपया = १ शि० ४$\frac{१}{८}$ पें०) अपने यहाँ बेचा करता था और जब भारत सरकार को विदेशी भुगतान करने की आवश्यकता होती थी तब वह ब्रिटिश सरकार के भारत मंत्री के ऊपर की हुंडियाँ (रिवर्स कौंसिल) एक निश्चित विनिमय दर से (१ रु० = १ शि० ३$\frac{३}{३२}$ पें०) बेंच दिया करती थी। इस प्रकार १ शि० ४$\frac{१}{८}$ पें० और १ शि०

३३⁄₃₂ पें० इन दोनों दरो के भीतर ही विनिमय हो सकता था। भारतवर्ष में प्रमाणिक मुद्रायें तो चलती ही नहीं थीं। रुपये और नोट जो असीमित मात्रा में विधानतः ग्राह्य थे देशी काम के लिए नहीं बदले जा सकते थे।

स्टर्लिङ्ग तथा डालर विनिमय मान में वे सभी अवगुण हैं जो स्वर्ण विनिमय मान में होते हैं। उनके अतिरिक्त इनका एक सबसे बड़ा अवगुण यह भी है कि इनमें एक देश की करन्सी पूर्णतः विदेशी करन्सी पर निर्भर हो जाती है। इस तरह से जिस देश में यह करन्सी होती है उस देश का भाग्य एक अन्य देश से बँध जाता है। इसके अतिरिक्त लोग इसे इस कारण भी पसन्द नहीं करते कि इसे अपनाने वाला देश उस देश पर आश्रित समझा जाता है जिसकी करन्सी से उसका सम्बन्ध होता है।

८: कोष्ट मान (Tabular Standard)

कोष्टकीय मान वह करन्सी प्रथा है जिसमें किसी देश की करन्सी का मूल्य चीजों के साधारण दर पर निर्धारित होता है। यह करन्सी प्रथा मूल्य का मिश्रित मान (Composite standard of value) भी कही जाती है। जैसा कि बालफर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है और इस अध्याय में पहिले भी कहा जा चुका है कोष्टकीय मान में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं :—

(१) पिछले एकत्रित भावो (जो प्रायः बिल्कुल ठीक नहीं होते) से बनाये हुये सूची अङ्कों से कोष्टकीय मान का सम्बन्ध होने के कारण यह मान, आदर्श मान नहीं कहा जा सकता।

(२) यदि इसे आदर्श मान मान भी लिया जाय तो इसके सूची अङ्कों पर आश्रित होने के कारण बाजार में समय-समय पर भाव बदलते रहने के कारण इसके सूची अंक भी समय-समय पर बदलते रहने चाहिए।

(३) यदि सरकार सूची अंकों में समय-समय पर परिवर्तन करने को तैयार भी हो जाय तो सबसे बड़ा डर यह है कि उक्त परिवर्तन करते समय उसके ऊपर लोग अनुचित राजनैतिक या आर्थिक प्रभाव डालने का प्रयत्न करेंगे

और देश के हित-अनहित का तनिक भी विचार न करके वे अपने स्वार्थ के लिये जब भी आवश्यक समझेंगे सूची अंकों में परिवर्तन करा लेंगे।

(४) भिन्न-भिन्न देशों की सरकारों में प्रायः इतनी योग्यता--ईमानदारी, दृढ़ता, शक्ति और स्वतंत्रता नहीं पाई जाती कि वे इस नाजुक कार्य का सुचारु रूप से प्रबन्ध कर सकेंगी।

(५) इन कारणों से व्यापारियों का देश की करन्सी के प्रति उतना अधिक विश्वास न रहेगा जितना एक आदर्श करन्सी प्रथा में होना आवश्यक है।

(६) व्यापारियों का करन्सी प्रथा के प्रति उतना अधिक विश्वास न रहने के कारण, देश में उतनी अधिक मात्रा में उधार लेन-देन नहीं हो सकेगा जितना उस दशा में सम्भव है जब व्यापारियों का करन्सी के प्रति पूर्ण विश्वास है।

उपरोक्त दोषों के होते हुये भी हम यह नहीं कह सकते कि आजकल कोई कोष्टीय मान पसन्द नहीं करता। कोष्टीय मान पर विश्वास करने वाले लोगों का कथन है कि स्वर्ण मान में भी जिसके प्रति पहिले लगभग सम्पूर्ण संसार को अत्यन्त श्रद्धा थी, अनेक दोष पाये जाते हैं। उनके कथनानुसार कोष्टीय मान कागजी मान से हर दशा में अधिक अच्छा है क्योंकि कागजी करन्सी में प्रचलित द्रव्य के मूल्य और भाव स्थायी बनाये रखने का कोई साधन नहीं होता।

९. अपरिवर्तनशील कागजी करन्सी मान

कागजी करन्सी मान वह करन्सी प्रथा है जिसमें ऐसी कोई निश्चित चीज नहीं होती जिसके द्वारा प्रचलित द्रव्य का मूल्य ठीक किया जा सके। अतः, द्रव्य का मूल्य माँग और पूर्ति के अनुसार बदलता रहता है। कागजी करन्सी मान में यह भी सम्भव है कि देश की आवश्यकताओ के लिये सरकार नोटों को अन्य देशों की करन्सी में बदल दे। क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करती तो विदेशी व्यापार नहीं हो सकता और जो कुछ हो भी सकता है वह केवल एक देश की चीजों का दूसरे देश की चीजों से विनिमय करके ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त कोई देश यह मान किसी विशेष ध्येय की पूर्ति के लिये ही जैसे देश की

आर्थिक उन्नति करने, चीजों की उत्पत्ति बढ़ाने, बेकारी दूर करने या लोगों का रहन-सहन ऊँचा करने के लिये भी ग्रहण कर सकता है।

अपरिवर्तनशील कागजी करन्सी के मुख्य दो कारण हैं :—

(१) कागजी करन्सी में सदैव इस बात का भय रहता है कि कहीं उसका अत्यधिक प्रसार न कर दिया जाय जिसके फलस्वरूप द्रव्य का मूल्य घट जाय तथा उससे अनेक प्रकार की हानि हो।

(२) चूँकि कागजी करन्सी के प्रति लोगों का अधिक विश्वास नहीं होता इसलिए देश में चीजों की उत्पत्ति या व्यापार में भी अधिक वृद्धि नहीं हो सकती और इस कारण बेकारी अधिक फैल जाती है।

(३) उपरोक्त कारण से लोगों में आय बचाने या बचत की उत्पत्ति के काम में लगाने की आदत भी नहीं बढ़ने पाती।

(४) कागजी करन्सी से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा बहुत कम हो जाती है क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों का भुगतान सोने में नहीं हो सकता।

१०. आदर्श करन्सी मान

उपरोक्त करन्सी मानो पर विचार करने से पता चलता है कि उनमें से किसी को भी हम सर्व प्रकार से पूर्ण या आदर्श करन्सी मान नहीं कह सकते। वास्तव में मनुष्य के लिए अभी तक आवश्यक है कि वह किसी आदर्श करंसी मान का पता चलावे। एक आदर्श करन्सी मान में निम्नलिखित बातें अवश्य पाई जानी चाहिए :—

(१) उसका मूल्य चीजों या विदेशों की करन्सी दोनों में, प्रायः स्थाई होना चाहिये।

(२) कीमती धातुओं का कम से कम प्रयोग होना चाहिए।

(३) व्यापार की आवश्यकतानुकूल, करन्सी की मात्रा स्वयं ही घट बढ़ जाय अथवा सरलता से घटाई-बढ़ाई जा सके।

(४) आदर्श करन्सी मान सरल होना चाहिए ताकि लोग उसे सरलता से समझ सकें तथा उनका उस मान के प्रति पूर्ण विश्वास हो।

सारांश

१. द्रव्य मान वह वस्तु है जिसके द्वारा द्रव्य का मूल्य ठीक रक्खा जाता है।

२. द्रव्य मान के मुख्य भेद (१) धात्विक, (२) विनिमय, (३) कोष्टकीय और (४) अपरिवर्तनशील कागजी मान हैं। धात्विक मान दो प्रकार का हो सकता है (१) एकधातु मान और (२) द्विधातु मान। इसी तरह से विनिमय मान भी प्रायः दो प्रकार का होता है :—(१) डालर विनिमय मान और (२) स्टर्लिंग विनिमय मान। एक धातु मान भी स्वर्ण मान अथवा रजत मान हो सकता है। इसी प्रकार द्विधातुमान पक्का या संशोधित हो सकता है। स्वर्ण मान तीन प्रकार के होते हैं : (१) स्वर्ण मुद्रा मान, (२) स्वर्ण पाट मान, और (३) स्वर्ण विनिमय मान! संशोधित द्वि धातुमान प्रायः दो प्रकार का होता है : (१) लङ्ग, (२) समानान्तर।

३. स्वर्ण मुद्रा मान में स्वर्ण का प्रयोग विनिमय के माध्यम और मूल्य की माप दोनो रूप में होता है किन्तु स्वर्ण पाट मान में इसका प्रयोग केवल वस्तुओ का मूल्य नापने के रूप में ही होता है। स्वर्ण विनिमय मान में केवल विदेशो का भुगतान करने के लिए करन्सी सोने में बदली जाती है। स्वर्ण पाट मान स्वर्ण मुद्रा या स्वर्ण विनिमय दोनों मानों से अच्छा होता है। वास्तव में स्वर्ण मान में द्रव्य का मूल्य सदैव सोने से ठीक किया जाना चाहिए। सोने की मुद्राओं का देश में चलन होने पर टकसाल उनके स्वतन्त्र मुद्रण के लिए खुली रहती है और यदि कोई प्रतिरूप करन्सी चलती है तो उसे एक निश्चित दर पर सोने से बदल दिया जाता है। उस निश्चित दर को सोने का सरकारी भाव या टकसाली भाव कहते हैं। स्वर्ण मान में सोने के आयात-निर्यात में भी किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती।

स्वर्ण मान सर्वप्रथम १९१४-१८ में और बाद में १९२९-३३ की मन्दी काल में टूट गया था। १९१४-१८ में युद्ध में सम्मिलित देशों में यह उनकी आवश्यकता के अनुसार करन्सी बढ़ने के साथ-साथ सोने की मात्रा न बढ़ सकने के कारण तथा उसका कोष सुरक्षित बनाये रखने के ध्येय से टूट गया था। इसी तरह से निःपक्ष देशों में यह इस कारण टूट गया था कि युद्ध में

सम्मिलित देशों को उनके यहाँ से चीजों के अधिक मात्रा में निर्यात के कारण इन देशों में सोने का आयात बढ़ गया जिससे इनमें द्रव्य प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई जिसे रोकने के लिए इन्हें स्वर्ण मान छोड़ना पड़ा। प्रथम बार स्वर्ण मान टूटने के बाद यह फिर चालू कर दिया गया क्योंकि इसके बिना भाव और विनिमय स्थिर नहीं रखे जा सकते थे। हाँ, १९२२ की जेनेवा कान्फ्रेन्स ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान के रूप में अपनाने की सलाह दी थी। दूसरी बार स्वर्ण मान टूटने का कारण यह था कि अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के अतिरिक्त जिनके पास काफी सोना एकत्रित हो गया था प्रायः प्रत्येक देश में सोने की कमी के कारण जो द्रव्य की कमी हो गई थी उससे चीजों के दाम घट गये थे, अतः, उन्हें ठीक करने के लिए स्वर्ण मान छोड़ना आवश्यक हो गया। फिर, सोने के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी अनेक रुकावटें खड़ी कर दी गई थीं। कुछ देशों में आन्तरिक और विदेशी दामों में भी इतनी अधिक विषमता हो गई थी कि उन्हें अपना सोना काफी मात्रा में निर्यात करना पड़ा। अतः, यह निर्यात रोकने के ध्येय से भी उन्हें स्वर्ण मान छोड़ना पड़ा। इसके दूसरी बार टूटने पर फिर किसी देश ने इसे नहीं ग्रहण किया तथा उसके स्थान पर अपरिवर्तनशील कागजी करन्सी मान का चलन प्रारम्भ कर दिया यद्यपि इसमें देशी करन्सियों का विदेशी करन्सियों में विनिमय करने का भी कुछ प्रबन्ध कर दिया गया।

जब से सोने का अन्तर्राष्ट्रीय चलन स्वतन्त्र नहीं रह गया, तब से उसक एक स्थायी करन्सी मान होने की दृष्टि से महत्व नहीं रह गया। प्रथम महायुद्ध के समय तथा उसके बाद कुछ मुख्य-मुख्य देशों के पास ही विशेषकर अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के पास ही सोना एकत्रित हो गया जिससे उसी के यहाँ की परिस्थितियों के अनुसार उसका भाव रहने लगा। १९२२ की जेनेवा कान्फ्रेंस ने यह बात देखकर ही सम्पूर्ण देशों की सोने के माँग पर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से ही सबको एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान अपनाने की सलाह दी थी। स्वर्ण मान के सम्बन्ध में अब लोग यह भी सोचने लग गये थे कि न तो अब यह दाम और न विनिमय ही स्थिर बनाये रखने के लिए आवश्यक है। स्वर्ण के माध्यम के बिना भी विनिमय दर स्थिर की जाने लगी तथा अब

भी की जा रही है। उसी प्रकार सोने के माध्यम के बिना, केवल माँग के अनुकूल द्रव्य की मात्रा घटा-बढ़ाकर चीजों के दाम भी स्थिर रक्खे जाने लगे। किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जब तक किसी अन्य संतोषजनक करन्सी प्रथा का पता न चले, तब तक प्रचलित करन्सी का सम्बन्ध सोने से बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि करन्सी के लिए आजकल सोने का अधिक प्रयोग नहीं होता किन्तु हमें इसके भविष्य के संबंध में कोई चिन्ता न करनी चाहिये। यद्यपि हम अब स्वर्ण मान को उसके पुराने रूपों में ग्रहण न करेंगे किन्तु फिर भी भिन्न-भिन्न देशों की करन्सी का विनिमय दर सोने से ही संबंधित रहेगा। इसके लिए संपूर्ण केंद्रीय बैंकों में सहयोग होना आवश्यक है। हाल ही में इस ध्येय की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कोष नामक एक योजना चालू की गई है।

४. रजत मान में द्रव्य के मूल्य का संबन्ध चाँदी से होता है। रजत मान में अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं।

५. द्विधातु मान सदैव बदल कर वैकल्पिक मान ही रह जाता है। फ्रांस और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में काफी दिनों तक द्विधातु मान चालू रहा। चाँदी की सांकेतिक मुद्रायें गायब हो जाने की प्रवृत्ति बन्द करने के लिए ही १८६५ में फ्रांस ने एक लैटिन यूनियन की स्थापना की थी किन्तु उसका कार्य तुरन्त बन्द हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान के संबंध में कई बार विचार किया जा चुका है और लोगों का मत है कि चूँकि द्विधातु मान में एक धातु की मुद्रायें दूसरी धातु की मुद्राओं को कमी पूरा किया करती हैं अतः, अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान सफल होना संभव है। यद्यपि आजकल भी उसके कुछ गुणों के कारण कुछ लोग द्विधातु मान पसन्द करते हैं किंतु वास्तव में इसका भविष्य हम उज्ज्वल नहीं कह सकते।

६. द्विधातु मान के कुछ संशोधित रूप हैं जैसे लंग मान और समानांतर मान। पहिले में सस्ती धातु अर्थात् चाँदी की मुद्रायें गढ़ने के लिए टकसाल खुली नहीं रहती और दूसरे में सोने और चाँदी की मुद्राओ में कोई निश्चित सरकारी अनुपात नहीं होता।

७. विनिमय मान में प्रचलित देशी करन्सी का बदला केवल विदेशी करन्सी, जैसे स्टर्लिंग, डालर, मार्कस और येन्स से हो सकता है। इस मान में स्वर्ण मान के सब अवगुणों के अलावा यह अवगुण भी है कि यह करंसी विदेशी करन्सी की आश्रित बन जाती है।

८. कोष्टीय मान में करन्सी का मूल्य चीजों के साधारण दामों द्वारा ठीक किया जाता है। यद्यपि इसमें कई त्रुटियाँ पाई जाती हैं। किंतु फिर भी अपरिवर्तनशील कागजी मान की अपेक्षाकृत यह अधिक श्रेष्ठ है।

९. अपरिवर्ततनशील कागजी मान में द्रव्य का मूल्य किसी वस्तु द्वारा ठीक नहीं किया जाता। हाँ, प्रत्येक देश में वहाँ की चालू करन्सी किसी विनिमय दर से विदेशी करन्सी में बदली जा सकती है। यदि ऐसा नहीं होता तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी कठिनाई पड़ती है।

१०. संसार की सभी करन्सी प्रथाओं का अध्ययन करने से यह पता चलत हैं कि मनुष्य को अभी तक इस बात की आवश्यकता है कि वह किसी आदर्श करंसी का पता लगावे। एक आदर्श मान की प्रधान विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—१. विनिमय और दाम स्थिर रखना, २. कीमती धातुओं का कम से कम प्रयोग होना, ३. मान में लचकपन और सरलता होना, ४. जनता का मान के प्रति पूर्ण विश्वास होना।

प्रश्न

१. द्रव्य मान की परिभाषा लिखिये तथा उसके भेद बताइये। प्रत्येक भाँति के द्रव्य मान संक्षेप रूप में समझाइये।

२. द्रव्य मान मुख्यतः कितने प्रकार के होते हैं? उनमें से किसे तथा क्यों आप सबसे अच्छा समझते हैं? (बी० काम०, पहिला भाग, इलाहाबाद)

३. "स्वर्ण पाट मान का क्या अर्थ है? इसमें और स्वर्ण तथा स्वर्ण विनिमय मानों में क्या अंतर है तथा उनकी तुलना में इससे क्या लाभ हैं?

४. "स्वर्ण पाट मान में न केवल स्वर्ण मुद्रा मान की सभी विशेषतायें पाई जाती हैं बल्कि उसकी अपेक्षाकृत यह अधिक लाभदायक है", यह कथन पूर्णतः स्पष्ट कीजिये।

५. स्वर्ण मान की प्रधान विशेषतायें कौन-कौन सी हैं? उदाहरणों के साथ बताइये स्वर्ण मान कैसे भली प्रकार चालू किया जा सकता है।

६. स्वर्ण मान टूटने के विषय में और उसके बाद उसे फिर से अपनाने के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किये गये हैं उन्हें संक्षेप में समझाइये।

७. वर्तमान शताब्दी में स्वर्ण मान के पक्ष और विपक्ष में जो लोगों के मत हैं उन्हें लिखिए। आपकी राय में संसार में अभी या बाद में क्या स्वर्ण मान फिर चालू होना चाहिए? इसका उत्तर कारण सहित लिखिये।

८. स्वर्ण तथा स्वर्ण मान के भविष्य के विषय में आपका क्या मत है? इस सम्बन्ध में आप वह सब दशायें भी लिखिये जिनमें स्वर्ण मान एक संतोषजनक रीति से चल सकता है।

९. रजत मान का अर्थ दीजिए। इसकी मुख्य-मुख्य त्रुटियाँ भी लिखिये।

१०. पक्की द्विधातुमान प्रथा की मुख्य मुख्य कौन-सी विशेषतायें हैं? पहिले यह क्यों टूट गया था? क्या यह संभव है कि इसे किसी अन्य रूप में हम चालू कर सकें?

११. द्विधातु मान का अर्थ लिखिए। इसके मुख्य-मुख्य लाभ और नुकसान लिखिये। राष्ट्रीय द्विधातु मान की अपेक्षाकृत अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान चलने की क्यों अधिक सम्भावना है?

१२. हम किसी देश की करन्सी प्रथा में भिन्न-भिन्न प्रकारों से सोने और चाँदी दोनों कैसे सम्मिलित कर सकते हैं? (बी० ए०, कलकत्ता)

१३. कोष्टीय मान का अर्थ लिखिये। इसके पक्ष और विपक्ष में अपना मत लिखिये।

१४. अपरिवर्तनशील कागजी मान का क्या अर्थ होता है? संसार के मुख्य-मुख्य देशों की प्रचलित करन्सी और इसमें क्या अंतर हैं?

१५. "मनुष्य को एक आदर्श मान का अभी तक पता चलाना है," इस विषय में अपना मत प्रगट कीजिए। किसी आदर्श मान में कौन-कौन मुख्य गुण का होना आवश्यक है?

अध्याय १०

भारतीय करन्सी

अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी करन्सी कई स्थितियों में से होकर निकल चुकी है। सर्वप्रथम तो यहाँ का व्यापार भी वस्तु विनिमय के रूप में ही होता था। इसके बाद एक के बाद दूसरी कई वस्तुयें विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग में आईं और उनमें गाय सबसे ऊँचे मूल्य के माध्यम का काम करती थी। छोटे-छोटे क्रय के लिये सबके नीचे कौड़ियाँ, गुरियाँ, चाकू तथा ताँबे और लोहे के टुकड़े, इत्यादि थे। स्वर्ण का नाम भी स्थान-स्थान पर मिलता है।

१. ब्रिटिश पूर्व करन्सी

यहाँ की सबसे प्राचीन करन्सी चाँदी के उन टुकड़ों के रूप में थी जिन पर तीन गोलाकार बिन्दु हैं। फिर, चाँदी के कुछ झुके हुये टुकड़े चलने लगे। इन पर के लेख इन्हें दबाकर डाले जाते थे। बाद में उत्तरी भारत में आक्रमणों के प्रभाव से मुद्रण स्तर बदलता गया। मुस्लिम काल में तस्वीरें खुदनी बन्द हो गईं। मुहम्मद तुगलक की मुद्रायें उस समय तक की मुद्राओं में सर्वोत्तम थीं, किन्तु वह भी जाली बन जाती थीं। शेरशाह ने रुपये और दाम चलाये। मुगलों की मुद्रायें और भी अच्छी थीं। उनका साम्राज्य नष्ट होने पर देश में जो हलचल फैली उससे करन्सी में भी बहुत गड़बड़ मची। एक, अथवा कुछ ही ज़िलों पर राज्य करने वाले शासक भी अपने को स्वतन्त्र राजा मानकर अपने यहाँ अपनी पृथक-पृथक मुद्रायें निकालने लगे। इसका यह परिणाम हुआ कि १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लगभग ९९४ प्रकार की सोने या चाँदी की मुद्रायें इस देश में चालू थीं। उनमें से कुछ तो बिल्कुल घिस गई थीं। अतः, जाली तथा अच्छी मुद्रायें पहचानना कठिन हो गया था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी अपने इलाकों के लिये अपनी करन्सी निकाली थी।

२. १८३५ के पूर्व करन्सी

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में राज्य की बागडोर आने के समय यहाँ पर चाँदी और सोने दोनों की मुद्रायें चलती थीं। हाँ, उनमें कोई निश्चित वैधानिक सम्बन्ध नहीं था। प्रारम्भ में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यहाँ की करन्सी ज्यों की त्यों रखनी चाही, किन्तु उसके लिये ऐसा करना अधिक दिनों तक सम्भव नहीं रह सका। व्यापार में बड़ी असुविधा होती थी। अतः, उसने सोने और चाँदी की मुद्राओं का विनिमय दर निश्चित कर दिया; किन्तु वह चल न सका। अन्त में उसके संचालकों ने बंगाल और मद्रास की सरकारों को यह लिखा कि चाँदी का रुपया सर्वश्रेष्ठ है। साथ ही उनका इरादा उन स्थानों में जहाँ सोने की मुद्रायें चलती थीं उनका प्रसार रोकने का न था। बल्कि उन्होंने चाँदी के रुपये की भाँति ही उसी तौल व शुद्धता की सोने की मुद्रा बनाने का भी प्रस्ताव रक्खा। हाँ, उनमें कोई निश्चित अनुपात रखने के लिये नहीं कहा। अतः, मद्रास की सरकार ने सन् १८१८ में रुपया चलाया। यह सारे प्रान्त में सोने के पगोड़ा के साथ चलता रहा। फिर १८२२ में यही रुपया बम्बई की सरकार ने भी चलाया। अन्त में १८३५ के मुद्रण विधान के अनुसार समस्त ब्रिटिश भारत में एक धातुमान हो गया। इसकी मुख्य-मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित थीं :—

(१) सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के लिये १८० ग्रेन्स ट्राय (१६५ शुद्ध और १५ मिला अर्थात् $\frac{11}{12}$ शुद्धता) का चाँदी का रुपया प्रमाणित मुद्रा और असीमित रूप से विधानतः ग्राह्य घोषित कर दिया। इसकी आधी, चौथाई और आठवीं मूल्य मुद्रायें बनाने का भी प्रबन्ध किया गया। उनमें उतनी ही शुद्ध चाँदी उसी अनुपात में रक्खी गई जितनी रुपये की थी।

(२) सोना द्रव्य प्रयोग से बिल्कुल बाहर कर दिया गया तथा भारतवर्ष के अँग्रेजी इलाकों में कहीं भी विधानतः ग्राह्य नहीं रह गया।

(३) फिर भी, सोने का स्वतन्त्र मुद्रण होता रहा। जनता के लिए सोने या चाँदी का निःशुल्क मुद्रण करने के लिए टकसालें खुली रहीं। चाँदी के रुपये के समान तौल और शुद्धता की सोने की मोहरें टकसालों से निकाली

जाती थीं जो १५ रुपये की विनिमय दर से चलती थीं। ५, १० और ३० रुपये की सोने की मुद्रायें भी टकसाल से ढलवाई जा सकती थीं।

३. १८३५ से १८९३ तक करन्सी

१८३५ से १८९३ तक भारतवर्ष में रजतमान था। चाँदी का रुपया निः-शुल्क मुद्रित होता था। इसका अंकित मूल्य इसके आंतरिक मूल्य के बराबर था। यह असीमित रूप में विधानतः ग्राह्य भी था। किन्तु १८३५ के मुद्रण विधान के अनुसार स्वर्ण मुद्रायें भी बन सकती थीं और प्रारम्भ में जन साधारण में उनका प्रसार भी था। अतः, १८४८ में लोगों की माँग पर यह घोषणा हुई कि राजकीय कोष इन्हें जनता से इनके अंकित मूल्य पर ले भी सकता है। इससे लोगों को बड़ा सन्तोष हो गया, यद्यपि उन्होंने इन्हें सरकार को नहीं दिया। १८४८-५१ में कैलीफोर्निया और आस्ट्रेलिया में सोने की नई-नई खानों का पता लगा और उनके फलस्वरूप चाँदी के अपेक्षाकृत सोने का मूल्य घट गया। सोने का मूल्य घटने पर लोगों ने राजकीय कोष में पुराने विनि-मय दर पर सोने की मुद्रायें जमा करनी आरम्भ कीं जिससे सरकार को उन्हें बाजार भाव के अपेक्षाकृत अधिक मूल्य पर लेने के कारण काफी हानि हुई। इसलिए १८५२ से १८४१ की घोषणा हटा ली गई। इसका यह परिणाम हुआ कि सोने की मुद्राओं का चलन पूर्णतया बन्द हो गया, किन्तु उनका मुद्रण अब भी हो सकता था। कुछ समय उपरान्त जनता ने सोने के पक्ष में फिर आवाज उठाई जिसके फलस्वरूप सरकार ने १८६४ में यह बात स्वी-कार कर ली कि अपने सुविधा के अनुसार वह इग्लैण्ड और आस्ट्रेलिया की सावरन तथा अर्धसावरन क्रमशः दस और पाँच रुपये के विनिमय दर पर लिया दिया करेगी। किन्तु ये मुद्रायें विधानतः ग्राह्य नहीं थीं। १८६८ के मैन्सफील्ड कमीशन ने स्वर्णमुद्रायें विधानतः ग्राह्य करने की सिफारिश की किन्तु यह नहीं हुआ। १८६८ में सावरन तथा अर्धसावरन लेने की दर दस रुपया और पाँच रुपया से बढ़ा कर क्रमशः साढ़े दस व सवा पाँच रुपया कर दी गई। १८७२ में उस समय के अर्थ सदस्य रिचर्ड टेम्पिल ने देश में सोने की मुद्रायें चालू करने की एक योजना पेश की। किन्तु अप्रैल १८७४ में उनके पदत्याग के पश्चात् मई में भारत सरकार ने उसे अस्वीकृत कर दिया।

१८७० में ब्रिटिश भारतवर्ष में करन्सी सम्बन्धी सभी पिछले विधान मिला कर एक नवीन विधान पास किया गया।

१८७४ में चाँदी का महत्व द्रव्य के लिये बहुत कुछ कम हो गया। १८७१ से १८७४ तक अनेक देशों ने रजतमान छोड़कर स्वर्ण मान ग्रहण कर लिया था। इसके अतिरिक्त फ्रांस बेल्जियम, इटली और स्वीटजरलैंड ने भी जो लैटिन द्रव्य संघ के सदस्य थे, अपने यहाँ चाँदी की मुद्रायें बनानी बन्द कर दी थीं। इनके फलस्वरूप तथा अन्य कई कारणों से भी चाँदी का भाव लगातार कई वर्षों तक गिरता ही गया। ये अन्य कारण चाँदी और सोने दोनों से सम्बन्धित थे। चाँदी से सम्बन्धित कारणों में (१) रजतमान छोड़ने वाले देशों से चाँदी आना (२) चाँदी की उत्पत्ति बढ़ना (चाँदी की नई खानों का पता लगना) और जस्ते से चाँदी अलग करने के लिये पैटिन्सन नामक ढंग का आविष्कार होना) (३) खदान से चाँदी निकालने की एक नई मशीन का आविष्कार होने से चाँदी उत्पन्न करने का खर्च पहिले की अपेक्षाकृत कम हो जाना (४) और चाँदी की माँग कम हो जाना थे। सोने से सम्बन्धित कारणों में (१) उस समय की सोने की खानों का प्रायः सम्पूर्ण सोना निकल जाने से उसकी पूर्ती की कमी और (२) विभिन्न देशो के स्वर्ण मान अपना लेने से उसकी माँग की वृद्धि थे।

चाँदी के मूल्य की घटी रोकने के लिए अनेक प्रयत्न किये गए। प्रथम तो अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान स्थापित करने के ध्येय से १८६७ से १८९२ तक चार अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्मेलन बुलाये गये; किन्तु इनमें कुछ निश्चय नहीं हो सका। दूसरे, अमेरिका की सरकार ने ब्लांड एलिसन विधान और शर्मन विधान पास किये। प्रथम का ध्येय देश में चाँदी की मुद्रायें विधानतः ग्राह्य बनाने का था। अतः, इसके द्वारा कोष प्रति मास एक निश्चिन्त मूल्य की चाँदी खरीदने लगा किन्तु इसका कोई फल नहीं हुआ। दूसरे से भी और अधिक चाँदी खरीदना प्रारम्भ किया गया किंतु उसका भी कोई फल नहीं हुआ और चौथे अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्मेलन की असफलता पर वह बन्द कर दिया गया। तीसरे, इंगलैण्ड में १८८६ में एक राजकीय कमीशन, स्वर्ण रजत कमीशन बैठाया गया। चौथे, भारत सरकार भी १८७४ से १८९३ तक चाँदी का मूल्य गिरने के कारण और उसके फलस्वरूप रुपये का भी विनिमय मूल्य घटने के

कारण बड़ी परेशान रही और उसने चाँदी का मूल्य घटने की रोक के लिये द्विधातुमान अपनाने के लिए और फिर रजतमान छोड़ने के लिये बहुत प्रयत्न किये।

जून १८९२ में अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्मेलन के असफल होने पर भारत सरकार ने भारत मन्त्री की स्वीकृति के लिए निम्नलिखित प्रस्ताव भेजे :—

(१) भारत की टकसालों में चाँदी की मुद्राओं का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द हो जाना चाहिये।

(२) स्वर्णमान स्थापित करने के लिए उचित प्रबन्ध करना चाहिये।

सरकार ने २२ जनवरी १८९३ को भारत मन्त्री के पास भेजे हुये अपने एक पत्र द्वारा ये भी सलाह दी थी कि रुपया और सोने की विनिमय दर १ शि० ६ पैं० होनी चाहिये।

४. हरशल कमीशन और उसके बाद

भारत सरकार ने १८९२ में जो पत्र तथा २२ जनवरी १८९३ को जो तार भारत मन्त्री के पास भेजा था उस पर विचार करने के लिये भारत मन्त्री ने १८९३ में हरशल कमीशन नियुक्त किया। सर्वप्रथम कमीशन ने उन सब परिणामों पर विचार किया जो चाँदी का भाव घटने के फलस्वरूप हुये। उस समय भारतवर्ष में चाँदी की स्वतन्त्र मुद्रण के लिए टकसालें खुली होने के कारण चाँदी का भाव घटते ही रुपये का विनिमय दर भी घट जाता था। १८७१-७२ में जब चाँदी का भाव प्रति औंस ६०$\frac{1}{2}$ पेन्स था तब रुपये की विनिमय दर १ शि० ११$\frac{1}{8}$ पैं० थी। १८९२-९३ में यही क्रमशः ३९ पैं० और १ शि० ३ पैं० हो गये।

रुपये की विनिमय दर घटने के निम्न परिणाम हुये :—

(१) भारत सरकार को बहुत सी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं जैसे (१) उसके गृह खर्च के भुगतान में अधिकाधिक रुपये देने पड़े (२) आयात घटने से चुँगी की आय कम हो गई और (३) चीजों के भाव बढ़ने से वेतन बढ़ाने के लिये माँग हुई।

(२) जनता को भी बड़ी कठिनाइयाँ हुईं जैसे (१) सरकार की आर्थिक कठिनाइयों का जनता पर प्रभाव पड़ा और कर में वृद्धि हुई, (२) कर वृद्धि का बोझ सभी वर्गों पर समान नहीं पड़ा (३) भावों में घट-बढ़ के कारण व्यापार अनिश्चित हो गया (४) विनिमय दर घटने से निर्यात बढ़ता है यद्यपि वह क्षणिक ही होता है; किन्तु भारतीय निर्यात क्षणिक रूप में भी नहीं बढ़ा, (५) भारतवर्ष में निर्यात के भुगतान में घटते मूल्य की चाँदी आती रही, (६) वस्तुओं का भाव बढ़ने के कारण जनता को बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं और (७) भारत में नौकरी करने वाले ब्रिटिश अफसरों को अपने परिवार का पालन-पोषण करने के लिये अपनी आय का जो अंश इँगलैंड भेजना पड़ता था वह पौंड का भाव बढ़ जाने के कारण अधिकाधिक भेजना पड़ा।

(३) उस समय भारत को विदेशी पूँजी की बड़ी आवश्यकता थी। पूँजी प्राय: लन्दन से आती थी। किन्तु अब लन्दन के द्रव्य बाजार को रजत-मान वाले देशों को द्रव्य उधार देने में बहुत हिचकिचाहट होने लगी क्योंकि यह निश्चित नहीं था कि उन्हें जो सूद रुपयों में मिलेगा उसके कितने पौण्ड मिल सकेंगे। फिर, इस बात की भी सम्भावना थी की कहीं उधार दी हुई मुख्य रकम भी जब लन्दन में वापस आवे तब कम पौन्ड न मिलें।

(४) भारतवर्ष में उस समय अच्छे उद्योग-धंधे नहीं थे किन्तु वह धीरे-धीरे खुल रहे थे। इसके लिये पूँजी की आवश्यकता थी जिसकी प्राप्ति की कठिनाइयाँ तो हम देख ही चुके हैं। मशीनों और कारीगरों को भी अधिक देना पड़ता था।

(५) विनिमय दर में घट-बढ़ का प्रभाव व्यापार और वाणिज्य पर भी अच्छा नहीं पड़ता। इन वर्षों में भारतीय निर्यात और आयात में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। आन्तरिक व्यापार भी पहले ही की तरह बना रहा। चाँदी का लगातार आयात होने और उसके फलस्वरूप रुपयों की मात्रा बढ़ने से चीजों के भाव बढ़ रहे थे किन्तु चूँकि उपभोक्ताओं की आर्थिक परिस्थिति अच्छी नहीं थी इसीलिये वाणिज्य में भी कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। व्यापार का रुख सदैव अनिश्चित रहता था। इससे व्यापारी समुदाय बहुत आशंकित रहता था और हर प्रकार का व्यापार चाहे वह देशी हो चाहे विदेशी हो, कम करता था।

कमीशन ने भारत सरकार के प्रस्ताव पर विचार किया। भारत सरकार यद्यपि चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बंद करना और उसके स्थान पर स्वर्ण-मान स्थापित करना चाहती थी किन्तु वह यहाँ की साधारण करंसी के रूप में चाँदी के स्थान पर सोने का प्रयोग नहीं करना चाहती थी। सरकार यह सोचती थी कि अधिकांश लेन-देनों में चाँदी का प्रयोग अब भी विनिमय के माध्यम रूप में होता रहेगा। फ्रांस और अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में यह हो ही रहा था। उसने रुपये की स्वर्ण विनिमय दर १ शि० ६ पें० रखने की सिफ़ारिश की थी। कमीशन ने सर्वप्रथम चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द करने के सम्पूर्ण परिणामों पर विचार किया तथा इस सम्बन्ध में (१) अमुद्रित चाँदी के स्वर्ण मूल्य तथा (२) अमुद्रित चाँदी और चाँदी की मुद्राओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया। संसार की उत्पन्न चाँदी का लगभग चौथा भाग अब तक भारतवर्ष में आता था। अतः, चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बंद हो जाने पर उसकी माँग कम हो जाने के कारण उसके मूल्य के और गिर जाने की आशंका थी। साथ ही, अमेरिका के शर्मन विधान और चीन के रजतमान तोड़ देने पर ऐसा और भी अधिक हो सकता था। चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द हो जाने से रुपये का विनिमय मूल्य, कुछ समय बाद उसकी कमी होने के कारण अवश्य बढ़ जायगा। कमीशन ने इस पर भी विचार किया कि स्वर्ण करन्सी न बनाने पर और चालू रजत करन्सी का स्वर्ण में भुगतान न करने पर भी स्वर्ण मान हो सकता है या नहीं। वास्तव में कुछ अन्य देशों में ऐसा था, अतः वह यहाँ भी हो सकता था। कमीशन ने १ शि० ६ पें० की विनिमय दर पर भी विचार किया। उसका कहना था कि विनिमय दर कोई भी रक्खी जाय रुपये का मूल्य चाँदी के मूल्य से अधिक ही होगा। अतः, इससे (१) जाली मुद्रायें बनाने का प्रोत्साहन मिलेगा, (२) बचत की चाँदी और गहनों का मूल्य घट जायगा, (३) देश की सम्पूर्ण करन्सी सांकेतिक हो जायगी, (४) कर में अप्रत्यक्ष वृद्धि होगी, (५) रजत मान वाले देशों से व्यापार करने में असुविधा होगी और (६) करन्सी स्वयं संचलित न रह जायगी। किंतु यह उतना नहीं होगा जितना लोग समझते हैं। मुद्रण स्तर बड़ा ऊँचा है। अतः, जाल बनाना कठिन होगा। बचत की चाँदी और गहनों का मूल्य घट जाने का उत्तरदायित्व सरकार पर नहीं है। रुपया

उतना सांकेतिक नहीं होगा जितना नोट है। कर की अप्रत्यक्ष वृद्धि का दायित्व सरकार पर नहीं है। रजतमान वाले देशों से व्यापार में असुविधा होगी तो स्वर्ण मान वाले देशों से व्यापार में सुविधा होगी। करन्सी स्वर्ण के आधार पर स्वयं चलित रह सकेगी। हाँ, कमीशन ने यह कहा कि इन सब बातों का प्रभाव कम करने के लिये विनिमय दर नीची रखनी चाहिये। अतः, वह १ शि० ६ पें० न रखकर १ शि० ४ पें० रक्खी जाय। अंत में उसने निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) चाँदी और सोने दोनों धातुओं का स्वतंत्र मुद्रण बन्द कर दिया जाय।

(२) सरकार ७·५३३४४ ग्रेन्स ट्राय अच्छे सोने या १ शि० ४ पें० प्रति रुपये के दर से सोने के बदलने में रुपयों का मुद्रण कर सके।

(३) सरकार को सभी खजानों में १ शि० ४ पें० प्रति रुपये की दर से सोने की मुद्रायें लेनी चाहियें।

(४) चाँदी की मुद्रायें असीमित रूप में विधानतः ग्राह्य बनी रहनी चाहिये।

कमीशन की सिफारिशों के आधार पर १८९३ का मुद्रण विधान बना और स्वर्ण तथा स्वर्ण मुद्राओं के विनिमय में रुपये दिये जाने लगे। करों के भुगतान में भी स्वर्ण मुद्रायें ली जाने लगीं और स्वर्ण तथा स्वर्ण मुद्राओं के आधार पर नोट असीमित मात्रा में प्रसारित किये जा सकते थे। इस विधान में यह दोष थे कि असीमित विधानतः मुद्रा सांकेतिक थी, सरकार स्वर्ण तथा स्वर्ण मुद्रायें लेकर रुपया देने को तो बाध्य थी। किन्तु रुपया लेकर स्वर्ण देने को बाध्य नहीं थी तथा रुपये के द्रवण बिन्दु का विचार नहीं किया गया (यह सोचा ही नहीं गया कि यदि चाँदी का मूल्य कभी रुपये के मूल्य से बढ़ जायगा तो क्या होगा)।

नये विधान का पहिले तो विनिमय दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि एक तो भारत मन्त्री गृह खर्च के लिये जो काउन्सिल बिल बेचता था वह उसके १ शि० ४ पें० पर न बेंच कर इससे कम चालू दर पर बेचने के कारण लोगों का यह ख्याल हुआ कि १ शि० ४ पें० की दर चल न सकेगी। दूसरे, रुपयों की पूर्ति इतनी थी कि उसकी कमी प्रारम्भ में न मालूम हुई और तीसरे, १८९०-९८ के दिन बुरे थे, जिससे द्रव्य की माँग कम थी, अतः उसका मूल्य न बढ़ा।

किन्तु फिर विनिमय दर बढ़ी और १८९८ में १ शि० ४ पैं० हो गई। हाँ, चाँदी का मूल्य बराबर गिरता रहा।

१८९८ तक में द्रव्य की कमी मालूम पड़ने लगी थी। अतः, भारत मन्त्री के पास सोने के आधार पर यहाँ पर नोट निकाले जाने लगे। पहिले यह छः माह के लिये कर दिया गया, किन्तु फिर यह दो वर्षों के लिये और अन्त में सदा के लिये कर दिया गया।

५. फाउलर कमीशन १८९८ और स्वर्ण विनिमय मान का क्रमिक विकास

जब विनिमय दर १ शि० ४ पैं० के लगभग पहुँच गई तब फाउलर कमीशन नियुक्त किया गया। इसे करन्सी की एक सन्तोषजनक प्रणाली की और रुपये तथा पाउण्ड के बीच में एक स्थिर विनिमय दर स्थापित करने के उपायों की सिफारिश करनी थी। कमीशन ने देश में सोने की करन्सी का चलन करके स्वर्ण मान स्थापित करने के लिये कहा। उसका विचार था कि भारत के विदेशी व्यापार का ⅔ भाग स्वर्ण मान वाले देशों से होने के कारण यहाँ भी स्वर्ण मान होना चाहिये। स्वर्ण मान होने से यहाँ विदेशी पूँजी भी आ सकेगी। यहाँ थोड़े ही समय में कागजी करंसी कोष में २० लाख पौंड मूल्य का सोना जमा हो जाने से यह निश्चित है कि प्रयत्न करने पर काफी अधिक सोना जमा हो सकता है। सरकार यह घोषित कर चुकी थी कि यहाँ स्वर्ण मान स्थापित किया जायगा। अतः, अब यह स्थापित करना आवश्यक था। स्वर्ण करन्सी चालू करने के लिये भी कारण थे। प्रथम तो स्वर्ण करन्सी बिना स्वर्ण मान का अर्थ लोग नहीं समझ सकेंगे। दूसरे, विनिमय मान से विदेशी पूँजी न प्राप्त हो सकेगी। तीसरे, यहाँ पहिले भी स्वर्ण मान करन्सी चलती थी। चौथे और अंतिम, यहाँ का विदेशी व्यापार यहाँ के पक्ष में होने के कारण यहाँ काफी सोना आ सकेगा, जिससे स्वर्ण करन्सी चालू करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

कमीशन की सिफारिशें संक्षेप में निम्न लिखित थीं :—

(१) सावरन विधानतः ग्राह्य कर दी जाय और उसके स्वतन्त्र मुद्रण के लिये अँग्रेजी टकसाल की एक शाख यहाँ भी खोल दी जाय।

(२) सरकार सोने के बदले में रुपया देती जाय, किन्तु रुपये का मुद्रण उस समय तक न हो जब तक कि स्वर्ण करन्सी माँग से अधिक न हो जाय।

(३) रुपयों के मुद्रण में जो भी लाभ हो वह राजकीय आय में न जमा होकर अलग स्वर्ण कोष में जमा हो।

(४) जब स्वर्ण कोष में काफी स्वर्ण एकत्रित हो जाय और उसमें सोना रहे तब यहाँ सोने में भुगतान किया जाय।

(५) विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु के नीचे गिर जाने पर सरकार को व्यापारियों को आयात के भुगतान के लिए स्वर्ण देना चाहिये।

(६) रुपये का विनिमय दर १ शि० ४ पें० अर्थात् १५ रुपया प्रति सावरन या शुद्ध सोने ७.५३३४४ ग्रेन ट्राय प्रति रुपया निर्धारित किया जाय।

(७) रुपया सांकेतिक मुद्रा होते हुये भी असीमित रूप में विधानतः ग्राह्य रहे।

सरकार ने फाउलर कमीशन की सिफारशें मान लीं। किंतु सावरन लोक प्रिय न बन सकी। अतः, १९०० ही में रुपयों का मुद्रण करना पड़ा। हाँ, उससे जो लाभ हुआ वह फाउलर कमीशन की सिफारिश के अनुसार एक पृथक कोष में रक्खा गया। ब्रिटिश टकसाल की अनुमति प्राप्त न हो सकने के कारण यहाँ उसकी शाख भी न खुल सकी। स्वर्ण कोष से स्टर्लिंग साख पत्र खरीद कर लन्दन में रक्खे गये। कागजी करन्सी का स्वर्ण भी लन्दन ही भेज दिया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि १९०६ में जब कागजी करंसी का भुगतान करने में कठिनाई पड़ी तब यहाँ स्वर्ण मान कोष में रुपया रक्खा जाने लगा। इसके फलस्वरूप स्वर्ण मान कोष की लन्दन में सोने और साख-पत्रों में तथा भारतवर्ष में रुपयों में दो शाखायें हो गईं। मुद्रण का कुल लाभ स्वर्ण मान कोष में नहीं जमा किया गया था। उसमें से ११२३०००

पौंड रेलों पर लगाये गये। १९०७-८ में भारत की व्यापारिक विषमता उसके विपक्ष में हो गई। अतः, भारतवर्ष से सोने का निर्यात करने की आवश्यकता पड़ी। फाउलर कमीशन के अनुसार व्यापारियों को रुपयों के विनिमय में सोना देना चाहिये था। स्वर्ण मान कोष में यहाँ सोना था ही नहीं। पहिले तो कागजी करंसी कोष में यहाँ पर जो थोड़ा सा सोना था वह दिया गया। फिर ४ मार्च १९०८ को यह निश्चय किया गया कि भारत मन्त्री पर लंदन में देय बिल १ शि० ३$\frac{3}{3}\frac{1}{2}$ पें० प्रति रुपये की दर से निकाले जाँय और यह २६ मार्च १९०८ को सर्व प्रथम बेचे गये। इस बीच में भारत मंत्री ने स्वर्ण मान कोष के साख पत्रों की वसूली का प्रबंध किया जिससे उपर्युक्त बिलों का भुगतान किया जा सके। ये बिल ११ सितम्बर १९०८ तक बराबर बेचे गये और विनिमय दर के मजबूत हो जाने पर ही रोके गये। फाउलर कमीशन का यह ध्यान था कि भारतवर्ष में सोने का आयात होता रहेगा। किंतु यह रोक दिया गया। हम जानते हैं कि भारत मन्त्री गृह खर्च के लिये काउन्सिल बिल निकालता था। १८९८ में जब उसके पास के सोने के आधार पर यहाँ नोट निकाले जाने लगे तब इन काउन्सिल बिल की सीमा पर का बंधन हट गया। वहाँ प्राप्त धन वहीं पर चाँदी खरीदने के लिए रक्खा जाने लगा। १९०४ में भारत मंत्री ने १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पें० प्रति रुपये की दर से असीमित रूप में काउन्सिल बिल बेचने की विज्ञप्ति निकाल दी। इस दर पर लंदन से भारत को स्वर्ण निर्यात होता था। कभी-कभी तो भारत मंत्री इस दर से नीचे दर से काउन्सिल बिल बेच कर उनकी रकम बढ़ा लेता था। इसका फल स्पष्ट ही था। भारत की व्यापारिक विषमता के भुगतान के लिए यहाँ सोना नहीं आता था। अतः, हम यह कह सकते हैं कि भारत की व्यापारिक विषमता के उसके पक्ष में होने पर उसका भुगतान काउन्सिल बिल बेच कर किया जाता था और उसके विपक्ष में होने पर उसका भुगतान भारत सरकार द्वारा भारत मंत्री पर लंदन में देय बिलों द्वारा होता था। उन्हें उल्टे काउन्सिल बिल कहा जाता था। यह फाउलर कमीशन की सिफरिशों के बिल्कुल विपरीत था। इससे स्वर्ण करंसी के बिना स्वर्ण मान चालू हो गया। यह स्वर्ण विनिमय मान था। इसके आवश्यक अंग (१) काउन्सिल बिल

और उल्टे काउंसिल तथा (२) स्वर्णमान और कागजी करंसी कोष तथा भारत सरकार और भारत मंत्री के अन्य कोष थे। काउंसिल बिलों की बिक्री से विनिमय दर की वृद्धि तथा उल्टे काउंसिलों की बिक्री से उसकी घटती रोकी जा सकती थी। हम यह जानते हैं कि भारतीय करंसी की मुख्य कठिनाई विनिमय दर का अस्थायीपन था और वह इस तरह मिट गया। अतः अधिकारी वर्ग यह समझने लगे कि उन्होंने एक नई करंसी प्रथा निकाल कर अपनी सारी कठिनाइयाँ हल कर लीं।

६. स्वर्ण विनिमय मान काल तथा चैम्बरलेन कमीशन

स्वर्ण विनिमय मान न तो किसी अधिकारी द्वारा दिये हुये अधिकार के अनुसार और न किसी निश्चित तिथि पर ही चालू किया गया। हम यह कह सकते हैं कि यह परिस्थितियों के फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही भारत सरकार और भारत मन्त्री के कार्यों के कारण चालू हो गया। इसकी नींव काउंसिल बिलों की बिक्री से पड़ी और वह विपरीत काउंसिलों की बिक्री से पूरी हुई। क्योंकि १८९८ के बाद लगभग सारी बातें ही फाउलर कमीशन की सिफारिशों से भिन्न होती रहीं, अतः १९०९—१३ के समय में भारत की जनता उनकी कटु आलोचना करती रही और सरकार तथा भारत मन्त्री के बीच इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार होता रहा। अतः, १९१३ में चैम्बर लेन कमीशन की नियुक्ति हुई। इसका उद्देश्य विनिमय दर स्थायी रखने के उपाय और भारत सरकार के विभिन्न कोष रखने के स्थान, इत्यादि बताने का था। इसके अतिरिक्त इसे उस समय की यहाँ की करन्सी प्रणाली पर भी अपना मत देना था। कहना न होगा कि यह उसके पक्ष में था। इसने यह कहा कि यहाँ का गत १५ वर्षों का इतिहास यह बतलाता है कि यह करन्सी प्रणाली यहाँ के लिये बहुत ही उपयुक्त है। भारतीय न तो स्वर्ण करन्सी चाहते हैं और न उन्हें इसकी आवश्यकता ही है। इसने निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) भारत के लिये स्वर्ण विनिमय मान ही सर्वश्रेष्ठ है।

(२) स्वर्णमान दृढ़ होना चाहिये।

(३) स्वर्णमान कोष की मात्रा सीमित नहीं होनी चाहिये। मुद्रणका सम्पूर्ण लाभ इसमें जमा होना चाहिये।

(४) स्वर्णमान कोष का पहिले की अपेक्षाकृत अधिक भाग सोने में रहना चाहिये।

(५) स्वर्णमान कोष की रुपयों की शाखा तोड़ देनी चाहिये तथा उन्हें कागजी करन्सी कोष के सोने में विनिमय करके कागजी करन्सी कोष में जमा कर देना चाहिये।

(६) स्वर्णमान कोष रखने के लिये लन्दन ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

(७) जनता की आवश्यकतानुसार विनिमय दर घटने पर भारत सरकार को भारतवर्ष में लन्दन के ऊपर की हुण्डियाँ १ शि० ३$\frac{३}{३२}$ पें० प्रति रुपये की दर से बेचने की जिम्मेदारी लेनी चाहिये।

(८) भारतवर्ष का कागजी करन्सी कोष और अधिक लचकदार बनाना चाहिये।

(९) पाँच सौ रुपयों के नोटों का सब जगह भुगतान कर देना चाहिये तथा कागजी करन्सी का रुपयों में विनिमय कराने के लिये और अधिक सुविधायें देनी चाहिये।

(१०) अचानक माँग होने पर कागजी करन्सी कोष का विश्वसनीय भाग बढ़ा कर कुछ निश्चित शर्तों पर कुछ समय के लिये प्रेसीडेन्सी बैंकों को रुपया उधार दे देना चाहिये।

(११) स्वर्ण करन्सी भारतवर्ष के लिये न तो हितकर ही है और न आवश्यक ही है।

(१२) भारतवर्ष में स्वर्ण मुद्रा मुद्रण करने के लिए टकसाल बनाने की आवश्यकता नहीं है किंतु यदि यह आवश्यक हा समझी जाय तो यह ब्रिटिश टकसाल की ही शाखा होनी चाहिये।

(१३) भारत मन्त्री को अपनी इच्छानुकूल कौंसिल बिलों का विक्रय उस समय तक करते रहना चाहिये जब तक उनके लिये माँग हो किंतु भाव १ शि० ४ पें० से कम न होना चाहिये।

सरकार चैम्बरलेन कमीशन की सिफारिशों के अनुकूल कुछ भी न कर सकी थी कि इतने में प्रथम यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। इससे भारतीय करन्सी प्रथा पुनः सरकार के पदाधिकारियों के इच्छानुकूल चलने लगी। युद्ध के अन्य प्रभावों के साथ उसका एक यह भी प्रभाव पड़ा कि विनिमय की स्थिति कमजोर हो गई। अतः, विपरीत कौन्सिल बेचे गये। फरवरी १६१५ में कौंसिल बिलों की फिर माँग हुई। इसके बाद १६१६ के अंतिम महीने में भारतीय करन्सी और राजस्व सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ आ खड़ी हुईं जिनके फलस्वरूप वह स्वर्ण विनिमय मान टूट गया जिसकी चैम्बरलेन कमीशन ने इतनी प्रशंसा की थी। रुपये के १ शि० ४ पें० के बराबर नियत करने में यह दोष था कि जब चाँदी का मूल्य ४३ पें० प्रति औंस से अधिक हो गया तब बिल १ शि० ४ पें० की दर से बेचना सम्भव न था क्योंकि उसी रुपये के लिए सरकार को १ शि० ४ पें० से अधिक खर्च करना पड़ता था। १६१६ में चाँदी का भाव बढ़ने लगा। साथ ही अनुकूल विदेशी व्यापार होने से, अँग्रेजी सरकार के उपलक्ष में भारत सरकार को फौज का खर्च इत्यादि करने से, कीमती धातुओं का कम आयात होने से, युद्ध की परिस्थितियों तथा व्यापार की वृद्धि के कारण रुपये का खर्च बढ़ जाने से, रुपयों की अधिकाधिक माँग हुई जो पूरी नहीं की जा सकी। १६१५ के चाँदी के २७$\frac{1}{2}$ पें० प्रति औंस मूल्य से १६१६ दिसम्बर में इसका ७८ पें० प्रति औंस मूल्य हो गया। ४३ पें० प्रति औंस से अधिक मूल्य हो जाने पर भारत मन्त्री १ शि० ४ पें० की दर से कौंसिल बिल नहीं बेच सकता था। अतः, पहले तो उसने इस पर नियन्त्रण लगाया, किन्तु बाद में विनिमय दर बढ़ा दी। ३ जनवरी १६१७ को १ शि० ४$\frac{1}{2}$ पें० की विनिमय दर से १२ दि० १६१६ को यही २ शि० ४ पें० कर दी गई। कहना न होगा कि विनिमय नियंत्रण और दर वृद्धि दोनों ही स्वर्ण विनिमय मान के टूटने के चिन्ह स्वरूप थे।

७. बैबिंगन्टन स्मिथ कमीशन

युद्ध काल में स्वर्ण विनिमय टूट चुका था। साथ ही रुपयों की कमी के कारण करंसी बहुत बढ़ गई थी और उसके भुगतान पर बहुतसे बंधन लगा दिये

गये थे। अतः, परिस्थिति की जाँच के लिए १९१९ में बैबिंगटन स्मिथ कमीशन की नियुक्ति हुई। उसने भारतीय करंसी के इतिहास पर पूर्णतया विचार करके निम्न निष्कर्ष निकाले :—

(१) वह करंसी प्रथा जो १८९३ से यहाँ पर संतोषजनक रीति से चल रही थी, देश के लिए बड़ी लाभदायक प्रमाणित हुई थी। उसने यहाँ के आंतरिक विनिमय के लिये संतोषजनक माध्यम और विदेशी व्यापार का भुगतान करने के लिए उचित साधन प्रदान कर दिया था तथा उसी के फलस्वरूप रुपये और पौंड का विनिमय दर स्थायी हो सका था और रुपये का मूल्य १ शि० ४ पें० से घटने से रोका जा सका था।

(२) किन्तु चाँदी के भाव में जो अचानक वृद्धि हुई उसे उपरोक्त प्रथा न रोक सकी। यह करन्सी प्रथा प्रारम्भ करते समय इस विषय पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया गया था। अतः जब अचानक भाव बढ़ा तब सम्पूर्ण करंसी प्रथा लगभग बेकार हो गई।

इसलिए रुपये की विनिमय दर इतनी अधिक रक्खी जानी चाहिये कि रुपये के द्रवण की आशंका ही न रह जाय और इससे कोई हानि भी नहीं होगी। वस्तुतः चाँदी का भाव भविष्य में अधिक ही रहेगा। साथ ही वर्तमान विनिमय दर बहुत ही ऊँची है और वह जितनी घटाई जायगी उतनी ही महँगी बढ़ेगी जो अनुचित होगा। अतः, यह यथाशक्ति कम घटाई जाय। ऊँची दर उत्पादन वृद्धि के लिए भी ठीक होगी क्योंकि इससे उन चीजों और मशीनों के दाम रुपयों में कम रहेंगे जिन्हें यहाँ पर उसके लिए मँगाना पड़ता है। इससे वस्तुओं का निर्यात भी कम नहीं होगा। संसार में कच्चे माल और खाद्य पदार्थों की कमी बनी रहेगी जिससे इन वस्तुओं के व्यापार में भारतवर्ष का सदैव एकाधिकार रहा आयेगा। गृह खर्च सम्बन्धी रुपया भेजने में भी सरकार को काफी बचत होने के कारण उसे भी काफी आर्थिक लाभ रहेगा।

इस कमीशन ने ही सर्वप्रथम स्वर्ण विनिमय मान और पौंड विनिमय मान के भेद की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। अभी तक पौंड और

सोना दोनों समान समझे जाते थे। किन्तु महायुद्ध में पौंड का दाम सोने के रूप में काफी बढ़ गया था। पौंड विनिमय मान के पक्ष में मुख्य तर्क यह था कि चूँकि भारतवर्ष का अधिकांश विदेशी व्यापार पौंड प्रयोग करने वाले देशों से होता था अतः, यहाँ के लिये पौंड विनिमय मान ही सर्वश्रेष्ठ था। कमीशन का यह मत था कि विनिमय दर घटने-बढ़ने से इँगलैण्ड और भारतवर्ष के व्यापार में कोई बाधा न पड़ेगी। बस, इसके लिये एक देश से दूसरे देश को आवश्यक धन स्वतंत्रतापूर्वक आने-जाने का प्रबन्ध होना चाहिए। इसके अतिरिक्त भविष्य में पौंड तथा सोने में समानता तो हो जायगी। स्वर्ण विनिमय के पक्ष में कमीशन ने निम्न तर्क दिये :—

(१) पौंड घटिया करंसी है।

(२) रुपये की विनिमय दर ऊँची ही रखनी चाहिये। अतः, यदि उसे पौंड से बाँध दिया जायगा तो पौंड का मूल्य घटने से रुपये का मूल्य भी घट जायगा जिससे उसकी विनिमय दर ऊँची न रह सकेगी।

(३) उपरोक्त कठिनाई रुपये का पौंड में बहुत ऊँचा मूल्य रख कर दूर की जा सकती थी। किन्तु इसमें यह आशंका थी कि यदि पौंड का मूल्य न घटे और वह फिर सोना के समान हो जाय तो उससे रुपया पौंड विनिमय दर बहुत अधिक बढ़ जायगा।

(४) कमीशन ने यह सिफारिश भी की थी कि सावरन रुपयों के साथ-साथ असीमित रूप में विधानतः ग्राह्य घोषित कर दिये जायँ। अतः, रुपयों का सोने से सम्बन्धित करना आवश्यक हो गया था।

बहुमत की सिफारिशों का सारांश—

(१) रुपये का विनिमय दर पौंड के स्थान पर सोने में निश्चित हो।

(२) यह विनिमय दर १० रुपये प्रति सावरन या १ रुपया = ११.३००१६ ग्रेन शुद्ध सोना या २ शि० स्वर्ण होनी चाहिए। भविष्य में आशा के विपरीत दुनिया में यदि चीजों के दाम बहुत ही घट जायँ और भारतवर्ष

में उनके अनुसार ही स्थिति न बदल जाय तो विनिमय दर पर फिर विचार किया जाय।

(३) सावरन १० रुपया पर असीमित रूप में विधिवत ग्राह्य हो तथा उनके मुद्रण के लिए बम्बई में एक टकसाल खुले।

(४) सरकार का सावरन के बदले में रुपया देने का दायित्व न हो।

(५) सोने के आयात और निर्यात पर जो रुकावटें हैं उन्हें हटा लेनी चाहिए।

(६) चाँदी के आयात पर जो रुकावटें हैं उन्हें भी हटा लेना चाहिए किन्तु उनके निर्यात पर रुकावटें बनी रहनी चाहिए। उनका आयात कर भी बन्द हो जाना चाहिए।

(७) स्वर्ण मान कोष की कोई सीमा न निर्धारित की जाय।

(८) स्वर्ण मान कोष में सोना काफी मात्रा में रक्खा जाय।

(९) स्वर्ण मान कोष का काफी धन अँग्रेजी राज्य में सम्मिलित भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों की ऐसी सरकारी सिक्योरिटियों में होना चाहिए जिनकी अवधि बारह महीने से अधिक न हो।

(१०) सोने का कुछ भाग जो आधे से अधिक न हो भारतवर्ष में जमा रहना चाहिए।

(११) यद्यपि भारत मंत्री के ऊपर काउन्सिल बिल बेचने का दायित्व नहीं रहना चाहिये और भारतवर्ष की उसके पक्ष की व्यापारिक विषमता का भुगतान सोने में होना चाहिये तो भी भारत मंत्री काउन्सिल बिल उस दर से बेच सकता है जो भारतवर्ष को सोना भेजने के खर्च के अनुसार हो।

(१२) विनिमय दर घटने की आशंका पर विपरीत काउन्सिल बेच देने चाहिये।

(१३) कागजी करन्सी का विश्वसनीय भाग ६०% से अधिक नहीं होना चाहिये।

(१४) निर्यात के ऐसे बिलों की जमानत पर जिनकी अवधि ६० दिन से

अधिक न हो प्रेसीडैन्सी बैङ्कों को आवश्यकता पड़ने पर पाँच करोड़ रुपयों की एक करन्सी निकालने का अधिकार देना चाहिये।

(१५) साखपत्रों की जमानत पर जो १२० करोड़ रुपयों के नोट निकले हुये हैं वह केवल निश्चित अवधि के लिये ही होने चाहिये।

(१६) भारत सरकार के साखपत्र १० करोड़ रु० से अधिक न होने चाहिये।

(१७) विश्वसनीय शेष धन अँग्रेजी राज्य में सम्मिलित अन्य देशों के ऐसे राजकीय साखपत्रों में होने चाहिये जिनका बदला निश्चित तारीख तक होने को हो—साथ ही उनमें से कम से कम १० करोड़ के साखपत्र कम अवधि वाले अर्थात् १ वर्ष के अन्दर भुगतान होने वाले होने चाहिये।

सरकार ने वेबिंगटन स्मिथ कमीशन की सिफारिशें स्वीकार कर लीं और उन्हीं के अनुसार यहाँ की करन्सी प्रथा में कुछ विज्ञप्तियाँ निकाल कर संशोधन कर दिया। सितम्बर १६१६ में उसने सोना बेचना आरम्भ किया था। १६२० में जब कमीशन की रिपोर्ट निकली तब उसमें जो विनिमय दर निर्धारित की गई थी उससे भी अधिक उस समय सोने की दर थी। अतः, सरकार ने फर्वरी में यह विज्ञप्ति निकाली कि आगामी ६ महीनों में वह कम से कम एक निश्चित मात्रा में सोना बेचेगी। किंतु यह अगस्त और सितम्बर में भी बेचा गया। अंत में अक्टूबर १६२० में २२ रु० प्रति तोले औसत से बहुत सा सोना बेच देने के बाद उसने बेचना बन्द कर दिया। इसी बीच में जून १२, १६२० के आदेश से सावरन और अर्ध सावरन का विद्रव्यीकरण हो गया था। किंतु चूँकि वह बहुत समय से विधानतः ग्राह्य थे, अतः उन्हें क्रमशः १५ रु० और ७½ रु० के हिसाब से लेने के लिये २१ दिन का समय दिया गया। उसके बीतने पर ब्रिटिश स्वर्ण मुद्राओं के आयात पर से रुकावट हटा ली गई। फिर कमीशन की सिफारिश के अनुसार सावरन और अर्ध सावरन क्रमशः १० रु० और ५ रु० के हिसाब से विधानतः ग्राह्य घोषित कर दिये गये। किन्तु इनका बाजारू दर इससे अधिक था, अतः, ये चलन में नहीं आई। इसी तरह से मुद्रा बनवाने के लिये भी स्वर्ण आने का प्रश्न नहीं रह गया था, अतः, बम्बई में इसके

लिये टकसाल खोलने का विचार भी स्थगित कर दिया गया। फर्वरी १६२० में चाँदी के आयात की रुकावटें भी हटा ली गईं। फिर, चार आना प्रति आउन्स के हिसाब का आयात कर भी समाप्त कर दिया गया। इसी तरह से सोने और चाँदी की मुद्रायें करंसी के अतिरिक्त अन्य प्रकार से उपयोग न करने का बंधन भी हटा लिया गया। जिस दिन कमीशन की रिपोर्ट निकली उसी दिन चाँदी का मूल्य घटना प्रारम्भ हो गया था। अतः मई १६२० के बाद रुपये बाजार में आने लगे थे। इससे जून में इस सम्बन्ध के सभी सरकारी बंधन हटा लिये गये।

८. स्वर्ण विनिमय मान का फिर से टूटना

यह तो प्रारम्भ ही से स्पष्ट था कि नई विनिमय दर अधिक दिनों तक नहीं चल सकेगी। कमीशन का अल्पमत इसके विरुद्ध था। जब सरकार ने विपरीत काउन्सिल बेचने की विज्ञप्ति निकाली थी तो रुपये की बाजारू दर २ शि० सोने से अधिक थी अतः, उन्हें बेचने की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु यह किया गया और स्थिति बिगड़ गई। सरकार ने विपरीत काउन्सिल बेचे। भारतीय निर्यातकों ने भी निर्यात बिल बेचे। अतः दोनों में होड़ हुई और बाजारू विनिमय दर २ शि० ८$\frac{1}{2}$ पें० स्टर्लिंग के ऊपर चढ़ गया। २ फरवरी को स्टर्लिङ्ग डालर में और उसके फलस्वरूप सोने में घट गया। अतः रुपये पाउण्ड की दर २ शि० १०$\frac{1}{2}$ पें० हो गई। उसके बाद निर्यातकों ने बिल बेचना बन्द कर दिया। उनका यह विचार हुआ कि यदि पाउण्ड भविष्य में सोने में गिर गया तो देश में स्वर्ण विनिमय मान होने के कारण वह रुपयों में भी गिर जायगा और उन्हें कम रुपये मिलेंगे।

रुपया स्टर्लिङ्ग दर जैसे-जैसे बढ़ा वैसे-वैसे ही लन्दन में जमा करने के लिए माँग बढ़ी। एक तो आयात कर्ता थे। उन्होंने इसलिए वहाँ जमा भेज देनी चाही कि वह उस समय अधिक जमा हो जाय फिर, रुपये स्टर्लिङ्ग की दर गिरने से कम जमा होगी। दूसरे यहाँ के विदेशी व्यापारी थे। उन्होंने ऊँची दर में यहाँ का अपना लाभ वहाँ भेजने का बड़ा अच्छा अवसर देखा। तीसरे युद्ध

के लाभ के कारण कम्पनियों की स्थापना हो रही थी और लोग मशीनों, इत्यादि का आयात करना चाहते थे। अतः, उन्होंने अग्रिम भुगतान कर दिया। चौथे, सटोरिये थे जिनका यह विश्वास था कि सरकार २ शि० स्वर्ण दर न रख सकेगी, इससे अभी लाभ कमा लिया जाय।

जनवरी १६२० से भारत के पक्ष की व्यापारिक विषमता घटती ही रही। आयात इसलिए बढ़ते गए कि बहुत समय से जो वस्तुयें नहीं आई थीं उनकी विशेषतः कपड़ों की माँग थी और इसलिए भी कि ऊँची विनिमय दर में इन्हें प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत निर्यात घट रहे थे। प्रथम तो आंतरिक आर्थिक संकट के कारण जापान जो भारतीय रुई का एक मात्र ग्राहक था उसका निर्यात नहीं कर पाता था। दूसरे मध्य यूरोप जो भारत की बहुत सी चीजें खरीदता था युद्धोत्तर की राजनैतिक तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण ये चीजें नहीं खरीद रहा था। तीसरे भारतीय ऊन, चाय, और चमड़े की माँग इसलिए कम हो गई थी कि इनका स्टाक लन्दन में जमा हो गया था और भविष्य के लिए कुछ भी निश्चय नहीं था। अंतिम यह कि १६२० में वृष्टि कम हुई जिससे अनाज और कच्चे माल की उत्पत्ति भी कम ही रही।

उपरोक्त के फलस्वरूप विपरीत काउन्सिलों की माँग हुई। सरकार ने उन्हें दो शि० स्वर्ण की दर पर दिया। इस दर पर सोने का दाम १५ रु० १४ आ० प्रति तोला होना चाहिए था। किन्तु बाजारू मूल्य २२ रु० ४ आ० प्रति तोला था। इसके यह अर्थ हुये कि सरकार ने नीचे दामों पर सोना देने का दायित्व ले लिया। अतः, यह असमानता कहाँ तक चल सकती थी किन्तु सरकार ने हठ किया।

सरकार ने विनिमय दर बढ़ाने के लिए अनेक प्रयत्न किया। उसने विपरीत काउन्सिल बेचे। दूसरे, यह देख कर कि विनिमय दर २ शि० स्वर्ण नहीं रह पाती है उसने उसे २ शि० पाउण्ड पर रखने का प्रयत्न किया। उसका विचार था कि जब पाउण्ड और स्वर्ण में समन्वय हो जायगा तो वह दर २ शि० हो जायगी। तीसरे, सरकार ने स्वर्ण भी बेचा। चौथे, सरकार ने करन्सी का परिमाण भी घटाया। किन्तु जब कुछ न हो पाया तब वह

लाचार हो गई। इससे बड़ी हानि हुई। अन्त में विनिमय दर १ शि० ६ पे० स्टर्लिङ्ग पर निर्धारित हो पाई।

९. हिल्टन यंग कमीशन

अप्रैल १६२५ में स्वर्ण और स्टर्लिङ्ग का समन्वय हो गया और संयुक्त-राज्य ने स्वर्ण पाट मान अपना लिया। अतः, उस समय की रुपये और स्टर्लिङ्ग की १ शि० ६ पे० की विनिमय दर रुपये और स्वर्ण की भी विनिमय दर हो गई। ११२५ में हिल्टन यङ्ग कमीशन की नियुक्ति हुई।

कमीशन की रिपोर्ट १६२६ में प्रकाशित हुई। उसकी मुख्य सिफारिशें निम्नांकित थीं :—

(१) करन्सी के लिये स्वर्ण पाट मान अपनाया जाय। सावरन और अर्ध सावरन विधानतः ग्राह्य न रहें। सरकार के ऊपर करन्सी नोटों के बदले में रुपयों का भुगतान का दायित्व न रहे।

(२) करंसी का नियंत्रण और प्रबंध एक केन्द्रीय बैङ्क स्थापित करके उसके हाथ में दे दिया जाय।

(३) विनिमय दर १ शि० ६ पें० पर निर्धारित की जाय।

(४) एक रुपये के नोट युद्ध काल के समान ही फिर से चालू किये जायँ और वह असीमित मात्रा में विधानतः ग्राह्य हों। बड़े नोटों का परिवर्तन करंसी अधिकारी अपनी इच्छानुकूल रुपयों तथा छोटे नोटों में कर सकें।

(५) कागजी करंसी कोष और स्वर्ण मान कोष दोनों एक कर दिये जायँ। सम्मिलित कोष का रूप निश्चित कर दिया गया था।

अल्पमत इम्पीरियल बैङ्क को ही केन्द्रीय बैङ्क बनाने के पक्ष में था। वह १ शि० ६ पें० की विनिमय दर के विरुद्ध भी था। वास्तव में उस समय सरकार तथा जनता के बीच १ शि० ६ पें० और १ शि० ४ पे० विनिमय दर पर बड़ी कटुता हो गई। जनता १ शि० ४ पें० के पक्ष में थी।

रिपोर्ट १६२६ में निकली। उसकी सिफारिशें लेते हुये तीन बिल भारतीय व्यवस्थापक सभा में २५ जनवरी १६२७ को रक्खे गये। ये (१) करंसी बिल,

(२) स्वर्ण मान और रिजर्व बैंक आफ इण्डिया बिल और (३) इम्पीरियल बैंक संशोधन बिल कहलाये। इनमें से केवल प्रथम ही पास हो सका।

इसके पास हो जाने पर करंसी नोट चाँदी के रुपये और अर्ध रुपये सब असीमित रूप में विधानतः ग्राह्य रहे और इन्हें सरकार अपनी इच्छानुसार निकाल सकती थी। विनिमय दर ८·४७५१२ ग्रेन्स ट्राय शुद्ध स्वर्ण रक्खा गया जो उस समय १ शि० ६ पे० के बराबर था।

(२) स्वर्ण मुद्रायें विधानतः ग्राह्य न रहीं। हाँ, भारत की ट्रेजरी और करंसी में वह ८.४७५१२ ग्रेन्स के हिसाब से स्वीकृत हो सकती थीं।

(३) सरकार के ऊपर ४० तोले अथवा १५ औंस के टुकड़ों में २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला के हिसाब से स्वर्ण खरीदने का दायित्व रक्खा गया।

(४) सरकार के ऊपर बम्बई टकसाल की सुपुर्दगी के लिये सोना अथवा करंसी कन्ट्रोलर कलकत्ता, अथवा डि० कन्ट्रोलर बम्बई की इच्छा के अनुसार लन्दन की सुपुर्दगी के लिये स्टर्लिङ्ग बेचने का दायित्व रक्खा गया। इसका दर भी २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला था। स्टर्लिङ्ग की सुपुर्दगी के लिये उतने स्टर्लिङ्ग देने पड़ते थे जितने बैंक आफ इँगलैण्ड की स्वर्ण दर के हिसाब से मिल सकते थे। हाँ, उसमें से भारत से लन्दन स्वर्ण भेजने का खर्च काटा जा सकता था। इस सम्बंध में यह भी था कि सोना १०३५ तोले (४०० औंस) से कम नहीं और स्टर्लिंग उतने से कम नहीं बेचा जा सकता जितने के बराबर इतना सोना बैंक आफ इँगलैण्ड की विनिमय दर के अनुसार था। चूँकि भारत से लन्दन सोना भेजने का खर्च घटता-बढ़ता रहता था इससे रुपये और स्टर्लिङ्ग की दर सरकार द्वारा बराबर गजट में निकलवा दी जाती थी।

१०. १९२७-३९ काल

इस काल में पहिले विनिमय दर के संबंध में और फिर विनिमय दर तथा स्वर्ण मान निर्यात के संबंध में बड़ा आन्दोलन रहा। इसके अतिरिक्त सन् १९३१ में एक ऐसा सङ्कट पड़ा कि जिससे भारतीय करंसी का वास्तविक रूप स्पष्ट हो गया।

अप्रैल १९२७ से सितम्बर १९३१ तक भारतवर्ष की व्यापारिक स्थिति भारतवर्ष के पक्ष में थी। उस बीच में यहाँ के आयात और निर्यात दोनों वृद्धि पर थे। जो लोग १ शि० ६ पें० की विनिमय दर के पक्ष में थे उनका यह कहना था कि इससे यह स्पष्ट है कि स्थितियाँ इस दर पर ठीक हो गई थीं और इससे व्यापार पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु सत्य तो यह था कि यहाँ जो भी स्थिति थी वह अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति सुधारने के कारण थी। दूसरे इस काल में सरकार को विनिमय दर दृढ़ रखने के लिये इम्पीरियल बैंक द्वारा अतिरिक्त करन्सी निकालने की ब्याज दर बढ़ानी, ट्रेजरी बिल बेच कर करन्सी संकुचन करना, स्टर्लिंग बिल बेच कर उसका भुगतान स्वर्ण मान कोष तथा कागजी करन्सी कोष से करना पड़ा। सितम्बर १९२९ के बाद भारतवर्ष में भी संसार व्यापक मन्दी चली। एक राजनैतिक आन्दोलन के कारण यहाँ पर स्थिति और भी बिगड़ गई। साथ ही इस समय भी सरकार ने विनिमय दर दृढ़ बनाये रखने के लिये उपरोक्त उपाय किये जिससे करन्सी संकुचन हुआ और स्थिति बहुत बिगड़ती गई। यहाँ पर मूल्य बहुत ही अधिक गिर गये और यहाँ की व्यापारिक विषमता देश के विपक्ष में होती गई।

प्रथम महायुद्ध के बाद जब संसार के विभिन्न देशों ने स्वर्ण मान फिर से अपनाया तब प्रायः उन्होंने अपनी करंसी और स्वर्ण के बीच में पहिले से नीचा समन्वय रक्खा किंतु ब्रिटेन ने ऐसा नहीं किया। उसने अपनी करंसी और स्वर्ण के बीच में वही समन्वय रक्खा जो युद्ध के पहिले था। अतः इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ पर चीजों के स्वर्ण मूल्य अन्य देशों की अपेक्षाकृत अधिक रहे। यही कारण है कि ब्रिटेन को १९२५ से १९३१ तक बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। अतः, उसे २१ सितम्बर १९३१ को स्वर्ण मान छोड़ना पड़ा और उस दिन से स्टर्लिङ्ग को माँग तथा पूर्ति के नियम के अनुसार अपना समन्वय ढूँढ़ निकालने के लिये स्वतंत्र कर दिया गया। अतः, यह गिरने लगा और उस समय तक गिरता ही रहा जब तक कि इसका और डालर का संबंध स्थापित नहीं कर दिया गया।

१९२७ के करन्सी विधान से रुपया स्वर्ण के साथ बाँध दिया गया था किन्तु सरकार को यह अधिकार भी दे दिया गया था कि वह अपनी इच्छानुसार

रुपये के विनिमय में स्वर्ण न देकर लन्दन की सुपुर्दगी के लिये उसी हिसाब से स्टर्लिङ्ग दे दे जो रुपये और सोने की तथा सोने और स्टर्लिङ्ग की निश्चित दरों के हिसाब से पड़ते थे। अतः, अब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि सरकार भविष्य में रुपये के विनिमय में स्वर्ण दे अथवा स्टर्लिङ्ग दे। इस समय स्टर्लिङ्ग और स्वर्ण का समन्वय तो रह ही नहीं गया था, अतः निश्चित दर पर या तो केवल स्वर्ण ही या केवल स्टर्लिङ्ग ही दिया जा सकता था। पहिले तो गवर्नर जनरल और भारत मन्त्री ने परस्पर विरोधी बातें कहीं, किन्तु अन्त में भारत मन्त्री की घोषणा के अनुसार भारत में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान चलाने का निश्चय किया गया। यह शायद उस समय की परिस्थितियों में सर्वोत्तम था किन्तु इसकी कटु आलोचना केवल इसलिये ही होती रही कि एक तो उस समय जो भारतीय व्यवस्थापिका सभा की बैठक हो रही थी उसमें यह प्रश्न नहीं उठाया गया था और दूसरे विनिमय दर नहीं घटाई गई। यदि रुपया स्टर्लिङ्ग से सम्बन्धित न किया जाता तो या तो उसे स्वर्ण से सम्बन्धित करते या ऐसे ही छोड़ देते। यदि रुपये को स्वर्ण से ८.४७५१२ ग्रेन्स अथवा ७.५३३४४ ग्रेन्स के हिसाब से सम्बन्धित किया जाता तो यह दर स्थिर नहीं रक्खी जा सकती थी। उस समय सभी जगह अवमूल्यन हो रहा था। रुपया ऐसे ही छोड़ देने से भी सरकार और जनता दोनों को बड़ी असुविधायें होतीं।

अब हम स्वर्ण निर्यात की ओर आते हैं। मुगल काल में देश में बराबर सोने का आयात होता रहा। अँग्रेजी राज्य में भी यही था किन्तु १६३१ ३२ में पलड़ा पलट गया और फिर यहाँ सोने चाँदी दोनों का निर्यात होने लगा। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के पहिले चाँदी का निर्यात तो रुक गया था किन्तु सोने का निर्यात नहीं रुका था। हाँ, युद्ध काल में यह भी रुक गया।

सारांश

१. भारतवर्ष में वस्तु विनिमय प्रथा से विनिमय के लिए धातुओं के माध्यम का प्रयोग और अन्त में मुद्राओं का प्रयोग हुआ। हिन्दू काल में उस समय के हिसाब से बड़ी अच्छी मुद्रायें बनती थीं। मुगल काल में मुद्रण स्तर और भी ऊँचा हो गया था।

२. अंग्रेजों के आने पर उन्हें देश में बहुत से राज्य मिले जिनके बहुत से सिक्के थे। सोने और चाँदी दोनों की मुद्रायें चलती थीं। अंग्रेजों ने पहिले द्विधातुमान चलाना चाहा फिर चाँदी की मुद्रायें चलाई, यद्यपि साथ ही साथ सोने की मुद्रायें भी चलती थीं। मद्रास की सरकार ने १८१८ में रुपया चलाया। १८२३ में यही बम्बई में और १८३५में सारे भारत में चलने लगा।

३. १८३५ से १८६६ तक भारतवर्ष में रजतमान रहा, किन्तु १८७२ तक स्वर्ण मान और स्वर्ण करन्सी के लिए अनेक प्रयत्न किए गए। इसके बाद चाँदी का मूल्य घटने से रुपये का विनिमय दर भी घट गया जिससे बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं।

४. रुपये के विनिमय दर घटने के कारण जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई थीं उन्हें दूर करने के लिए १८६३ में हरशल कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने रुपये का स्वतंत्र मुद्रण बंद करवा दिया। इसका ध्येय रुपये की पूर्ति कम करके उसकी विनिमय दर १ शि० ४ पे० करने का था। इस कमीशन की सिफारिशों के आधार पर १८६३ का मुद्रण विधान बना।

५. १८६८ तक विनिमय दर १ शि० ४ पें० हो गई। अतः एक निश्चित करंसी प्रथा की सिफारिश करने के लिए फाउलर कमीशन की नियुक्ति हुई। उसने स्वर्ण करंसी मान की सिफारिश की। उसके अनुसार सावरन विधानतः ग्राह्य कर दी गई और उनके देश में बनने का प्रबन्ध होने लगा। यह भी निश्चय हुआ कि जब रुपये की काफी कमी हो जाय और रुपया बने तो उसका लाभ एक अलग स्वर्ण कोष में रक्खा जाय जिसमें से स्वर्ण विनिमय दर गिरने पर आयातकारों को दिया जाय।

६. स्वर्ण मुद्रायें देश में न चल सकीं। उनके बनने का भी प्रबंध न हो सका। स्वर्ण कोष में सोना न रखकर वह स्टर्लिंग में रक्खा जाने लगा। अतः, १६०७-८ में जब विनिमय दर गिरी तो स्वर्ण न दिया जाकर लन्दन में स्टर्लिंग में भुगतान होने के लिए बिल दिए गए, जिन्हें विपरीत काउन्सिल कहा जाता था। इनसे विनिमय दर का रुकना गिर गया। विनिमय दर का बढ़ना भारत मन्त्री द्वारा भारत सरकार के ऊपर निकाले गए काउन्सिल बिलों को निकाल कर रोका जाता था। इस तरह से यहाँ पर स्वर्ण करंसी मान के स्थान

पर स्वर्ण विनिमय मान चालू हो गया। जब सरकार की बड़ी आलोचना हुई तो १९१३ में चैम्बरलेन कमीशन की नियुक्ति हुई जिसने स्वर्ण विनिमय मान की ही सिफारिश की। किन्तु प्रथम युद्ध काल में यह न चल सका।

७. युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों को ठीक करने के लिए १९१९ में बैबिंगटन स्मिथ कमीशन की नियुक्ति हुई। उसने सर्व प्रथम स्वर्ण विनिमय मान और स्टर्लिंग विनिमय मान का अंतर बताया। कमीशन ने स्वर्ण विनिमय मान की सिफारिश की और विनिमय दर २ शि० स्वर्ण रक्खी।

८. किन्तु यह दर बिलकुल नहीं चली और स्वर्ण विनिमय मान दुबारा टूट गया। उसे बनाए रखने के लिए सरकार ने अनेक उपाय किये जिससे उसकी बड़ी हानि हुई।

९. अप्रैल १९२५ में स्वर्ण और स्टर्लिंग का समन्वय हो गया और संयुक्त राज्य ने स्वर्ण पाट मान अपना लिया। इस समय देश में एक और कमीशन बैठा जिसने यहाँ के लिए स्वर्ण पाट मान की सिफारिश की किन्तु क्रियात्मक रूप में वह स्टर्लिङ्ग विनिमय मान ही रहा।

१०. १९२७-३९ काल में विनिमय दर के सम्बंध में और फिर विनिमय दर तथा स्वर्ण निर्यात के सम्बन्ध में बड़ा आन्दोलन रहा। १९३१ में स्टर्लिंग का स्वर्ण से सम्बंध विच्छेद हो गया और भारत में भी स्वर्ण विनिमय मान अपना लिया गया।

प्रश्न

१. १८३५-७४ में भारतवर्ष में स्वर्ण करंसी चालू करने के लिए क्या प्रयत्न किए गए और उनका क्या फल हुआ?

२. १८७४ के बाद चाँदी के घटने के क्या प्रधान कारण थे और उनका भारत के उद्योग-धंधों और व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा?

३. १८९३ में भारतीय टकसालें रुपये के स्वतन्त्र मुद्रण के लिए क्यों बंद कर दी गईं?

४. १९०० के पश्चात् फाउलर कमीशन की सिफारिशों के विपरीत भारत सरकार ने क्या-क्या किया?

५. स्वर्ण विनिमय मान भारतवर्ष में कब और क्यों हुआ ?
६. १९१४-१८ में स्वर्ण विनिमय मान कैसे टूटा ?
७. बैबिंगटन स्मिथ कमीशन की मुख्य-मुख्य सिफारिशें क्या थीं ?
८. हिल्टन यंग कमीशन की क्या सिफारिशें थीं ? इस सम्बन्ध में भारतीय स्वर्ण पाट मान और अंग्रेजी स्वर्ण पाट मान के भेद बताइये।
९. १९२७-३९ के भारतीय करंसी पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिये।

अध्याय ११

भारत में कागजी करन्सी

भारत में कागजी करन्सी का एक पूरा इतिहास है जो १८वीं शताब्दी से चल रहा है। यह पूरा इतिहास कुछ ऐसे भागों में बाँट कर वर्णन किया जा सकता है जो अपने आप में पूर्ण हों।

१. प्रथम काल (१८६१ तक)

१८६१ तक तो यह नोट तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों तथा कुछ अन्य बैंकों द्वारा निकाले जाते थे। प्रेसीडैंसी बैंकों के नोटों का चलन केवल प्रेसीडेन्सी शहरों तक ही सीमित था। वे विधानतः ग्राह्य नहीं थे। सब नोटों में से अधिक महत्व के नोट प्रेसीडेंसी बैंकों के ही थे जो सब मिला कर पाँच करोड़ रुपये के थे और जिनके लिये चौथाई मूल्य का धात्विक कोष रखना अनिवार्य था। इनका चलन केवल इसीलिये सीमित था कि एक तो यह विधानतः ग्राह्य नहीं थे और दूसरे प्रेसीडेन्सी शहरों से दूर इनके भुगतान का भी कोई प्रबन्ध नहीं था। इन्हें विधानतः ग्राह्य इसीलिये नहीं बनाया गया कि सरकार इनके भुगतान का कोई दायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकती थी। इसके अतिरिक्त आने-जाने की सुविधायें न होने का कारण इनका रुपयों तथा चाँदी में भुगतान नहीं किया जा सकता था।

२. दूसरा काल (१८६१-१९१४)

बहुत विचार के बाद और हिचकिचाहट के साथ १८६१ में उस वर्ष के एक विधान द्वारा सरकार ने नोट निकालने वालों का यह अधिकार उनसे छीन लिया और अपने एक विशेष विभाग द्वारा उन्हें स्वयम् निकालना प्रारम्भ

कर दिया। सरकार ने इस काम के लिये सारे देश को कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई के तीन केन्द्रों में विभक्त कर दिया। पहिले इन केन्द्रों के मुख्य स्थानों से निकले हुये नोट विधानतः ग्राह्य रक्खे गये। फिर, जैसे-जैसे इनका चलन बढ़ा और केन्द्र बने, अन्त में यह सात हो गये। जो हो जनता की सुविधा के लिये एक केन्द्र के नोट दूसरे केन्द्र में भी कागजी करन्सी के किसी कार्यालय अथवा सरकारी ट्रेजरी में भुन जाते थे। इसके बाद पहिले तो वे अपने-अपने केन्द्र के क्षेत्र के अन्दर विधानतः ग्राह्य बनाये गये। यदि वह सब जगह विधानतः ग्राह्य बना दिये जाते और उनके भुनाने का प्रबंध केवल उनके केन्द्र के मुख्य स्थान में होता तो कभी-कभी उन पर बट्टा लगने लगता जिससे वह लोकप्रिय न हो पाते।

विधान में यह कहा गया था कि जितने नोट निकाले जायँ उन सबके लिये एक धात्विक कोष जिसका नाम कागजी करन्सी कोष था, रक्खा जाय। हाँ, गवर्नर जनरल सपरिषद् भारत मन्त्री की राय से कुछ नोट धात्विक कोष बिना भी निकाल सकता था किन्तु उनका मूल्य ४ करोड़ रुपयों से अधिक नहीं हो सकता था। यह धन सरकारी साखपत्रों में लगाना पड़ता था। वास्तव में यह अंग्रेजी प्रणाली की तरह ही था अथवा विश्वसनीय नोट चलाने के करंसी सिद्धांत के अनुसार ही था।

पहिले-पहिल १०, २०,*५०, १००, १०००, और १०००० रुपयों के ही नोट निकाले गये थे।

बाद के संशोधन—इसमें बाद में निम्न संशोधन किये गये—

(१) पूर्ण परिमाण में वृद्धि—प्रारंभ में नोटों का पूर्ण परिमाण थोड़ा था किंतु धीरे-धीरे वह बढ़ गया। १८६२-६३ का यह ३.६६ करोड़ रुपये था, १८६०-१ का यह १५.७७ करोड़ रुपये, १६००-१ का यह २८.८८ करोड़ रुपये, १६०६-७ का ४५.१ करोड़ रुपये, १६११-१२ का ५७-३७ करोड़ रुपये और १६१२-१३ का ६५.६२ करोड़ रुपये था।

---

*२० रुपये के नोट लोकप्रिय नहीं हो सके, अतः १६१० में बन्द कर दिये गये।

(२) पाँच रुपये वाले नोटों का चलन—५ रुपये के नोट १८६१ में चलाये गये। छोटे छोटे भुगतानों के लिये यह बड़ा ही उपयुक्त था। शायद यही कारण था कि इसके चलन के बाद नोटों का चलन बहुत तेजी से बढ़ने लगा।

(३) नोटों का सर्वत्र ग्राह्य होना—केन्द्र प्रणाली नोटों के प्रसार और लोकप्रियता के लिये एक प्रकार की रुकावट डालती थी। अतः, इसे हटाने का प्रथम प्रयास १९०३ में किया गया। उस वर्ष ५ रुपये के नोट बर्मा को छोड़कर सर्वत्र विधानतः ग्राह्य बना दिये गये। १९०९ में यह बर्मा में भी विधानतः ग्राह्य हो गये। १९१० में २० रुपये और ५० रुपये के नोट भी सर्वत्र विधानतः ग्राह्य कर दिये गये और साथ ही और बड़े नोटों को सर्वत्र ग्राह्य करने का अधिकार कार्यकारिणी ने स्वयं ले लिया। अतः, १९११ में १०० रुपये के नोट भी सर्वत्र ग्राह्य बना दिये गये। इससे भी नोटों का चलन बढ़ गया।

(४) विश्वसनीय भाग में वृद्धि—विश्वसनीय भाग में भी वृद्धि की गई। १८१८ में यह वृद्धि २ करोड़ रुपये की हुई। १८६१ में १ करोड़ रुपये की, १८९२ में फिर १ करोड़ रुपये की, १८९७ में २ करोड़ रुपये की, १९०५ में और १९११ में फिर २,२ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। १८६१ में जो ४ करोड़ रुपये का अधिकार दिया गया था उसमें यह सब जोड़ देने से कुल १४ करोड़ रुपये हो गये।

(५) विश्वसनीय भाग स्टर्लिंग साखपत्र में लगाना—ऊपर जिस विश्वसनीय भाग का जिक्र किया गया है उसमें से २ करोड़ की लागत तो १९०५ में और फिर २ करोड़ की लागत १९११ में स्टर्लिंग साख-पत्रोंमें लगाई जाने लगी।

(६) धात्विक अंश और उसके रखने के स्थान में परिवर्तन—भारतीय टकसालों के चाँदी के स्वतन्त्र मुद्रण के लिये बन्द होने के पहिले कागजी करंसी का धात्विक कोष चाँदी की मुद्राओं में रक्खा जाता था। किन्तु १८९३ के विधान के अनुसार करंसी नोट स्वर्ण मुद्राओं और स्वर्ण पाट के विनिमय में भी किसी परिमाण में भी निकाले जा सकते थे। अतः कागजी

करंसी कोष का धात्विक अंश चाँदी की मुद्राओ के अतिरिक्त स्वर्ण मुद्राओं तथा स्वर्ण पाट में भी रक्खा जाने लगा। फिर, १८९८ के स्वर्ण नोट विधान से नोट भारत मंत्री के पास रक्खे हुये सोने के आधार पर भी निकाले जाने लगे। यह उस समय जो द्रव्य की टान हो गई थी उसे दूर करने के लिये अस्थायी रूप से ही किया गया था। जो हो, १९०२ में यह अस्थायी कर दिया गया। अंत में १९०५ के विधान द्वारा धात्विक अंश रुपयों में, स्वर्ण मुद्राओं में और स्वर्ण पाट में तथा विश्वसनीय अंश रुपयों और स्टर्लिंग के साख-पत्रों में रक्खे जाने लगे। धात्विक कोष तो भारतवर्ष अथवा लंदन में कहीं भी रक्खा जा सकता था तथा स्टर्लिंग साख-पत्र अधिक से अधिक २ करोड़ रुपयों के ही हो सकते थे।

(७) कागजी करन्सी कोष के प्रयोग में परिवर्तन—कागजी करन्सी कोष पहिले तो नोटों के भुगतान के लिये ही था। फिर १८९८ के स्वर्ण नोट विधान में एक ऐसा अनुच्छेद जोड़ दिया गया जिससे कागजी करंसी कोष में जो सोना था वह मुद्रण के लिये चाँदी खरीदने के काम में भी लाया जा सकता था। पहिले तो यह अस्थायी था, किंतु बाद में यह स्थायी बना दिया गया। फिर १९०५ से लंदन में जो सोना और स्टर्लिंग साखपत्र थे वह विनिमय दर की मजबूती के लिये भी प्रयोग में आने लगे और भारतवर्ष में जो विपरीत काउन्सिल बेचे जाते थे उनका वहाँ पर कागजी करंसी कोष और स्वर्ण मान कोष दोनों से भुगतान होने लगा। साथ ही यहाँ पर यह दोनों नोटों के परिवर्तन के काम में भी आने लगे। वास्तव में यही कारण था कि जिससे हिल्टन यंग कमीशन ने इनके दोनों के एकीकरण की सिफारिश की थी और यह १९३५ में रिजर्व बैंक की संस्थापना से पूरा हुआ।

चेम्बरलेन कमीशन—चेम्बरलेन कमीशन ने यह कहा कि भारतीय करंसी प्रथा में लोच नहीं था। अतः, उसने इसे अधिक लोचप्रद बनाने के लिये निम्न सिफारिशें कीः—

(१) विश्वसनीय अंश एकदम से २० करोड़ रुपये का कर देना चाहिये और उसके बाद सरकार के पास उसके खजानों में जितने के नोट रहें उतने के

और जितने के नोट चालू हों उतने के तिहाई के बराबर विश्वसनीय अंश हो सकता है।

(२) रकार को विश्वसनीय अंश से कुछ भाग लन्दन और भारतवर्ष दोनों स्थानों पर स्थायी रूप से लगा देने का अधिकार अपने हाथ में ले लेना चाहिये। इससे निम्न लाभ होंगे—

(अ) इससे द्रव्य के बाजार को सहायता मिल जायगी और विशेषतः भारतवर्ष में सामयिक टान दूर हो जायगा।

(ब) ऐसे ऋणों से सरकार को काफी आय भी हो जायगी।

(स) जैसा कि प्रथम सिफारिश में दिया है, भविष्य में नोटों की प्रतिशत प्रथा होगी। अतः स्थायी रूप से ऋण देने में नोटों का चलन बढ़ जाने से, उसके कोष का विश्वसनीय भाग स्वयं ही बढ़ जायगा।

(द) लन्दन में जो थोड़ी अवधि की लागत होगी उससे भारत मंत्री को चाँदी के क्रय के लिये अपने पास जो धन इकट्ठा रखना पड़ता है उसमें उसे ब्याज की कुछ आय हो जायगी। इसके विपरीत अभी तक वह इस काम के लिये जो सोना अपने पास रखता है उससे उसे कोई आय नहीं होती है। वास्तव में कमीशन का यह विचार था कि कागजी करंसी कोष में चाँदी के क्रय के लिये सोना रखना ही नहीं चाहिये।

इसके अतिरिक्त यह नोट अधिक प्रिय बनाना चाहता था। अतः, उसने उनके भुगतान के लिये और अधिक सुविधा देने की सिफारिशें कीं। उसने ५०० रुपये के नोटों को सर्वत्र ग्राह्य बनाने की सिफारिश भी की।

कमीशन ने यह भी कहा कि कागजी करंसी कोष में भारतवर्ष में जो सोना रहे उसे साधारणतः जनता को नोटों के भुगतान में दिया जाय। साथ ही जब विनिमय दर गिरने लगे तो उसे इस शर्त पर दिया जाय कि व्यापारिक भुगतान के लिये उसका निर्यात हो जाय।

वह कागजी करंसी कोष में भारत-मन्त्री के ५० लाख पाउण्ड से अधिक स्वर्ण रखने के पक्ष में नहीं था। उसकी राय में कागजी करंसी कोष का यह सोना और उसके स्टर्लिंग साखपत्र समय पड़ने पर नोटों के भुगतान के लिए

काफी होंगे। साथ ही विनिमय दर की मजबूती के लिए भी यह रक्षा की दूसरी पंक्ति का काम करने के लिए भी यथेष्ट होगा।

किन्तु सरकार ये सिफारिशें कार्य रूप में परिणत भी न कर सकी थी कि प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। अतः सब काम रुक गए।

३. प्रथम युद्धकाल और बैबिंगटन स्मिथ कमीशन

(१) युद्ध के पहिले कुछ महीनों में नोटों का चलन कम हो गया किन्तु बाद में वह धीरे-धीरे बढ़ा और बहुत अधिक हो गया। १६२० तक में कुल नोटों का परिमाण लगभग तिगुना हो गया।

(२) नोटों के पृष्ठ पर रखने के लिए मूल्यवान् धातुओं के मिलने में कठिनाइयाँ होने के कारण कागजी करन्सी कोष का विश्वसनीय अंश बराबर बढ़ता गया। कई आदेश-पत्रों से और व्यवस्थापक सभा के पास किए गए विधानों से इसे दिसम्बर १६१६ तक १४ करोड़ रुपयों से बढ़ाकर १२० करोड़ रुपये कर दिया गया।

(३) ६१६ के एक विधान के अनुसार विश्वसनीय भाग में से ६ करोड़ रुपये ब्रिटिश ट्रेजरी बिलों में लगाए जाने लगे। दिसम्बर १६१६ तक यह १०० करोड़ रुपये हो गया।

(४) युद्ध के पहिले नोटों के भुगतान की अधिकाधिक सुविधायें दी जा रही थी किन्तु १६१६ से धात्विक कोप और मुद्रण के लिए चाँदी की कमी के कारण इसके विपरीत नीति बरती जाने लगी। अतः, नोटों के भुगतान को जो सुविधायें जिले की ट्रेजरियों में दी गई थीं वह बहुत कुछ हटा ली गई। रुपया, रेल, स्टीमर, डाक से ले जाना भी मना कर दिया गया। मुद्रायें देने में एक प्रकार से राशनिंग प्रथा प्रारम्भ कर दी।गई। अतः, इन सब का यह फल हुआ कि कुछ स्थानों में नोटों पर १६ प्रतिशत तक का बट्टा लगने लगा।

(५) छोटे-छोटे नोटों का प्रयोग बढ़ाने के ध्येय से १६१७ में २½ रुपये के नोट और १६१८ में एक रुपये के नोट भी निकाले जाने लगे। वस्तुतः यही कारण था कि १६१७ के बाद नोटों का चलन बहुत बढ़ गया।

बैबिङ्गटन स्मिथ कमीशन—चेम्बरलेन कमीशन की सिफारिशों की तरह ही बैबिंगटन स्मिथ कमीशन की सिफारिशों का ध्येय भी नोटों को अधिक लोकप्रिय बनाने का था। साथ ही कागजी करंसी कोष की रचना के सम्बंध में भी झगड़ा होने के कारण उसकी कुछ सिफारिशें इस सम्बंध की भी थीं।

(१) अभी तक नोट निकालने का जो करंसी सिद्धांत था उसके स्थान पर इसने बैंकिंग सिद्धांत की सिफारिश की। विश्वसनीय अंश कुल नोटों के ६० प्रतिशत से अधिक का नहीं हो सकता था।

(२) सामयिक अतिरिक्त करंसी की माँग पूरा करने के लिए इसने तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को ९० दिन से कम अवधि वाले निर्यात बिलों के आधार पर पाँच करोड़ रुपये के नोट देने की सिफारिश की। इसी से मिलती-जुलती हुई सिफारिश तो चेम्बरलेन कमीशन ने भी की थी। किंतु इसमें एक अंतर यह था कि जब चेम्बरलेन कमीशन की सिफारिश के अनुसार यह अतिरिक्त करंसी विश्वसनीय अंश में ही सम्मिलित थी बैबिंगटन कमीशन के सिफारिश के अनुसार यह उससे अतिरिक्त थी।

(३) विश्वसनीय अंश में १२० करोड़ रुपये के साख-पत्र केवल कुछ समय तक के लिए ही रह सकते थे। अंत में तो यह विश्वसनीय भाग प्रथम में दी हुई सिफारिश के अनुसार होने को था।

(४) कागजी करंसी कोष के विश्वसनीय अंश में भारत सरकार के साख-पत्र २० करोड़ रुपयों से अधिक के नहीं हो सकते थे। शेष ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य सरकारों के साख-पत्रों में रह सकता था। हाँ, इसमें से १० करोड़ छोड़ कर शेष अधिक से अधिक एक वर्ष के अंदर ही पकने वाले होने चाहिए।

(५) स्थानांतर के लिये छोड़ कर शेष धात्विक अंश भारत में ही रक्खा जाना चाहिये।

४. चौथा काल (१९२०—२५)

बैबिंगटन स्मिथ कमीशन की रिपोर्ट निकलने के बाद विनिमय दर स्थिर रखने के लिये जब विपरीत काउंसिल बिकने लगे तब भारत मंत्री को उनको

कागजी करन्सी कोष के स्टर्लिङ्ग साख-पत्र भुना कर भुगतान करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। किन्तु विधान के अनुसार यहाँ पर कागजी करन्सी कोष में निर्देशित राशि से अधिक के भारत सरकार के रुपयों के साख-पत्र तो रक्खे नहीं जा सकते थे। अतः, स्टर्लिङ्ग साख-पत्र भुनने और खर्च होने से साथ-साथ यहाँ की कागजी करन्सी भी कम करनी आवश्यक प्रतीत हुई। अतः, इसे बचाने के लिये मार्च १,१९२० में एक अल्प कालीन विधान पास किया गया जिससे कागजी करन्सी कोष में उस समय जो १२० करोड़ रुपयों के साख-पात्र थे उन्हें वैसे ही रक्खा गया परन्तु उनके रखने और रुपयों अथवा स्टर्लिङ्ग में होने के जो बंधन थे वह दूर कर दिये गये। यह विधान एक अक्टूबर १९२० तक रहा जब तक कि उसके स्थान पर उस वर्ष का भारतीय कागजी करन्सी संशोधन विधान नहीं पास हो गया।

१९२० का भारतीय कागजी करन्सी संशोधन विधान—इस विधान में करन्सी नोटों के नई दर से स्वर्ण पाट के आधार पर निकालने का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त यहाँ पर उस समय तक नोट चलाने का जो करन्सी सिद्धांत लागू था उसके स्थान पर बैंकिंग सिद्धान्त लागू कर दिया गया। यद्यपि बैबिंगटन कमीशन ने कागजी करन्सी कोष में केवल ४० प्रतिशत मूल्य की धातु रखने के लिये ही कहा था, किंतु इसके अनुसार यह ५० प्रतिशत रक्खी गई। इसमें से ५ करोड़ रुपये से अधिक स्वर्ण भारत मन्त्री के पास नहीं रह सकता था। विश्वसनीय अंश के विषय में इसमें यह रक्खा गया कि उस समय कोष में जो ८५ करोड़ रुपये के भारत सरकार के साख-पात्र थे वह केवल अंतर्कालीन अवधि तक रह सकेंगे। उसके बाद वह २० करोड़ रुपयों से अधिक के न हो सकेंगे। फिर स्वर्ण और स्टर्लिंग साख-पत्रों का नई दर से मूल्यांकन करने के फलस्वरूप कागजी करन्सी कोष में जो कमी आई गई थी उसे पूरी करने के लिये यह रक्खा गया कि सरकार उसके स्थान पर अपने कृत्रिम (Created or ad hoc) साख-पत्र रख ले। किन्तु यह भी १२ करोड़ रुपयों से अधिक के केवल थोड़े ही दिनों के लिये हो सकते थे और यह बारह करोड़ रुपये के भी विश्वसनीय अंश के उस भाग के अन्दर ही हो सकते थे जो भारत सरकार के साख-पत्र रखने के लिये स्वीकृत

थे। साथ ही १२ करोड़ रुपये से अधिक के कृत्रिम साख-पत्र धीरे-धीरे कम करने के लिये कोष के साख-पत्रों के ब्याज की आय अलग कर दी गई थी। इसके अतिरिक्त स्वर्ण मान कोष के साख-पत्रों के ब्याज की आय भी इसीलिये अलग कर दी गई थी और स्वर्ण मान कोष के ४ करोड़ पाउण्ड तक पहुँचने पर मुद्रण का समस्त लाभ भी इसी काम में लगाने की स्वीकृत दे दी गई थी। किन्तु बाद में साख-पत्रों पर जो ब्याज मिला वह इस काम में नहीं लगाया गया। अन्त में हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशें स्वीकृत हो जाने पर स्वर्ण और स्टर्लिंग साख-पत्रों को १ शि० ६ पें० की दर से मूल्यांकन करने पर यह कृत्रिम साख-पत्र स्वयं ही कम हो गये।

इस विधान से विनिमय बिलों के आधार पर आवश्यक करन्सी निकालने का प्रबंध भी किया गया था। उसमें यह दिया हुआ था कि ब्याज के दर के ६ प्रतिशत के ऊपर उठने पर ही इम्पीरियल बैंक को यह करन्सी उधार के तौर पर दी जाय। ब्याज की दर ६ से ७ प्रतिशत के बीच में होने से ४ करोड़ रुपया उधार दिया जा सकता था ७ से ८ प्रतिशत के बीच में होने से ४ करोड़ रुपये और ८ या ८ प्रतिशत से ऊपर होने पर ४ करोड़ रुपये और दिये जा सकते थे। १९२१-२४ के बीच में विनिमय दर बढ़ाने के लिये करन्सी संकुचन किया गया; किन्तु बाद में इसकी पूर्ति उपरोक्त आवश्यक करन्सी निकालकर कर दी गई। अन्त में १९२४ में इस नियम में एक संशोधन कर दिया गया जिसके अनुसार इम्पीरियल बैंक को अतिरिक्त करन्सी निकालने की थी। इसके अनुसार ब्याज की दर ६ प्रतिशत हो जाने पर उसे ४ करोड़ रुपये की अतिरिक्त करन्सी और ७ प्रतिशत हो जाने पर ८ करोड़ रुपये की अतिरिक्त करन्सी प्राप्त हो सकती थी।

१९२० का कागजी करन्सी संशोधन विधान—इसके अनुसार भारत सरकार के साख-पत्र ८५ करोड़ रुपयों से बढ़ाकर १०० करोड़ रुपये कर दिये गये। हाँ, इसमें यह शर्त थी कि कृत्रिम साख-पत्रों का मूल्य सब मिलाकर ५० करोड़ रुपये से अधिक न हो।

२½ रुपया और १ रुपया के नोटों की वापसी—२½ रुपये के नोट तो कभी

भी प्रिय नहीं थे। अतः, १ जनवरी १६२६ से वे और एक रुपये के नोट बंद कर दिये गये।

हिल्टन यंग कमीशन (१६२६)—इस कमीशन ने दूसरी सिफारिशों के साथ-साथ कुछ कागजी करन्सी सम्बन्धी सिफारिशें भी की थीं। अभी तक करंसी का नियंत्रण तो भारत सरकार और साख का जो कुछ भी नियंत्रण होता था वह इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया किया करता था। इसने नोट निकालने के एकाधिकार के साथ-साथ और देश में साख वितरण की एक उचित नीति चलाने के ध्येय से रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की संस्थापना की भी सिफारिश की। कागजी करंसी कोष के सम्बन्ध में इसने यहाँ के लिये आनुपातिक कोष प्रणाली पसंद की और प्रस्तावित रिजर्व बैंक के नोट निकालने वाले तथा बैंकिंग का कार्य करने वाले विभाग पृथक रखने के लिये कहा।

इस प्रणाली के अनुसार नोट निकालने वाले दूसरे बैंकों को जो अनुभव थे उन्हीं के अनुसार इसने यह रक्खा कि स्वर्ण तथा स्वर्ण साख-पत्रों के कोष एक तो नोटों के ४० प्रतिशत से और दूसरे रुपयों के परिवर्तन के लिये ५० करोड़ रुपये के न हों। इसमें स्वर्ण नोटों के २५ प्रतिशत से (यह धीरे-धीरे दस वर्षों में हो जाय) और कम से कम ३० करोड़ रुपये के मूल्य से कम न हों। शेष के लिये रुपयों के साख-पत्र सब नोटों के अधिक २५ प्रतिशत के किन्तु ५० करोड़ रुपयों से अधिक के नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त ८५ करोड़ के रुपये थे। कमीशन ने इन्हें २५ करोड़ कर देने की सिफारिश की। यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि इसने नये नोटों का रुपयों में भुगतान करने की बात नहीं रक्खी थी, अतः, यह २५ करोड़ की सीमा यथेष्ठ थी।

फिर, कमीशन ने केवल पुराने नोट ही रुपयों में परिवर्तित करने के लिये कहा था। नये नोट छोटे नोटों में परिवर्तित थे—इसके लिये १ रुपये के नोट फिर से चालू करने की बात थी। किंतु इसके यह अर्थ नहीं हैं कि यह नोट अपरिवर्तनशील थे। इस कमीशन ने यहाँ की सम्पूर्ण करंसी स्वर्ण पाट में परिवर्तित कर दी।

कमीशन ने कागजी करन्सी के सम्बन्ध में जो सिफारिशें की थीं वह १६३५ तक काम में नहीं लाई जा सकीं। इसी बीच में कागजी करन्सी कोष

में जो स्टार्लिंग साख-पत्र थे उनका मूल्यांकन नई दर के अनुसार कर दिया गया।

५०० रुपयों और १०००,रुपयों के नोट सर्वत्र ग्राह्य बनाना—१९३१-३२ में ५०० और रुपये १०० रुपयों के नोट भी ग्राह्य बना दिये गये।

रिजर्व बैंक की संस्थापना और भारतीय कागजी करंसी प्रथा में परिवर्तन—रिजर्व बैंक आफ इन्डिया इसी नाम के १९३४ के एक विधान के अनुसार स्थापित हो गया और उसने १ अप्रैल १९३५ से कार्यारम्भ कर दिया। उस दिन उसके नोट विभाग ने भारत सरकार के करन्सी विभाग से नोट निकालने का प्रबन्ध ले लिया। स्वर्ण मान कोष और करन्सी कोष के पाउने उस दिन एक कर लिये गये और बैंक को जितने नोटों का दायित्व मिला उतने के पाउने जिस-जिस रूप में विधानतः रक्खे जाने को थे उस-उस रूप में उसे दे दिये गये। बैंक ने भारत मन्त्री को लन्दन में यहाँ की सरकार की तरफ से खर्च करने के लिये स्टर्लिंग देने और विनिमय दर स्थायी रखने का दायित्व भी अपने ऊपर ले लिया। इसके अतिरिक्त इसके पास भारत सरकार, प्रांतीय सरकारों और सदस्य बैंकों की जमा रहने लगी है और यह उन सब का बैंक बन गया।

बैंक ने जब से भारत सरकार के करंसी विभाग से करंसी का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया तब से हमारे यहाँ १८६१ से जो सरकारी नोटों का चलन था उसके स्थान पर बैंक नोटों का चलन हो गया। बैंक ने प्रारम्भ में अपने नोट नहीं चलाये। भारत सरकार के जो नोट निकाले हुये थे और चलन में थे, वही बैंक के नोट हो गये। इस बीच में उसने उन्हें निकालने का प्रबन्ध किया और उसके प्रथम नोट १९३८ से जब उसने ५, १०, १००, हजार और दस हजार के नोट निकाले, निकलने लगे। चूँकि ५० रुपये और ५०० रुपये के नोट लोकप्रिय नहीं थे, अतः, उसने इन्हें नहीं निकाला। हाँ, भारत सरकार के पुराने नोट चालू रहे। रिजर्व बैंक के नोट सारे भारतवर्ष में विधानतः ग्राह्य हैं और सरकार के ऊपर उनके भुगतान का दायित्व है।

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया के नोट विभाग का देना उसके चालू नोटों और बैंकिङ्ग विभाग में रक्खे हुये नोटों का है।

कागजी करंसी कोष का पाउना स्वर्ण मुद्राओं, स्वर्ण पाट और स्टर्लिङ्ग साख-पत्र,* रुपयों की मुद्राओं तथा नोट, भारत सरकार के रुपयों के साख-पत्र और बैंक जिन-जिन विनिमय बिलों और प्रण-पत्रों को ले सकता था उनमें रहने लगा। इनमें से स्वर्ण मुद्रा और पाट और स्टर्लिङ्ग साख-पत्र सब के ४० प्रतिशत से कम के नहीं हो सकते और इसमें भी स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण पाट ८.४७५१२ ग्रेन्स प्रति रुपये की दर से ४० करोड़ रुपये से कम के नहीं हो सकते। शेष में रुपये (मुद्रा और नोट) भारत सरकार के रुपयों के साख-पत्र और जो बिल तथा प्रण-पत्र बैंक ले सकता है, वह हैं। पहिले साख-पत्रों, बिलों और प्रण-पत्रों पर यह बन्धन था कि वे कुल देने के २५ प्रतिशत से अधिक और वह भी ५० करोड़ रुपयों से अधिक के नहीं हो सकते थे। किन्तु युद्धकाल की परिस्थितियों के कारण यह बंधन हटा दिया गया।

स्वर्ण मुद्रा और पाट और स्टर्लिङ्ग साख-पत्र—का उपरोक्त न्यूनतम अनुपात सपरिषद गवर्नर जनरल और अब केन्द्रीय सरकार के आदेश से पहिले तो ३० दिन के लिए और फिर १५, १५ दिनों के लिये कम भी किया जा सकता है। किन्तु रिजर्व बैङ्क की संस्थापना से अब तक इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

उपरोक्त परिवर्तन से लाभ—सरकार के स्थान पर बैङ्क के नोट हो जाने से उसमें लोच बढ़ गई है। बैङ्क बाजार से सम्बन्धित रहता है, अतः, वह बाजार की माँग भली-भाँति समझ सकता है। फिर, माँग समझने पर वह सरकार को अपेक्षाकृत अधिक शीघ्रता से काम भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार प्रायः राजनैतिक दृष्टिकोण से काम करती है और बैङ्क व्यापारिक दृष्टिकोण रखता है। किंतु रिजर्व बैङ्क पहिले सरकारी नियन्त्रण में था और अब तो उसका राष्ट्रीयकरण हो गया है। अतः, पहिले भी युद्ध काल में उसने व्यापारिक आवश्यकता का ध्यान न रख कर भारत सरकार के कहने पर द्रव्य प्रसार किया और आगे भी वह उसी के आदेश के अनुसार कर सकता है।

---

*भारत के अन्तर्राष्ट्रीय कोष का सदस्य बन जाने से अब स्टर्लिङ्ग साख-पत्र के स्थान पर उन सब देशों के साख-पत्र रक्खे जा सकते हैं जो इस कोष के सदस्य हैं।

भारत सरकार पहिले दो कोष रखती थी, (१) स्वर्ण मान कोष, और (२) कागजी करन्सी कोष। किंतु इनके प्रयोग में कोई भेद न था। अतः, हिल्टन-यंग कमीशन ने इनके एकीकरण की सिफारश की थी। वह सिफारिश रिजर्व बैङ्क की संस्थापना के बाद ही पूरी हुई। किन्तु उसने रुपयों के आन्तरिक मूल्य में जो कमी है उसे पूरा करने के लिये इस कोष में जो ५० करोड़ अधिक के पाउन्ड रखने को कहा था वह नहीं किया गया। हाँ, बैङ्क सरकार को जितने रुपये वापिस करता है उसका मूल्य सरकार को उसे देना पड़ता है। अतः, इसके लिए सरकार ने १ अप्रैल १६३५ को १० करोड़ रुपये से एक रजत भुगतान कोष खोला था।

कागजी करन्सी कोष में जो परिवर्तन हुये हैं उनसे यहाँ की कागजी करन्सी प्रणाली पहिले से अधिक लोच-प्रद हो गई है। पहिले तो भारत सरकार इम्पीरियल बैंक को केवल १२ करोड़ रुपयों की ही अतिरिक्त करन्सी दे सकती थी, किंतु अब तो बैङ्क जितने आवश्यकता हो उतने की अतिरिक्त करन्सी निकाल सकता है। लोचप्रद होने के साथ-साथ ही अब यह करन्सी प्रथा स्वयं संतुलित भी हो गई है। जब बिलों के आधार पर नोट निकलते हैं तो बैङ्क से द्रव्य बाहर जाता है और जब उनका भुगतान हो जाता है तब वह वापिस आ जाता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर स्वर्ण और विदेश साख-पत्रों का न्यूनतम अनुपात भी कम किया जा सकता है। इसके पहिले ऐसा नहीं था।

अंतिम यह कि रिजर्व बैङ्क की संस्थापना के पहिले इस कोष का एक अंश चाँदी के क्रय के लिये लंदन में रक्खा जाता था। इससे यहाँ पर चाँदी का बाजार नहीं विकसित हो पाता था। रिजर्व बैङ्क की संस्थापना से इस काम के लिये लंदन में कोष का अंश रखना बंद हो गया और यह आशा की जाती थी कि चाँदी की आवश्यकता पड़ने पर सरकार उसे यहीं पर खरीदेगी। किंतु भविष्य में ऐसा होने की सम्भावना नहीं है क्योंकि अब निकल के रुपये और अन्य मुद्रायें तथा १ रुपये के नोट चल रहे हैं।

आवश्यक सुधार—कागजी करन्सी रुपयों और छोटी राशि की कागजी करन्सी में परिवर्तित हैं। इसके यह अर्थ हैं कि एक सांकेतिक करन्सी दूसरी सांकेतिक करन्सी में परिवर्तित है अथवा यों कहिये कि सारी करन्सी ही अपरिव-

र्तित है। इसका यह परिणाम होता है कि जनता को देश की करन्सी पर विश्वास नहीं है। अतः, द्रव्य बैङ्कों में जमा होने और उद्योग-धंधों में लगाये जाने के स्थान पर बहुमूल्य धातुओं, इत्यादि के क्रय में लगाया जाता है। इससे उद्योग-धंधों की हानि होती है और देश में गरीबी फैली हुई है।

इसके अतिरिक्त कोष का एक भाग स्टर्लिंग साख-पत्रों में और अब अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य देशों के साख-पत्रों में रक्खा जाता है। यह देश के हित में नहीं है। इनका मूल्य ह्रास हो जाने पर कोष के मूल्य का भी ह्रास हो जायगा। फिर जब देश में स्वयं पूंजी की आवश्यकता है तो उसे इतना अधिक विदेशों में क्यों लगा रक्खा गया है? केवल थोड़ा सा बाहर रखने पर भी विनिमय का काम चल सकता है।

सारांश

१. भारतवर्ष की कागजी करन्सी का इतिहास कई काल में बाँटा जा सकता है। प्रथम काल १८६१ तक था। इसमें प्रेसीडेन्सी बैंक और अन्य बैंक नोट निकालते थे। यह विधानतः ग्राह्य नहीं थे। तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक के नोट मिला कर पाँच करोड़ के थे और इसका चौथाई कोष चाँदी में रक्खा जाता था। चूँकि सरकार इनके भुगतान का दायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकती थी और आवागमन के साधन न होने के कारण यह सब स्थानों में भुनाये भी नहीं जा सकते थे अतः, यह विधानतः ग्राह्य नहीं किये गये थे।

२. सरकार ने १८६१ में नोट निकालने का एकाधिकार स्वयं ले लिया। सारा देश इस काम के लिये ३ केन्द्रों में बाँट दिया गया जो बाद में धीरे-धीरे सात कर दिये गये। एक केन्द्र के नोट उसी केन्द्र में विधानतः ग्राह्य थे और अपने यहाँ के मुख्य स्थान में ही भुनाये जा सकते थे। धीरे-धीरे नोटों के चलन में वृद्धि हुई। प्रारम्भ में सबसे छोटी राशि का नोट १० रुपये का था। १८६१ में पाँच रुपये के नोट निकाले गये। १६०३ में पाँच रुपये के नोट १६१० में १० और ५० रुपये के नोट और १६११ में १०० रुपये के नोट सर्वत्र ग्राह्य बना दिये गये। १८६१ और १६११ के बीच में निरवसनीय अंश

भी ४ करोड़ से बढ़ा कर १४ करोड़ कर दिया गया। १६०५ में विश्वसनीय अंश में से २ करोड़ स्टर्लिङ्ग साख-पत्रों में लगाये जाने लगे। शेष भारत सरकार के साख-पत्रों ही में रह सकते थे। १८६३ से धात्विक अंश चाँदी के अतिरिक्त सोने में भी रक्खा जाने लगा। १८६८ में स्वर्ण अंश लन्दन में रखने की भी आज्ञा मिल गई। प्रारम्भ में तो कागजी करंसी कोष केवल नोटों के भुगतान के लिये ही था किन्तु धीरे-धीरे यह रुपया बनाने के वास्ते चाँदी के क्रय के लिये और विनिमय दर स्थाई रखने के लिये भी काम में आने लगा। चेम्बर लेन कमीशन ने विश्वसनीय अंश बढ़ाकर २० करोड़ रुपया कर दिया और सरकार को इसमें से भारतवर्ष और लन्दन दोनों जगह अस्थायी लागत लगाने का अधिकार दे दिया। इसने नोटों के भुगतान के लिये सुविधा देने की और ५०० रुपये के नोट भी सर्वत्र ग्राह्य बनाने की सिफारिशें कीं। इसने जनता को नोटों के भुगतान में साधारण समय में तो किसी शर्त बिना और जब विनिमय दिर कमजोर होती दिखाई दे तब केवल इस शर्त पर सोना देने की सिफारिश की कि वह निर्यात के भुगतान के लिये बाहर भेज दिया जाय। भारत मंत्री के लंदन में स्वर्ण रखने पर भी इसने नियन्त्रण लगा दिया किन्तु युद्ध छिड़ जाने के कारण इसकी सिफारिशों के अनुसार कुछ भी न हो सका।

३. तीसरे काल में कुछ समय तक नोटों का चलन कम रहा किन्तु फिर वह धीरे-धीरे बढ़ा। उसके साथ ही उसके विश्वसनीय अंश की मात्रा भी बढ़ी। एक अंश ब्रिटिश ट्रेजरी बिलों में भी लगाया जाने लगा। नोटों के भुनाने की सुविधा देने की नीति बदल दी गई। २½ रु० और एक रु० के नोट भी चालू कर दिये गये। बैबिंगटन स्मिथ कमीशन ने नोटों के बैंकिङ्ग सिद्धान्त की सिफारिश की। उसने सामयिक माँग पूरा करने के लिये भी बिलों के आधार पर करंसी निकालने की सिफारिश भी की। इसकी अन्य सिफारिशें अस्थायी रूप की थीं।

४. चौथा काल बैबिंगटन स्मिथ कमीशन की अस्थायी सिफारिशें लेते हुये जो विधान बना था उसके बनने के साथ-साथ प्रारम्भ होता है। अन्त में १६२० का भारतीय कागजी करंसी संशोधन विधान पास हुआ। इसने कमीशन की स्थायी सिफारिशें कुछ संशोधन के साथ वैध बना दीं। १ जनवरी १६२६ से

एक रु० और २½ रु० के नोट हटा लिए गये। १६२५ के कागजी करसी संशोधन विधान ने भारत सरकार के साख-पत्र और अधिक परिमाण में रखने का अधिकार दे दिया। हिल्टन यंग कमीशन ने निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) नोट बैंक द्वारा चलाये जायँ, (२) आनुपातिक कोष प्रणाली अपनाई जाय, (३) कागजी करंसी कोष और स्वर्ण मान कोष का एकीकरण कर दिया जाय, और (४) नये नोटों का भुगतान केवल छोटी राशि के नोटों में तथा सब नोटों का भुगतान स्वर्ण में हो। १६३१-३२ में ५०० रु० और हजार रु० के नोट भी सर्वत्र ग्राह्य बना दिये गये।

५. रिजर्व बैंक आफ इण्डिया १६३५ में स्थापित किया गया और उसने नोटों का काम उसी वर्ष १ अप्रैल से अपने हाथों में लिया। उस दिन दोनों कोष भी एक कर दिये गये और कागजी करंसी के पाउने उसी रूप में लिये गये जिस रूप में विधानतः उन्हें रखना चाहिये था। १६४० से सरकार ने १ रु० के नोट भी चालू कर दिये। नोट निकालने के काम के रिजर्व बैंक के हाथ में आ जाने से बहुत सी अच्छाइयाँ हो गई। जो कुछ दोष अभी भी बाकी हैं वह भविष्य में दूर हो जायँगे।

प्रश्न

१. भारतीय कागजी करन्सी का १८६१ से १६१४ तक का एक संक्षिप्त इतिहास लिखिये।

२. लोच के क्या अर्थ हैं? चेम्बरलेन कमीशन और वैबिंगटन स्मिथ कमीशन की सिफारिशों से यह लोच कहाँ तक उत्पन्न हो गयी थी।

३. १६१४-१८ के बीच में भारतीय कागजी करन्सी की विशेषतायें बताइये वैबिंगटन स्मिथ कमीशन ने इस सम्बन्ध में क्या विशेष निर्णय किये थे?

४. भारत वर्ष में १६३५ तक नोट चलाने की क्या प्रथा थी? रिजर्व बैंक विधान से क्या-क्या परिवर्तन हो गये और यह क्यों किये गये थे?

५. करन्सी लोचमय होने के क्या अर्थ है ? रिजर्व बैंक की संस्थापना से भारतीय करन्सी प्रथा में कहाँ तक लोच आ गया ?

६. रिजर्व बैंक संस्थापना से भारतीय कागजी करन्सी में क्या-क्या परिवर्तन हुये और साथ ही उनसे क्या-क्या अच्छाइयाँ उत्पन्न हो गईं ? आपकी राय में क्या अब भी कुछ सुधार शेष हैं ?

७. भारतीय कागजी करन्सी की वर्तमान प्रणाली का विवरण दीजिये और साथ ही रिजर्व बैंक के नोट विभाग के साप्ताहिक अंकों के भेद बताइये ।

———

अध्याय १२

द्वितीय महायुद्ध (१९३९—४५)

सितम्बर ५, १९३९ को द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण भारतवर्ष में भी कई क्षेत्रों में गड़बड़ी उत्पन्न हो गई। इसे हम दो भागों में देख सकते हैं—(१)—युद्ध के तात्कालिक प्रभाव और (२) स्थायी प्रभाव और उसके संबन्ध में किये गए उपाय।

१. युद्ध के तात्कालिक प्रभाव (१९३९ से मार्च १९४०)

प्रथम तो इस विश्वास के कारण कि आर्थिक युद्ध की गहराई से उद्योग-धंधो और कृषि को बहुत लाभ होगा, चीजों के मूल्य बढ़ने लगे। थोक चीजों का कलकत्ते का सूची अंक (१९१४) अगस्त के १०० से दिसम्बर में १३९ हो गया जो १९२९ से कभी इतना नहीं हुआ था। किन्तु अगले महीने में इस बात का ध्यान करते हुये कि प्रारम्भिक वृद्धि बहुत अधिक हो गई थीं, इसमें कुछ कमी हुई। इसके अतिरिक्त, लाभ कर की योजना के कारण यह स्पष्ट हो गया था कि युद्ध के कारण जो लाभ हो रहा है वह लोगों को पूर्णतया न मिल सकेगा।

स्वर्ण के मूल्य पर भी प्रभाव पड़ा और वह भी इँगलैंड और भारत दोनों में बढ़ने लगा। इसके परिणामस्वरूप लन्दन के बाजार को २ सितम्बर १९३९ से ४ सितम्बर तक और बम्बई के बाजार को ४ सितम्बर से ७ सितम्बर तक बंद रक्खा गया। ५ सितम्बर को संयुक्त राज्य में रक्षा (आर्थिक) नियम के अनुसार स्वर्ण व्यवसाय बन्द कर दिया, स्टर्लिङ्ग डालर ४·०२ से ४·०६ तक बाँध दिया गया और बैंक आफ इगंलैण्ड ने स्वर्ण खरीदने की अपनी दर १६५ शि० कर दी जो जून ६, १९४५ तक वैसी ही रही और फिर १७२ शि० ३ पे० कर दी गई। भारतवर्ष में एक सरकारी आदेश-पत्र द्वारा इसके-निर्यात पर रोक लगा दी गई जिससे भविष्य में यह केवल रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करने

पर ही मँगाया और भेजा जा सकता था। इसके बाद उसका मूल्य माँग पूर्ति के नियम के अनुसार घटता बढ़ता रहा किन्तु अन्त में वह युद्ध आरम्भ के समय ३७ रु० प्रति तोला से १६४४ के अन्त में १०: प्रति तोले हो गया था।

डालर की मूल्य वृद्धि और सट्टे के क्रय के कारण चाँदी का मूल्य भी बढ़ गया—यहाँ तक कि २१ सितम्बर को उसका मूल्य ६२ रु० १२ आ० हो गया! लन्दन में भी २० सितम्बर को यह २३½ पें० हो गया, किन्तु बाद में वहाँ पर इस भाव पर भारत की चाँदी बिकने के कारण स्थिति सुधर गई। भारतवर्ष में भी पूर्ति बढ़ जाने से और देश की माँग कम हो जाने से बाद में ४ अक्टूबर को यह ५६ रु० २ आ० हो गई। फिर, विदेशी विनिमय का व्यय रोकने की दृष्टि से ब्रिटिश और भारत दोनों सरकारों ने अपने-अपने यहाँ क्रमशः २६ और ३० अक्टूबर को लाइसेन्स पर छोड़ कर इसका आयात बन्द कर दिया। इसके बाद चीजों का मूल्य बढ़ जाने के कारण इसका मूल्य बढ़ता गया और १ दिसम्बर को इस बात की खबर फैल जाने से कि सरकार बम्बई में चाँदी का विक्रय बन्द करने जा रही है यह ६६ रु० ४ आ० तक पहुँच गई। १४ दिसम्बर को यह विज्ञप्ति निकली कि उस समय तक जो बम्बई में लन्दन के आदेशानुसार चाँदी बिकती थी वह उसके स्थान पर रिजर्व बैंक के बम्बई कार्यालय के आदेशानुसार बिकेगी। अतः, इसके तथा अन्य उपायों के फलस्वरूप और इसलिये कि यहाँ पर जो माँग थी वह अधिकतर सट्टे की थी यह फिर गिर गई। किन्तु अन्त में फिर बढ़ने लगी और अगस्त १६४५ में यह १३७ रु० हो गई। इसके बाद लन्दन और अमेरिका में भी इसके मूल्य बढ़े और उसी के फलस्वरूप यहाँ भी यह २०० रु० के लगभग पहुँच गई।

चीजों की कीमत की वृद्धि के साथ-साथ भिन्न देशों से उनकी माँग भी बढ़ गई। अतः, पिछले वर्ष की तुलना में १६३६-४० वर्ष में निर्यात १६६,३५ लाख रु० से २१३,६७ लाख रु० हो गया। साथ ही साथ आयात के मूल्य भी १५२,७६ लाख रु० से १६४,७२ लाख रु० हो गया।

इस काल में भारतवर्ष का आन्तरिक व्यापार भी बढ़ा और यह १६३२-३३ से जब से अङ्क निकलने प्रारम्भ हुये हैं सबसे अधिक था। इससे रेलवे की आय

भी बढ़ गई १६२६-३० से अब तक में सबसे अधिक थी। वैगनों की भराई भी १६२८-२६ से अब तक में सबसे अधिक थी।

युद्धारम्भ होते ही केन्द्रीय सरकार ने भारतीय रक्षा विधान के अनुसार रिजर्व बैङ्क को मुद्रा स्वर्ण और रजत, साख-पत्र और विदेशी विनिमय का लेन-देन नियन्त्रित रखने का अधिकार दे दिया। ४ सितम्बर को रिजर्व बैङ्क ने एक विज्ञप्ति द्वारा जनता को विदेशी विनिमय के नियन्त्रण के सम्बन्ध में अपनी नीति भी बता दी। इसके अनुसार विदेशी विनिमय का क्रय केवल अधिकृत संस्थाओं द्वारा ही किया जा सकता था और इसके लिये सभी विनिमय बैंक तथा कुछ सम्मिलित पूँजी वाले भारतीय बैंकों को लाइसेन्स दे दिया गया। जहाँ तक साम्राज्य की करन्सियों का प्रश्न था कनाडा, निउफाउण्डलैण्ड और हाँगकाँग की करन्सियों को छोड़ कर शेष सब के क्रय विक्रय पर कोई नियन्त्रण नहीं रखा गया, किन्तु साम्राज्य के बाहर की करन्सियों का क्रय-विक्रय केवल वास्तविक व्यापार, भ्रमण तथा कुछ थोड़ी राशि के वैयक्तिक खर्च पूरा करने के लिये लिया जा सकता था। विनिमय नियन्त्रण का ध्येय केवल यही था कि भारतवर्ष में ऐसे जितने लेन-देन हों वह लन्दन विनिमय नियन्त्रण और रुपये स्टर्लिंग दर पर ही हों। अतः, सारी अधिकृत संस्थाओं को इस बात की सूचना दे दी गई थी।

अन्तिम यह कि १६१४-१८ के युद्ध की भाँति ही इस युद्ध के आरंभ में भी लोग सरकारी साख-पत्र बेचने लगे, डाकखानों से नकद प्रमाण-पत्र और नोट भुनाने लगे तथा बैंकों और डाकखानों से अपनी जमा निकालने लगे। यह डर के कारण हुआ और इस वास्ते भी हुआ कि संयुक्त राज्य की सरकार के सुरक्षा सम्बंधी अतिरिक्त शक्ति विधान पास हो जाने पर यहाँ पर भी यह आशंका की जाने लगी कि भारत सरकार भी कहीं लोगों का निजी धन और उनकी सम्पत्ति जप्त न कर ले। किन्तु सरकार ने इसका खण्डन किया जिससे शीघ्र ही विश्वास जम गया।

२. स्थायी प्रभाव और उनके सम्बन्ध में किये गये उपाय (१९४० और उसके बाद)

यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि युद्ध के प्रथम चार महीनों में कलकत्ते का सूची अंक बढ़ जाने के बाद फिर गिर गया था। किन्तु जुलाई १६४० से

फिर वह बढ़ने लगा और १६४५ में २४५ हो गया। चाँदी और सोने का मूल्य बढ़ जाने का तो पहिले संकेत किया चुका है। इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिये कि युद्ध की समाप्ति पर भी मूल्य बढ़ते ही गये। जहाँ तक विदेशी व्यापार का प्रश्न है, पहिले यह जितना बढ़ा था वह तो १६४०-४१ में यूरोप के बाजार निकल जाने आयात-निर्यात पर नियंत्रण लग जाने, 'और जहाजों' की कमी के कारण कम हो गया किन्तु बाद में वह पूरा हो गया और विशेषतः निर्यात में वृद्धि हुई। आयात और निर्यात दोनों की वस्तुओं के मूल्य एक से ही बढ़े। स्टर्लिंग देशों से तो उनके विनिमय के सम्बन्ध में कोई नियंत्रण न होने के कारण हमारा व्यापार बढ़ता रहा और आयात निर्यात दोनों बहुत बढ़ गये। साम्राज्य के बाहर जिस देश से हमारा व्यापार बढ़े वह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका था इससे आयात निर्यात दोनों बढ़े। जापान का निर्यात जो बढ़ रहा था वह जुलाई १६४१ में उसके पाउने का भुगतान रोक देने के कारण यकायक बन्द हो गया।

सरकारी साख-पत्र—युद्ध आरम्भ होते ही लोगों की सरकारी साख-पत्र के विक्रय की इच्छा प्रबल हो उठी अतः, कभी-कभी छोड़ कर उनके मूल्य बराबर गिरते रहे। २६ जून १६४० को बम्बई स्टाक एक्सचेञ्ज बोर्ड को इनकी न्यूनतम कीमत निश्चित कर देनी पड़ी। इसके बाद ३ मार्च १६४२ को भारत सरकार को सुरक्षा नियम के अन्तर्गत एक आदेश निकाल कर यही करना पड़ा। १४ मार्च, १६४२ को यह आदेश प्रान्तीय सरकारो के साख-पत्रों के सम्बन्ध में भी लागू कर दिया गया।

डाकखानों के नकद प्रमाण-पत्र—युद्ध के प्रथम माह में डाकखानों के नकद प्रमाण-पत्रों का भुगतान तो अधिक हुआ और वह बिके कम। किन्तु धीरे-धीरे भुगतान कम और बिक्री अधिक होती गई। किंतु जैसा कि १६३६-३७ से हो रहा था इनकी बिक्री तो १६४२-४३ तक कम ही होती गई। हाँ; १६४३-४४ से यह बढ़ने लगी। १६३५-३६ से इसके अंक आगे दिये हुये हैं।

डाकखाने के नकद प्रमाण-पत्रों के अंक (लाख रुपयों में)

वर्ष	प्राप्ति	भुगतान	शेष प्राप्ति	कुल शेष
१९३५-३६	१३,४५	१३,४३	२	६५,९८
१९३६-३७	१४,८८	१६,४६	—१,५८	६४,४०
१९३७-३८	१३,९७	१८,१६	—४,१९	६०,२१
१९६८-३९	१४,७१	१५,३५	— ६४	५९,५७
१९३९-४०	१०,२५	१२,८०	—२,५५	५७,०२
१९४०-४१	४,८९	१४,९३	—१०,०४	४६,९८
१९४१-४२	३,९७	११,६४	—७,६७	३९,०१
१९४२-४३	३,७६	८,२०	—४,४४	३४,५७
१९४३-४४	५,५०	५,४३	७	३४,६४
१९४४-४५	५,४८	४,३१	१,१७	३५,८२
१९४५-४६	६,६७	३,७२	२,९५	३८,७६
१९४६-४७	४,९८	४,५०	४८	३९,२३

१९४० जून के प्रारम्भ में १० वर्षीय सुरक्षा बचत प्रमाण-पत्र चालू किये गये। १९४०-४१, १९४१-४२, १९४२-४३, और १९४३-४४ में इनकी बची हुई रकम क्रमशः २२९ लाख, २०६ लाख, १२१ लाख और १४१ लाख रुपये रही। १ अक्टूबर १९४३ से उनके स्थान पर १२ वर्षीय बचत प्रमाण-पत्र चालू किये गये। इनकी बची हुई जमा १९४३-४४, १९४४-४५, १९४५-४६ और १९४६-४७ में क्रमशः ८६५ लाख, ११५४ लाख, २३११ लाख और १९२८ लाख रुपये रही।

नोटों का भुगतान—जून १९४० के पहिले नोटों के भुगतान की माँग बहुत अधिक नहीं थी। किन्तु इस समय फ्रान्स के पतन के बाद यह बहुत बढ़ गई और पहले १ करोड़ रुपये प्रति सप्ताह के स्थान पर ४ करोड़ रुपये प्रति सप्ताह हो गई। किन्तु उसी महीने में नोटों का स्वतन्त्र भुगतान रोक दिया गया और कुछ मुख्य-मुख्य स्थानों में एक प्रकार की राशनिंग प्रणाली चालू कर दी

गई। इसके अतिरिक्त एक रुपये के नोट चला दिये गये जो बड़े-बड़े नोटों के भुगतान में दिये जाने लगे।

करन्सी का खर्च—नोट करन्सी का खर्च तो युद्ध-काल में अधिक रहा ही। पहिले तो यह प्रथम सात महीनों में अर्थात् ३१ मार्च १९४० तक ३५.४५ लाख रुपया रहा। उसके बाद यह बढ़ गया और मार्च १९४७ तक यह १२५८.८ लाख रु० हो गया पहिले सात महीनों में रुपयों का खर्च भी १९,५३ लाख रुपये से बढ़ गया। इसका कारण एक तो नोटों का भुगतान और दूसरे युद्ध से व्यापार, इत्यादि को जो प्रोत्साहन मिला था वह था। तब से रुपये के नोट मिलाकर यह मार्च १९४७ तक १४१-२८ लाख रुपया हो गया। इसी समय तक रेजगारी भी ७६,७४ लाख रुपये की खर्च हुई।

चाँदी के रुपये इकट्ठा करने की सनक—जनवरी १९४० से चाँदी के रुपये के माँग बढ़ी और मई १९४० के अंतिम सप्ताह तक जब फ्रांस का पतन हो गया यह बहुत ही अधिक हो गई। फिर जून में तो इसकी बहुत ही छीना-झपटी होने लगी और उस माह में रिजर्व बैंक को १५·१२ करोड़ रुपये देने पड़े। १५ जून से अगस्त के अन्त तक २१·९० करोड़ रुपयों के नोट के भुगतान हुए। अधिकारी वर्ग बराबर रुपये देते रहे—यहाँ तक कि रिजर्व बैंक के नोट विभाग में १ सितम्बर, १९३९ को जो ७८,६७ करोड़ रुपये थे वह २४ मार्च १९४० तक ५० करोड़ की वैधानिक सीमा के नीचे पहुँच गये और २१ जून तक केवल ३५·१ करोड़ रुपये रह गये। अतः, टकसाल के बराबर काम करते रहने पर भी जो रुपये चलन के बाहर होते जा रहे थे उनकी पूर्ति न होने से जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी और इससे जनता तथा समाज के लिये जो संकट उत्पन्न हो रहा था इसके लिये कुछ करना अत्यन्त आवश्यक था। अतः, २५ जून को भारत सरकार ने भारत सुरक्षा के अंतर्गत एक नियम निकाल कर वैयक्तिक तथा व्यावसायिक माँग से अधिक रुपये एकत्रित करना अवैध घोषित कर दिया। इसके पहिले १० जून को ही भारत सुरक्षा नियम के ९० नियम के २ उपनियम का संशोधन करके ऋण, इत्यादि के भुगतान में नोटों और मुद्राओं में से किसी की अस्वीकृति भी दण्डनीय कर दी गई थी।

यपि २५ जून की घोषणा के इच्छित ध्येय की पूर्ति तो हो गई, अर्थात् नोटों

के भुगतान की माँग तो कम हो गई किंतु उसका भी यह फल हुआ कि छोटी राशि की मुद्राओं की माँग बढ़ गई; अतः, उसके लिये भी उपाय करने पड़े। बम्बई में ५० रुपयों और १० रुपये की रेजगारी की माँग प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यक माँग समझी गई और उसकी पूर्ति का प्रबन्ध कर दिया गया। कलकत्ते में वैयक्तिक माँग तो ५० रुपयों की और व्यावसायिक माँग ५००) की काफी समझी गई, अतः, किसी को इससे अधिक नहीं दिया जाता था। कलकत्ते और बम्बई में मुख्य-मुख्य बैङ्कों और व्यावसायिक संस्थाओ की पूरी माँग की पूर्ति की जाती थी। बम्बई में उन ३० सदस्य बैङ्कों द्वारा जिनके कार्यालय खास शहर में थे इस बात का प्रबन्ध भी किया गया कि प्रत्येक व्यक्ति की ५०) तक के नोटों के रुपयों और रेजगारी में भुगतान की माँग पूरी कर दी जाय। रिजर्व बैङ्क ने ४ जुलाई को मुख्य म्युनिसिपल बाजारों में ६ डिपो खोल कर और ५ जुलाई को ४ डिपो खोल कर लोगों को छोटी राशि की करन्सी देने का प्रबन्ध किया। यह डिपो १३ जुलाई तक, जब तक कि छोटी राशि की करन्सी की माँग बनी रही, काम करते रहे।

भारत सरकार के एक रुपये के नोट—रुपये जमा करके रखने की मनोवृत्ति के कारण नोटों की सबसे छोटी राशि से छोटी राशि की करन्सी की माँग बढ़ गई। अतः, सरकार ने २४ जुलाई को एक आदेश-पत्र निकाल कर एक रुपये के नोट चलाने का अधिकार ले लिया। हम जानते हैं कि १६३५ में जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी उसे दूर करने के लिये १) के जो नोट छापे गये थे उन्हें चलाने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। अतः, वही इस समय काम में आ गये। प्रथम महायुद्ध के समय दिसम्बर १६१७ में चाँदी की बचत करने के ध्यान से १) के नोट चालू किये गये थे और वह बहुत ही प्रिय थे।

रिजर्व बैंक के २ रु० के नोट—रुपये के नोटों और इनकी मुद्राओं की माँग जो बढ़ती ही जा रही थी उसे कम करने के लिये १६४३ के प्रारम्भ में रिजर्व बैङ्क ने २) के नोट भी चालू कर दिये।

चाँदी की मुद्राओं के शुद्ध अंश में कमी—२६ जुलाई १६४० के एक

भारतीय मुद्रण (संशोधन) आदेश से अधन्नियों का शुद्ध अंश और दिसम्बर १२,१६४० के ऐसे ही एक अन्य आदेश से रुपयों का शुद्ध अंश ११।१२ के स्थान पर आधा कर दिया गया। इस समय रुपयों और अठन्नियों की माँग बहुत बढ़ी हुई थी, अतः, यह सोचा गया कि उनकी चाँदी की पुरानी शुद्धता में कमी हो जाने के कारण उन्हें जमा रखना भी बन्द हो जायेगा। नये रुपये के किनारे कटावदार थे और कटावदार किनारे के बीच में गड़ारीदार सीधा कटाव था। फिर, खाली जगहों से विभक्त जो दो भाग हैं उनमें डिजाइन के साथ एक छिछली झुर्री थी और यह डिजाइन दोनों पंक्तियों का बना था। १६२२ और ४० के बीच में रुपये नहीं बने थे। १६४० से १६४५ तक १०४ करोड़ रुपये बने जिसमें से केवल १८ लाख के ११।१२ शुद्धता के थे शेष सभी ५० प्रतिशत के थे। १८३५ से १६४६ तक कुल ७५५ करोड़ के लगभग रुपये बने।

चाँदी की मुद्राओं की वापसी—११ अकतूबर १६४० को जो भारतीय मुद्रण (द्वितीय संशोधन) आदेश-पत्र निकाला गया था उससे जो अधिकार प्राप्त थे उनके अनुसार ही राजस्व विभाग की एक विज्ञप्ति द्वारा वह रुपये और अठन्नियाँ जिनके पीछे स्वर्गीय सम्राज्ञी विकटोरिया की तसवीर थी १ अप्रैल १६४१ से साधारणतः विधानतः ग्राह्य नहीं रह गये। अब वह रिजर्व बैंक के नोट विभाग के कार्यालयों में केवल बम्बई और कलकत्ते में तो अगली विज्ञप्ति तक के लिये और सरकारी खजानों अथवा डाकघरों में ३० सितम्बर १६४१ तक ही लिये जा सकते थे। इस आदेश-पत्र का यह ध्येय तो था ही कि देश से घिसी हुई मुद्रा का चलन समाप्त हो जाय किन्तु साथ ही इसका ध्येय भी था कि इससे जनता के पास जो व्यर्थ की मुद्रायें पड़ी हैं वह भी वापिस आ जायँ। इसके बाद चाँदी की मुद्राओं के स्थान पर मुद्रण के लिये और चाँदी की कमी करने और जाल रोकने के लिये छठे जार्ज के सुरक्षित किनारे वाले रुपये चलाने के उद्देश्य से ४ नवम्बर १६४२ की राजस्व विभाग की एक विज्ञप्ति द्वारा ७ वें एडवर्ड के रुपये भी वापिस ले लिये गये। हाँ, सरकारी खजानों, डाकखानों, रेलघरों, में ३० दिसम्बर १६४२ तक और उसके बाद जब तक कोई अन्य विज्ञप्ति न निकले रिजर्व बैंक के नोट विभाग के बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के कार्यालयों में यह

लिये जा सकते थे। फिर, अन्त में १९४२ की विज्ञप्ति से ११।१२ शुद्धता की पंचम और षष्टम जार्ज की मुद्रायें भी वापिस ले ली गई।

किन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिये कि कुछ दिनों से चाँदी का मूल्य बढ़ जाने से इन मुद्राओं को लोगों को अपने पास रखने में ही लाभ था। अतः, लोगों ने उनकी वापसी बहुत कम की। वास्तव में अब इनका आन्तरिक मूल्य इनके बाह्य मूल्य से अधिक हो गया था जिससे इनका मूल्य बढ़ गया था।

इस सब का यह परिणाम हुआ कि इस समय हमारे यहाँ केवल ५० प्रतिशत शुद्धता के और निकल के रुपये ही रह गये हैं।

निकल और पीतल (Brass) की छोटी राशि की मुद्रायें—युद्ध काल की आवश्यकताओं से उत्पन्न माँग पूरी करने के ध्येय से भारत सरकार ने जनवरी १९४२ में एक नया अधन्ना निकाला। इसमें धातु की बचत भी है और यह जनता के लिये सुविधाजनक है। इसके बाद निकल की बचत करने के ध्येय से यह नया अधन्ना और इकन्नी और बाद में दुअन्नी भी ताम्बे और निकल के स्थान पर निकल और पीतल की निकाली जाने लगी। निकल और पीतल की मुद्राओं में ७९% ताम्बा, २०% जस्ता और एक १% निकल है। किन्तु यह मुद्रायें अप्रिय हैं जिससे हटाई जाने वाली हैं।

रेजगारी की कमी—१९४२ के अन्तिम महीनों में रेजगारी की विशेषतः पैसे की बड़ी कमी हो गई। अतः, इन्हें जमा रखना अवैध घोषित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त २८ जनवरी से दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ने और पैसे का परिमाण ९०, ६०, ४५, और ३० ग्रेन्स द्राय कर दिया गया।

डाकघरों के सेविङ्गस बैङ्क—डाकखानों के सेविङ्गस बैङ्कों से जमा निकालने और उनमें जमा करने की गति युद्ध स्थितियों के साथ बदलती रही। १९३८—३९, १९३९—४०, १९४०—४१, १९४१—४२, १९४२—४३, १९४३—४४, १९४४—४५, १९४५—४६, और १९४६—४७, में ८१·९४ करोड़ रुपये, ७८·३८ करोड़ रुपये, ५९·५७ करोड़ रुपये, ५२·१३ करोड़ रुपये ५२·२८ करोड़ रुपये, ६४·२४ करोड़ रुपये, ८०·२८ करोड़ रुपये, ११५·०४ करोड़ रुपये और १०४·३५ करोड़ रुपये जमा थे। जिनके पास थोड़ी रकम थी और जो युद्ध

में सहायता करना चाहते थे उनके लिये १ अप्रैल १६४१ से डाकखाने के बचत खाते की एक नई योजना जिसका नाम डाकखानों की सुरक्षा बचत खाता था, चालू की गई। इसका विशेष लक्षण यह था कि इसके जमा माँग पर देय न हो कर युद्ध समाप्ति के एक वर्ष पश्चात् देय थे और इस पर की ब्याज की दर आय-कर से मुक्त २½ प्रतिशत, अर्थात् साधारण खातों से १ प्रतिशत अधिक थी। इसके बाद १६४२ के भारतीय राजस्व विधान से इसे और व्यापक बना दिया गया जिसके अनुसार छोटी आय पर कर देने वाले लोगों के लिये यह कर दिया गया कि ७५०) वार्षिक आय से ऊपर उनकी जितनी आय हो उस पर २५) के ऊपर १) इस खाते में जमा कर देने से उन पर आय कर नहीं लगेगी।

स्टर्लिङ्ग ऋण की अदायगी—यहाँ की व्यापारिक विषमता के उत्तरोत्तर पक्ष में होते जाने से रिजर्व बैंक के पास जो स्टर्लिङ्ग जमा हो गये थे उसमें से उसने काफी स्टर्लिङ्ग भारत सरकार को दे दिये। स्टर्लिङ्ग ऋण की अदायगी का प्रश्न तो भारत सरकार और रिजर्व बैंक के सामने बहुत दिन से था और १६३७ में इस सम्बन्ध में कुछ किया भी गया था किंतु बाद में यह रोक दिया गया था। किंतु इस बीच में उसने कौटुम्बिक पेन्शन कोष के सम्बन्ध में उसका जो देना था उसे यहाँ से ६५ लाख पउण्ड इंगलैण्ड भेज कर समाप्त कर दिया था। फिर, उपयुक्त अवसर मिलते ही उसने रिजर्व बैंक को इस बात का अधिकार दे दिया कि वह बिना अवधि वाले भारतीय स्टर्लिङ्ग साख-पत्र खुले बाजारों में खरीद लें और उनको समाप्ति के लिए उन्हें उसे दे दे। उनके स्थान पर उतने ही के बिना अवधि वाले, ३½ और ३ प्रतिशत के रुपयों के साख-पत्र रख दिये गये। सबसे पहिले तो यह १५ नवम्बर १६३६ को हुआ और यह फिर उस वर्ष भर होता रहा। इसके बाद २१ फरवरी १६४० को यही योजना अवधि युक्त ऋणों के सम्बन्ध में प्रारम्भ की गई। इससे भारतीय स्टर्लिङ्ग ऋणों के स्थान पर भारतीय रुपयों के ऋण हो गये। फिर, १६४१ के प्रारम्भ में इस योजना को एक और विस्तृत योजना से बदल दिया गया जिससे रिजर्व बैंक के पास जो स्टर्लिङ्ग जमा हो गये थे उनकी सहायता से सरकार के स्टर्लिङ्ग ऋणों की और अधिक अदायगी प्रारम्भ हो गई। ८ फर्वरी १६४१ को सरकार ने यह घोषित किया कि ब्रिटिश

सरकार की सहायता से उसने ८४० लाख पाउन्ड के बाह्य मूल्य के और ६०० लाख पाउण्ड के बाजारू मूल्य के अवधि युक्त भारतीय स्टर्लिङ्ग साख-पत्र वापस लेने का प्रबन्ध कर लिया है। अतः, ७ फरवरी १६४१ को ब्रिटिश ट्रेजरी ने एक आदेश द्वारा संयुक्त राज्य के समस्त अधिवासियों को उनके पास भारत सरकार के स्टर्लिङ्ग के जितने ऋण थे उन्हें ७ फर्वरी १६४१ को बाजार में उनके जो मूल्य थे उस पर और जितना समय उनके सम्बन्ध के दिये हुये साख-पत्रों की जाँच में लगे उतने के लिये कुछ छूट देकर ले लिये। साथ ही भारत सरकार ने ८ फरवरी १६४१ को भारतीय सुरक्षा नियम के अन्तर्गत एक ऐसी ही विज्ञप्ति निकाल कर यहाँ के रहने वालो से भी इन्हें रुपयों के ऋण-पत्र अथवा नकदी दे कर वापस ले लिया। अन्त में २४ दिसम्बर, १६४१ को सरकार ने यह घोषणा की कि रेलवे के ऋण-पत्र और स्टाक छोड़ कर उसके जितने भी स्टर्लिङ्ग ऋण थे उन सब को उसने यथासम्भव वापिस ले लेने का प्रबन्ध किया है। अतः, १६३६-३७ के अन्त में २७६० लाख पाउण्ड का अथवा ३६८ करोड़ रुपये का जो स्टर्लिङ्ग ऋण था वह १६४२-४३ तक इस तरह से पूरी तौर पर अदा कर दिया गया। राजस्व मंत्री ने १६४२-४३ का अपने अनुमान पत्र पेश करते समय यह कहा था कि जो भारत बहुत दिनों से एक ऋणी देश था उसका पुराना ऋण ३ वर्ष के समय में भुगत गया था।

कागजी करन्सी कोष—नोटों की चलन की वृद्धि के साथ-साथ कागजी करन्सी कोष में भी वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है (१) रुपयों में अब रुपयो के नोट भी सम्मिलित हैं, (२) पहिले जो भारत सरकार के साख-पत्र एक सीमित मूल्य के रक्खे जा सकते थे अब यह बात नहीं है, और (३) कोष का जो स्वर्ण लंदन में था वह लंदन ही में छोड़ दिया गया और उसके स्थान पर बैङ्क आफ इगलैण्ड का जो स्वर्ण रिजर्व बैङ्क के पास था वह इसमे रख दिया गया। अंतिम यह कि भारत की व्यापारिक विषमता के भारत के पक्ष में होने के कारण इसमें स्टर्लिङ्ग साख-पत्रों का मूल्य बढ़ गया। इसमें से कुछ तो जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है स्टर्लिङ्ग ऋण के भुगतान में काम में ले आया गया था किंतु यह तब भी बढ़ता गया और देश के लिये एक भयानक प्रश्न बन गया। फिर, नोट बढ़ने से स्वर्ण

कोष का प्रतिशत को हम गया। किंतु सन्तोष इस बात का है कि इसका बाजारू मूल्य बढ़ता ही गया और उस मूल्य से इसका प्रतिशत भी उससे तो बढ़ा ही हुआ है जो मालूम पड़ता है।

भारत सरकार की सुरक्षा ऋण—भारत सरकार की ऋण लेने की योजना उसके सुरक्षा सम्बन्धी बचत आन्दोलन के अनुसार ही चलती रही जिसकी विज्ञप्ति सर्वप्रथम ४ जून, १६४० को की गई थी। इसके कई रूप थे जिनमें से सुरक्षा सम्बन्धी बचत के प्रमाण-पत्र तथा सुरक्षा सम्बन्धी बचत खाते भी जिनका अध्ययन पहिले भी किया जा चुका है, सम्मिलित थे। किन्तु यह उतनी सफल नहीं रही जितनी रहनी चाहिये थी। फिर, १७ मई १६४३ को एक आदेशपत्र निकाला गया जिसके अनुसार ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत लाभ छोड़ शेष सब सरकार ऋण के रूप में ले लेने लगी। कृषि की उत्पत्ति के भाव बढ़ जाने के कारण किसानों की जो आय बढ़ गई थी उसे भी उनसे ऋण के रूप में लेने का प्रयत्न किया गया।

अतिरिक्त कर—युद्ध के कारण बहुत से अतिरिक्त कर भी लगाये गये। १६४० के पूरक राजस्व बिल ने आय कर पर १५% का कर लगा दिया और फिर चिट्ठी, तार और फोन का खर्च बढ़ा दिया गया। इसके बाद पुराने कर बराबर बढ़ते और नये कर बराबर लगते गये।

बैंकों की जमा—यद्यपि प्रारम्भ में बैंकों की बहुत कुछ जमा निकल गई थी किन्तु बाद में विश्वास जम जाने पर इनकी दीर्घकालीन तथा लघुकालीन दोनों प्रकार की जमा बढ़ती ही गई।

विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी बन्धन—विदेशी विनिमय की लेनी-देनी पर तो रिजर्व बैंक अधिकृत संस्थाओं द्वारा अपना नियन्त्रण रक्खे ही रहा। साथ ही युद्ध से उत्पन्न हुई स्थितियों के कारण स्टर्लिङ्ग क्षेत्र भी बढ़ता गया। जहाँ तक दुर्लभ करन्सियों का प्रश्न था, जिनमें साम्राज्य के बाहर के उन देशों की करन्सियाँ सम्मलित थीं जो शत्रु देश अथवा शत्रु देशों के अन्तर्गत नहीं थे उनके क्रय-विक्रय के दर बैंक आफ इंगलैण्ड ने निर्धारित कर रक्खे थे। किन्तु यह केवल संयुक्त राज्य और साम्राज्य के अन्य देशों के लिये ही थे। इनके बाहर के बाजारों में जो मुक्त बाजार कहलाते थे स्टर्लिङ्ग के दर बहुत

घटते-बढ़ते और प्रायः घटते ही रहते थे। अतः, न्यूयार्क में भी स्टर्लिङ्ग दर घट जाने से साम्राज्य के आयातकर्ताओं को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में तथा दुर्लभ करन्सी वाले अन्य देशों में स्टर्लिंग का क्रय करने में अधिक लाभ होने लगा। अतः, लन्दन की दर से भिन्न दर पर विनिमय करना मना कर दिया गया और अमेरिका के बैंकों के साथ समझौता करके यह निश्चय कर दिया गया कि वहाँ पर डालर और रुपये के बीच में वही दर रहे जो भारत में रहे। इससे स्वतन्त्र बाजार की समाप्ति हो गई। फिर, दूसरे देशों को साम्राज्य से जो निर्यात जाते थे उनके भुगतान में जो वहाँ की करन्सियाँ मिलती थीं उनके स्थान पर, वहाँ जो स्टर्लिंग ले लिये जाते थे उनसे उन देशों की करन्सियों का जो नुकसान होता था उसे रोकने के लिये बैंक आफ इंगलैण्ड ने मार्च १६४० में कुछ चीजों के निर्यात पर ऐसा नियन्त्रण लगा दिया जिससे उनका निर्यात तभी हो सकता था जब यह निश्चित हो कि उनके भुगतान में दुर्लभ करन्सियाँ ही मिलेंगी। इसके बाद यही रुकावटें भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में भी लगा दी गईं। भारतवर्ष में यह रुकावट जूट और रबड़ के सम्बन्ध में थी। फिर यह रुकावट लगा दी गई कि इनका निर्यात तभी हो सकता है जब इनसे जो दुर्लभ करन्सी मिलें वह रिजर्व बैंक को और उसके द्वारा बैंक आफ इँगलैंड को दे दी जायगी। जून १६४० में यह नियन्त्रण की योजना इतनी विस्तृत कर दी गई कि उसमें संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और स्विटजरलैण्ड जाने वाली सभी चीजें आ गईं। इस सब का यह फल हुआ कि अभी तक जो यहाँ के व्यापार के लिये स्टर्लिंग बिल काम में आते थे सो अब उनके स्थान पर अन्य करन्सियों के बिल काम में आने लगे। फ्रांस के पतन के बाद लन्दन को हवाई डाक न जा सकने के कारण यह बात और भी बढ़ गई। अतः, रिजर्व बैंक ने भारतीय निर्यातकों से बैंक आफ इंगलैण्ड द्वारा निर्धारित दरों पर विदेशी विनिमय खरीदने की घोषणा निकाली।

जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया और संयुक्त राष्ट्र के डालर की माँग होती गई वैसे-वैसे विदेशी विनिमय की बचत के लिए और भी उपाय किये गये। मई १६४० में भारत सरकार ने आयात नियन्त्रण योजना प्रारम्भ की और कुछ देशों से कुछ चीजों का आयात करने के लिए लाइसेन्स देने की नीति चालू

की। फिर, यह सभी चीजों के लिये कर दिया गया। व्यापार के अतिरिक्त अन्य कामों के लिए किये जाने वाले भुगतानों पर भी बन्धन लगा दिये गये। दिसम्बर १६४० में ब्रिटिश भारत के रहने वालों से उनकी सम्पूर्ण डालर सम्पत्ति ले ली गई और उसके स्थान पर रिजर्व बैंक ने रुपयों में भुगतान कर दिया। इसी तरह से १० मार्च १६४१ को यहाँ के लोगों के संयुक्त राष्ट्र के डालर के कुछ साख-पत्र ले लिए गए। अंत में यहाँ के लोगों के बैंक आफ इंगलैण्ड के सब नोट भी ले लिये गये।

युद्ध के समीपवर्ती पूरब में बढ़ जाने के कारण जापानी सरकार ने स्टर्लिङ्ग तथा बम्बई से पश्चिम वाले देशों की करंसियों में बिल काटने का निषेध कर दिया था। अतः, इसका यह परिणाम हुआ कि मध्यवर्ती पूरब के आयात-कर्ताओं को जापानी माल बम्बई द्वारा खरीदना पड़ा। अतः, यहाँ पर जापानी माल का एक बहुत बड़ा अंतर्बन्दरगाह व्यापार प्रारम्भ हो गया। अतः, इस बात के लिये उपाय किया गया कि भारतवर्ष को ऐसे काम के लिये विदेशी विनिमय न देना पड़े जिससे भारतवर्ष का कोई लाभ न हो।

जुलाई १६४१ में उन जापानी कम्पनियों और व्यापारियों की संपत्ति यहाँ पर रोक दी गई जो यहाँ पर काम कर रहे थे। फिर, जापान से युद्ध छिड़ जाने पर उनकी और जापानी बैंकों की सारी सम्पत्ति शत्रु सम्पत्ति रक्षक के हाथ में सौंप दी गई।

मुख्य उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से इनके अतिरिक्त अन्य कई आदेश भी निकाले गये। किंतु यहाँ पर सब का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

चीजों के मूल्य वृद्धि और सरकार के लगाये हुये नियंत्रण—यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि प्रारम्भ में चीजों के मूल्य में जो वृद्धि हुई थी वह तो मार्च १६४० तक ही समाप्त हो गई थी। किन्तु इससे कुछ समय बाद फिर परिवर्तन हुआ। इसके कई कारण हैं किन्तु मुख्य तो द्रव्य प्रसार था। हाँ, अत्यधिक लाभ लेने की प्रवृति तथा सट्टेबाजी ने स्थिति और भी खराब कर दी।

युद्ध छिड़ते ही सरकार के पास अत्यधिक मूल्य वृद्धि की शिकायतें आने लगीं। प्रायः, इतनी अधिक मूल्य वृद्धि के लिये कोई औचित्य नहीं था।

भारतीय सुरक्षा आदेशपत्र और उसके अंतर्गत बने भारतीय सुरक्षा नियमों के अनुसार केन्द्रीय सरकार के पास यह अधिकार था कि वह सब प्रकार की वस्तुओं के मूल्य नियंत्रण सम्बन्धी नियम बना सके। इसके अतिरिक्त वह यह अधिकार किसी को हस्तान्तरित भी कर सकती थी। अतः, सितम्बर १९३९ के एक विज्ञप्ति द्वारा प्रांतीय सरकारों को इस बात का अधिकार दे दिया गया कि वह उत्पत्ति तथा वितरण के कदम-कदम पर वस्तुओं की—विशेषतः आवश्यक वस्तुओं की और औषधियों की—खाद्य-पदार्थ, नमक, मिट्टी के तेल और सस्ती तरह के सूती वस्त्रों की मूल्य वृद्धि रोकने के लिये नियम बना सकती हैं। प्रत्येक स्थिति में न्यूनतम मूल्य १ सितम्बर १९३९ को जो मूल्य थे उससे १० प्रतिशत से अधिक कम नहीं रक्खे जा सकते थे। अतः, सभी प्रान्तीय सरकारों ने इस सम्बन्ध में शीघ्रातिशीघ्र कुछ न कुछ अवश्य किया।

प्रत्येक जिले में मूल्य नियन्त्रक नियुक्त किये गये। पहिले तो कमिश्नर और जिलाधीश ही अपने यहाँ के मूल्य नियन्त्रक बनाये गये। किन्तु बाद में बहुत से स्थानों में पूरे समय के लिये कर्मचारियों की नियुक्ति की आवश्यकता मालूम पड़ी। प्रान्तीय तथा जिलों के मूल्य नियन्त्रकों के साथ-साथ उन्हें परामर्श देने के लिए उनकी परामर्शदात्री कमेटियाँ भी नियुक्त की गईं।

भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधियों के कई सम्मेलन भी यही प्रश्न लेकर बुलाये। यह सब बड़े हितकर प्रमाणित हुये।

पूर्ति का राशन—जीवन की आवश्यकताओं के उचित वितरण के ध्येय से राशनिंग की कई योजनायें भी चालू की गईं जो जनसाधारण के लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुईं।

उधार पट्टा समझौते के अन्तर्गत चाँदी मँगाना—संयुक्त राष्ट्र के धनागार से उधार पट्टा समझौते के अन्तर्गत इस शर्त के साथ चाँदी ली गई कि वह सरकारी तौर पर युद्ध समाप्त होने की तारीख के पाँच वर्षों के अन्दर-अन्दर पूरी तौर पर वापिस कर दी जायगी।

रिजर्व बैङ्क का सोना चाँदी बेचना—रिजर्व बैङ्क ने समय-समय पर विशेषतः करन्सी प्रसार रोकने के लिये भिन्न-भिन्न दर पर सोना और चाँदी

बेचा—१९४३-४४ से १९४५-४६ तक ७५ लाख आउन्स सोना और १९३९-४० से १९४५-४६ तक १८१० लाख आउन्स चाँदी बेची गई।

सोना पहिले तो ब्रिटिश सरकार की ओर से और फिर ब्रिटिश सरकार और दक्षिणी अफ्रीका की सरकार दोनों के साझे में बेचा गया। भारतीयों ने इसका बड़ा विरोध किया और कहा कि यहाँ पर स्वर्ण का अत्यधिक मूल्य होने के कारण, रिजर्व बैंक विदेशियों को अत्यधिक लाभ कमाने में मदद दे रहा है। उसके लिये उचित तो यह था कि वह सोना स्वयम् खरीद कर फिर यहाँ अपनी तरफ से बेचता।

अधिक मूल्य के नोटों का विद्रव्यीकरण*—चोर बाजारी और आय कर की बचत रोकने के ध्येय से भारत सरकार ने जनवरी १९४६ में १०० रु० से ऊपर के नोटों का विद्रव्यीकरण कर दिया। हाँ, गैर सदस्य बैंक उन्हें रिजर्व बैंक से या किसी भी सदस्य बैंक से १०० रु० के नोटों में बदल सकते थे अथवा रिजर्व बैंक में हिसाब खोल सकते थे। दूसरे लोग भी उन्हें एक निश्चित फार्म भर कर रिजर्व बैंक के सदस्य बैंकों के यहाँ या राजकीय कोष में एक निश्चित अवधि के अन्दर बदलवा सकते थे। अधिकतर नोट तो बहुत जल्दी बदलवा लिये गये, किन्तु कुछ रह गये जो बराबर भुनते रहे।

सरकार का यह कदम अभूतपूर्व था। यह एक बड़े धड़ाके के समान था। टाइम्स आफ इंडिया ने अपने एक अग्रलेख में वह लिखा था कि अणुबम ने भी यहाँ पर पहिले-पहिल उतना प्रभाव नहीं डाला जितना इसने डाला था बम्बई के फ्री प्रेस जनरल ने लिखा था कि यह न्याय के विरुद्ध और किसी भी राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय नियम से न्याय युक्त नहीं था। यह दिन दहाड़े की लूट और चोरी थी, इत्यादि-इत्यादि।

सरकार ने यह कहा कि चोर बाजारी का रुपया बड़ी राशि के नोटों में था अतः, उसे पकड़ना न्यायसंगत था। इससे आय कर से बचने वाले लोगों की भी पकड़ हो जायगी और किसी को असुविधा नहीं होगी। किंतु ऐसा नहीं

* १ अप्रैल, १९५४ से फिर रिजर्व बैंक के एक हजार, पाँच हजार, और दस हजार के नोट चालू हैं।

हुआ। एक नये प्रकार की चोरबाजारी खड़ी हो गई। कुछ दिनों के लिये तो इन्हीं नोटों की चोर बाजारी चली। आय कर से बचने वाले भी घूस, इत्यादि देकर बचे रहे। इसके विपरीत ईमानदार लोगों को बड़ी असुविधा हुई। कहीं-कहीं पर तो इससे इतना डर पैदा हो गया कि लोगों की हृदय गति रुक गई। अंत में यह कहा जा सकता है कि इससे करन्सी पर का विश्वास उठ गया और सोना-चाँदी खरीद कर रखने की प्रवृत्ति बढ़ गई जिससे वह और अधिक मँहगे हो गये।

सारांश

१. द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव का अध्ययन दो हिस्सों में किया जा सकता है। १. अस्थायी और २. स्थायी। अस्थायी प्रभाव तो मार्च १६४० तक रहा। यह चीजों और सोने-चाँदी के मूल्य की वृद्धि, आयात निर्यात और देशी व्यापार के प्रोत्साहन, विनिमय नियन्त्रण, राजकीय साख-पत्र के विक्रय, डाकखानों के नकद प्रमाण-पत्रों और नोट भुनाने और बैंकों तथा डाकखाने के बैंकों से जमा निकालने के रूप में थे।

२. स्थायी प्रभाव और उनका सामना करने के उपाय निम्नांकित थे :—

१. प्रारम्भिक मूल्य वृद्धि के बाद उनमें कुछ कमी हुई। किन्तु इसके बाद फिर मूल्य वृद्धि हुई जो स्थायी रही।

२. पहिले के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि १६४०-४१ में समाप्त हो गई। किन्तु शीघ्र ही मूल्य वृद्धि के कारण और विशेषतः मित्र राष्ट्रों की माँग बढ़ने के कारण यह फिर बढ़ गया।

३. राजकीय साख-पत्रों के मूल्य गिरते गए, अतः इन्हें नियन्त्रण में लाना पड़ा। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के साख-पत्रों के न्यूनतम मूल्य निर्धारित कर दिए गए।

४. डाकखाने के नकद प्रमाण-पत्रों की राशि घटती रही। पहिले तो १० वर्षीय सुरक्षा सम्बन्धी बचत के प्रमाण-पत्र और फिर १२ वर्षीय राष्ट्रीय बचत के प्रमाण-पत्र निकाले गये। १२ वर्षीय राष्ट्रीय बचत के प्रमाण-पत्र बहुत ही लोक प्रिय हैं।

५. जून १६४० में नोटों के भुनाने की दौड़ बढ़ी। अतः, इसे रोकने के लिये उपाय करने पड़े। पहिले तो १ रु० के नोट और फिर २ रु० के नोट भी चलाये गये।

६. करंसी नोटों, रुपयों (जिनमें रुपये के नोट भी सम्मिलित हैं) और रेजगारी का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। पहिले तो रुपये जमा करने की सनक सवार हुई। अतः, शीघ्र ही इसे रोकने का उपाय करना पड़ा। चाँदी की मुद्राओं में जो चाँदी रहती थी उसकी शुद्धता चांदी की बचत करने और उन्हें जमा करने की प्रवृत्ति रोकने के उद्देश्य से कम कर दी गई।

७. चालू करंसी का सुधार करने, चाँदी के प्रयोग में बचत करने और जमा करने की प्रवृत्ति रोकने के लिये रानी विक्टोरिया की तस्वीर वाली मुद्राओं से प्रारम्भ करके ११।१२ शुद्धता की चाँदी की सभी मुद्रायें वापिस ले लीं गईं। वह विधानतः ग्राह्य नहीं रह गईं।

८. निकल का प्रयोग बचाने के ध्येय से छोटी राशि की मुद्रायें निकल और ताँबे के मेल के स्थान पर निकल और ब्रास के मेल में निकाली गईं।

६. छोटी राशि की मुद्राओं की कमी के कारण राज्य ने उन्हें जमा करना अवैध घोषित कर दिया। इसके बाद उनमें की धातु भी कम कर दी गई।

१०. डाकखानों के बचत खातों की जमा कम होती गई। किन्तु शीघ्र ही भारतीय डाकखानों के सुरक्षा सम्बन्धी बचत खातों की एक नई योजना चालू की गई। इसके बाद थोड़ी आय वालों को ७५० रु० वार्षिक आय के ऊपर प्रत्येक २५ रु० के लिये इसमें १ रु० जमा करने पर आय कर से मुक्त करके इसका विस्तार और भी बढ़ा दिया गया।

११. भारत सरकार के स्टर्लिङ्ग ऋण के भुगतान की जो योजना १६३७ में प्रारम्भ की गई थी किन्तु बाद में फिर रोक दी गई थी वह फिर चालू की गई। इसका मुख्य ध्येय देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उसके पक्ष में होने के कारण उससे रिजर्व बैंक के पास जो स्टर्लिङ्ग कोष जमा हो रहा था उसे कम करना था।

१२. रुपयों में रुपये के नोट भी सम्मिलित करके, रुपयों के साख-पत्रों के

रखने की जो प्रारम्भिक विधान में एक सीमा थी उसे हटा करके और लन्दन में भारत का जो स्वर्ण था उसके स्थान पर भारत में बैंक आफ इंगलैंड का जो सोना था उससे बदल करके भारतीय कागजी करंसी कोष की विभिन्न सम्पत्ति में बड़ा परिवर्तन कर दिया गया। साथ ही स्टर्लिङ्ग ऋण की अदायगी कर देने पर भी इस कोष में स्टर्लिङ्ग साख-पत्रों का मूल्य बढ़ता ही रहा।

१३. भारत सरकार ने युद्ध का व्यय पूरा करने और द्रव्य प्रसार रोकने के ध्येय से नये-नये ऋण लिये।

१४. उपर्युक्त ध्येय से अतिरिक्त कर भी लगाये गये।

१५. बैंकों की जमा में वृद्धि हुई।

१६. विनिमय नियन्त्रण अधिकाधिक होता रहा।

१७. अत्यधिक मूल्य वृद्धि रोकने के लिये सरकार ने मूल्य नियन्त्रण किया। इसी ध्येय से उसने अपने मूल्य नियन्त्रकों की नियुक्ति की और कई सम्मेलन बुलाये।

१८. कुछ चीजों का राशनिंग भी किया गया।

१९. उधार पट्टा समझौते के अन्तर्गत सरकार ने सयुक्त राष्ट्र से काफी चाँदी भी ली थी।

२०. द्रव्य प्रसार रोकने के लिये रिजर्व बैंक ने सोना और चाँदी दोनों बेचे। सोना बेचने से विदेशियों को बड़ा लाभ हुआ।

२१. जनवरी १९४६ में चोर बाजारी और आय कर की बचत रोकने के ध्येय से बड़ी राशि के नोटों का विद्रव्यीकरण किया गया। किन्तु इससे उद्देश्य की सिद्धि न हुई। बल्कि इसका यह प्रभाव पड़ा कि जनता का करन्सी पर से विश्वास कम हो गया, सोने और चाँदी के मूल्य बढ़ गये और उन्हें रखने की आदत को प्रोत्साहन मिला।

प्रश्न

१. द्वितीय महायुद्ध का जनता, मूल्यों, व्यापार और विनिमय पर क्या तात्कालिक प्रभाव पड़े? इनका संक्षिप्त वर्णन करिए।

२. युद्ध काल में सरकार और जनता को क्या कठिनाइयाँ हुईं और उन्हें दूर करने के लिए क्या उपाय किये गये ?

३. निम्न पर टिप्पणियाँ लिखिये :—स्टर्लिङ्ग ऋण का भुगतान, विनिमय नियन्त्रण, मूल्य नियन्त्रण, दुर्लभ करन्सी, स्टर्लिङ्ग तथा रुपयों के क्रय के लिये मुक्त बाजार, बड़ी राशि के नोटों का विद्रव्यीकरण।

———

अध्याय १३

युद्धोपरांत स्थिति

युद्ध की समाप्ति पर वस्तुओं के मूल्य गिरने और उनकी अधिकाधिक पूर्ति की आशा थी, किन्तु यह कुछ न हुआ। युद्ध समाप्त होने के समय (अगस्त १९४५) जो सूची अंक २४४'१ थे वह धीरे-धीरे १९५०-५१ में यह ४०९'७ हो गये। आवश्यक वस्तुओं के मूल्य अधिक तेजी से बढ़े।

१. युद्धोत्तर कालीन द्रव्य स्फीति के कारण

(१) करन्सी और साख का प्रसार—युद्ध के बाद भी भारत सरकार ब्रिटिश सरकार के लिये भारत में व्यय करती रही। ऐसा जून १९४६ तक हुआ। इसके फलस्वरूप स्टर्लिङ्ग निधि पर आश्रित नोट करन्सी बढ़ती रही। जून १९४६ के बाद द्रव्य प्रसार देश की सरकार की स्वयम् की आवश्यकताओं के कारण हुआ जिससे नोट करन्सी तो बढ़ा किन्तु स्टर्लिङ्ग निधि वही रही।

(२)आय-व्यय पत्रक में घाटा—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के आय-व्यय पत्रक में प्रायः घाटा होता रहा। इसकी पूर्ति के लिये उन्होने रिजर्व बैङ्क की शरण ली जिसने इसके लिये अधिकाधिक नोट प्रसारित किये। घाटे के कई कारण थे जैसे भारत के विभाजन से उत्पन्न पुनर्निवास समस्या और खाद्य तथा कच्चे माल की कमी, काश्मीर की लड़ाई, हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही, विभिन्न देशों में दूतावास खुलना, इत्यादि।

(३) विनियन्त्रण—युद्ध की समाप्ति पर मूल्यों के विनियन्त्रण की माँग बल पकड़ने लगी। महात्मा गांधी ने भी इस पर जोर दिया। अतः, दिसम्बर १९४७ में खाद्य पदार्थों और वस्त्रों पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। सूची अक बढ़ गये। अतः, अक्टूबर १९४८ में नियंत्रण फिर लगाने पड़े।

(४) अन्न की कमी—एक ओर तो देश की जनसंख्या बढ़ गई थी। दूसरी ओर पंजाब का गेहूँ और बंगाल का चावल उपजाने वाला हिस्सा पाकिस्तान में चला गया। फिर, गरीब लोगों की स्थिति में सुधार होने से वे मोटे नाजों के स्थान पर गेहूँ, चावल ही प्रयोग में लाने लगे। अतः, देश को इन्हें बाहर से मँगाना पड़ा।

(५) औद्योगिक संकट—युद्ध के बाद देश के उद्योग धन्धों पर एक प्रकार का संकट पड़ा। एक ओर तो कच्चा माल मँहगा हुआ, दूसरी ओर मजदूर अधिकाधिक वेतन माँगने लगे। इस समय जगह जगह हड़तालें हुईं। फिर युद्ध काल में मशीनों, इत्यादि से बहुत काम लेने के कारण उनके नवीनकरण की आवश्यकता थी जो एक तो इसलिये पूर्ण नहीं हुई कि बहुत से देशों से तो वह वहाँ प्राप्य नहीं होने के कारण आ नही सकती थी और बहुत से देशों से उन्हें खरीदने के लिये हमें उनकी करंसी प्राप्य नहीं थी।

२. इस द्रव्य स्फीति का प्रभाव

इस द्रव्य-स्फीति का प्रभाव युद्ध काल की द्रव्य स्फीति के प्रभाव से भिन्न हुआ। युद्ध काल में वैसे तो सभी वस्तुओं के दाम बढ़े किन्तु तैयार माल के दाम अधिक बढ़े जिससे औद्योगिकों और व्यापारियों को लाभ हुआ। कृषि जन्य वस्तुओं का लाभ भी किसानों को अधिक न होकर व्यापारियों ही को अधिक हुआ। मजदूरों के वेतन उस तेजी से नहीं बढ़े जिस तेजी से मूल्य बढ़े। अतः, वह घोर संकट में पड़ गये। इसके विपरीत युद्धोपरान्त कृषक और मजदूर सजग हो गये थे। कृषकों ने बढ़े मूल्य का लाभ उठाया और मजदूरों ने अधिकाधिक मजदूरी प्राप्त की। उधर उद्योगपतियों को कच्चा माल न मिलने, उसका मूल्य बढ़ जाने, पूँजीगत वस्तुओं की कमी, मजदूरी में वृद्धि, हड़तालों, सरकार का उनके लाभ, इत्यादि पर प्रतिबन्ध लगा देने के कारण उतना लाभ नहीं रहा। मध्यम श्रेणी के लोगों की स्थिति तो बहुत ही खराब हो गई।

३. द्रव्य स्फीति रोकने के प्रयत्न

स्थिति बिगड़ते देख कर सरकार ने द्रव्य-स्फीति रोकने के प्रयत्न किये। अक्टूबर १९४८ में उसने देश के उद्योगपतियों, बैंकों, अर्थशास्त्रियों, इत्यादि

से विचार विमर्श करके एक योजना बनाई। इसके अनुसार अन्न वस्त्र तथा आवश्यक वस्तुओं के मूल्य का फिर से नियन्त्रण किया गया। आय-व्यय पत्रक संतुलित करने के लिये कर बढ़ाये और व्यय कम किये गये। कृषि और उत्पादन बढ़ायें गये। कम्पनियों के लाभांश सीमित कर दिये गये और किसानों और मजदूरों में विनियोग की भावना उत्पन्न की गई। इसका फल अच्छा हुआ। किन्तु, कोरियाई युद्ध, अमेरिका का स्टाक संग्रह कार्य क्रम और यूरोपीय देशों की पुनः शस्त्रीकरण योजना ने स्थिति पर पूर्ण अधिकार नहीं होने दिया।

४. मंदी की लहर

तो भी अप्रैल १६५१ से मूल्य स्तर गिरने लगे। यह अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों के बदल जाने से हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्तियों में तो कोरियाई युद्ध बन्द हो जाना मुख्य थी। फिर युरोपीय देशों की पुनः शस्त्रीकरण की और अमेरिका के स्टाक सग्रह कार्य-क्रम की अवधि बढ़ाई गई। एक अन्तर्राष्ट्रीय कच्चा माल सम्मेलन करके कच्चे माल की दुर्लभता की समस्या भी हल की गई और उनका उत्पादन भी बढ़ाया गया। राष्ट्रीय कारणों में मुख्य सरकार की आयात-निर्यात सम्बन्धी नीति थी। आयात के अनुज्ञापत्र आसानी से प्राप्त होने लगे और निर्यात कर बढ़ा दिये गये। इसी के साथ देश में भी उत्पादन बढ़ा। सरकार के आय-व्यय पत्रक भी अब आधिक्य दिखाने लगे। बैंक दर बढ़ा और बाजारों में खुले तौर पर काम करने की नीति अपनाई गई जिससे साख चलन भी कम हुई। किन्तु बीच-बीच में सरकारी नीति बदलती रही जिससे कभी-कभी भाव बढ़े यद्यपि अन्तिम परिणाम मन्दी का ही रहा।

५. रुपये का अवमूल्यन

१६४६ में अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष की अनुमति से पौण्ड स्टर्लिङ्ग का ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन किया गया। पौण्ड स्टर्लिङ्ग के अवमूल्यन के साथ-साथ अन्य बहुत से देशों की करन्सियों का भी इतना ही अवमूल्यन हुआ। रुपये का भी स्वर्ण और डालर में ३०.५% अवमूल्यन किया गया। इससे चीजें फिर कुछ दिनों के लिये महँगी हुईं। पाकिस्तान ने अपने रुपये

का अवमूल्यन नहीं किया । अतः, उसका भी आयात हमें मँहगा पड़ने लगा। हमारे पौंड पावनों के भी मूल्य गिर गये और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष से हमने जो ऋण ले रक्खे थे उनका भी बोझ रुपयों में बढ़ गया।

यदि रुपये का अवमूल्यन न किया जाता तो भारतवर्ष का स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों को निर्यात मँहगा पड़ता और बन्द हो जाता। साथ ही भारतवर्ष में स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों से आयात सस्ता पड़ता और बढ़ जाता। यह भारतवर्ष के लिए हानिकारक होता। हाँ, भारतवर्ष का जो निर्यात डालर क्षेत्रों को होता था वह अवश्य ही पहिले ही की तरह बना रहता। भारतवर्ष अवमूल्यन के बाद की अपेक्षाकृत अधिक डालर कमा पाता। डालर क्षेत्रों से जो आयात होता है वह भी वैसा ही बना रहता। कुछ लोगों का यह कहना था कि यह अच्छा ही होता किन्तु ऐसा नहीं था। डालर क्षेत्रों में हमें स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों का मुकाबला करना पड़ता जिसमें हमें हानि होती। फिर हम स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों पर अधिक निर्भर हैं। अतः, हमें स्टर्लिङ्ग के साथ साथ चलना पड़ता है। यह अवश्य है कि हमें स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के ऊपर अपनी निर्भरता कम करनी चाहिये।

रुपये का अवमूल्यन होने पर हमारे प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल जी ने कहा था कि रुपये का वाह्य मूल्य घटा है, उसके आन्तरिक मूल्य पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह बात गलत थी। रुपये के अवमूल्यन से डालर क्षेत्रों से आयात कम होने से अमेरिका की चीजों का दाम बढ़ना स्वाभाविक ही था। यह कहा जा सकता है कि हम यह चीजें स्टर्लिंग क्षेत्रों से मँगा सकते थे, किन्तु ऐसा नहीं है। वहाँ हमें अपने मन की चीजें मिल ही नहीं सकतीं। अमेरिका की चीजों की मूल्य वृद्धि की सहानुभूति में अन्य चीजों की मूल्य वृद्धि भी स्वाभाविक ही थी। रुपये के अवमूल्यन से दाम बढ़े। डालर क्षेत्रों के सामान मँहगे पड़ने के कारण उनके आयात में कठिनाई हुई। जहाँ तक ये सामान नये उद्योग धन्धों की स्थापना के लिए आवश्यक थे वहाँ तक इसमें भी कठिनाई हुई। कुछ सामान विकास योजनाओं से भी सम्बन्धित थे। किन्तु यह सब प्रभाव अल्पकालीन थे। द्रव्य अवमूल्यन के प्रभाव अल्पकालीन ही होते हैं।

रुपये का अवमूल्यन का लाभ कांग्रेस विरोधी दलों ने खूब उठाया। उन्होंने यह कहा कि इससे यह स्पष्ट है कि हम अब भी संयुक्त राज्य के ऊपर निर्भर हैं। हमें वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं मिली है। बात यह नहीं थी। भारत सरकार चाहती तो रुपये का अवमूल्यन न करती। संयुक्त राज्य की सरकार उसे मजबूर नहीं कर सकती थी न ऐसा करने में उसका कोई लाभ ही था। किन्तु अभी हमारी आर्थिक स्थिति ऐसी है कि हम संयुक्त राज्य के साथ ही जा सकते हैं। बहुत से अन्य स्वतन्त्र राज्यों की भी तो यही स्थिति है।

पाकिस्तान ने उस समय करन्सी का अवमूल्यन नहीं किया। वह यह दिखला सका कि वह न तो संयुक्त राज्य का और न भारत का पिछलगुवा है—वह स्वतन्त्र है। साथ ही उसकी आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि वह ऐसा कर सका। उसकी व्यापारिक विषमता उसके पक्ष में थी।

पहिले इसके कारण पाकिस्तान और भारत का पारस्परिक व्यापार बिल्कुल बन्द हो गया था। किन्तु, सन् १६५१ में एक समझौते से वह फिर चालू हो गया और भारत ने पाकिस्तानी दर मान ली। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष ने भी यह दर मान ली। फिर, सन् १६५५ में पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया।

किन्तु भारत कुछ कम अवमूल्यन भी कर सकता था। शायद यही उसके अधिक हित में होता और शायद यदि वह ऐसा करता और उसके लिये पाकिस्तान की सम्मति लेता तो पाकिस्तान भी वही करता जो भारत करता।

द्रव्य अवमूल्यन से द्रव्य प्रसार होता है। स्टेट बैंक आफ पाकिस्तान के प्रधान श्री जाहिद हुसैन ने पाकिस्तान करन्सी का अवमूल्यन न करने के पक्ष में यही तो कहा था कि वह पाकिस्तान में द्रव्य प्रसार रोकना चाहते हैं। भारत में द्रव्य प्रसार स्थिति हो गई और भारत सरकार ने रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप उत्पन्न द्रव्य प्रसार रोकने का बड़ा प्रयत्न किया किन्तु उसमें वह सफल नहीं हो सकी।

६. स्टर्लिङ्ग पावना

वैसे तो भारतवर्ष का बहुत दिनों से स्टर्लिङ्ग पावना रहता था, किन्तु

महायुद्ध काल में इसका रूप बदल गया था। पहिले तो यह भारत मंत्री के गृह व्यय के, चाँदी की खरीद के और विनिमय दर स्थिर रखने के लिये रक्खा जाता था किन्तु युद्ध में तो इसके रखने के कारण बदल गये थे। उस समय भारत में मित्र राष्ट्रों की ओर से आवश्यक वस्तुयें खरीदी गईं तथा अन्य व्यय किये गये। किन्तु उनका भुगतान केवल स्टर्लिङ्ग में ही होता रहा। अतः भारत सरकार यही स्टर्लिङ्ग रिजर्व बैङ्क को देती रही और उसके स्थान पर भारतीय करन्सी (नोट) प्राप्त करके भुगतान करती रही। इसके फलस्वरूप नोट करन्सी और स्टर्लिङ्ग पाउना बढ़ते रहे। स्टर्लिङ्ग पाउने के निम्न स्रोत थे:—(१) ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय कच्चे माल और खाद्य पदार्थ का क्रय, (२) सुरक्षा सम्बन्धी व्यय योजना के अन्तर्गत किये हुये उसके व्यय, (३) भारतवर्ष की सयुक्त राष्ट्र अमेरिका से व्यापारिक विषमता भारतवर्ष के पक्ष में होने से भारत को जो डालर प्राप्त होते थे उन्हें संयुक्त राज्य के साम्राज्य डालर निधि के अन्तर्गत ले लेने से, (४) भारतीय व्यापारिक विषमता भारत के पक्ष में होने से, और (५) भारत में डालर तथा स्टर्लिङ्ग के अतिरिक्त अन्य विदेशी सम्पत्ति को साम्राज्य डालर निधि में अनिवार्य रूप से ले लेने से। इससे यह स्पष्ट है कि इसका अधिकांश संयुक्त राज्य का भारत के ऊपर जो राजनैतिक दबाव था उसी के कारण और बल प्रयोग से जमा हो गया था। बाद में इसमें से संयुक्त राज्य का हमारे ऊपर जो ऋण था अथवा उसके हमारे ऊपर दायित्व थे उनके निपटारे के सम्बन्ध में काम में आ गया। किन्तु युद्ध समाप्ति पर भी इसकी एक बड़ी मात्रा थी। अत:, इसके भुगतान की समस्या हुई। इस सम्बन्ध में एक अन्य बात भी बड़े महत्व की है और वह यह है कि कुछ अंग्रेजी राय इसका भुगतान न करने अथवा इसमें कमी करने के पक्ष में थी, यद्यपि कांग्रेसी सरकार के अर्थ मंत्री बराबर यह कहते रहे कि ब्रिटिश एक्सचेकर ने न तो स्टर्लिङ्ग पाउना न देने और न उसे कम करने की ही कोई बात उठाई है। तो भी ब्रिटिश सरकार के विरोधी नेता श्री चर्चिल बराबर यह कहते रहे कि हमारे लिये यह अधिकार सदा रहना चाहिये कि हमने इन ४० करोड़ व्यक्तियों को जो विध्वंस होने, लूटे और मारे जाने से बचाया है उसका एवज जब हम चाहें उनसे माँग सकें। इसका उत्तर

केवल यही दिया जा सकता था कि भारत ने अपनी बचत का काफी एवज दे दिया था और फिर भारतवर्ष के ऊपर जो आक्रमण हुआ था वह केवल इसीलिये हुआ था कि वह ब्रिटेन की सहायता कर रहा था। अतः, इसका दायित्व उसी के ऊपर था। वैसे तो अमेरिका भी ब्रिटेन के स्टर्लिङ्ग ऋण की समस्या सुलझाना चाहता था, किन्तु वह स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कह सका। इसके अतिरिक्त हमारे स्टर्लिङ्ग पाउने कुछ कम करने के पक्ष में निम्न तर्क दिये जाते थे :—

(१) भारत और संयुक्त राज्य के बीच में युद्ध व्यय के बँटवारे के संबंध में जो आर्थिक समझौता हुआ था वह संयुक्त राज्य के विपक्ष में हुआ था, जिससे भारत का उसके ऊपर इतना ऋण लद गया (२) यह व्यय भारत की रक्षा के लिये उतना ही आवश्यक था जितना कि सयुक्त राज्य की रक्षा के लिये था। (३) इसे जमा करने में भारत को अवश्य ही तकलीफ उठानी पड़ी। किन्तु अब जब वह यह तकलीफ उठा चुका है तो इसे माँग कर वह संयुक्त राज्य को भी क्यों तकलीफ उठाने के लिये बाध्य कर रहा है। (४) संयुक्त राज्य ने भारत में उँचे दामों पर क्रय किया है। (५) रुपये का विनिमय दर काफी उँचा रक्खा गया जिससे स्टर्लिङ्ग पाउने की मात्रा भी इतनी हो गई। जहाँ तक प्रथम तर्क था, स्पष्ट है कि समझौता संयुक्त राज्य के विपक्ष में तो हो ही नहीं सकता था। भारत सरकार वहाँ की सरकार के अन्तर्गत थी। अतः, यह समझौता यदि किसी के विपक्ष में हो सकता था तो भारत के ही विपक्ष में हो सकता था। दूसरे तर्क के सम्बन्ध में यह था कि भारतवर्ष की रक्षा के लिये तो भारत स्वयं ही काफी खर्च कर रहा था। यह यो इसके अतिरिक्त था। भारत के बाहर उसका एक डिवीजन बराबर लड़ रहा था और वह १ करोड़ रुपया रोज खर्च कर रहा था। तीसरे तर्क के उत्तर में यह था कि भारत ने जो कुछ भी तकलीफें उठाई थीं वह ब्रिटेन की आवश्यकताओं के कारण उठाई थीं। अब जब भारतवर्ष को द्रव्य की आवश्यकता है ब्रिटेन को तकलीफ उठा कर उसे पूरा करना चाहिये। चौथे तर्क के उत्तर में यह था कि द्रव्य प्रसार जान कर तो यहाँ पर किया नहीं गया। वह ब्रिटिश क्रय के कारण ही हुआ और उससे भारतवर्ष को भी बड़ी तकलीफ हुई। फिर, संयुक्त राज्य के लिये यहाँ जो क्रय हुए वह प्राय: नियन्त्रित दामों पर हुए। अन्तिम का उत्तर यह था।

कि विनिमय दर केवल मूल्य पर ही तो निर्भर नहीं रहती। भारतीय वस्तुओं की बाहर माँग थी। अतः, यदि वह नियन्त्रित न होती तो शायद और बढ़ जाती।

अतः, इसे न देने का प्रश्न तो था ही नहीं। प्रश्न तो यह था कि इसका भुगतान कैसे हो। संयुक्त राज्य के पास न तो स्वर्ण था न माल। भारतवर्ष मशीन, इत्यादि चाहता था जो संयुक्त राज्य के पास था नहीं। वह उन्हें उपभोग की सामग्रियों में नहीं ले सकता था। इससे उसके यहाँ के उद्योग-धन्धे चौपट हो जाते। किन्तु उपभोग की सामग्रियाँ आईं और अनेक तरीकों से भी यह कम होता गया और वह बहुत कम रह गया है। इसका भुगतान ब्रिटेन की जो बाहरी लागतें हैं उनसे भी हो सकता था। भारतवर्ष में स्वयं उसकी कुछ लागतें थीं। किन्तु यह सब कुछ नहीं हुआ।

हाँ, अब तक इस सम्बन्ध में पाँच समझौते हो चुके हैं—

पहिला समझौता जनवरी १९४७ में हुआ था इसके अनुसार भारत अपनी आवश्यकतायें स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से पूर्ण कर सकता था। हाँ, यदि उसे डालर तथा अन्य दुर्लभ करन्सियों ही की आवश्यकता पड़े तो वह उन्हें भी प्राप्त कर सकता था।

दूसरा समझौता अगस्त १९४७ में हुआ था। पहिले तो इसकी अवधि दिसम्बर तक ही थी। किन्तु फिर यह जून १९४८ तक बढ़ा दी गई थी। स्टर्लिङ्ग पाउन्ड दो खातों में बाँट दिये गए—एक चल खाता और दूसरा स्थायी खाता। चल खाता ८६.६ करोड़ रुपये से और स्थिर खाता १४६६.६ करोड़ रुपये से खुले। चल खाते की राशि बराबर व्यय की जा सकती है। हाँ, उसके डालर और दुर्लभ करन्सियाँ केवल ३ करोड़ रुपयों तक की ही प्राप्त हो सकती थीं। बाद में देश के विभाजन से पाकिस्तान का हिस्सा पाकिस्तान के खातों में स्थानान्तरित कर दिया गया।

तीसरा समझौता जुलाई १९४८ में हुआ। इसके अनुसार भारत में छोड़ा गया फौजी सामान भारत ने ले लिया जिसके १३३ करोड़ रुपये उसने दिये। दूसरे, संयुक्त राज्य के जिन व्यक्तियों को भारत में सेवा करने के बाद अवकाश

प्राप्त हो गया था उन्हें पेन्शन देने के लिये २२४ करोड़ रुपये की वार्षिकी भारत सरकार ने खरीद ली। तीसरे चल खाते में बची पहिले की राशि और १० करोड़ रु० और चल खाते में डाल दिए गए जिसे ३ वर्षों में खर्च किया जा सकता था। इसमें से कितनी के डालर और अन्य दुर्लभ मुद्रायें प्रतिवर्ष प्राप्त हो सकती हैं यह स्थिति के ऊपर छोड़ दिया गया, चौथे २६७ करोड़ रुपयों के स्टर्लिङ्ग पत्र करन्सी के आधार स्वरूप रक्खे गए। इस प्रकार केवल १०४० करोड़ के पाउने शेष रह गये।

चौथा समझौता जुलाई १६४६ में हुआ और जून १६५१ तक रहा। इसके अनुसार गत वर्षों में स्थिर लेखे से लिए हुए १०.८ करोड़ रुपये उसमें घटा कर शेष में से अगले दो वर्षों में ६६.६ करोड़ रुपयों के डालर प्रति वर्ष प्राप्ति का निश्चय हुआ। यह भी निश्चय हुआ कि अन्न के आयात के जो आर्डर जुलाई १६४६ के पहिले दिए जा चुके थे उनका भुगतान भी इसी में से होगा। बाद में पौंड का अवमूल्यन हो जाने से पहिले जितने डालर प्राप्त हो सकते थे अब उससे ३०.५ प्रतिशत कम डालर उपलब्ध हुए।

८ फरवरी १६५२ को केवल ८५७ करोड़ रुपए के पौंड पावने रह गए।

पाँचवा समझौता फर्वरी १६५२ में हुआ जो ३० जून १६५७ तक के लिए है। इसके अनुसार ३.५ करोड़ स्टर्लिङ्ग अर्थात् लगभग ४६ करोड़ रुपये प्रति वर्ष स्थिर खाते से चल खाते में स्थानान्तरित होते हैं और उन्हें भारतवर्ष व्यय कर सकता है। इसके अतिरिक्त ३१ करोड़ पौंड अर्थात् लगभग ४०० करोड़ रुपये और स्थिर खाते से चल खाते में कागजी करन्सी के सम्बन्ध में स्थानान्तरित हुए जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर ही व्यय किया जा सकता है। पाँच वर्षों के बाद स्थिर खाते का शेष चल खाते में स्थानान्तरित कर दिया जायगा।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि पौंड पावने प्रायः दैनिक व्यय में आ गए। उनका राष्ट्र निर्माण में व्यय नहीं के बराबर हुआ।

७. स्टर्लिङ्ग क्षेत्र डालर निधि

युद्ध काल में स्टर्लिङ्ग की डालर में परिवर्तनशीलता समाप्त हो गई थी।

अतः, यह निश्चय हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य के देश जो डालर कमायें वह एक साम्राज्य डालर निधि के रूप में रहे और उसमें से व्यय युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हों, और फिर प्रत्येक देश की आवश्यकता को समझ कर उनकी आवश्यकताओं की भी पूर्ति की जाय। सन् १६४७ में यह निश्चित कर दिया गया कि भारत इसमें से कितनी डालर निधि प्रति वर्ष निकाल सकता है। साथ ही यह भी निश्चय हो गया कि भविष्य में उसकी डालर की कमाई वह स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय कर सकेगा। क्योंकि भारतवर्ष अब ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं है और उसके बाहर के देश भी इसके सदस्य हो सकते हैं, अतः बाद मे इसका नाम साम्राज्य डालर निधि से बदल कर स्टर्लिङ्ग क्षेत्र डालर निधि कर दिया गया।

सारांश

१. युद्धोत्तर काल में भी द्रव्य स्फीति रही। जून १६५६ तक तो भारत सरकार ब्रिटिश सरकार की ओर से व्यय करती रही। इससे स्टर्लिङ्ग निधि भी बढ़ी और नोट करन्सी भी बढ़ी। बाद में सरकार के आय व्यय पत्रक के घाटे द्रव्य प्रसार से ही पूरे किए गए। दिसम्बर १६४७ में विनियन्त्रण हुआ जिसके कारण भी मूल्य स्तर बढ़े। द्रव्य स्फीति का एक कारण अन्न की कमी भी थी। साथ ही पक्के माल का उत्पादन भी कम हो गया।

२. युद्ध काल की द्रव्य स्फीति से उद्योग और व्यापारियों को बहुत लाभ हुआ था। कृषि-जन्य वस्तुओं के मूल्य वृद्धि का लाभ व्यापारियों ने उठाया था। मजदूरों के वेतन भी मूल्य स्तर के बराबरी में नहीं बढ़े थे। किन्तु युद्धोपरान्त की द्रव्य स्फीति से कृषकों को लाभ हुआ, मजदूरों के वेतन भी बढ़ गए। इसके विपरीत औद्योगिकों के लाभ कम हो गए, कच्चे माल के मूल्य बढ़ गए थे, वेतन का बिल बढ़ गया था, हड़तालें हो रही थीं, यन्त्र घिस चुके थे, लाभांश सीमित कर दिये गये थे। मध्यम वर्ग के लोग बहुत ही संकट में थे।

३. अक्टूबर १६४८ में सरकार ने उद्योगपतियों, बैंकों और अर्थशास्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया। इसमें निश्चय हुआ कि आय-व्यय पत्रकों को

संतुलित किया जाय, मूल्यों का पुनर्नियन्त्रण किया जाय, कृषि और उत्पादन बढ़ाये जायँ, लाभांश सीमित किए जायँ, कृषकों और मजदूरों में विनिमय की भावना उत्पन्न की जाय, इत्यादि। इनके फलस्वरूप पहिले तो मूल्य स्तर गिरे किन्तु फिर कोरिया युद्ध के कारण, अमेरिका के माल संग्रह के कारण यूरोप में शस्त्रीकरण के कारण मूल्यो में एक बार और वृद्धि हुई।

४. अप्रैल १६५१ में फिर मूल्य स्तर गिरा। कभी-कभी इनमें वृद्धि भी हुई किन्तु अन्ततः यह गिरा ही। कोरियाई युद्ध समाप्त हो गया, अमेरिका की माल संग्रह योजना ढीली पड़ गई, पुनर्शस्त्रीकरण भी कम हो गया। भारत सरकार ने आयात सम्बन्धी अनुज्ञापत्र आसानी से देने प्रारम्भ कर दिए, निर्यात कर बढ़ाया गया, उत्पादन भी बढ़ा, आय व्यय पत्रकों में आधिक्य होने लगा, बैंक दर बढ़ाया गया, बाजार में प्रत्यक्ष काम करने की नीति अपनाई गई जिससे साख चलन भी कम हुआ, इत्यादि।

५. १६४६ में स्टर्लिङ्ग का स्वर्ण और डालर में अवमूल्यन हुआ। स्टर्लिङ्ग से सम्बन्धित अन्य करन्सियों ने भी यही किया। रुपए का भी उतना ही अवमूल्यन किया गया। हाँ, पाकिस्तानी रुपया उसी दर पर रहा। भारतीय रुपए के अवमूल्यन और पाकिस्तानी रुपए के उसी दर पर रहने से दोनों देशों के बीच का व्यापार बहुत दिनों तक बन्द रहा। अवमूल्यन से डालर क्षेत्रों से आयात महँगे पड़ने लगे, वहाँ की निर्यात को प्रोत्साहन मिला, मूल्य स्तर बढ़ गए। किन्तु यह सब कुछ ही दिनों के लिए हुआ।

६. भारत के स्टर्लिङ्ग इङ्गलैण्ड में रहते थे। किन्तु इस युद्ध काल में इनका रूप ही बदल गया। स्टर्लिङ्ग बढ़ने के कारण थे (१) ब्रिटिश सरकार द्वार भारत में क्रय, (२) सुरक्षा व्यय, (३) अमेरिका से व्यापार से उत्पन्न व्यापारिक वषमता का स्टर्लिङ्ग में परिवर्तन, (४) भारतीय व्यापारिक विषमता का भारत के पक्ष में होना, (५) विदेशी सम्पत्ति का डालर में बदल कर वह डालर डालर नधि में देना, इत्यादि। बाद में इनसे भारत के स्टर्लिङ्ग ऋण का भुगतान कर दिया गया। तो भी युद्धोपरान्त इनकी एक बड़ी मात्रा थी। सन् १६४७ से १६५२ तक इनके भुगतान के सम्बन्ध में कई समझौते हुए और इनका भुगतान धीरे-धीरे हो रहा है।

७. युद्ध काल में डालर दुर्लभ करन्सी हो गया। अतः, ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत देशों ने अपनी डालर की कमाई से एक साम्राज्य डालर निधि बनाने का निश्चय किया। बाद में इसका नाम स्टर्लिङ्ग क्षेत्र डालर निधि डाला गया। प्रत्येक देश की आवश्यकता का ध्यान रखकर इसमें से डालर दिया जाने लगा। १९४७ से हम इस बात के लिए स्वतन्त्र हैं कि अपनी डालर की कमाई जिस प्रकार चाहें व्यय करें।

प्रश्न

१. युद्धोत्तर कालीन द्रव्य स्फीति के कारण, प्रभाव और निराकरण के सम्बन्ध में एक लेख लिखो।
२. सन् १९४९ में रुपये का अवमूल्यन क्यों हुआ? उसका प्रभाव बताइये।
३. पौंड पावने क्या हैं? ये कैसे एकत्रित हुए? ब्रिटेन इनका भुगतान क्यों नहीं करना चाहता था?
४. पौंड पावनों का भारत की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा? इनके भुगतान के लिए जो समझौते हुए हैं उनका प्रभाव बताइये।
५. स्टर्लिङ्ग क्षेत्र डालर निधि से आप क्या समझते हैं?

अध्याय १४

वर्तमान स्थिति

भारतवर्ष की वर्तमान करन्सी प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष प्रणाली पर निर्धारित है। यह प्रणाली ब्रीटेनउड्स सम्मेलन में निश्चित हुई थी। यह १ मार्च १९४७ से चालू है।

१. वर्तमान प्रणाली का विवरण और उसके गुण तथा दोष

भारतवर्ष में वर्तमान प्रणाली के अनुसार एक ऐसी आन्तरिक करन्सी है जो विदेशी करन्सियो में कुछ नियन्त्रण के साथ स्वर्ण के एक निश्चित दर के आधार पर परवर्तित हो जाती है। वैसे तो इस आंतरिक करन्सी का मूल्य स्वर्ण में निर्धारित है किंतु इसका उसके साथ विनिमय नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय कोष के जितने भी सदस्य देश हैं उन सब की करन्सी की दर स्वर्ण में निर्धारित है, किंतु उनका किसी का उसके साथ विनिमय नहीं होता। अतः, इससे केवल एक लाभ है और वह यह कि प्रत्येक देश की करन्सी का विनिमय मूल्य दूसरे देशों के करन्सियों के साथ निश्चित है। हाँ, यह अवश्य है कि इनका विनिमय प्रत्येक देश में कुछ नियंत्रण के साथ होता है। बात यह है कि प्रत्येक देश दूसरी करन्सियों का क्रय-विक्रय केवल अपने अंतर्राष्ट्रीय कोष के साधनों के अनुसार ही तो कर सकता है। यदि कोई करन्सी कम पड़ जाती है और उसका विक्रय अधिक हो जाता है तो उसका क्रय नहीं किया जा सकता। अतः, विनिमय नियंत्रण आवश्यक है।

आंतरिक करन्सी कागजी और धात्विक दोनों हैं। धात्विक करन्सी में रुपये, अठन्नी, चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा, अधेला, पाई, इत्यादि हैं; और कागजी करन्सी में एक रुपये, दो रुपये, दस रुपये, सौ रुपये, एक हजार रुपये, पाँच हजार रुपये, और दस हजार के रुपये के नोट हैं।

धात्विक करन्सी १७ फरवरी १६४७ के विधान के अनुसार किसी भी धातु की बन सकती है। अतः, रुपये, अठन्नी, और चवन्नी निकल के और दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना निकल तथा ब्रास के मेल के बनते हैं। निकल और ब्रास के मेल में ७६% ताँबा २०% जस्ता और १% निकल है। पैसा, आधा पैसा तथा पाई कसकुट के हैं। रुपये की तौल १८० ग्रेन्स, अठन्नी की ६० ग्रेन्स, और चवन्नी की ४५ ग्रेन्स है। दुअन्नी की तौल ६० ग्रेन्स, इकन्नी की ६० ग्रेन्स, अधन्ने की ४५ ग्रेन्स और पैसे की ३० ग्रेन्स है अधेले और पाई पुराने हैं जिनका तौल क्रमशः ३७½ ग्रेन्स और २५ ग्रेंस है। यह सब करन्सियाँ रिजर्व बैङ्क की माँग पर सरकार द्वारा निकाली जाती हैं। यही बात एक रुपये के नोटों के साथ भी है।

दो रुपयों और उससे ऊँचे के नोट निकालने का अधिकार केवल रिजर्व बैङ्क को ही है। इसके लिये उसका एक नोट निकालने का विभाग है। उसका देना उसके निकाले हुए नोटों का और पाउना उसकी सम्पत्ति का होता है। पाउने में कम से कम ४० प्रतिशत तो स्वर्ण में और विदेशी साख-पत्रों में हो सकता है। इस समय स्वर्ण का मूल्य २१ रु० ३ आ० १० पा० (सम्भव है कि यह दर शीघ्र ही बदल दी जाय) प्रति तोले के हिसाब से लगाया जाता है। यह ४० करोड़ रुपये से कम मूल्य का नहीं हो सकता। विदेशी साख-पत्र अभी तक प्रायः स्टर्लिङ्ग साख-पात्र हैं। किन्तु वह अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य देशों के हो सकते हैं। शेष भारत सरकार के साख-पत्रों, रुपयों और विनिमय बिलों में हो सकता है।

रिजर्व बैङ्क के नोट और सरकार द्वारा निकाली गई करन्सी दोनों परस्पर विनिमयशील हैं। भारतीय करन्सी का वैधानिक स्वर्ण मूल्य प्रति रुपय ०.१८६६२१ ग्राम्स रक्खा गया है। रिजर्व बैङ्क भारतीय करन्सी और विदेशी करन्सियों का पारस्परिक विनिमय कुछ।नियंत्रण के साथ कर देता है। वैसे तो यह काम अधिकृत बैङ्क ही करते हैं। किन्तु कम से कम का काम होने पर वह लोग इससे करा लेते हैं।

गुण—(१) हमारी प्रणाली एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली पर निर्धारित है। संसार के अधिकांश देशों की प्रणाली ऐसी ही है।

(२) हमारी आंतरिक करन्सी का रूप सुविधाजनक है। हमारे यहाँ धात्विक और कागजी दोनों प्रकार की करन्सियाँ चालू हैं। हमारी धात्विक करन्सी भी बहुत खर्चीली नहीं है। जो धातु हम प्रयोग में ला रहे हैं वह काफी सस्ती है।

(३) नोटों का चलन एक केन्द्रीय बैङ्क के हाथ में है। उसमें लचक है।

दोष—(१) यह प्रणाली कृत्रिम है। अतः, इस पर लोगों का विश्वास नहीं है। अतः, वह अपनी बचत जमीन, मकान, सोने और चाँदी में लगा रखते हैं। अतः, व्यापार, इत्यादि को पूँजी नहीं प्राप्त होती।

(२) करन्सी का मूल्य बराबर गिरता रहा है। इसके फलस्वरूप भी लोगों का विश्वास नहीं है।

(३) हमारी सम्पूर्ण करन्सी सांकेतिक है और उसका वास्तविक मूल्य हमें कभी भी नहीं प्राप्त होता। स्वर्ण में भी उसका जो मूल्य रक्खा गया है वह केवल नाम के लिये है। स्वर्ण तो हमें प्राप्त होता ही नहीं।

(४) हमारे नोटों के लिये जो कोष हैं उसमें अधिकांश स्टर्लिङ्ग में है। स्टर्लिङ्ग उतनी अच्छी करन्सी नहीं रह गया है जितनी अच्छी डालर करन्सी है। हमें विदेशों में सामान नहीं प्राप्त होता।

२. रुपये का विनिमय मूल्य

जैसा कि हम पहिले भी देख चुके हैं रुपये का विनिमय मूल्य सन् १९४९ में डालर और स्वर्ण में कम कर दिया गया था। तब से अब तक यह विषय बराबर विवादास्पद बना रहा है। समय समय पर रुपये के पुनर्मूल्यन की बात कही जाती है। इसके पक्ष में निम्न तर्क हैं:—

(१) देश के वैदेशिक व्यापार की दृष्टि से अवमूल्यन से हमें स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के बाहरी देशों से अथवा उन देशों से जिनकी करन्सी में रुपये का अवमूल्यन किया गया था आयात बहुत महँगे पड़े हैं। पुनर्मूल्यन से ये सस्ते होंगे।

(२) पुनर्मूल्यन से उपरोक्त देशों को हमारे जो निर्यात होंगे उनसे हमें उनकी अधिक करन्सी प्राप्त होगी। पाकिस्तान से व्यापार में भी हमें अधिक

पाकिस्तानी रुपये प्राप्त होंगे। किन्तु पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन होने से अब ऐसा नहीं है।

(३) देश में भी मूल्य स्तर गिरेंगे।

किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होगा। विदेश वाले अपने सामान के दाम बढ़ा कर हमें उनके आयात के लाभ से वंचित कर देंगे। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि पुनर्मूल्यन से निर्यात से हमें विदेशी करन्सी अधिक ही मिलेगी। सम्भव है कि वे लोग हमारा माल कम खरीदें। देश में इस समय मूल्यों की जो प्रवृत्ति है उससे उनके गिरने में प्रोत्साहन देना कहाँ तक बुद्धिमानी होगी यह भी विवादास्पद है।

इसके अतिरिक्त पुनर्मूल्यन के विरोध में भी कई ठोस तर्क हैं :—

(१) संसार की डाँवाडोल आर्थिक स्थिति को देखते हुये हमें अपनी करन्सी का जब चाहे तब पुनर्मूल्यन करना शोभा नहीं देता। निर्यात वृद्धि के अन्य साधन हैं जिन्हें काम में लाया जा सकता है।

(२) जब रुपये का अवमूल्यन किया गया था तब वह केवल यही बात ले कर किया गया था कि हमारा अधिकांश व्यापार स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से है। अतः, जब तक ऐसा है तब तक हमें पुनर्मूल्यन का विचार करना ही नहीं चाहिये।

हमारे वित्त मन्त्री देश मुख ने कहा था 'अभी हम पुनर्मूल्यन न करने का निश्चय कर चुके हैं और ऐसा केवल देश का हित ध्यान में रखकर ही किया गया है। अतः, जब तक परिस्थितियाँ न बदल जायँ हमें इस निर्णय पर स्थिर रहना चाहिये। हाँ, आवश्यकता पड़ने पर हम पुनर्मूल्यन कर सकते है।'

३. अंतर्राष्ट्रीय सहयोग

भारत अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष और अंतर्राष्ट्रीय बैङ्क दोनों का सदस्य बन गया है। पहिले कुछ राय यह सहयोग देने की न थी। बात यह थी कि अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष में स्टर्लिङ्ग पाउन्ड के भुगतान का कोई निश्चय नहीं किया गया था।

साथ ही कोष में और बैंक में भारत का जो भाग रक्खा गया है वह भी उसके महत्व की दृष्टि से कम है। इससे उसे उनसे उपयुक्त मात्रा में उसके अपने लिये ऋण प्राप्त करने में कठिनाई की संभावना थी। इसके अतिरिक्त भारत को इनकी कार्यकारिणी में भी कोई स्थान नहीं दिया गया था। किन्तु अन्त में भारत सदस्य बन गया और रूस के इनके सदस्य न बनने के कारण उसे इनकी कार्यकारिणी में भी स्थायी स्थान मिल गया। भारत को इनका सदस्य बनने से निम्न लाभ हुये हैं:—

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष की सदस्यता से लाभ—१. भारत को उसकी आवश्यकतानुसार विदेशी करन्सी प्राप्त होती रहती है। कोष ने हमें कई बार डालर दिये हैं।

२. रुपये का स्वर्ण मूल्य निर्धारित हो जाने से रुपया स्वतन्त्र हो गया है। पहिले वह स्टर्लिङ्ग का पिछलगुवा था।

३. भारत उसकी कार्यकारिणी का स्थाई सदस्य है। अतः, वह उसके नीति निर्धारण में भाग लेता है। इससे भारत का महत्व बढ़ गया है।

४. रुपये का विनिमय इसके सदस्य देशों की करन्सियों में हो जाता है। अतः, उसके विदेशी व्यापार को सुविधा मिलती है।

५. हमें अपनी समस्यायें सुलझाने में इसकी अनुभवशील सम्मति प्राप्त हो जाती है।

४. मुद्राओं को दशमलव प्रणाली में बदलना

सन् १९४२ में जो छोटी मुद्रायें निकल और ब्रास के मेल की बनी थीं वह ठीक नहीं हैं। अतः, उनके स्थान पर दूसरी मुद्रायें चलाने का प्रश्न है। साथ ही बहुत से लोग यह भी चाहते हैं कि भारत में मुद्राओं की जो चौथिया (Quarto) प्रणाली है उसके स्थान पर दशमलव प्रणाली हो। उनके अनुसार दशमलव प्रणाली होने से हिसाब लगाने में सुविधा होगी। साथ ही माप और तौल प्रणाली भी दशमलव प्रणाली पर करनी पड़ेगी। इस समय यहाँ की द्रव्य, माप और तौल सभी प्रणालियाँ

चौथिया पर आश्रित प्रणाली है। अतः, जो भारतीय ढंग पर हिसाब लगाते हैं, उन्हें उसमें तनिक भी कठिनाई नहीं पड़ती। उनके गुर बने हैं, जो बड़ी सुविधा कर देते हैं। किन्तु, संसार में सभी जगह, माप और तौल की प्रायः दशमलव प्रणाली ही चालू है। रसायन शास्त्र इत्यादि के प्रयोगों में दशमलव प्रणाली के माप और तौल काम में आ रहे हैं।

दशमलव प्रणाली में सर्वोच्च करन्सी तो रुपया ही रहेगा। किन्तु यह ६४ पैसों का न होकर १०० पैसों का होगा। सैण्ट के स्थान पर पैसा ही नाम रखना निश्चित किया गया है। किन्तु प्रारम्भ में ६४ पैसो के रुपये वाला पैसा भी चलता रहेगा, अतः, उसे पैसा और १०० पैसों के रुपये वाले पैसों को नया पैसा कहा जायगा। अठन्नी पचास पैसों की, चवन्नी पचीस पैसों की, दुअन्नी १० पैसों की, तथा इकन्नी पाँच पैसों की रखने का विचार है। इनके नाम बदले जा सकते हैं। किन्तु नाम भारतीय ही होंगे।

माप और तौल भी दशमलव प्रणाली पर ही होंगे।

सारांश

१. वर्तमान प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष प्रणाली पर निर्धारित है। इसमें आन्तरिक करन्सी का स्वर्ण मूल्य निश्चित है, किंतु इनका पारस्परिक विनिमय नहीं हो सकता। संसार की प्रायः सभी करन्सियों का मूल्य स्वर्ण में निश्चित है। अतः, इसका यह लाभ है कि उनकी पारस्परिक विनिमय-दर निश्चित है। यहाँ की आन्तरिक करन्सी तथा अन्य करन्सियों का विनिमय रिजर्व बैङ्क द्वारा निश्चित रूप में होता है। यहाँ की आन्तरिक करन्सी धातु और कागज दोनों की है। एक रुपये से ऊपर के नोट रिजर्व बैङ्क निकालता है। इसके लिये वह नोटों के दायित्व के बराबर एक कोष रखता है जो विधानतः निर्धारित है। रिजर्व बैङ्क के नोटों का भुगतान सरकार द्वारा निकाले हुये धातु तथा कागज के रुपयों में होता है। भारत की करन्सी सांकेतिक है किन्तु इसका पूर्ण मूल्य नहीं प्राप्त होता यह इसका सबसे बड़ा दोष है। इसके गुणों में यही कहा जा सकता है कि यह प्रणाली संसार के अन्य देशों की प्रणालियों के समान ही है। इसका रूप सुविधा-

जनक हैं और नोटों का चलन एक बैंक के हाथ में है। फिर, इसके दोषों में यह है कि यह प्रणाली कृत्रिम है जिससे लोगों को इस पर विश्वास नही है, इसका मूल्य बराबर गिरता जा रहा है, यह सांकेतिक है और नोटों का कोष अधिकतर स्टर्लिंग में है जो अच्छी करंसी नहीं है।

२. रुपये के पुनर्मूल्यन के पक्ष में यह तर्क दिये जाते हैं कि (१) जिन्होंने अवमूल्यन नहीं किया था उनके यहाँ के आयात हमें मँहगे पड़ते हैं, पुनर्मूल्यन से यह सस्ते पड़ेंगे (२) निर्यात से इनकी करन्सी अधिक मिल सकेगी, (३) मूल्य स्तर गिरेंगे। किंतु यह सब आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत पुनर्मूल्यन देश को शोभा नहीं देता तथा जिन कारणों से ऐसा हुआ था वह अब भी विद्यमान है अतः, अभी तो नहीं किंतु भविष्य में जैसी आवश्यकता हो वैसा करना चाहिये।

३. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष और बैंक की सदस्यता से हमें लाभ हो हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष की सदस्यता से हमें दुर्लभ करन्सी प्राप्त होती रही है, रुपया स्टर्लिंङ्ग का दास नहीं रहा, भारत इसकी कार्यकारिणी का स्थायी सदस्य है, रुपया अन्य करन्सियों में विनिमयशील है, इसकी अनुभवशील सम्मति हमें प्राप्त है।

४. भारतीय मुद्राओं को दशमलव प्रणाली में बदल देने से यहाँ की माप और तोल प्रणालियों को भी बदलना पड़ेगा। यहाँ की वर्तमान चौथिया प्रणाली हमारे वैज्ञानिक विकास में बाधक है।

प्रश्न

१. भारत के वर्तमान करन्सी मान का वर्णन कीजिये और उसके गुण तथा दोष बताइये।
२. भारत में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के विधिवत ग्राह्य द्रव्य चल रहे हैं उनका वर्णन कीजिये। रुपये, इत्यादि का मूल्य उसके आन्तरिक मूल्य से अधिक कैसे रहा आता है?
३. भारत में इस समय जो मान चल रहा है वह कैसे कार्यान्वित होता है? क्या उसमें आप कोई परिवर्तन करना चाहते हैं?

४. रुपये का विनिमय मूल्य बदलने के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए।
५. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष की सदस्यता से भारत को क्या लाभ है?
६. मुद्रा की दशमलव प्रणाली के पक्ष और विपक्ष में अपनी सम्मति दीजिए।

—०—

परिशिष्ट (अ)

अँगरेजी करन्सी प्रणाली ऐतिहासिक विकास

अँगरेजी मान प्रारम्भ में रजतमान था। आङ्गल-सैक्सन काल में तौल का पाउण्ड (lb.) ४ औंस का होता था और चाँदी के पाउण्ड का द्रव्य में एक पाउण्ड (lb.) मूल्य था। पाउंड की कोई मुद्रा नहीं बनती थी। यह शायद इसलिये था कि यह बहुत भारी होती और दूसरे उस समय मूल्य कम थे। अतः, मूल्यांकन के लिए इतनी बड़ी मूल्य वाली मुद्रा की आवश्यकता ही न थी। शिलिंग बनते थे और उनके पाउंड (lb.) के एक बीसवाँ अंश होने के कारण उनमें पाउण्ड (lb.) का बीसवाँ अंश ४ औंस $\div$ २० $=$ $\frac{१}{५}$ औंस चाँदी रहती थी। धीरे-धीरे इनके साथ चाँदी और ब्रांज की अन्य मुद्रायें भी चलने लगीं। सन् १६६३ में २० शिलिंग की कुछ स्वर्ण मुद्रायें भी ढाली गईं। किन्तु चाँदी की मुद्राओं के घिसे होने के कारण और उनके तौल से चलने के कारण यह ३० शिलिंग तक के विनिमय में चलती थीं। गिन्नी-सोने की नई मुद्रा गिन्नी कहलाती थी और वह शायद इसलिए कि सोना गिन्नी कोस्ट से आता था। बुरी मुद्राओं में गिन्नी के ३० शिलिंग के बराबर होने के कारण चाँदी के नये शिलिंग बने और गिन्नी २१ शिलिंग की हो गई। किन्तु रजत मुद्रायें कम होती गईं और स्वर्ण बढ़ता गया।

इस समय ग्रीशम का नियम अपने दूसरे रूप में काम कर रहा था। स्वर्ण मुद्राओं का मूल्य बढ़ा रक्खा गया था, अतः, वह रजत मुद्राओं को चलन के बाहर कर रहा था। वैसे तो इन दोनों के बीच में कोई वैधानिक सम्बन्ध नहीं था किन्तु राजकीय गजट के अनुसार कोष मण्डल ने कोष को २ शि० के हिसाब से गिन्नी लेने को कह दिया था।

सर इसाक निउटन से उसकी सलाह पूछी गई और उसने सन् १७१७ में यह दिखलाया कि फ्रांस, हालैण्ड, इटली, जर्मनी, पोलैण्ड, डेनमार्क और स्वीडेन में सोने और चाँदी के बीच का अनुपात १ और १५ से अधिक नहीं

था और उस हिसाब से गिन्नी २० शि० ८½ पें० की होनी चाहिए। किन्तु इंगलैंड में गिन्नी २१ पें० ६ शि० की थी अस्तु यहाँ पर सोना भेज कर यहाँ से चाँदी मँगवाना लाभप्रद है। अतः, उसके विचार में गिन्नी में से १० पें० और १२ पें० कम करने पर यह ठीक हो सकता है, किंतु उसने इसमें से पहिले पहिल ६ पें० कम करने के लिये ही कहा और यह देखने को कहा कि इसका क्या फल होता है। अतः, एक राजकीय घोषणा निकालकर गिन्नी को २१ शि० की कर दिया गया। निउटन के अनुसार यह प्रथम कदम था, किन्तु इसके बाद और कोई कदम नहीं लिया गया, अतः, स्थिति बदली नहीं।

इसके बाद सोने और चाँदी दोनों की मुद्रायें विधानतः तो नहीं किन्तु चलन से ग्राह्य थीं। टकसाल तो दोनों के मुद्रण के लिये खुली ही थी, और दोनों एक निश्चित अनुपात में चलती थीं। अतः, यह पूर्ण रूप से द्विधातु-मान था। किन्तु मुद्रण के लिये कोई भी चाँदी नहीं लाता था। बात यह थी कि उसका मूल्य वैसे ही अधिक था, मुद्रण से तो कम हो जाता था। अतः, रजत मुद्रायें कम होती गईं और जो चलती रहीं वह इतनी खराब हो गई थीं कि १७७४ में यह विज्ञप्ति निकली कि २५ पौंड से अधिक की रजत मुद्रायें गिन कर नहीं वरन् ५ शि० २ पें० प्रति औन्स के हिसाब से तौल कर ली जायँगी।

धीरे-धीरे किंतु निश्चय रूप से वे गौण होती गईं और १८१६ में केवल ४० शि० तक ही विधानतः ग्राह्य कर दी गईं। साथ ही उनमें की धातु भी कम कर दी गई। १८१६ से १ औंस चाँदी ५ शि० के स्थान पर ५½ शि० में रहने लगी। अभी तक इङ्गलैण्ड की चालू मुद्रा वहाँ के द्रव्य की इकाई के समान नहीं थी। हिसाब पौंड, शिलिङ्ग, पेंस में था किन्तु पौंड कभी नहीं बने थे। शिलिङ्ग पौंड का बीसवाँ अंस था, किन्तु स्वर्ण मुद्रा पहिले तो भिन्न-भिन्न अनुपात में चलती थी और सन् १७१७ से २१ शि० की थी। अतः, भुगतान गिन्नी में होते थे। कहना न होगा कि यह दोहरी प्रणाली बड़ी तकलीफदेह थी, अतः सन् १८१६ के एक विधान से स्वर्ण के सावरन कुछ कम तौल के २० शि० की दर से चलने के लिये बनाये गये। इससे चलन मुद्रा और हिसाब की मुद्रा एक हो गई।

फिर १९१४-१८ के युद्ध के फलस्वरूप दो बातें हुईं—एक तो स्वर्ण

मुद्रायें चलन में न रह गईं और दूसरे रजत मुद्राओं में ५० प्रतिशत की मिलावट कर दी गई।

इस समय ब्रिटिश करन्सी में बैङ्क आफ इंगलैण्ड के नोट और निकल तथा ब्रांज के अन्य सिक्के चल रहे हैं।

परिशिष्ट (ब)

स्वर्णमान कोष का इतिहास

स्वर्णमान कोष सन् १९०० में स्थापित किया गया था। फाउलर कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि रुपयों के मुद्रण से जो लाभ हो वह अलग एक कोष में भारतवर्ष में रक्खा जाय। इसके अनुसार इसका प्रयोग विनिमय दर गिरने पर इसे भुगतान के लिये देने का था।

प्रयोग—किंतु इसकी स्थापना के बाद ही मुद्रण का सम्पूर्ण लाभ इंगलैण्ड भेजा जाने लगा, और तब से यद्यपि इसका ध्येय तो, वही रहा जो पहिले था, किन्तु इसका प्रयोग बदल गया। यहाँ की व्यापारिक विषमता के यहाँ के विपक्ष में हो जाने पर भारत-मन्त्री काउन्सिल बिल बेचना तो बन्द कर देता था, अतः यहाँ की करन्सी की वृद्धि रुक जाती थी जिससे करन्सी का मूल्य बढ़ जाता था। इस समय यदि भारत-मन्त्री को लंदन में धन की आवश्यकता पड़ती थी तो वह कोष को प्रयोग में ला सकता था। फिर, भारत सरकार यहाँ पर भारतमंत्री के ऊपर के बिल (रिवर्स काउन्सिल) बेचती थी। इसका प्रभाव यह होता था कि करंसी के कम हो जाने से उसका मूल्य बढ़ जाता था। अतः, इन बिलों से विपक्ष की व्यापारिक विषमता भी ठीक हो जाती और विनिमय दर भी बढ़ जाती थी। अतः, कोष के तीन ध्येय थे :—(१) विनिमय दर की वृद्धि, (२) विपरीत व्यापारिक विषमता का भुगतान, और (३) गृह व्यय का भुगतान।

स्थिति—फाउलर कमेटी ने कोष के भारत में रखने की बात कही थी, किन्तु वह इङ्गलैण्ड में रक्खा जाने लगा और वहाँ भी सोने में न रक्खा जा कर साख-पत्रों में लगा दिया जाने लगा। फिर सन् १९०६ में इनमें एक दूसरा

परिवर्तन हुआ, उस समय रुपये की माँग पूरी नहीं हो रही थी। अतः, भारत-वर्ष में यह रुपयों में भी रक्खा जाने लगा। अतः, इसकी दो शाखायें हो गई—(१) लंदन में स्वर्ण और साख-पत्रों में, और (२) भारत में रुपयों में।

सन् १६०७ में भारतमंत्री के द्वारा नियुक्ति की हुई रेल के सम्बन्ध की एक कमेटी ने जिसका नाम मैके कमेटी था, इस कोष से दस लाख पौंड रेल में खर्च करने की सिफारिश कर दी। साथ ही यह भी निश्चित कर दिया गया कि भविष्य में जब तक कि इस कोष में २ करोड़ पौंड न हो जाय मुद्रण का आधा लाभ बराबर रेलों में लगाया जाय। स्पष्ट था कि कोष के २ करोड़ पौंड से अधिक हो जाने पर सम्पूर्ण लाभ रेलों पर लगाया जाता। किन्तु दूसरे वर्ष ही एक बड़ा भारी संकट आ गया, अतः, यह निश्चय बदल दिया गया। इस संकट से इस कोष को बड़ी हानि हुई। विनिमय दर को मजबूत बनाने के लिये जो उल्टे कौंसिल बेचे गये उनका भुगतान करने में इसमें से लगभग ८५ लाख पौंड खर्च हो गए। इस कोष के रूप तथा रखने के स्थान के सम्बन्ध में जनता में बड़ी कटु आलोचना हो रही थी। अतः, चेम्बरलेन कमीशन ने इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव रक्खे। एक तो उसकी यह सिफारिश थी कि इसकी कोई सीमा न रक्खी जाय, वरन् मुद्रण का सब लाभ इसी में लगाया जाय। इसके अतिरिक्त इसने यह सिफारिश की कि (१) इसका बहुत अधिक अंश सोने में रक्खा जाय, (२) इसकी भारतीय शाख जिसमें रुपए रक्खे जाते थे, बन्द कर दी जाय और (३) इसे रखने का उपयुक्त स्थान लंदन है। यह सिफारिशें मान ली गईं, और इन पर अमल भी किया गया। किन्तु अधिकतर कोष साख-पत्रों ही में लगा रहा। फिर बैबिङ्गटन स्मिथ कमीशन की भी यही सिफारिशें थीं। हाँ, उसने यह कहा कि कोष का एक अंश स्वर्ण में भी रखना चाहिए। इससे जनता का विश्वास बढ़ेगा। बाद में यह कोष बढ़ता गया और रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिश के अनुसार जब वह कागजी करंसी कोष से एक कर दिया था तब यह ४ करोड़ पौंड के लगभग था।

रजत भुगतान कोष—स्वर्ण मान कोष के कागजी करंसी कोष में मिल जाने के बाद एक रजत भुगतान कोष की भी स्थापना की गई। रिजर्व बैङ्क के

विधान की ३६ (१) धारा के अनुसार सरकार के ऊपर बैङ्क के द्वारा लौटाए हुए रुपए का पूरा मूल्य देने का दायित्व है। अतः, उसे पूरा करने के लिए सरकार ने एक अप्रैल सन् १९३५ से १० करोड़ रुपए का उपर्युक्त कोष रखना प्रारम्भ कर दिया है और उसमें स्वर्ण तथा साख-पत्र रहते हैं।

परिशिष्ट (स)

कागजी करन्सी कोष का इतिहास

भारत सरकार के कागजी करन्सी निकालने पर सन् १८६२ में उसका रुपयों में भुगतान करने के उद्देश्य से एक कागजी करन्सी कोष की स्थापना की गई। दूसरे कोषों से यह बराबर अलग रक्खा गया है। न सिर्फ इसका हिसाब ही अलग रक्खा जाता है, वरन् इसका द्रव्य भी अलग रक्खा जाता है। पहिले तो इसमें उतना तो रुपयों में रक्खा जाता था जितने की आवश्यक नोटों के भुगतान के लिये ठीक समझी जाती थी, और शेष साख-पत्रों में रहता था। सुरक्षा के विचार से विधान द्वारा यह निश्चित कर दिया था कि इसका कितना अंश साख-पत्रों में लगाया जा सकता है। पहिले यह ४ करोड़ रुपया था। फिर यह धीरे-धीरे १४ करोड़ रुपया कर दिया गया। चेम्बरलेन कमीशन ने इसे २० करोड़ रुपया कर दिया, और युद्ध काल में तथा उसके उपरान्त यह बहुत ही बढ़ गया। फिर, १९२० के भारतीय कागजी करन्सी संशोधन विधान से बैबिङ्गटन स्मिथ कमेटी द्वारा सुझाया हुआ बैंकिङ्ग सिद्धांत मान लिया गया। रिजर्व बैङ्क विधान में भी वही सिद्धांत माना गया है।

कोष का रूप—इसके प्रयोग के अदलने-बदलने के साथ-साथ इसका रूप भी कई बार बदला जा चुका है। प्रारम्भ में तो इसका उद्देश्य नोटों का रुपयों में भुगतान करने का होने के कारण इसका उतना अंश रुपये में रक्खा जाता था जितना इसके लिये आवश्यक समझा जाता था और शेष भारत सरकार के साख-पत्रों में लगा दिया जाता था। सन् १९०५ में इसका एक

अंश स्टर्लिङ्ग साख-पत्रों में लगा दिया गया और फिर यह बढ़ता ही रहा। सन् १८९३ के विधान ने स्वर्ण के विनिमय में भी नोटों के निकालने का अधिकार दे दिया था, अतः, उस समय से इसके धात्विक अंश में स्वर्ण करन्सी और पाट तथा रजत करन्सी दोनों रहने लगे। १८९८ के विधान ने नोटों के लंदन स्थित स्वर्ण के आधार पर भी निकालने का अधिकार दे दिया था, अतः, तब से कुछ स्वर्ण लन्दन में भी रहने लग गया था। सन् १९२० के कागजी करन्सी संशोधन विधान में बैंकिङ्ग सिद्धांत को मान लिया गया था। उसके अनुसार इसका धात्विक अंश चालू नोट करन्सी से ५० प्रतिशत से कम का न हो सकता था, और इसमें ५ करोड़ रुपये से अधिक का सोना भारतमंत्री अपने पास नहीं रख सकता था। इसमें बिलों के आधार पर अतिरिक्त करन्सी निकालने का भी अधिकार था, अतः, वह भी साख-पत्रों में समझे जाते थे। अन्त में सन् १९३४ का रिजर्व बैंक विधान बना, और हिल्टन यंग कमीशन के सुझाव के अनुसार स्वर्ण मान कोष और कागजी करंसी कोष, स्वर्ण मुद्रायें, स्वर्ण पाट, स्टर्लिङ्ग साख-पात्र, रुपयों, भारत सरकार के रुपयों के साख-पत्र और उन बिलों तथा ऋण-पत्रों में रहने लगा जिन्हें रिजर्व बैंक रख सकता था। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य होने पर स्टर्लिङ्ग साख-पत्रों के स्थान पर किसी भी ऐसी विदेशी सरकार के साख-पत्र रह सकते हैं जिन्हें रिजर्व बैंक रख सकता है। स्वर्ण पाट और मुद्रायें तथा विदेशी साख-पत्र कोष के कम से कम ४० प्रतिशत के होने चाहिये और उसमें भी स्वर्ण पाट और मुद्रायें ८.४७५१२ ग्रेन्स प्रति रुपये के हिसाब से मूल्यांकित करके कम से कम ४० करोड़ रुपये होने चाहिये। पहिले भारत सरकार के रुपयों के साख-पत्रों की और बिलों, इत्यादि की भी एक निश्चित सीमा थी, किंतु द्वितीय युद्ध-काल में यह हटा दी गई। अतः, अब स्वर्ण पाट, स्वर्ण मुद्राओं और विदेशी साख-पत्रों को कम से कम ४० प्रतिशत के परिमाण रख कर शेष रुपयों में (जिनमें १९४० से एक रुपये के नोट भी सम्मिलित हैं) भारत सरकार के रुपयों के साख-पत्रों में और बिलों, इत्यादि में हो सकता है।

स्वर्ण पाट, स्वर्ण मुद्राओं और विदेशी साख-पत्रों के निश्चित अंश को भी सरकार की स्वीकृति पर ३० दिनों के लिये और फिर १५ दिनों के लिये

कम किया जा सकता है। इसके लिये यदि यह कमी ऐसी है कि उपर्युक्त प्रतिशत ३२½ से कम नहीं है तो कमी पर बैंक दर से १ प्रतिशत अधिक जुर्माना और फिर प्रत्येक २½ प्रतिशत के लिये १ प्रतिशत और अतिरिक्त जुर्माना देने का विधान है। हाँ, यह जुर्माना किसी भी हालत में ६% से कम नहीं हो सकता। किन्तु बैंक का अब राष्ट्रीयकरण हो जाने से इस जुर्माने का कोई अर्थ नहीं रह गया है।

प्रयोग—पहिले तो यह कोष नोटों का रुपयों में भुगतान करने के प्रयोग में आता था। किन्तु बाद में सन् १८९८ के स्वर्ण नोट विधान ने इसमें के स्वर्ण को मुद्रण के लिये चाँदी खरीदने के लिये प्रयोग में लाने का अधिकार भी दे दिया था। इसके बाद सन् १९०५ से जो अंश इङ्गलैण्ड में रहता था वह विनिमय दर को मजबूत बनाने के लिये भी काम में आने लगा। अंत में रिजर्व बैंक की संस्थापना से यह नोटों के भुगतान और विनिमय दर को मजबूत बनाने दोनों के काम में लाया जाने लगा है। आजकल चाँदी का क्रय बन्द है क्योंकि अब चाँदी की मुद्रायें नहीं बनतीं। किन्तु पहिले भी कुछ समय से चाँदी भारत में ही सरकार के अन्य कोषो के धन से खरीदी जाती थी।

बैंकिंग

सिद्धान्त और प्रयोग

लेखक

कान्तानाथ गर्ग, एम० ए०, बी० काम

प्रिन्सिपल, चम्पा अग्रवाल कालेज, मथुरा

किताब महल, इलाहाबाद : बम्बई

दो शब्द

यह पुस्तक मेरी 'बैंकिंग प्रिंसिपिल्स इन इण्डिया' पुस्तक का स्वतन्त्र अनुवाद है। कथित पुस्तक की लोकप्रियता इसी से सिद्ध होती है कि उसके इस थोड़े से समय के अन्दर ही चार संस्करण हो चुके हैं।

बैंकिंग का विषय उन विषयों में से है जिनके ज्ञान की आवश्कता आजकल प्रत्येक व्यक्ति को है। अतः, इस पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी। मैंने इसमें भारतीय बैंकिंग की मुख्य-मुख्य समस्याओं पर यथेष्ट प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है और मैं यह आशा करता हूँ कि इसके पढ़ने से जनता के हृदय में इसके प्रति दिलचस्पी बढ़ेगी। इधर शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी हो गया है। अतः इससे अध्यापक और विद्यार्थी भी पूर्ण लाभ उठा सकेंगे।

लेखक

विषय-सूची

अध्याय १

बैंकिंग का अर्थ, उसकी उत्पत्ति और परिभाषा

अर्थ

'बैंकिंग' शब्द एक प्रकार से द्रव्य (Money) के व्यवसाय के लिये प्रयोग में आता है। अब, इस द्रव्य के व्यवसाय में विशेषतया निम्नांकित बातें सम्मिलित हैं :— (१) द्रव्य का पारस्परिक विनिमय (Exchanging Money), (२) द्रव्य उधार देना (Lending Money), (३) द्रव्य जमा के रूप में लेना (Depositing Money) और (४) द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थानो को भेजना (Remitting Money)।

अधिकांश देशों में उपर्युक्त कार्य उपर्युक्त क्रम से ही आरम्भ हुये हैं। हमारे ही देश में वैदिक काल में, महाजन लोग भिन्न-भिन्न मुद्राये (coins) बदलने का काम किया करते थे। इसमें एक राज्य की मुद्राये दूसरे राज्य की मुद्राओं में और एक प्रकार की मुद्राये दूसरे प्रकार की मुद्राओ में बदली जाती थीं। साथ ही वे अपेक्षित (needy) लोगों को ब्याज पर अथवा ब्याज के बिना ही ऋण भी दिया करते थे। बाद में, शायद मनु के बहुत पहिले वे अपने यहाँ द्रव्य जमा के रूप में भी लेने लग गये थे और अन्त में उसे एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजने भी लगे थे। इङ्गलिस्तान में भी सन् १३४४ में तृतीय एडवर्ड ने अपने यहाँ सोने और चाँदी की मुद्रायें बदलने के लिये कुछ राजकीय महाजनों की नियुक्ति की थी। ये प्रत्येक सौदे में १$\frac{1}{6}$ प्रतिशत लाभ लेते थे। साथ ही ये वहाँ की मुद्रायें अन्य देशो की मुद्राओं के साथ भी बदल देते थे। इसके लिये उनके यहाँ विनिमय दरों की एक तालिका लटकी रहती थी जिसके अनुसार ही उन्हें विनिमय करना पड़ता था। उनके विनिमय के लाभ में राजा का भी एक भाग रहता था। वहाँ पर साधु एडवर्ड के समय में उधार देने की भी पद्धति चालू हो चुकी थी। यहाँ तक कि धीरे-धीरे यहूदी

और रूमी वहाँ के मुख्य ऋणदाता (Money-lenders) बन गये थे और जब इन्हें देश के बाहर निकाल दिया गया तब इनका स्थान वहाँ के सर्राफों (,Goldsmiths) ने ले लिया। जमा लेना अवश्य ही वहाँ सन् १६४० के बाद ही बढ़ा। उस समय तक जनता अपना द्रव्य राजकोष में ही जमा करती थी, किन्तु इस वर्ष प्रथम चार्ल्स ने उनके अपहरण की आज्ञा निकाल दी। इसमें सन्देह नहीं कि यह आज्ञा बाद में वापस ले ली गई थी, किन्तु इससे राजकीय मर्यादा भङ्ग हो गई और लोग अपना द्रव्य राजकोष में जमा करने की अपेक्षा सर्राफों के यहाँ जमा करना अधिक पसन्द करने लगे। द्रव्य पहिले तो एक स्थान से दूसरे स्थानों में भेजने के लिये मनुष्य काम में लाये जाते थे, किन्तु बाद में यह विनिमय बिलों द्वारा होने लगा, जिन्हें पहिले तो केवल व्यापारी वर्ग ही खरीदा और बेचा करते थे, किन्तु बाद में महाजन वर्ग (Bankers) भी खरीदने और बेचने लगे। आधुनिक काल में बैंकिंग के अन्दर यह सभी काम सम्मिलित हैं और कुछ और भी जिनका अध्ययन हम उचित स्थान पर करेंगे।

उत्पत्ति

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि बैंकिंग का काम किसी न किसी रूप में भारतवर्ष में बहुत ही प्राचीन काल से होता आ रहा है। फ्रान्सीसी लेखक रेवलपुट का कहना है कि बैंक और बैङ्क नोट बेबीलोनिया में ईसा के ६०० वर्ष पूर्व भी प्रचलित थे। किन्तु बैंकिंग शब्द का प्रयोग पहिले-पहल शायद इटली में ही मध्य काल में वेनिस के बैङ्क की स्थापना के साथ ही हुआ था। इस समय उस देश में बहुत से गण राज्य (city states) थे, जो आपस में लड़ा करते थे। सन् ११७१ में ऐसा हुआ कि वेनिस का राज्य अपने पड़ोसी राज्यों के साथ युद्ध में फँसे रहने के कारण एक बड़े आर्थिक संकट में पड़ गया। जब परिषद् (Grand Council) के सामने और कोई चारा न रहा तब उसने प्रत्येक नागरिक से उसकी सम्पत्ति का एक प्रतिशत अनिवार्य ऋण के रूप से माँगा। इस पर पाँच प्रतिशत वार्षिक ब्याज भी रखा गया। ऋणदाताओं को ब्याज देने और ऋण पत्रों की लेवा-बेची का प्रबन्ध करने के लिये कमिश्नरों की भी नियुक्ति की गई। इयालियन भाषा में ऐसे ऋण

के लिए 'मौन्टे' (Monte) नामक शब्द है। 'मौन्टे' के हिन्दी अर्थ पहाड़ हैं। वास्तव में इस ऋण से जो द्रव्य एकत्रित हो गया था वह पहाड़ की ही तरह दिखाई पड़ता था। 'मौन्टे' के लिये ज्वाइन्ट स्टाक फण्ड (Joint Stock Fund) भी प्रयोग में आता था। ज्वाइन्ट स्टाक फण्ड के हिन्दी अर्थ हैं सम्मिलित पूँजी कोष। वास्तव में ऋण की राशि सम्मिलित पूँजी तो थी ही। इस समय इटली के एक बहुत बड़े भाग पर जर्मनी का अधिकार था। अतः, वहाँ पर 'मौन्टे' का जर्मन पर्यायवाची शब्द बैंक (Banck) भी प्रयोग में आने लगा। धीरे धीरे इटली वाले इसे बैंकों (Banco), फ्रान्स वाले बैंके (Banke) और अन्त में अङ्गरेज बैंक (Bank) कहने लगे। वेनब्रिग के लेखों से, जिनमें उसने वेनिस के सरकारी ऋणों का वेनिस के तीन बैंको (Bankes) से संकेत किया है, यह पता लगता है कि अङ्गरेज लेखक सत्रहवीं शताब्दी में भी बैंके (Banke) शब्द का ही प्रयोग करते थे। ऐसे बैंक बाद में इटली के अन्य नगरों में भी स्थापित हो गये थे। इनमें मिलन का बैंक; फलारेन्स का बैंक और जनोआ का सेन्ट जार्ज बैंक, इत्यादि थे। क्रामवैल के समय इंगलिस्तान में भी उपर्युक्त परिस्थितियों में ही एक बैंक की स्थापना करने के लिये एक प्रस्ताव किया गया था, किन्तु जैसा हमें अगले अध्याय के अध्ययन से पता चलेगा, यह सन् १६९४ के पहिले सफलीभूत नहीं हो सका। इस वर्ष ऐसी ही परिस्थितियों में जिन्होंने वहाँ की सरकार को ऋण दिया था उन सबो का एक बैंक "बैंक आफ इंगलैण्ड" के नाम से बना और उसे सरकार से एक वार्षिक आय दी जाने लगी।

इस शब्द की उत्पत्ति एक अन्य तरह से भी अनुमानित की जाती है। इसके अनुसार ऐसा कहा जाता है कि इस शब्द की उत्पत्ति 'बैंक' शब्द से है जिसका अर्थ एक ऐसी बैञ्च है जिस पर इटली के महाजन अपने सामने भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रायें यह दिखलाने के लिये रखते थे कि वे उनका व्यवसाय करते हैं। किन्तु मैकलिअड अपनी पुस्तक 'बैंकिंग के सिद्धान्त और उनके प्रयोग' (Banking Theory and Practice) में इस विचार का बुरी तरह से खण्डन करता है। उसका कहना है कि यह उत्पत्ति बिल्कुल भ्रमोत्पादक है। यदि ऐसा था तो यह महाजन मध्यकाल में बेन्चियरी (Benchieri)

क्यों नहीं कहे गये ? उसने अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिये अन्य कई लेखकों द्वारा दिये गये प्रमाण भी दिये हैं। अन्त में वह कहता है कि यह विद्वान् लेखक बहुत ही ठीक कहते हैं। बैंकों का वास्तविक अर्थ एक ढेर अथवा पहाड़ है और यह शब्द बहुत से लोगों द्वारा एकत्रित किये गये एक सम्मिलित कोष का द्योतक है।

परिभाषा

बैंक अथवा बैंकर शब्द की अनेक परिभाषायें* होते हुये भी विचित्रता तो इस बात की है कि आज तक कोई ऐसी सन्तोषजनक परिभाषा नहीं बनी है जो सर्वमान्य हो। इसका एक मात्र कारण यही है कि बैंकिंग में अनेक प्रकार के कार्य सम्मिलित हैं, जिनमें उन सब का एक परिभाषा के अन्तर्गत लाना असंभव सा है। अधिकांश देशों में तो यह विधानतः निर्धारित ढङ्ग से ही किया जाता है जिससे इसके वैधानिक अर्थ में लेश मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता है। किन्तु

---

*Definitions by eminent authorities on the subject :—

(1) The word bank expresses the business which consists in effecting on account of others receipts and payments, buying and selling either money of gold and silver or letters of exchange and drafts, public securities and shares in industrial enterprises—in a word—all the obligations whose creation has resulted from the use of credit on the part of states and societies and individuals—*Gautier.*

(2) No one and nobody corporate and otherwise can be a banker who does not (*i*) take deposit accounts, (*ii*) take current accounts, (*iii*) issue and pay cheques drawn upon himself, (*iv*) collect cheques crossed and uncrossed for his customers—and it might be said that even if all the above functions are performed by a person or body corporate, he or it may not be a banker or bank unless he fulfils the following conditions : (*i*) banking is his or its known occupation, (*ii*) he or it must profess to be a banker or bank and the public take him or it as such, (*iii*) has an intention of earning by so doing, (*iv*) this business is not subsidiary—*John Paget.*

जितने लोग अथवा जितनी संस्थायें यह काम करती हैं वे सब विधान की पकड़ में नहीं आतीं। हमारे ही देश में बैंकिंग कम्पनी की एक परिभाषा सन् १९३६ के कम्पनी विधान की २७७ वीं धारा में दी गई थी किन्तु रिजर्व बैंक आफ् इंडिया ने इस बात की अनेक शिकायतें की थीं कि बहुत से बैंक उस धारा के अन्तर्गत दिये हुए काम न करने के कारण उन्हें अपने सम्बन्ध में, जो सूचनायें उसे देनी चाहिये, नहीं देते थे। यही कारण था कि सन् १९४२ में उक्त धारा में निम्न आशय का एक संशोधन जोड़ा गया था—'यदि कोई कम्पनी अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैंकिंग शब्द प्रयोग करती है तो चाहे उसके यहाँ चालू खातों में द्रव्य जमा किया जाता हो अथवा नहीं वह बैंकिंग कम्पनी समझी जायगी।' संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में बैंकों को सङ्घ सरकार से अथवा किसी स्टेट सरकार से एक अधिकार-पत्र प्राप्त करना पड़ता है साथ ही उनके कार्य भली-भाँति बता दिये गये हैं और उन्हें उनको विधानतः निर्धारित ढंग पर करने के लिये बाध्य किया जाता है। स्थान-स्थान पर ऐसे निरीक्षक नियुक्त हैं जो उनकी देख-रेख करते हैं। किन्तु इतने पर भी अनेक संस्थायें ऐसी बच जाती हैं जो किसी न किसी प्रकार का बैंकिंग का कार्य करती हैं और फिर भी विधान के अन्तर्गत नहीं आती हैं। इसके विपरीत इंगलिस्तान में कोई भी ऐसी वैधानिक

---

(3) A banker or bank is a person, firm or company, having a place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or currency subject to be paid or remitted upon draft, cheque or order or where money is advanced or loaned on stocks, bonds, bullion and bills of exchange, and promissory notes are received for discount and sale—*Findlay Shirras.*

(4) Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money or other means of payment as may be required and safely made and to which individuals entrust money or means of payment when not required by them for use—*Kinley.*

(5) A banker is one who, in the ordinary course of his business, honours cheques drawn upon him by persons from and for whom he receives money on current account—*Dr. H. L. Hart.*

परिभाषा नहीं बनी है। सन १७४५ में महासभा (House of Commons) में दी गई एक वक्तृता के निम्न आशय का अंश गिलबर्ट ने अपनी एक पुस्तक में उद्धृत किया है—"हम बैङ्कर किसे कहते हैं? इस नगर में सर्राफों का एक गुट्ट है और अधिकांश में जो बैङ्कर्स कहलाते हैं, इसी गुट्ट के अंतर्गत आते हैं; किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है इनमें से कोई भी अपने को बैङ्कर नहीं कहता और न इस व्यवसाय का विधानतः कहीं वर्णन ही किया गया है। प्रचलित प्रथा के अनुसार हम ऐसे लोगों को बैङ्कर्स कहते हैं जिनकी दूकानें हैं, उनमें कटघरे हैं, काम करने वाले हैं, दूसरों का द्रव्य जमा करने के लिये और माँगने पर उनके वापस करने के लिये रजिस्टर हैं। जब कोई व्यक्ति ऐसी दूकान खोल लेता है तब चाहे उसके यहाँ राशियाँ जमा होती हों अथवा नहीं, इस बात की पूछ-ताछ किये बिना ही हम उसे बैंकर कहते हैं।" तब से अब तक स्थिति बहुत ही बदल गई है। सर्राफ महाजन (Goldsmith Bankers) समाप्त हो चुके हैं। अपने को बैङ्क कहनेवाली कम्पनियाँ स्थापित हो चुकी हैं। किन्तु यह तो अब भी सत्य है कि वहाँ पर विधानतः बैंकिंग की आज भी कोई परिभाषा नहीं है। वाल्टर लीफ कहता है, "तथापि कम से कम आज तो इंगलैंएड में सर्वसाधारण को बैंकिंग शब्द का एक बहुत ही स्पष्ट ज्ञान है। किन्तु यदि इसकी कोई परिभाषा बनाई जाय तो वह अवश्य ही उस परिभाषा से भिन्न होगी, जो अन्य किसी देश में है अथवा इसी देश में एक सौ वर्ष पहिले होती। उसने जो परिभाषा दी है वह इस आशय की है 'बैंक वह व्यक्ति अथवा संस्था है जो सर्व साधारण का द्रव्य चेक से माँगने पर तुरन्त ही वापस करने की शर्त पर जमा करने के लिये तैयार रहता है अथवा रहती है।' इस परिभाषा में जैसा कि उसने स्वयम् कहा है बैंकिङ्ग के व्यवसाय का केवल एक ही अंग बतलाया गया है। किन्तु इंगलैंएड में तथा उन सभी देशों में जिनमें इंगलैंएड की ही बैंकिङ्ग के अनुरूप बैंकिङ्ग की उन्नति हुई है और उनमें हमारा भारतवर्ष भी सम्मिलित है यही एक काम बहुत महत्वपूर्ण होने के कारण उक्त परिभाषा कम से कम आधुनिक काल में तो अवश्य ही ठीक मानी जा सकती है। किन्तु अन्य देशों में विशेषतया यूरोपीय देशों में, जहाँ चेकों का इतना चलन नहीं है, कोई अन्य काम लेकर यह परिभाषा बनानी पड़ेगी। फ्रांसीसी लेखक बैङ्क

शब्द की अपनी परिभाषाओं में बिलों पर अथवा अन्य प्रकार से ऋण देने पर अधिक महत्व देते हैं।

एक अन्य बात भी है जिसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये और वह यह है कि बैङ्क बिलों पर अथवा अन्य प्रकार से केवल उतना ही ऋण देने की क्षमता नहीं रखते जितना उनके यहाँ जमा होता है। सत्य तो यह है कि वह ऋण-दाताओं और ऋण लेनेवालों के बीच में केवल मध्यस्थ ही नहीं हैं और यदि कोई परिभाषा ऐसा बताती है तो वह सन्तोषजनक नहीं ठहर सकती है। लन्दन के सर्राफों ने जो इंगलैण्ड के सर्वप्रथम महाजन (Bankers) थे अपनी उन्नति के प्रारम्भ ही में यह बात समझ ली थी कि उनके यहाँ जितना द्रव्य जमा किया जाता है उससे कई गुना अधिक वह ऋण दे सकते हैं। वास्तव में यही बैंकिङ्ग के व्यवसाय की विशेषता है; यद्यपि बहुत बड़े-बड़े लेखक भी कभी-कभी यह बात भूल जाते हैं। वे जितना द्रव्य जमा हो उससे अधिक ऋण देने के सर्वथा विरुद्ध रहे हैं। वेनिस, एम्सटर्डम और हैम्बर्ग के बैंक उनमें जमा किए गये द्रव्य की सीमा के अन्दर ही अपने नोट निकालते थे। मिल ने लिखा है कि नोटों का चलन राष्ट्र के लिये हितकर है, किन्तु उन्हें जमा की हुई राशि से अधिक निकालना एक प्रकार की ठगी है। वास्तव में यदि आज-कल का बैंकिङ्ग का सिद्धान्त देखा जाय तो वह यही है और यदि मिल की बात मानी जाय तो ठग और ठगी सभी जगह प्रचलित हैं। बैंकिङ्ग की सफलता तो उपलब्ध साधनों को कई गुना बढ़ा देने पर ही निर्भर है। इस सम्बन्ध की सारी स्थिति केवल इसी वाक्य से स्पष्ट हो जाती है कि दूसरों का द्रव्य और महाजनों की बुद्धि (The Banker's brain and others' money)।यही बैंकिङ्ग का व्यवसाय है।

अभी यहाँ पर कुछ अन्य मनोरंजक विचारों का स्पष्टीकरण करना भी आवश्यक है। प्रथम तो यह है कि ऋण देने का काम बैंकिङ्ग का मुख्य काम

सन् १९४९ के भारतीय बैंकिङ्ग विधान के अनुसार बैङ्किग व्यवसाय उसे कहते हैं जिसमें उधार देने तथा विनियोग करने के उद्देश्य से जनता से राशि जमा की जाय और फिर वह उनकी माँग पर चेक द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार के आदेश द्वारा भुगतान की जाय।

अवश्य है किन्तु केवल यही उसके लिये यथेष्ट नहीं है। अतः, हम यह कह सकते हैं कि ऋणदाता केवल ऋणदाता होने पर ही बैंकर नहीं कहे जा सकते हैं। बैंकर कहे जाने के लिये यह आवश्यक है कि वे द्रव्य जमा के रूप में भी लें क्योंकि बैंकिंग व्यवसाय में द्रव्य जमा के रूप में लेना और ऋण देना दोनों सम्मिलित हैं। अकेले एक से बैंकिंग का व्यवसाय पूरा नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि साख (Credit) के उत्पादन का, जो बैंकिंग के कार्य का एक मुख्य अंग है, यह अर्थ नहीं है कि उसके लिये नोट चलाने का अधिकार होना आवश्यक है। वास्तव में इसी भ्रमपूर्ण विचार के कारण इंगलैण्ड में सम्मिलित पूँजी की बैंकिंग की बहुत दिनों तक उन्नति नहीं हो सकी। बैंक आफ इंगलैण्ड के अधिकार-पत्र के परिवर्तन के सम्बन्ध में सन् १७०८ में जो विधान बना था उसने उक्त बैंक को छोड़कर अन्य किसी ऐसे बैंक को, जो छः व्यक्तियों से अधिक को मिलाकर बना हो, नोट चलाने का काम करने की मनाही कर दी थी। किन्तु उस समय के लोगों का यह विश्वास था कि नोट चलाने का काम छोड़कर कोई बैंक बैंकिंग का काम कर ही नहीं सकता है। अतः, उपर्युक्त मनाही के कारण उस देश में बहुत दिनों तक सम्मिलित पूँजी के किसी अन्य बैंक की स्थापना हो ही नहीं सकी। हाँ, सन् १८३३ के उस विधान में जो बैंक आफ् इंगलैण्ड के उस वर्ष के अधिकार-पत्र के परिवर्तन के संबन्ध में बना था, इस बात के स्पष्टीकरण के बाद कि नोट चलाने का काम छोड़कर भी बैंकिंग का व्यवसाय किया जा सकता है, लन्दन में सम्मिलित पूँजी के बैंक स्थापित किये गये। तब इन्होंने जमा लेने और चेकों पर भुगतान देने के उस काम की उन्नति की जिसकी उन्नति स्वयं का काम करनेवाले सर्राफ महाजन बहुत दिनो से करते आ रहे थे। कहना न होगा कि वहाँ पर चेकों का चलन आज कल नोटों के चलन से भी कहीं अधिक है। लन्दन के बाहर सम्मिलित पूँजी के बैंकों की स्थापना सन् १८२६ ही से आरंभ हो चुकी थी। उस वर्ष इस बात की घोषणा की जा चुकी थी कि वे लन्दन से ६५ मील के व्यास क्षेत्र को छोड़कर अन्य किसी भी क्षेत्र में अपने नोट चला सकते हैं।

उपसंहार

उपसंहार में हम यह कह सकते हैं कि बैंकिङ्ग शब्द पहिले-पहिल बारहवीं

शताब्दी में ही प्रयोग में आया। हाँ, बैंकिङ्ग का व्यवसाय किसी न किसी रूप में अवश्य ही बहुत ही प्राचीन काल से होता आ रहा था। पहिले-पहिल यह शब्द सम्मिलित कोष का आशय व्यक्त करने के लिये ही प्रयोग में लाया गया था। बाद मे द्रव्य जमा करने और ऋण देने के काम जो आधुनिक बैंकिङ्ग के व्यवसाय के मुख्य अङ्ग माने जाते हैं, लन्दन के सर्राफ महाजनों द्वारा प्रोत्साहित किये गये। किन्तु वे द्रव्य जमा करने वालों और ऋण लेने वालो के बीच के केवल मध्यस्थ ही नहीं थे, वरन् जितना द्रव्य जमा के रूप में पाते थे उतने से कहीं अधिक द्रव्य ऋण के रूप में देते थे। चेकों का प्रयोग भी अवश्य ही उन्होने प्रारम्भ किया था किन्तु इसकी उन्नति बाद में लन्दन के सम्मिलित पूँजी वाले बैङ्कों द्वारा ही हुई। बात यह थी कि वे अपने नोट तो चला ही नहीं सकते थे, अतः, उन्होंने अपनी चेक चलाने के लिये उत्तरोत्तर प्रयत्न किये और वे इसमें सफल भी हो सके। उस समय से इसने इतना महत्व पा लिया है कि जब तक बैङ्क शब्द की परिभाषा में इसके ऊपर बल नहीं डाला जाता, वह परिभाषा सन्तोषजनक नहीं मानी जाती। किन्तु यह उसकी परिभाषा के लिये सब जगह आवश्यक नहीं है। यह केवल इंगलैंड और उन सभी देशों में बनी हुई परिभाषाओं के लिये आवश्यक है जिनके यहाँ बैंकिंग की उन्नति इंगलैण्ड की बैंकिंग की उन्नति के सदृश्य ही हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि बैङ्क शब्द की कोई भी परिभाषा सब देशों के लिये और सब समय के लिये उपयुक्त नहीं हो सकती।

प्रश्न

१. 'बैंक' शब्द के क्या अर्थ हैं? क्या इससे केवल बैंकों के जमा प्राप्त करने और ऋण देने के कार्यों का ही बोध होता है?

२. आपके विचार से 'बैंक' शब्द की क्या उत्पत्ति है? क्या इसकी उत्पत्ति और इसका व्यवसाय दोनों समकालीन हैं?

३. 'बैंक' शब्द की परिभाषा बताइये। आपकी परिभाषा बनाने के सम्बन्ध की कौन-कौन सी कठिनाइयाँ हैं?

४. निम्नाङ्कित की आलोचना कीजिये—

(अ) 'ऋणदाता बैंकर नहीं है'। (ब) 'बैंकर ऋणी और ऋणदाता के बीच का मध्यस्थ है।' (स) 'बैंकिंग का व्यवसाय नोट चलाने का अधिकार पाये बिना नहीं किया जा सकता।' (द) 'बैंक का व्यवसाय केवल द्रव्य को साख पत्रों में और साख पत्रों को द्रव्य में परिवर्तित करने का ही है'।

अध्याय २

अँग्रेजी बैंकिंग का इतिहास और उसकी उन्नति

अधिकांश देशों की और विशेषकर भारतवर्ष की बैंकिंग के अँग्रेजी बैंकिङ्ग पर निर्भर होने के कारण वह अत्यावश्यक हो गया है कि हम अँग्रेजी बैंकिङ्ग के इतिहास और उसकी उन्नति का अध्ययन तो पहिले ही विशेष रूप से कर लें। अतः इस अध्याय में हम इसी पर ध्यान देंगे।

प्रारम्भ

इंगलैण्ड में आधुनिक बैंकिंग के बीज तो लौम्बर्डों के प्रसिद्ध बैंकरों ने ही सर्वप्रथम उस समय बो दिये थे, जिस समय उन्होंने लन्दन के उस स्थान पर बसेरा डाला था जिसे आज भी हम लौम्बर्ड स्ट्रीट के नाम से पुकारते हैं। हाँ, एक के बाद दूसरे आनेवाले राजाओं ने दिन-प्रति-दिन उनके कार्यों पर जो बन्धन लगाये थे उनके कारण वे वहाँ अधिक दिनों तक नहीं ठहर सके। किन्तु जैसा डावर ने कहा है लौम्बर्डों ने यद्यपि इंगलिस्तान छोड़ दिया, किन्तु उस व्यापार और बैंकिंग का उत्तराधिकार, जो उन्होंने वहाँ चालू किया था उस देश को सदा के लिये धनी बनाता रहा। जो हो, आधुनिक बैंकिंग तो इंगलैण्ड में केवल सन् १६४० के बाद ही उस समय प्रारंभ हुई जब वहाँ के सर्राफ महाजनों ने पिछले अध्याय में दी हुई परिस्थितियों के कारण जनता का द्रव्य जमा के रूप में लेना प्रारंभ कर दिया। उसके स्थान में पहिले तो वे ऐसी रसीदें देते थे जिनमें उन्हें माँग पर वापस देने का वचन दिया रहता था।

कहना न होगा कि इस जमा में पाये हुये द्रव्य से वे अनेक प्रकार के लाभ कमाते थे। उस समय की मुद्राओं में उनके हाथ से ढाले जाने के कारण धातु की अवश्य ही कुछ कमी और अधिकता होती थी। बस, ये सर्राफ महाजन इसे खूब समझते थे। अतः, वे जमा में पाये हुये द्रव्य में से वह मुद्रायें छाँटकर निर्यात (Export) करके लाभ उठा लेते थे, जिनमें अधिक धातु होती थी। इसके अतिरिक्त वे उसे ऋण में देकर और व्यापारियों के विनिमय बिल डिस्काउन्ट करके अर्थात् समय से पहिले उनका उस समय का मूल्य देकर ब्याज भी कमाते थे। उनके साधनों के कारण उनके पास धीरे-धीरे बहुत से धनी ग्राहक भी आने लगे। क्रौमवेल की और अन्य राजाओं की सरकार भी उनसे ऋण लेने लगीं। अतः यह व्यवसाय लाभदायक होने के कारण उनमें द्रव्य जमा के रूप में लेने की प्रतियोगिता बढ़ने लगी, जिससे उन्होंने उस पर ब्याज देना भी प्रारंभ कर दिया। धीरे-धीरे उनकी रसीदें नोटों की तरह चलने लगीं और कुछ समय में ही वे सुविधाजनक राशियों में निकाली जाने लगीं। सर्राफ महाजन पास बुकों का भी प्रयोग करते थे। ये उनके लेजरों से दिन-प्रतिदिन तैयार की जाती थीं। द्रव्य जमा करनेवाले जब चाहें तब इन्हें मिलान करने के लिये मँगवा लेते थे और इन्हीं के आधार पर अपने भुगतान के ड्राफ्ट (Draft) दे दिया करते थे। कुछ समय के उपरान्त ये ड्राफ्ट निर्धारित राशियों में छपने लगे और द्रव्य-जमा करनेवालों को उनके भुगतान करने के लिये दिये जाने लगे। वे इन पर हस्ताक्षर करके उन व्यक्तियों को दे देते थे जिन्हें उन्हें भुगतान देना होता था। इस तरह से उन्हें हम आज कल की चेकों के प्रतिरूप ही कह सकते हैं। सर्राफ महाजनों द्वारा चलाई गई यह प्रणाली धीरे धीरे उनके अन्य धनिक पड़ोसियों द्वारा भी अपनाई जाने लगी। अधिकांश में ये शराब के अथवा कपड़े के ऐसे व्यवसायी थे, जिनका जनता में यथेष्ट मान था और जो अपनी अच्छी साख के लिये भी कुछ प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। किन्तु उन्होंने चेकों का प्रयोग अधिक बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में बैंक आफ इंगलैण्ड के नोट तो केवल लन्दन में ही बहुत चालू थे। उस समय उसकी शाखायें लन्दन के बाहर तो थीं ही नहीं, और न रेल, इत्यादि साधन ही ऐसे थे कि जिनसे उनके नोट अन्य स्थानों में प्रचलित हो सकते। अतः इन धनी व्यव-

साथियों के नोट उनके अपने-अपने स्थानों में चलते थे और उन्हें चेकों का प्रयोग बढ़ाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। सत्य तो यह है कि पहले तो लन्दन के सर्राफ महाजनों ने और फिर लन्दन के सम्मिलित पूँजीवाले बैङ्कों ने चेकों का प्रयोग खूब बढ़ाया।

बैङ्क आफ इंगलैण्ड की संस्थापना

इस बात का संकेत तो पहिले अध्याय में ही किया जा चुका है कि यद्यपि इटली के बैङ्कों की तरह ही इंगलैण्ट में भी एक बैंक की संस्थापना करने का प्रस्ताव तो क्रौमवेल के ही काल में किया जा चुका था, किन्तु उसकी संस्थापना केवल सन् १६९४ में ही हो सकी। तृतीय विलियम के सिंहासनारूढ़ होने पर महासभा (Parliament) के अधिकार बढ़ गये और उसका राष्ट्रीय आय-व्यय पर भी नियन्त्रण हो गया। इसका संक्षेप में यह फल हुआ कि जो राजकीय मर्यादा पहिले के राजाओं के दुर्व्यवहार के कारण भङ्ग हो गई थी वह फिर से स्थापित हो गई। सचिव मण्डल (Ministry) को द्रव्य की बहुत आवश्यकता थी और जन-सम्मति उसे पूरा करने के पक्ष में थी इस सब का यह परिणाम हुआ कि विलियम पेटरसन की वह योजना जिससे कि वह जनता से १२ लाख पाउण्ट एकत्रित करके राज्य को देना चाहता था, सब को बहुत पसन्द आई और बैङ्क आफ इंगलैण्ड की संस्थापना का बिल महासभा से पास होकर २५ अप्रैल, सन् १६९४ को राजा द्वारा स्वीकृत भी हो गया। विज्ञापन के दस दिनों के अन्दर ही पूरा द्रव्य मिल गया और ऋण-दाताओं की बैङ्क आफ इंगलैण्ड के नाम से एक संस्था बन गई। इस संस्था को उपर्युक्त ऋण पर सरकार की ओर से ८ प्रतिशत का वार्षिक ब्याज और ४००० पाउण्ड प्रतिवर्ष प्रबन्ध के लिये मिलने लगे। इसे १२ लाख पाउण्ड तक के नोट चलाने की भी आज्ञा प्रदान कर दी गई।

प्रतियोगी बैङ्कों पर नोट चलाने के प्रतिबन्ध और उनका परिणाम

बैङ्क आफ इंगलैण्ड की सफलता महासभा के उदार दल (Whigs) की सफलता थी। अतः, जब शक्ति अनुदार दल (Tories) के हाथ में आई तो

उसने उसी प्रकार के एक भूमि बैङ्क (Land Bank) की संस्थापना के लिये प्रस्ताव पास कराया। किन्तु यह सफल नहीं हो सकी। अस्तु बैङ्क आफ इंगलैण्ड के किसी प्रतियोगी बैङ्क की पुनर्स्थापना रोकने के लिये उदार दलवालों ने पुनः शक्ति प्राप्त करने पर सन् १७०८ में उक्त बैङ्क के अधिकार-पत्र के परिवर्तन के समय इस आशय का एक विधान बनाया कि जब तक उक्त बैंक आफ इंगलैण्ड काम करता रहे, इस बैङ्क के अतिरिक्त कोई भी ऐसा बैंक जिनमें छः से अधिक व्यक्ति सदस्य हों अपने विनिमय बिल और प्रण-पत्र इंगलैण्ड में छः महीने से पहिले माँगने पर द्रव्य देने की शर्त पर न चालू कर सके। इसका परिणाम यह हुआ कि लन्दन में और उसके समीपवर्ती स्थानों में (उस समय बैङ्क आफ इंगलैण्ड का आफिस केवल लन्दन में ही था) नोट चलाने का एक मात्र अधिकार विधानतः नहीं तो क्रियात्मक रूप से ही केवल बैंक आफ इंगलैण्ड ही के हाथ में रह गया। यह सत्य है कि छः से कम व्यक्तियों के बने हुये बैंक लन्दन में भी अपने नोट चला सकते थे। किन्तु बैंक आफ इंगलैण्ड के नोट राज्य द्वारा भी स्वीकृत हो जाते थे। जिससे वे सर्राफ महाजनों के नोटों की अपेक्षा कहीं अधिक चालू थे। हाँ, लन्दन के बाहर अवश्य उनके नोट चलते थे। बैङ्क आफ इंगलैण्ड के नोट सन् १८३३ में विधानतः ग्राह्य (Legal Tender) भी बना दिये गये। अतः, यह स्पष्ट है कि सर्राफ महाजनों ने पहिले और अन्य सम्मिलित पूँजीवाले बैंकों ने सन् १८३३ के बाद जब वे लन्दन से ६५ मील के व्यास क्षेत्र में नोट न चला सकने के प्रतिबन्ध के साथ वहाँ पर स्थापित हुए, नोटों के स्थान पर चेकों का प्रयोग बढ़ाने के निरन्तर प्रयत्न किये। आवागमन के साधनों के उन्नत दशा में न होने के कारण बैङ्क आफ इंगलैण्ड ने अपना दफ्तर सन् १८२५ तक केवल लन्दन में ही रक्खा। अतः, तब तक उसके नोट लन्दन से बाहर इतने परिमाण में नहीं पहुँच सके कि वहाँ के महाजनों के नोट वहाँ पर न चल सकें। अतः, वहाँ के महाजनों ने वहाँ पर चेकों के प्रयोग के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया।

प्रतिबन्ध का संशोधन

सन् १८२६ के विधान ने नोट चलानेवाले सम्मिलित पूँजी के बैंकों की संस्थापना की इस शर्त पर आज्ञा दे दी कि वे लन्दन में और वहाँ से ६५ मील

के व्यास-क्षेत्र के अन्दर कहीं भी न तो अपने आफिस खोलें और न नोट चलावें। इसके फलस्वरूप देश में लन्दन के बाहर महत्वशाली बैंक खुल गये। सन् १८३३ में इन्हें लन्दन में भी इस शर्त पर अपनी शाखाये खोलने की आज्ञा दे दी गई कि वे वहाँ पर अपने नोट न चलाये। इससे यह बैंक वहाँ भी खुल गये।

बैंक आफ इंगलैंड का सन् १८४४ का विधान

अब हम बैंक आफ इंगलैंड के सन् १८४४ के उस विधान की ओर आते हैं जिसका अँग्रेजी बैंकिंग की उन्नति में एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इस विधान के पास होने के पहिले कुछ वर्षों से इंगलिस्तान की बैंकिंग की अवस्था बहुत ही शोचनीय हो रही थी। उसमें अनेक जोखिमें (Crises) उठानी पड़ रही थीं और एक के बाद दूसरा महाजन बराबर अपना दिवाला निकालता चला जा रहा था जिससे उनके नोट प्रयोग में लानेवाली जनता की निरन्तर हानि हो रही थी। अतः, वह उस विधान के विरुद्ध हो गई थी जिसके कारण सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों की संस्थापना को प्रोत्साहन नहीं मिल रहा था। हमें यह तो विदित हो चुका है कि सन् १८२६ के विधान के अनुसार लन्दन के बाहर नोट चलानेवाले और सन् १८३३ के विधान के अनुसार स्वयं लन्दन में भी नोट न चला सकनेवाले सम्मिलित पूँजी के बैंकों की संस्थापना की आज्ञा दी जा चुकी थी। वास्तव में यह इसी कारणवश थी। साथ ही बैंक आफ इंगलैण्ड को भी इसी कारणवश बड़े-बड़े प्रान्तीय नगरों में अपनी शाखायें खोलने की और उनके द्वारा नोट चालू करने की मन्त्रणा मिल चुकी थी और उसने ग्लाउसेस्टर, मैनचेस्टर तथा स्वान्सी में अपनी शाखायें खोल भी ली थीं। इन सब बातों का एक मात्र उद्देश्य शक्तिहीन महाजनों के नोटों का चलन कम करना था। जो हो, सन् १८४४ के विधान में इसके लिये कुछ बहुत ही स्पष्ट धारायें रख दी गई। जहाँ तक नोटों के नियंत्रण का प्रश्न था, इस समय दो विचार धारायें चल रही थीं, (१) करन्सी विचारधारा (Currency principle) और (२) बैंकिंग विचारधारा (Banking principle) प्रथम के अनुसार केवल उतनी राशि के ही नोट चल सकते थे जितनी के मूल्य का सोना और चाँदी

कोष में हो और दूसरे के अनुसार इनका परिमाण उतना हो सकता था जितने की सट्टेबाजी के लिये नहीं वरन् वास्तविक व्यापार के लिए आवश्यकता हो। बैंक आफ इंगलैण्ड का सन् १८४४ का विधान प्रथम विचारधारा के लोगों की जीत का द्योतक था। उसकी मुख्य-मुख्य धाराएँ निम्न आशय की थीं—

(१) बैंक कुल मिलाकर १४० लाख पाउण्ड के नोट साख-पत्रों की जमानत पर चालू कर सकता था। कहना न होगा कि इस १४० लाख पाउण्ड की राशि में १,१०,१५,१०० पाउण्ड तो उस ऋण के ही सम्बन्ध के थे जो बैंक ने समय-समय पर[१] इंगलैण्ड की सरकार को दिये थे।

(२) १४० लाख के मूल्य के उपर्युक्त नोटों के अतिरिक्त बैंक को अन्य नोट चालू करने का तभी अधिकार था जब उनके लिये उनके पास शत-प्रतिशत मूल्य का सोने और चाँदी[२] का सुरक्षित कोष हो। हाँ, चाँदी के कोष का मूल्य किसी समय भी सोने के कोष के मूल्य से चतुर्थांश से अधिक नहीं हो सकता था।

(३) यह विधान पास हो जाने के बाद केवल उन्हीं का[३] नोट चलाने का अधिकार रह गया जो छः मई सन् १८४४ को नोट चला रहे थे।

(४) बैंक आफ इंगलैण्ड को छोड़कर अन्य जो महाजन अथवा बैंक नोट चलाने का अपना उपर्युक्त अधिकार रखना चाहते थे उनके लिये यह आवश्यक कर दिया गया कि वे स्टाम्प कमिश्नर को यह सूचित करें कि २७ अप्रैल सन् १८४४ के पहिले १२ सप्ताहों के बीच में उनके चालू नोटों के मूल्य का क्या औसत[४] था। भविष्य में उसका ४ सप्ताहों का औसत उपर्युक्त औसत से अधिक नहीं हो सकता था।

(५) यदि कोई बैंकर अपने दिवालिया हो जाने के कारण अथवा चौथी

---

[१] बैंक सरकार को बराबर ऋण देती जाती थी। सन् १६६४ के १२ लाख पाउण्ड से बढ़कर इस समय तक यह १,१०,१५,१०० पाउण्ड हो गया था।

[२] सन् १८२८ में चाँदी का सुरक्षित कोष ५५ लाख पाउण्ड का था। उस वर्ष से इसकी गणना साख-पत्रों की श्रेणी में की जाने लगी।

[३] उस समय इंगलैण्ड और वेल्स में इनकी संख्या २७६ थी।

[४] सब का औसत मूल्य ८६,३१,६४७ पाउण्ड था।

धारा भङ्ग करने के कारण नोट चलाने का अपना अधिकार खो देता था तो फिर वह उसे कभी भी नहीं प्राप्त कर सकता था।

(६) यदि कोई बैंकर नोट चलाने का अपना अधिकार खो देता था तो बैंक आफ इंगलैण्ड उस खोये हुये अधिकार के दो-तिहाई मूल्य के नोट स्वयं अपने साख-पत्रों पर निर्धारित नोटों का परिमाण बढ़ाकर चला* सकता था।

(७) नोट चालू करने के अपने एकाधिकार के लिये और उन पर स्टाम्प लगने से मुक्त रहने के लिये बैंक को १,८०,००० पाउण्ड प्रति वर्ष सरकार को देना पड़ने लगा। १४०,००,००० पाउण्ड की राशि के अतिरिक्त अन्य नोट चलाने से बैंक को जो लाभ होता था वह सब भी उसे सरकार को देना पड़ने लगा। इसके लिये बैंक का नोट चलाने का और बैंकिंग के काम करने का ये दो भिन्न-भिन्न विभाग बनाये गये—(१) नोट प्रसार विभाग (Issue Department) और (२) बैंकिंग विभाग (Banking Department)। इन दोनों विभागों का हिसाब-किताब भी अलग-अलग रहने लगा।

उपर्युक्त धाराओं का एक मात्र उद्देश्य महाजनों और सम्मिलित पूँजी के बैंकों का नोट चालू करने का अधिकार छीन लेना था। किन्तु इसमें बड़ा समय लगा और अन्तिम सफलता सन् १९२१ में श्री फाक्स् फाउलर कम्पनी के लायड्स बैंक से एकीकरण हो जाने पर ही मिली। हाँ, चेक करन्सी अवश्य ही इससे बड़ी उन्नति अवस्था को प्राप्त हो गई।

सम्मिलित पूँजी के बैंकों के द्वारा महाजनों का शोषण और पारस्परिक एकीकरण

जिस समय बैङ्क आफ इंगलैण्ड का सन् १८४४ का विधान पास हुआ था उस समय इंगलैण्ड में निम्न प्रकार के बैंक काम कर रहे थे :—

(१) बैंक आफ इंगलैंड—इसका मुख्य कार्यालय लन्दन में और दूसरी

---

* इस धारा के अनुसार बैंक आफ इंगलैंड के साख-पत्रों पर निर्धारित नोट का परिमाण बराबर बढ़ता गया और अन्त में सन् १९२१ में जब अन्तिम महाजन और बैंक का यह अधिकार छीना गया, यह रकम १,९७,५०,००० पाउण्ड हो गई थी।

शाखाएँ प्रान्तीय नगरों में थीं। इसके नोट दिन-प्रतिदिन प्रचलित हो रहे थे।

(२) लन्दन के सर्राफ महाजन—इनका नोट चलाने का सीमित अधिकार था। किन्तु ये विशेषतः चेक करन्सी प्रोत्साहित कर रहे थे।

(३) लन्दन के सम्मिलित पूँजी के बैंक—इन्हें नोट चलाने का अधिकार नहीं था। हाँ, ये भी चेक करन्सी प्रोत्साहित कर रहे थे।

(४) लन्दन के बाहर के महाजन—इन्हें नोट चलाने का सीमित अधिकार था।

(५) लन्दन के बाहर के सम्मिलित पूँजी के बैंक—इन्हें भी नोट चलाने का सीमित अधिकार था।

कुछ समय तक तो उपर्युक्त सभी महाजन और बैंक काम करते रहे। किन्तु बाद में उनमें एकाग्रता का भाव बढ़ा और वे शोषण (Absorption) और एकीकरण (Amalgamation) के द्वारा अपनी संख्या तो कम करते गये लेकिन शाखायें फैलाते गये। इस संबंध की जेम्स डिक की तालिका, जिसे साइक्स ने भी अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है, बड़ी ही रोचक है :

वर्ष	बैंकों की संख्या	दफ्तरों की संख्या	एक दफ्तर द्वारा सेवित व्यक्तियों की संख्या
१८८३	३१६	२,३८२	११,३१५
१८९१	१२६	३,२३१	८,९१५
१९०१	१७१	४,८७२	६,६६७
१९११	६६	६,४१३	५.६३०
१९२१	४०	८,०२२	४,७२२

यह अंक इङ्गलैण्ड और वेल्स के हैं और इनमें स्काच बैङ्क तो सम्मिलित हैं। वर्तमान समय में समस्त देश में एक दर्जन से अधिक बैङ्क नहीं हैं।

जिन कारणों से एकाग्रता का भाव बढ़ा उनका सङ्केत भी साइक्स ने अपनी पुस्तक में किया है। उसका कथन है कि लन्दन के सम्मिलित पूँजी के बैङ्कों ने

लन्दन के बाहर के महाजनों का शोषण तो लन्दन के बाहर अपनी शाखायें बढ़ाने के उद्देश्य से और सम्मिलित पूँजी के प्रान्तीय बैंकों ने लन्दन के सर्राफ महाजनों का शोषण लन्दन में अपनी शाखायें खोलने के उद्देश्य से किया। साथ ही बड़े-बड़े बैंकों का पारस्परिक एकीकरण शक्तिशाली बनने और पारस्परिक प्रतियोगिता दूर करने के लिये हुआ।

कहीं-कहीं ऐसी शंका की गई थी कि कहीं इस एकाग्रता का परिणाम बैंकिङ्ग के व्यवसाय में ऐसा एकाधिपत्य उत्पन्न कर देने का न हो कि वह जनता के लिये हानिकर सिद्ध हो। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, वरन् इसके विपरीत इसके कार्य-सञ्चालन में एकरूपता आ गई जिससे बैंकिंग का व्यवसाय एक बहुत ही कुशल ढङ्ग से होने लगा और उससे सुरक्षा बढ़ गई। फिर, इससे एक लाभ और हुआ और वह यह है कि इनकी संख्या बहुत कम होने के कारण जब कभी भी सारे देश में एक प्रकार की आवश्यकता पड़ी तब इन्होंने शीघ्र ही वह नीति परस्पर तय कर ली जिससे जनता बहुत से आर्थिक संकटों का बड़ी ही आसानी से सामना कर सकी।

बैंक आफ इंगलैण्ड का राष्ट्रीयकरण

आज-कल लोगों का जो झुकाव समाजवाद की तरफ हो रहा है उसके कारण मजदूर दल के इंगलिस्तान में शक्ति ग्रहण करने के समय से ही बैंक आफ इंगलैण्ड के राष्ट्रीयकरण की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती गई। अतः, १८ फर्वरी १९४६ के एक विधान से पूरा किया गया। उक्त विधान में मुख्यतः निम्न बातें दी हुई हैं :—

(१) बैंक के पूँजी पत्र (Capital Stocks) तत्काल ही राज-कोष के नाम हस्तांतरित कर दिये जायें।

(२) इंगलैण्ड का राजा बैंक के गवर्नर, डिप्टी गवर्नर और अन्य सञ्चालक नियुक्त करे।

(३) राज-कोष में अधिकारी बैंक के गवर्नर के साथ मन्त्रणा करके उसका प्रबन्ध एक सञ्चालक-मण्डल को सौंप दें।

(४) बैंक को इस बात का अधिकार है कि वह राज-कोष के अधिकारियों

की इच्छा से किसी भी बैंक से कोई भी सूचना माँग ले और उसे किसी भी प्रकार की आज्ञा दे दे।

हरजाने की योजना के अनुसार बैंक के हिस्सेदारों को उनके १०० पाउंड के प्रत्येक हिस्सों के लिये ४०० पौण्ड का एक ३ प्रतिशत वार्षिक व्याज का ऐसा सरकारी साख पत्र दिया गया जिसका भुगतान राज-कोष के अधिकारी ५ अप्रैल सन् १९६६ के बाद जब चाहे तब उसका पूरा मूल्य देकर कर सकते हैं। हिस्सेदारों को इस प्रकार अपने हिस्सों पर वह १२ प्रतिशत व्याज मिल रहा है जो उन्हें, जिस समय बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ था उसके पिछले २० वर्षों से मिल रहा था। बैंक राज-कोष को उसके स्टाकों पर कोई लाभ नहीं देता। हाँ, उसे उसको उतनी रकम अवश्य देनी पड़ती है जो राज कोष उपर्युक्त सरकारी साख-पत्र पर व्याज की तौर पर देता है। हिसाब की दृष्टि से तो इस नई व्यवस्था में केवल बहुत सीधे-सादे लेख का परिवर्तन हुआ है किन्तु वास्तव में बैंक को राजकोष के अधिकारियों की इच्छा से अन्य बैंको से जो किसी प्रकार की भी सूचना माँगने और किसी प्रकार की भी आज्ञा देने का अधिकार मिल गया है वह सरकार द्वारा जब भी वह चाहे तभी किसी भी राजनैतिक अथवा निजी कारण से दुरुपयोग में लाया जा सकता है। इतना अवश्य है कि इस संबंध का बिल जब महासभा द्वारा पास किया जा रहा था तब उसमें सुरक्षा के आशय से कुछ संशोधन कर दिये गये थे जिनसे यह स्पष्ट हो गया है (अ) बैंकों से पृथक्-पृथक् खातों की स्थिति नहीं पूछी जा सकती, और (ब) कार्यरूप में यह अधिकार राज-कोष के अधिकारियों के कहने से नहीं; बल्कि बैंक जब उचित समझे तभी प्रयोग में लाया जा सकता है।

प्रश्न

(१) सर्राफ महाजनों के व्यावसायिक कामों का एक संक्षिप्त विवरण दीजिये और यह बताइये कि उन्होंने नोटों के चलन की अपेक्षा चेकों के चलन पर क्यों अधिक जोर दिया।

(२) उस परिस्थिति का वर्णन कीजिये जिसमें बैंक आफ इंगलैण्ड

की संस्थापना हुई थी। इसे लन्दन में नोट चलाने का एकाधिकार कैसे प्राप्त हो गया?

(३) बैंक आफ इंगलैण्ड का सम्मिलित पूंजी की बैंकिंग का एकाधिकार कब और कैसे छिन गया?

(४) किन परिस्थितियों में बैङ्क आफ इंगलैण्ड का सन् १८४४ का विधान बना? उसकी मुख्य-मुख्य धाराएँ बताइये और यह समझाइये कि उनका क्या प्रभाव पड़ा?

(५) सन् १८४४ का विधान पास होने के समय किन-किन प्रकार के बैंक इङ्गलैण्ड में काम कर रहे थे? बाद में उनका क्या हुआ?

अध्याय ३

बैंकों के भेद

आज-कल के हमारे आर्थिक जीवन के प्रत्येक भाग में विशिष्टता (Specialisation) की जो लहर दिखाई दे रही है वह बैंकिंग में भी भली-भाँति व्यक्त है। अतः, भिन्न-भिन्न आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंक भी खुल गये हैं। किन्तु इसके यह अर्थ नहीं हैं कि यह विशिष्टता हर जगह पूर्ण रूप से सफल हो गई है और भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंकों के कार्यों में पूरी-पूरी विभिन्नता है। हमें ऐसी अनेक संस्थायें मिलेंगी जो बैंकिंग के साथ-साथ व्यापार भी करती हैं और एक प्रकार की बैंकिंग तो दूसरे प्रकार की बैंकिंग के साथ बहुत ही प्रचलित है।

व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)

बैंकों में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक बैङ्क है। यहाँ तक कि जब भी हम किसी विशेषण का प्रयोग किये बिना ही 'बैङ्क' शब्द का प्रयोग करते हैं तब वह व्यापारिक बैंक का ही द्योतक समझा जाता है। इसके अतिरिक्त हम अधिकांश में व्यापारिक बैंकों के ही संसर्ग में आते हैं। जैसा कि इसके विशेषण से विदित हो जाता है यह बैंक विशेषतः व्यापारियों से ही संबन्ध रखता है।

यह उनकी चालू पूँजी जमा के रूप में ग्रहण करता है और उनके व्यापारिक लेन-देनो के सम्बन्ध की अस्थायी आवश्यकताओं के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इसके यहाँ जो राशि जमा की जाती हैं वह माँग पर देय होती हैं। अतः, यह लम्बी अवधि के लिये आर्थिक सहायता नहीं प्रदान कर सकता। इससे इस प्रकार के बैंक का यह नियम रहा है कि वह लम्बी अवधि का ऋण नहीं देता और न आय पर लगाने के लिये पूँजी की ही व्यवस्था करता है। साथ ही यह व्यापार के लिये भी स्थायी तौर पर पूँजी नहीं देता वरन् व्यापार करने में जो कभी-कभी पूँजी की कमी पड़ जाती है अथवा उसमें द्रव्य लगाना पड़ता है उसकी यह व्यवस्था कर देता है। इसे व्यापार के लिये ऋण लेनेवालों और सट्टे के लिये ऋण लेनेवालों के बीच में भी भेद करना पड़ता है। एक व्यापारिक बैंक व्यापार के लिये ऋण लेनेवालों को तो प्रोत्साहन देता है और सट्टे के लिये ऋण लेनेवालों को रोकता है। यह किसी दशा में भी जोखिम नहीं उठा सकता और न अवसरवादी ही हो सकता है। इसके यहाँ द्रव्य जमा करनेवालों का इस पर विश्वास रहता है और वह विश्वास इसे उनकी माँग पूरा करके निबाहना पड़ता है, यहाँ तक कि यदि वह उनकी माँग भी नहीं पूरी कर सकता तो यह समाप्त हो जाता है। किन्तु इसके ऋण देने की क्षमता इसके यहाँ जमा किये हुये द्रव्य तक ही सीमित नहीं रहती। बैंक साख (Credit) उत्पन्न करते हैं। उनके अधिकांश ऋण नकदी में नहीं भुगतते। यथासम्भव वे उसी प्रकार चेकों द्वारा सकारे (Honour) जाते हैं जिस प्रकार उनके यहाँ के जमा के द्रव्य सकारे जाते हैं। इन्हें अनुभव से यह मालूम हो गया है कि एक तो सब लोगों की माँगें एक ही समय में नहीं आतीं और दूसरे जब एक तरफ इनके कोष से द्रव्य दिया जाता है तो दूसरी तरफ वह प्राप्त भी होता रहता है। इन्हे अपने ऊपर की सारी चेको के लिये भी नकदी नहीं देनी पड़ती। उनमें से कुछ तो दूसरे बैंको द्वारा आती हैं और उन चेकों द्वारा सकर जाती हैं जो उन्हें उन्हीं बैंकों के ऊपर की अपने ग्राहकों से प्राप्त होती हैं। इसमें यह स्पष्ट है कि वह उनके पास जितनी नकदी होती है उससे कहीं अधिक मूल्य का ऋण देने की जोखिम ओढ़ सकते हैं। जहाँ तक यह प्रश्न है कि उनकी नकदी उनके ऋण की कितनी प्रतिशत हो, इसका उत्तर

स्पष्ट शब्दों में नहीं दिया जा सकता। यह प्रत्येक बैंक के ग्राहकों की श्रेणी और उसके लागत (Investments) की श्रेणी के ऊपर निर्भर रहता है। कभी-कभी तो यह ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ भी परिवर्तित होता रहता। फिर, यह जनता के बैंकिंग की आदत बदलने से भी एक बहुत बड़े काल में बदल जाता है। 'तथापि बैंकों के प्रत्येक व्यवस्थापक के मस्तिष्क में उस प्रतिशत का अनुमान अवश्य रहता है जिसे उसे रखना चाहिये और जिसे कम कर देने से उसे जोखिम उठानी पड़ती है तथा बढ़ा देने से लाभ की क्षति होती है।' जिन कार्यों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है उनके अतिरिक्त अन्य कार्य भी व्यापारिक बैंक करते हैं। इनका विस्तृत अध्ययन हम उचित स्थान में करेंगे। हाँ, इतना अवश्य है कि ये कार्य हर देश में समान नहीं हैं, कहीं कुछ हैं तो कहीं कुछ हैं। इनके काम करने के ढङ्गों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। जब अंग्रेजी बैंक और विशेषतया लन्दन के बैंक लागत का व्यवसाय (Investments Banking) नहीं करते, जर्मन और फ्रान्सीसी बैंक ऐसा करते हैं। अंग्रेजी बैंक चेकों के प्रयोग पर भी बहुत जोर डालते हैं किन्तु जर्मन और फ्रान्सीसी बैंक ऐसा नहीं करते।

केन्द्रीय बैंक (Central Banks)

यद्यपि केन्द्रीय बैंकों के कार्यों की क्रमिक उन्नति तो बहुत दिनों से होती आ रही थी किन्तु इस शताब्दी के प्रारम्भ तक वे स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो पाये थे। प्रत्येक बैंक के व्यवस्थापक उस समय तक अपनी इच्छा के अनुसार ही मनमाने कार्य किया करते थे। बहुत से प्राचीन देशों में तो एक बैंक धीरे-धीरे बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता जा रहा था और विशेषतः नोट चलाने का और सरकार के बैंकिङ्ग के काम करने का एकाधिकार अथवा मुख्य अधिकार प्राप्त करता जा रहा था। ये बैंक प्रारम्भ में केन्द्रीय बैंक न कहे जाकर नोट चलाने वाले बैंक (Bank of issue) अथवा राष्ट्रीय बैंक (National Bank) कहे जाते थे। हाँ, धीरे-धीरे इनके काम और इनके अधिकार बढ़ते गये तथा इनके साथ 'केन्द्रीय' शब्द एक विशेष अर्थ के साथ प्रयोग में आने लगा। कहना न होगा कि बैंक आफ इङ्गलैण्ड ही शायद ऐसा बैंक था जिसने सबसे

पहिले केन्द्रीय बैङ्कों का काम करना प्रारम्भ कर दिया था। अतः, केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिये इसी की उन्नति का इतिहास सर्वत्र अध्ययन किया जाता है। प्रसङ्गवश यही बैङ्क इंगलैण्ड का सम्मिलित पूँजी का सर्वप्रथम बैङ्क भी था। उन्नीसवी शताब्दी में भिन्न-भिन्न राष्ट्रो ने या तो अपने यहाँ के किसी पुराने बैङ्क के ही नोट चलाने का एकाधिकार अथवा मुख्य अधिकार दे दिया था या किसी नये बैङ्क की संस्थापना करके उसे यह अधिकार दे दिया था। हाँ, नई दुनिया के सभी देश और पुरानी दुनिया के भारतवर्ष और चीन अवश्य ही ऐसे बचे थे कि जिनके यहाँ इस शताब्दी के प्रारम्भ तक कोई भी केन्द्रीय बैङ्क नहीं खुल सका था। यहाँ तक कि आधुनिक काल के सबसे महत्त्वपूर्ण देश अर्थात् संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी सन् १९१४ तक कोई भी केन्द्रीय बैङ्क नहीं खुल पाया था। इस वर्ष वहाँ पर भिन्न-भिन्न स्थानो के लिये १२ केन्द्रीय बैङ्क खुले जिन्हें फेडरल रिजर्व बैंक्स (Federal Reserve Banks) कहते हैं। साथ ही इनके कार्यों के एकीकरण के लिये एक बोर्ड भी बनाया गया जिसे फैडरल रिजर्व बोर्ड (Federal Reserve Board) कहते हैं। केन्द्रीय बैङ्को ने प्रथम महायुद्ध के समय और उसके बाद भी अपने-अपने यहाँ के राष्ट्रों को इतना लाभ पहुँचाया और सहायता दी कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अधिवेशन ने, जिसकी बैठक सन् १९२६ में ब्रूसेल्स में हुई थी, सभी राष्ट्रों को अपने यहाँ इन्हें खोलने के लिये मन्त्रणा दी। अतः, तब से यूरोप में जो नये राष्ट्र बने उन्होंने और नई और पुरानी दुनिया के उन सभी राष्ट्रों ने, जिनके यहाँ उस समय तक केन्द्रीय बैङ्क नहीं थे अपने यहाँ उन्हें खोल लिया है। चीन का सेन्ट्रल बैङ्क और भारतवर्ष का रिजर्व बैङ्क क्रमशः सन् १९२८ में और सन् १९३५ में स्थापित किये गये थे। वास्तव में बैङ्किग और वाणिज्य की आधुनिक परिस्थितियों के कारण प्रत्येक देश में चाहे उसके आर्थिक उन्नति की कैसी भी दशा क्यों न हो, इस बात की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है कि वहाँ की नकदी का कोष केन्द्रित रहे और करन्सी और साख के नियन्त्रण पर किसी न किसी प्रकार की राष्ट्र की देख-रेख और यथासम्भव उसका हाथ रहे। केन्द्रीय बैङ्कों के कारण भिन्न-भिन्न देशों के बैङ्कों के बीच में पारस्परिक सहयोग और सम्बन्ध की मात्रा भी बढ़ गई है।

विनिमय बैंक (Exchange Banks)

विनिमय बैंकों का एक मात्र लक्ष्य विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता पहुँचाना और भिन्न-भिन्न देशो के पारस्परिक लेन-देनों का भुगतान करना ही है। उनकी शाखाये सारी दुनिया में फैली रहती हैं और विशेषतया व्यापारिक देशों में तो अवश्य ही रहती हैं। शायद यही कारण है कि उन्हें बहुत अधिक पूँजी की भी आवश्यकता पड़ती है। फिर, विनिमय का व्यवसाय कुछ पेचीदा भी है और उसे करने के लिये अनुभव और कार्य-कुशलता की आवश्यकता पड़ती है। इसमें जोखिम भी यथेष्ट है। हाँ, यह इधर विनिमय मान (Exchange Standards) के चलन से अवश्य कुछ कम हो गई है। इसके पहिले स्वर्ण मान (Gold Standard) और रजत मान (Silver Standard) वाले देशो के बीच की विनिमय दरो में बहुत परिवर्तन होते थे और उनके विनिमय के सम्बन्ध एक प्रकार से बहुत ही जोखिम के होते थे। इन सब कारणो से साधारण व्यापारिक बैंक यह काम कर ही नहीं सकते थे। अतः, इसके लिये एक विशेष प्रकार के बैंकों की आवश्यकता पड़ी। ये बैंक निर्यात करने वाले व्यापारियों से उनके विनिमय बिल खरीद लेते हैं और उन पर वसूल हुई राशि आयात करने वाले व्यापारियों के हाथ बेच देते हैं। अधिकाश निर्यात के लिये निर्यात करने वाले व्यापारी (Exporters) उनका आयात करने वाले व्यापारियों (Importers) के ऊपर विनिमय बिल कर देते हैं और फिर उनकी वसूली के लिये न रुककर उन्हे, विनिमय बैंको के हाथ या तो बेच देते हैं या डिस्काउण्ट करा लेते हैं। अब, ये बैंक उन्हें या तो उनके भुगतान की तिथि तक अपने पास रखते हैं या उनके पहिले ही विदेशो में विशेषतः लन्दन और न्यूयार्क के बाजारो मे, जहाँ सदैव ही उनकी माँग रहती है, बेच देते हैं। जिन देशों में उनकी शाखाये नहीं होती उनमें उनके अढ़तिये होते हैं। अतः, वहाँ पर वह उन्हीं के द्वारा काम करते हैं। वे उन पर अपने विनिमय बिल करते हैं और जिन्हे बाहर भुगतान करना होता है वह इन्हें उन के पक्ष मे लिखवा कर ले लेते हैं, जिन्हें भुगतान देना होता है। ये बैंक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के बचे-खुचे भाग का भुगतान सोना, चाँदी और साख-पत्र

मँगवाकर अथवा भेज कर करते हैं। अतः, इस व्यवसाय से इन्हें इनका व्यापार करने का भी अवसर मिल जाता है। वे वायदे के विनिमय (Forward Exchange) का भी क्रय और विक्रय करते हैं जिससे भिन्न-भिन्न समय के विनिमय के भावों के बीच का अन्तर बहुत ही कम हो जाता है, और व्यापारियों की विनिमय दरों के परिवर्तन से जो हानि होती है वह भी इनके अपने ऊपर जोखिम ओढ़ लेने के कारण बच जाती है। जहाँ तक इनकी स्वयं की जोखिम का प्रश्न है उसे भी ये विरुद्ध सौदे करके अर्थात् क्रय के लिये विक्रय करके और विक्रय के लिये क्रय करके बचा लेते हैं। भारतवर्ष में तो नहीं किन्तु अन्य देशों में तो विनिमय बैंकों के अतिरिक्त व्यापारी बैंक भी यह व्यवसाय करते हैं। हाँ पर विनिमय के विदेशी बैंक हैं जो इसे अपनाये हुये हैं।

औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)

औद्योगिक बैंक कृषि के अतिरिक्त अन्य सभी उद्योग-धंधों की आर्थिक सहा-यता करते हैं और उन्हें अन्य प्रकार से भी मदद पहुँचाते हैं। व्यापारिक बैंक अपने विशेष उत्तरदायित्व के कारण यह कार्य नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त उनके पास उद्योग धंधों का अनुभव रखने वाले व्यक्ति भी नहीं होते। औद्योगिक बैंकों के पास लम्बी अवधि के लिये जमा की हुई राशि रहती है और साथ ही उनके पास ऐसे अनुभवी व्यक्ति भी रहते हैं जो उद्योग-धंधों के पेचीदा प्रश्न समझते हैं। वे उन औद्योगिक कम्पनियों के ऊपर जो उनसे सहायता प्राप्त करती हैं, उनके यहाँ अपने प्रतिनिधि रख कर अपना नियन्त्रण भी रखते हैं। जब कोई औद्योगिक कम्पनी किसी औद्योगिक बैंकों से अपने हिस्सों और ऋण पत्र जनता के सामने रखने में सहायता माँगती है तब वह बैंक जो पहिला काम करता है वह उसकी योजना समझने तथा उसका विश्लेषण करके उसके भविष्य पर दृष्टि डालने का है। कभी-कभी जब किसी कंपनी के निकाले हुये सब हिस्से अथवा उनका वह न्यूनतम भाग जो उसके विवरणपत्र (Prospectus) में दिया रहता है जनता द्वारा यथासम्भव नहीं ले लिया जाता तब यही बैंक उसे स्वयं ले लेते हैं। प्रायः नई कंपनियों के हिस्सों की बिक्री का ये लोग प्रारंभ ही से एक प्रकार का बीमा कर देते हैं। ये अपने ग्राहकों को उनकी राशि लगाने के संबन्ध में भी सलाह देते हैं और जहाँ

तक होता है उन्हें अच्छे लागत के चुनाव में सहायता पहुँचाते हैं। इनसे कारबारियों को भी यह लाभ होता है कि वे हिस्से बेचने के झंझट से मुक्त हो जाते हैं। सत्य तो यह है कि ये इस काम में निपुण होने के कारण हिस्सों और ऋण-पत्र संबन्धी विज्ञापन करने और उन्हें बेचने में कारबारियों से कहीं अधिक सफलता प्राप्त कर लेते हैं। जर्मनी, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और जापान, इत्यादि देशों की औद्योगिक उन्नति इन्हीं बैंकों के कारण हो पाई है।

कृषि बैंक (Agricultural Banks)

कृषि की अपनी समस्यायें होती हैं। अतः, उसकी आर्थिक सहायता करने के लिये पृथक् बैंक भी होते हैं। इनके दो भेद हैं—(१) एक तो वे जो लंबी अवधि की आवश्यकताएँ (Long-term needs) पूरी करते हैं और (२) दूसरे वे जो थोड़ी अवधि की आवश्यकताएँ (Short term-needs) पूरी करते हैं। लंबी अवधि के ऋण भूमि में स्थायी सुधार करने के लिये, अधिक भूमि खरीदने के लिये और कृषि के अच्छे तरीके और औजार प्रयोग में लाने के लिये लिये जाते हैं और थोड़ी अवधि के ऋणों का उद्देश्य कृषकों की दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताएँ पूरी करना है। इसमें बीज और खाद खरीदना, अपने खर्चे, मजदूरों की मजदूरी, सिंचाई तथा अन्य करों का भुगतान, इत्यादि सभी सम्मिलित हैं। कृषकों के पास जो प्रतिभूति (Security) रहती है और जिस अवधि के लिये उन्हें ऋण की आवश्यकता रहती है वह सब ऐसे हैं कि उनकी व्यापारिक बैंक, विनिमय बैंक तथा औद्योगिक बैंक सहायता कर ही नहीं सकते। अतः, इस काम के लिये भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks) और सहकारी बैंक (Co-operative Banks) हैं। भूमि-बन्धक बैंक तो लंबी अवधि की और सहकारी बैंक थोड़ी अवधि की माँगे पूरी करते हैं।

भूमि-बन्धक बैंक—ये बैंक भूमि से चालू साख-पत्र बना लेते हैं। ये शहरी और देहाती दोनों होते हैं। शहरी बैंक मकान, इत्यादि बनाने में सहायता देते हैं। अतः, हम लोग यहाँ पर इनका अध्ययन नहीं करेंगे। देहाती बैंकों की स्वयं की बहुत बड़ी पूँजी होती है। यह इन्हें हिस्सों अथवा ऋण-पत्रों की बिक्री से प्राप्त होती है। इनके अपनी पूँजी रेहन पर देने के कारण उससे जो भूमि

प्राप्त होती है उसकी प्रतिभूति पर यह जनता में अपने ऋण-पत्र चालू करते हैं। जब कुछ भूमि की प्रतिभूति पर चालू किये हुये ऋण-पत्रों से प्राप्त राशि अन्य भूमि के रेहन में लग जाती है तब वही अन्य भूमि फिर नये ऋण-पत्रों की प्रतिभूति के लिये काम में आ जाती है और उससे नई पूँजी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार यह चलता रहता है। ये केवल उत्पादन के लिये ही ऋण देते हैं और जो भूमि इनके यहाँ रेहन की जाती है उनका ये बहुत होशियारी से मूल्य निर्धारित करा लेते हैं। फिर, उस पर ये काफी गुञ्जाइश (margin) रखकर ऋण देते हैं। इनके ऋण का भुगतान वार्षिक किस्त से होता है और वह एक बहुत लम्बी अवधि में विभाजित कर दिया जाता है। उस पर उचित व्याज भी लिया जाता है। इनके द्वारा निकाले हुए ऋण-पत्र सुरक्षित होने के कारण बड़े प्रिय होते हैं और जनता में उनकी यथेष्ठ माँग होती है। इनमें ट्रस्ट की और बीमे की राशि भी लगाने की आज्ञा दे दी गई है। भूमि और मकान, इत्यादि आसानी से नहीं बिक पाते। इसमें अनेक वैधानिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। किंतु इनसे जो चालू साख-पत्र निकाले जाते हैं वे आसानी से हस्तान्तरित किये जा सकते हैं। वे बाजारों में बिकते भी हैं। अतः, इनके कारण उपर्युक्त कठिनाई दूर हो जाती है। फ्रान्स का क्रेडिट फौन्सियर (Credit Foncier), जिसकी संस्थापना सन् १८५२ में हुई थी भूमि-बन्धक बैंकों का पिता कहा जाता और वह जर्मनी, स्पेन, आस्ट्रिया, हंगरी और जापान के ऐसे ही बैंकों के साथ-साथ बहुत ही उन्नति कर रहा है। इंगलिस्तान का कृषिक भूमि बन्धक कारपोरेशन भी जो कुछ वर्षों पहिले संस्थापित किया गया था बहुत काम कर रहा है। हमारे देश में भी ऐसे बैंकों की संख्या बढ़ती जा रही है। किंतु यह अभी तक सन्तोषजनक नहीं है। वास्तव में इस देश के मुख्यतः कृषक-देश होने के कारण और यहाँ की कृषि की अवस्था पिछड़ी होने के कारण यहाँ पर ऐसे बैंकों की बहुत आवश्यकता है।

सहकारी बैंक—ये बैङ्क कृषकों के स्वयं के बैङ्क होते हैं। उनके दूर-दूर फैले रहने के कारण उन्हें थोड़े समय के लिए छोटी-छोटी राशि ऋण देना इतनी जोखिम का काम है कि उसे कोई भी आधुनिक बैङ्क नहीं कर सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इसे करने के लिये महाजन हैं। वास्तव में उनका जो-

स्थानीय प्रभाव रहता है और वहाँ के लोगों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है उनके कारण वे इसके लिये बहुत उपयुक्त हैं। किन्तु उनकी शर्तें इतनी कठिन रहती हैं कि वे कृषकों के मित्र नहीं वरन् उनके लिये जोंक के समान हैं। यदि देखा जाय तो इस काम में जितनी जोखिम है उसके लिये यह उचित ही है। जहाँ तक लम्बी अवधि के ऋण का प्रश्न है उसकी प्रतिभूति के लिये तो कृषकों की भूमि है किन्तु थोड़ी अवधि के लिये तो उनके पास उनके हल, बैल तथा झोपड़ी छोड़कर कुछ भी नहीं बचता। अतः, उन्हें इस मामले में स्वावलम्बी होना पड़ता है और सहकारिता की शरण लेनी पड़ती है। इसका प्रारम्भ गत शताब्दी में पहले-पहल जर्मनी में हुआ था। वहाँ की कृषि की दयनीय दशा का रैफेसिन के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा और उसने स्थिति सुधारने के लिये सहकारी समितियों की संस्थापना की जो थोड़ी अवधि की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये धन एकत्रित करने के उनके स्वयं के संगठन हैं। अपने सम्मिलित साधन एकत्रित करके अपने वैयक्तिक उत्तरदायित्व के सहारे वे द्रव्य बाजार से द्रव्य उधार लेते हैं और उसे अपने में से जिन्हें आवश्यकता पड़ती है उन्हें कम ब्याज पर देते हैं। ऋण की अदायगी प्रायः मासिक किस्तों द्वारा होती है और वह लेने वालों के प्रण-पत्रों की प्रतिभूति पर मिलता है। फिर, इन पर कुछ अन्य सहयोगी सदस्यों के हस्ताक्षर कराके इनके द्वारा बाजार से और अधिक ऋण प्राप्त कर लिया जाता है। यह प्रणाली ईमानदारी की पूँजी बनाने की प्रणाली (Capitalisation of Honesty) कही गयी है। इससे वैयक्तिक प्रतिभूति एक बहुत बड़ी मात्रा में बिकने योग्य प्रतिभूति में परिवर्तित हो जाती है। कृषि की थोड़े समय की आर्थिक माँग पूरा होने के साथ-साथ इससे अन्य भी बहुत से लाभ होते हैं। इससे सदस्यों के बीच में स्वावलंबन और मितव्ययता का भाव बढ़ता है और उन्हें स्वशासन की कला की शिक्षा भी प्राप्त होती है।

सेविंग्स बैंक (Savings Bank)

ये बैंक सच पूछा जाय तो बैंक नहीं हैं। वास्तव में ये साधारण स्थिति के लोगों में मितव्ययता का प्रचार करके उनकी थोड़ी-थोड़ी बचत एकत्रित

करके सुरक्षित रखने वाले संगठन हैं। इनके ग्राहकों द्वारा जमा की हुई राशि निकाली जाने वाली राशि की अपेक्षा संभवतः कहीं अधिक रहती है। अतः, इन्हें उस सबको द्रवित दशा (liquid state) में रखने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसी कारणवश इन्हें व्यापारिक बैङ्कों के समान अपनी पूँजी केवल थोड़े समय में वापस होने वाले ऋणों में ही लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु यह उतने स्वतन्त्र भी नहीं रहते। इन्हें विधान अपनी पूँजी केवल कुछ सुरक्षित लागतों में ही लगाने के लिये बाध्य करता है। इनमें द्रव्य जमा करने और उनसे निकालने के नियम भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। प्रायः कोई भी इनके यहाँ अपना खाता खोल सकता है। प्रत्येक ग्राहक को एक पास-बुक दी जाती है जिसमें बैङ्क में उसका जो खाता रहता है उसकी प्रतिलिपि होती है। द्रव्य प्रायः सप्ताह में केवल एक अथवा दो बार ही निकाला जा सकता है और बड़ी-बड़ी राशि निकालने के लिये पहिले से कुछ समय की सूचना देनी पड़ती है। जितनी राशि इनमें जमा होती है उससे अधिक निकालने की कभी भी आज्ञा नहीं मिलती। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अनेक प्रकार के सेविंग्स बैङ्क हैं। इङ्गलिस्तान में डाकघर यह काम करते हैं और हमारे देश में भी ऐसा ही है। किन्तु यहाँ पर व्यापारिक बैङ्क भी अपने यहाँ ऐसे खाते रखते हैं।

निजी बैंक (Private Banks)

उपर्युक्त सभी बैङ्क आधुनिक काल के बैङ्क हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे निजी बैङ्क भी हैं जो व्यापार के साथ-साथ बैंकिंग भी करते हैं। इनके काम करने के ढङ्ग भी बहुत पुराने हैं। इङ्गलिस्तान के ऐसे सर्राफ महाजन तथा अन्य महाजनों के विषय में हम पहिले ही पढ़ आये हैं। हमारे देश में इनकी संख्या आज भी बहुत है। वास्तव में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह न पाये जाते हों। प्रायः कृषि के सारे धन्धे और देशान्तर्गत व्यापार के एक बहुत बड़े भाग को यही आर्थिक सहायता पहुँचाते हैं। इनके सुधार की आवश्यकता तो अवश्य है किन्तु जैसा कि किसी विद्वान् ने कहा है यह हमारे आर्थिक संगठन के बहुत ही आवश्यक अङ्ग हैं और इनके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। साथ ही इन्हें समाप्त कर देने से न केवल भारतवर्ष ही को वरन् समस्त संसार

के सभी देशों को एक बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ेगी। कुछ ऐसे बैंकर आज भी हम सभी देशों में पाते हैं।

अन्य प्रकार के बैंक (Miscellaneous Banks)

लोगों की विशेष आवश्यकतायें पूरी करने के लिये आधुनिक काल में स्थान स्थान पर कुछ अन्य प्रकार के भी बैंक खुल गये हैं। उदाहरण के लिये इङ्गलैण्ड और अमेरिका में विनियोग बैंक (Investment Banks) हैं जिनका काम पूँजी को अनेक प्रकार के प्रयोगों में विभाजित करना है। फिर, अमेरिका में मजदूर सङ्घों के अपने मजदूर बैंक (Labour Banks) भी हैं जिनमें उनके मजदूर अपनी बचत जमा करते हैं। हमारे ही देश में कुछ बड़े-बड़े कालिजों में विद्यार्थियों का द्रव्य जमा रखने के लिये विद्यार्थी बैंक (Student Banks) हैं। लन्दन के सौदागर महाजन (Merchant Bankers) और वहाँ की बिलों पर स्वीकृति देने वाली संस्थायें (Accepting Houses) एक अन्य प्रकार की ऐसी संस्थायें हैं जो एक विशेष प्रकार का काम करती हैं। आजकल व्यापार साख पर निर्भर है। किन्तु जब कोई व्यापारी विदेशों में उधार माल बेचता है तब उसे इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति पर बराबर ध्यान रक्खे। अतः, यह काम उपर्युक्त सौदागर महाजनों ने अपने ऊपर ले रक्खा है। उनका सम्बन्ध सभी देशों से रहता है। अतः, वे भिन्न-भिन्न देशों के ऊपर किये गये विनिमय बिलों पर भी उनकी ओर से स्वीकृति दे सकते हैं। कभी-कभी वे इसके लिये विनिमय बैंकों की मंत्रणा भी ले लेते हैं। इनके अतिरिक्त लंदन में कुछ डिस्काउन्टिंग संस्थायें (Discounting Houses) हैं जो सारे शहर में ऐसे विनिमय बिलों के तलाश में रहती हैं जिनका उस समय का मूल्य वह दे देती हैं। उनके साधनों में उनकी स्वयम् की पूँजी, जनता की उन्हीं शर्तों पर जमा की गई राशि जैसी अन्य बैंकों की होती हैं, हाँ, ऊँची दरों पर अवश्य और कभी-कभी बैंकों से सप्ताह भर के लिये अथवा रात्रि भर के लिये (Overnight) लिये हुये ऋण सम्मिलित रहते हैं। बिलों का उस समय का मूल्य प्राप्त करनेवाले लोगों और व्यापारिक बैंकों के बीच में वे दलाली का भी काम करते हैं। ये सब थोड़े से उदाहरण हैं। संसार में सभी जगह

भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यकतायें पूरी करने के लिए अगणित प्रकार की बैंकिंग संस्थायें हैं।

प्रश्न

(१) बैंकिंग में भी विशिष्टता पाई जाती है, यद्यपि वह अभी पूरी तरह से सफलीभूत नहीं हुई है।' समझाइये।

(२) हमारे देखने में अधिकांश में किन-किन तरह के बैंक आते हैं? उनका संक्षिप्त विवरण दीजिये।

अध्याय ४

व्यापारिक बैंकों के काम (Functions)

जैसा कि हमें ज्ञात हो चुका है व्यापारिक बैंकों का प्रारम्भ लोगों का द्रव्य जमा करने के विचार से केवल उस समय के बाद ही हुआ था जब लन्दन की जनता ने वहाँ के सर्राफ महाजनों के पास अपनी राशि जमा करना प्रारम्भ कर दिया था। उन्हें यह बात समझने में भी अधिक देर नहीं लगी कि यदि वह जमा में पाये हुये द्रव्य वापस करने के समय के पहिले प्राप्त कर सकें तो उसे उधार देकर यह व्यवसाय बहुत ही लाभदायक बनाया जा सकता है। धीरे-धीरे उन्हें यह भी मालूम हो गया कि उनके प्रतिदिन के भुगतानों के लिये उन्हें प्रतिदिन ही यथेष्ट राशि प्राप्त हो जाती है, अतः, इस बात की आवश्यकता भी नहीं है कि उधार दी हुई राशि जमा की हुई राशि की वापसी के पहिले ही प्राप्त हो जाय। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें ऋण देने में अपनी बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता था और उचित प्रतिभूति लेनी पड़ती थी। कभी-कभी उनको बहुत हानि भी हुई है। उदाहरण के लिये जब चार्ल्स द्वितीय ने अपना लिया हुआ ऋण लौटाने से इंकार कर दिया था। अतः, यह स्पष्ट है कि बैंकिंग के दो मुख्य काम द्रव्य उधार लेना और देना है। बस, हम यहाँ पर इन्हीं का अध्ययन करेंगे। किन्तु आजकल के बैंक इनके अतिरिक्त कुछ अन्य काम भी करते हैं जिससे जनता को सुविधा मिलती है।

इन तमाम कामों का हम चार शीर्षक में अध्ययन कर सकते हैं—

(१) जमा लेना।
(२) ऋण देना।
(३) आढ़त के काम करना।
(४) अन्य कार्य।

जमा लेना (Receiving Deposits)

जमा कई खातों में ली जाती है जिनमें मुख्य तो चालू खाता (Current Account) है, किन्तु अन्य भी कई खाते हैं जैसे स्थायी खाता (Fixed Deposit Account), बचत खाता (Savings Bank Account), गोलक खाता (Home Safe Account) इत्यादि। पहिले-पहिल जो जमा प्राप्त होती थीं वह तो स्थायी खातों ही में होती थीं। किन्तु शीघ्र ही सर्राफ महाजनों ने यह समझ लिया कि यदि जमा में प्राप्त होनेवाली राशि एक बहुत बड़ी मात्रा में है तो वह इस बात पर निर्भर रहकर कि उसमें एक बहुत बड़ी राशि बहुत दिनों तक वापस नहीं माँगी जायगी वह राशि ऋण में भी दे सकते हैं। अतः, उन्होंने माँग की वापसी की शर्त पर भी जमा (Demand Deposits) प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह से चालू खातों की नींव पड़ी जिनमें से जमा करने वाले अपनी राशि जब चाहें तब प्राप्त कर सकते हैं। इसके बाद चेकों का प्रादुर्भाव हुआ जिससे कि चालू खातों से रुपया निकालने में बहुत सुविधा पड़ने लगी। फिर, जब विनिमय साध्य चेक पुर्जों (Negotiable Instruments) की तरह जन साधारण में स्वीकृत होने लगीं और हाथों-हाथ चलने लगीं तब जमा प्राप्त करने वाली बैंङ्किग की प्रणाली और भी उन्नति प्राप्त करने लगी। यह अवश्य ही लन्दन से प्रकट हुई है। चालू खातों में साधारणतया ब्याज नहीं दिया जाता, यहाँ तक कि कभी-कभी यह शर्त भी रहती है कि जमा करने वाले उनमें से न्यूनतम राशि कभी भी नहीं निकाल सकेंगे। लन्दन में तो इन पर ब्याज न देने का एक चलन ही हो गया है। बैङ्क इन्हें केवल इसीलिये रखते हैं कि उन्हें एक मुक्त राशि (Free Balance) मिल जाती है। यह राशि उतनी होती है कि जितने का ब्याज खाता रखने के खर्च के बराबर होता है, और यह खर्च भी लेजर के पृष्ठों से चलने और चेकों के प्रयोग की संख्या पर निर्भर रहता है। यदि यह मुक्त राशि नहीं छोड़ी जाती

तो फिर बैङ्क ग्राहकों से एक कमीशन लेता है जैसा कि हमारे देश में चलन है। यह छमाही लिया जाता है। इसे प्रासंगिक व्यय (Incidental Charges) कहते हैं। हाँ, कुछ ऐसे भी बैङ्क हैं जो ब्याज देते हैं। इङ्गलिस्तान के अन्य शहरों में तो कहना ही क्या है यह लन्दन में भी हैं। हमारे देश में भी ऐसे अनेक बैङ्क हैं।

स्थायी खातों में जो राशि जमा की जाती है वह अवधि बीत जाने के पहिले नहीं निकाली जा सकती जिसके लिये वह जमा की गई थी। कभी-कभी यह पहिले से सूचना देकर भी निकाली जाती है। इन्हें अमेरिका में आवधिक जमा (Time Deposits) भी कहते हैं। इन्हें ब्याज देकर आकर्षित किया जाता है जिसकी दर जितनी अधिक अवधि है उतनी ही अधिक होती है। लन्दन में यह सात दिनों की सूचना पर भी जमा किये जाते हैं, किन्तु सात दिनों की सूचना देने के पहिले इन्हें कम से कम एक माह तक अवश्य जमा रखना पड़ता है। इनके ब्याज की दर बैङ्कों के जमा की दर (Bank Deposit Rate) कही जाती है। भारतवर्ष में ये तीन महीनों, छै महीनों, नौ महीनों और एक वर्ष के लिये जमा होते हैं। कुछ बैङ्क एक वर्ष से ऊपर के लिए भी जमा (Time Deposits) प्राप्त करते हैं, किन्तु ऐसा बहुत कम किया जाता है।

आवधिक जमा और माँग पर वापस होने वाली जमा (Demand Deposits) दोनों की राशि आपस में बदलती भी रहती हैं। जब व्यापार मन्दा हो जाता है तब चालू खातों की राशि स्थायी खातों में चली जाती है और जब व्यापार की तेजी होती है तब इसका उलटा हो जाता है। अच्छी बैंकिंग के अर्थ यह हैं कि जमा अधिकांश में चालू खातों में ही हो। विख्यात बैंकरों ने स्थायी खातों और ब्याज देने दोनों के विरोध में बहुत कुछ कहा है। व्यापारिक बैङ्क तो व्यापारियों से काम करते हैं जिनके पास स्थायी खातों में रखने के लिए अतिरिक्त राशि नहीं होती, उन्हें तो केवल उतनी ही पूँजी रखनी चाहिये जितनी उनके व्यापार के लिए आवश्यक है। अतः, इसे उन्हें चालू खातों में ही रखना चाहिये। निर्धारित समय के लिए जमा प्राप्त करने का काम तो विनियोग बैङ्कों (Investment Bank) का है। अतः, व्यवसाय की

छीना-झपटी नहीं होनी चाहिये। किन्तु भारतवर्ष ऐसे देश में जहाँ विनियोग बैंक हैं ही नहीं व्यापारिक बैंकों के यह काम करने में कोई हानि नहीं मालूम पड़ती।

कुछ देशों में और विशेषतः भारतवर्ष में व्यापारिक बैंक बचत खातों में भी जमा प्राप्त करते हैं सम्पूर्ण जमा की राशि का जो अंश वर्तमान काल में इन खातों में है वह प्रथम युद्ध के पहिले के काल की अपेक्षा कहीं अधिक है। इनका एक मात्र उद्देश्य थोड़ी आय वाले लोगों में मितव्ययता का प्रचार करना है। वास्तव में यह काम भी व्यापारिक बैंकों के लिये उपयुक्त नहीं है किन्तु वे इसे बराबर करते आरहे हैं और इसका महत्व भी इतना बढ़ गया है कि हमें अधिक नहीं तो थोड़ा सा अवश्य इसके विषय में अध्ययन कर लेना चाहिये। इन खातों की राशि एक निर्धारित सीमा के ऊपर नहीं जाने दी जाती। इन्हें कोई भी व्यक्ति अपने नाम में अथवा किसी अपने कमवयस्क संबन्धी के नाम में अथवा किसी ऐसे कमवयस्क के नाम में जिसका वह अभिभावक नियुक्त हुआ हो, खोल सकता है। इसमें जमा तो जब चाहे तब की जा सकती है किन्तु इसमें से निकाला सप्ताह में केवल एक अथवा दो बार ही जा सकता है। कुछ बैंक इसमें चेकों के प्रयोग की भी सुविधा देने लगे हैं। कहीं-कहीं यह सुविधा प्राप्त करने के लिये एक न्यूनतम मुक्त राशि रखना भी आवश्यक है। पाँचवीं तारीख के अन्त के बीच में जिस दिन भी न्यूनतम राशि होती है उसी पर पूरे एक माह का व्याज लगाया जाता है। कहीं-कहीं, एक निर्धारित राशि से अधिक राशि निकालने के लिये कुछ दिनों की सूचना की भी आवश्यकता पड़ती है।

गोलक खाता बचत खाते ही की तरह है। इसे हमारे देश के सेन्ट्रल बैंक के अधिकारियों ने चालू किया था। इसका ध्येय बच्चों में भी मितव्ययता की आदत डालना है। जब कोई व्यक्ति यह खाता खोलता है तब उसे एक सुन्दर गोलक दे दिया जाता है जिसे वह अपने घर ले जाता है और जिसमें वह समय-समय पर अपने पैसे डालता रहता है। जब गोलक भर जाता है तब वह उसे बैंक में वापस ले जाता है जहाँ पर उसे खोलकर उसका रुपया उसके खाते में जमा कर लिया जाता है। गोलक के स्थान पर एक सुन्दर घड़ी

भी मिलती है जिसमें प्रति दिन एक आना छोड़ने से चाभी भरी जाती है। इस खाते में बचत खाते की ही तरह व्याज लगाया जाता है।

जमा अन्य खातों में भी प्राप्त की जाती है। निजी खर्च देने के लिये निजी खाते (Private Accounts) खोले जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विशेष कामों के लिए विशेष खाते खुलते हैं। उदाहरण के लिए बच्चों के विवाह के लिये द्रव्य एकत्रित करने के लक्ष्य से विवाह खाता (Marriage-Account) खोला जाता है।

जमा के भेद (Nature of Deposits)

जमा कई प्रकार से प्राप्त होते हैं। ग्राहक नकद जमा कर सकते हैं अथवा नकदी मिलने के अपने अधिकार जमा कर सकते हैं। ये चेक, विनिमय बिल और प्रण-पत्र, इत्यादि हो सकते हैं। बैङ्क इनका भुगतान प्राप्त करके उन खातों में जमा कर लेता है। बैङ्कों के ऋण देने से अथवा विनिमय बिल डिस्काउण्ट कर देने से भी उन्हें जमा प्राप्त हो जाती है। इन्हें सृजित जमा (Created Deposits) कहते हैं। वास्तव में आजकल सृजित जमा की राशि अन्य प्रकार से उत्पन्न हुई जमा की राशि से कहीं अधिक होती है। अतः, यह बात सोचना कि बैङ्क के चिट्ठे (Balance Shee) में जितना जमा (Depositst) दिखलाया गया है उतना उसे नकद प्राप्त हुआ है, भ्रमपूर्ण है। मौक्लियड का कहना है कि यह राशि उस राशि की द्योतक नहीं है जो बैङ्क को उसका व्यवसाय चलाने के लिये प्राप्त हो चुकी है। यह तो यह बतलाती है कि बैङ्क ने कितना व्यवसाय किया है और उसने कितने का अपना उत्तरदायित्व (Liabilties) खड़ा कर लिया है। अतः, यह जमा की राशि जिन्हें बहुत से लेखक नकद प्राप्त हुई राशि समझते हैं, केवल उस साख की द्योतक है जो बैङ्कों ने उसे नकद, विनिमय बिलों और ऋण के बदले में उत्पन्न कर ली है जो उसके चिट्ठे में सम्पत्ति और पाउने (Assets) की तरफ दिखलाई गई है। जब किसी ग्राहक को थोड़े समय के लिये द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है तब वह बैङ्कर से या तो ऋण (Loan) लेने अथवा अधिक द्रव्य निकालने—अधिविकर्ष (Overdraft) अथवा नकद साख प्राप्त करने (Cash Credits) अथवा बिल भुनाने (Bill Discounting) की प्रार्थना

करता है। बैङ्कर तो यह जानता है कि द्रव्य रखने के लिये नहीं वरन् भुगतान करने के लिये माँगा जा रहा है। अतः प्रायः वह इस शर्त पर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लेता है कि ग्राहक सब राशि नकद न लेकर जब कभी उसे भुगतान करना होगा तब चेक काटेगा। हम जानते हैं कि चेक काटने का यह अधिकार तो नकद जमा करने पर भी मिलता है, अतः, हम यह कह सकते हैं कि इसे चाहे ग्राहक स्वयम् प्राप्त कर ले अथवा बैङ्क उसे दे दे। जब ग्राहक नकदी जमा करता है तब वह इसे स्वयम् प्राप्त करता है और जब बैंक उसे किसी भी रूप में ऋण देता है तो बैंक उसे इसे देता है। किन्तु बैंक की यह अधिकार देने की शक्ति उसके पास जितनी नकदी होती है उसी के अनुसार सीमित रहती है। अतः, जैसा कीन्स ने कहा है हम भी कह सकते हैं कि ऋण जमा के बच्चे हैं और जमा ऋण के बच्चे हैं[1]।

किन्तु बहुत से लोग उपर्युक्त बात नहीं समझ पाते हैं और कहते हैं कि बैङ्क के लेखक (Clerks) जितनी चाहें उतनी साख उत्पन्न कर सकते हैं[2]। यदि उनमें दुर्भाव न हो तो इतनी अधिक साख उत्पन्न हो जाय कि संसार से दरिद्रता और पसीना बहानेवाली सख्त मेहनत सदा के लिये नष्ट हो जाय। वे यह बात नहीं सोचते कि[3] यदि बैंकर के पास इतनी शक्ति है तो वह वह चीज क्यों कम करता है जिससे वह व्यापार करता है और अपनी रोटी कमाता है।

ऋण देना (Granting Loans)

यह तो बतलाया ही जा चुका है कि बैङ्कर प्रायः नकद ऋण नहीं देते। अधिकांश में उनके ग्राहकों के ऋण चेक काटने के अधिकार के रूप में ही

---

1. Loans are the children of deposits and deposits are the children of loans.

2. Credit is the mere creation of the bank clerk's pen and that but the malevolence of the wicked banker enough of it could be created to remove poverty and banish toil from the world.

3. Why the banker should be so concerned to reduce the volume of the material in which he trades and from which he earns his living if he has the power they think he has ?

होते हैं। इनके कई रूप हैं जैसे साधारण ऋण (Loans and Advances), जमा की गई राशि से अधिक राशि निकालने देना—अधिविकर्ष (Overdrafts), नकद साख (Cash Credits) अथवा विनिमय बिल भुनाना (Bill Discounting) इत्यादि, इत्यादि। बैङ्कर अपनी पूँजी नहीं देते। इसके विषय में लार्ड ओवरस्टन नाम के एक प्रसिद्ध बैङ्कर ने कहा है "यह मेरी स्वयम् की बुद्धि है और दूसरे का द्रव्य है।" रेकार्डो ने भी इसी आशय की बात कही थी। उसका कहना था "कोई व्यक्ति तभी बैङ्कर कहला सकता है जब वह दूसरों का द्रव्य उधार देता है।" वास्तव में बैङ्कों के पास अपना नकद कोष रखने और मृत स्टाक (Dead Stock) खरीदने के बाद अपनी स्वयम् की पूँजी ऋण के रूप में देने के लिये नहीं बचती। अतः वह इस काम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकते कि दूसरों द्वारा जमा किया हुआ द्रव्य इस काम में लगावें। किन्तु इन्हें उन्हें माँग पर वापस करना पड़ता है। यदि वे ऐसा नहीं कर पाते हैं तो दिवालिया घोषित कर दिये जाते हैं जिससे उनका काम ही बन्द हो जाता है। हमें यह भी ज्ञात है कि वह केवल उसी सीमा तक ऋण देते हैं। वह साख उत्पन्न करते हैं। इसमें सब में अवश्य ही बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। बैंक व्यवस्थापक की स्थिति वास्तव में बड़ी दयनीय है। एक तरफ तो हिस्सेदार उससे अधिकाधिक लाभ कमाने की आशा रखते हैं जो जोखिम उठाये बिना हो ही नहीं सकता और दूसरी तरफ उसके व्यवसाय के ऐसा होने के कारण कि जिससे उसे रक्षा का सबसे अधिक ध्यान रखना पड़ता है वह अधिकाधिक लाभ भी नहीं उठा सकता। किन्तु वह काम बहुत कठिन नहीं है। आचार्य टाजिग (Taussig) कहते हैं "सब बात देखते हुये व्यापारिक बैंकों का प्रबन्ध बहुत कठिन नहीं है। उसके लिये पूर्व विचार, साधुता, नियमपालन तथा व्यवसायियों के अच्छे ज्ञान की आवश्यकता है।"

ऋण के रूप

जहाँ तक ऋण के रूपों का प्रश्न है, साधारण ऋण (Loans and Abvances) तो एक तरफ ग्राहकों के नाम छोड़कर (उनके एकाउन्टों को डेबिट करके) और दूसरी ओर उनके चालू खातों में जमा करके (उनके

ent Account Credit
करेन्ट एकाउन्ट को क्रेडिट करके) दे दिया जाता है। यह व्यवसाय बहुत ही लाभप्रद है, क्योंकि इसमें तो बैंकर केवल अपनी साख ही जिसे जनता केवल इसलिये मानती है कि उसका नाम बहुत प्रसिद्ध होता है ऋण के रूप में देता है यदि वह तनिक-सा भी ध्यान रखता है तो इसमें उसे लेश मात्र भी जोखिम नहीं उठानी पड़ती। बैंक हर प्रकार की प्रतिभूति पर ऋण नहीं देते। वे केवल वही प्रतिभूति स्वीकार करते हैं जो आसानी से बिक सकती हैं। उनका मूल्य ह्रास भी नहीं होना चाहिये। जार्ज रे ने कहा है कि बैंकों के लिये दोषरहित प्रतिभूति वही हैं जो अन्त में भी सुरक्षित हैं, जिनका भुगतान थोड़ी अवधि के बाद ही एक निश्चित तिथि पर होने को है, जिनमें आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही बिक जाने की योग्यता है और जो ह्रास की जोखिम से मुक्त हैं। कभी-कभी ऋण लेनेवालों की वैयक्तिक प्रतिभूति ही ले ली जाती है, अथवा एक संयुक्त प्रणपत्र अथवा दो नामवाला साख पत्र ही ले लिया जाता है। इस ऋण में पूरी राशि पर ब्याज लगाया जाता है।

जमा की हुई राशि से अधिक निकालने—अधिविकर्ष (Overbraft) का अधिकार भी केवल बैंक व्यवस्थापक से पहिले ही तय कर लेने पर प्राप्त हो सकता है। इसे प्राप्त करने के लिये ग्राहकों को उसके पास जाना पड़ता है अथवा उससे लिखा-पढ़ी करनी पड़ती है। इसमें यह भी तय हो जाता है कि इस तरह से अधिक से अधिक कितनी राशि निकाली जा सकती है। फिर, जितने दिनों के लिये यह सुविधा दी जाती है वह भी पहिले से ही निश्चित हो जाती है। इतना हो जाने पर बैङ्कर उस निश्चित राशि तक चेक सकारता जाता है। साधारण ऋण (Loan) और जमा की हुई राशि से अधिक प्राप्त करने—अधिविकर्ष (Overdraft) में एक यह भी अन्तर है जब कि साधारण ऋण (Loan) में ग्राहक ऋण की पूरी राशि पर ब्याज देता है जमा की हुई राशि से अधिक प्राप्त करने—अधिविकर्ष (Overdraft) से वह उतनी ही राशि पर ब्याज देता है जितनी दिन प्रति दिन उसके नाम पड़ी रहती है। इसके यह अर्थ हैं कि जमा की हुई राशि से अधिक प्राप्त करने—अधिविकर्ष (Overdraft) में ग्राहकों को साधारण ऋण (Loans) की अपेक्षा कहीं लाभ होता है। किन्तु बैङ्क इन पर ऊँचे दर से ब्याज लगाकर ऐसा नहीं होने

देते। ऋण की तरह वह भी प्रतिभूति पर अथवा प्रतभूति के बिना ही प्राप्त हो सकते हैं।

नकद साख—(Cash Credit) देने की प्रणाली स्काटलैण्ड में जहाँ यह पहिले-पहिल चालू हुई थी, बहुत ही प्रिय है। मैक्लियड का कहना है कि वहाँ की उन्नति केवल इसी प्रणाली के कारण हुई है। उसका कथन है कि नाइल नदी ने जो कुछ मिश्र के लिये किया है वही नकद साख (Cash Credit) प्रणाली ने स्काटलैण्ड के लिए किया है, अर्थात् वह उत्पादन बढ़ाने वाली सिद्ध हुई है। लेवी कहता है 'स्काच बैंको ने बहुत से दरिद्र स्काचों को केवल दो घरेलू व्यक्तियों द्वारा लिखे हुए साख पत्रों पर ही नकद साख देकर योग्यता की स्थिति में ही नहीं वरन् बहुत ही महत्वपूर्ण स्थितियों में पहुँचा दिया है।' हमारे देश में भी यह प्रणाली व्यापारिक बैङ्कों को बहुत ही प्रिय है। किन्तु वे इसे केवल वैयक्तिक प्रतिभूति पर ही न देकर ऐसे प्रणपत्रों की प्रतिभूति पर देते हैं जिनके पृष्ठ पर हिस्से अथवा अन्य साखपत्र रहते हैं अथवा रुई, पाट और चावल जैसी वस्तुयें होती हैं। यदि माल बैङ्कों के गोदामों में रख दिया जाता है तो उनके वहाँ पहुँचने पर ऋण दे दिया जाता है और उसकी जैसे-जैसे वापसी होती जाती है वह छुटता जाता है। ऋण देते समय उचित छूट (Margine) रख ली जाती है। इसमें भी जमा की हुई राशि से अधिक निकालने अधिविकर्ष (Overdrafts) की तरह ही जो राशि ऋण लिये रहता है उसी पर व्याज लगता है। हाँ, दोनों में एक अन्तर यह है कि जब इसमें ऋणी के नाम का एक नया खाता जिसे उल्टा चालू खाता (-Inverse Current Account) कहा ,जा सकता है, खोला जाता है उसमें वही पुराना चालू खाता चलता रहता है।

बिल भुना करके भी ऋण प्राप्त किया जा सकता है। आधुनिक व्यापार साख पर ही निर्भर है। नकद सौदे तो केवल खुदरा व्यापार में ही होते हैं। उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध के बहुत से सौदे तो साख पर होते हैं। कच्चे माल के उत्पादक उन्हें माल बनाने वालों के हाथ साख पर ही बेचते हैं। ऐसे ही माल बनाने वाले थोक व्यापारियों के हाथ, थोक व्यापारी खुदरा व्यापारियों को साख पर ही माल बेचते हैं, अतः यह आदि से अन्त तक फैला हुआ है और हम यह बात किसी विरोध के बिना कह सकते हैं कि आज का समस्त औद्योगिक

संसार साख की जंजीर से जकड़ा हुआ है। यदि यह अपने इस विस्तीर्ण रूप में न फैला होता तो उत्पत्ति का आज कल का इतना बड़ा रूप सम्भव ही न होता। साख ने व्यापार की मशीन की चाल बढ़ा दी है। जब कोई माल का सौदा होता है तो विक्रेता एक विनिमय बिल तैयार करता है जिसमें वह क्रेता से एक निश्चित अवधि बीत जाने पर उसमें दी राशि देने की माँग करता है। भुगतान का यह तरीका बहुत ही सुविधाजनक है।

(१) प्रथम तो इसका भुगतान बैंकों द्वारा होने के कारण मुद्राओं और नोटों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(२) दूसरे विनिमय के बिलों से भुगतान की तारीख भी निश्चित हो जाती है और वह एक प्रकार के साक्षी का भी काम देते हैं। भुगतान के दिन यदि इसका ऊपरवाला धनी (Drawee) भुगतान नहीं करता तो वह अदालत में यह नहीं कह सकता कि उसके ऊपर ऋण नहीं चाहिये। जिस सौदे के सम्बन्ध में कोई बिल किया जाता है, उस सौदे के विषय में कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता। बिल स्वयं ही ऋण का द्योतक माना जाता है।

(३) तीसरे, इसका अधिकारी (Holder) इसे अपने ऋण के भुगतान में हस्तान्तरित (Transfer) कर सकता है।

(४) अन्तिम बात यह है कि आवश्यकता पड़ने पर इसके अधिकारी को इसे भुनाने से इसके भुगतान की तारीख के पहिले ही इसकी राशि मिल जाती है।

वास्तव में जिन व्यापारियों के पास पूँजी तो कम है किन्तु साख पर काम करना है उनके लिए पूँजी पाने का यह अच्छा साधन है।

बिल भुनाने का तरीका एक ऐसा तरीका है जिसमें बैंकर कोई अन्य प्रतिभूति लिए बिना ही ऋण दे देता है। इस स्थिति में उसके लिये केवल लिखने वाले धनी (Drawer) और ऊपरवाले धनी (Drawee) दोनों की वैयक्तिक प्रतिभूति ही रहती है। कभी-कभी यह बिल पहिले तो भुनाने का काम करने वाली संस्थाओं (Discounting Houses) अथवा बिलों के दलालों (Bill Brokers) से भुना लिया जाता है और फिर वे इसे किसी बैंक से भुनाते हैं। ऐसी अवस्था में इन मध्यस्थों की एक और प्रतिभूति हो

जाती है। भारतवर्ष में सर्राफ अथवा देशी महाजन (Indigenous Bankers) यह मध्यस्थ का काम करते हैं। बिल पर ऋण देने वाला महाजन (Banker) शेष अवधि का ब्याज काटकर बिल की राशि उसके अधिकारी के खाते में जमा कर देता है और वह उसमें से चेकों द्वारा धीरे-धीरे निकालता रहता है। बैंक इसे भुगतान की तारीख तक अपने पास रखते हैं और अन्त में ऊपर वाले धनी से उनकी राशि प्राप्त कर लेते हैं। ऊपर वाला धनी किसी बिल पर अपनी स्वीकृति देने के समय अपने बैंक को जिसका नाम वह स्वीकृति के साथ साथ भुगतान देने के स्थान पर लिख देता है उसका भुगतान करने के लिए सूचित कर देता है।

बिलों पर ऋण देना बैंकों के लिये बहुत ही लाभप्रद है—

(१) बिल पर मिलने वाली राशि निश्चित रहती है। वह कभी भी नहीं बदल सकती। इसके विपरीत अन्य प्रतिभूतियों की राशियाँ बदलती रहती हैं। उनके मूल्य ह्रास से हानि भी हो सकती है।

(२) बिल की अवधि बीत जाने पर उसका भुगतान मिल जाना पूर्णतया निश्चित ही रहता है। बात यह है कि किसी बिल के खड़े रह जाने पर (Dishonour) उसके ऊपरवाले धनी की कड़ी बदनामी होती है जिसे कोई भी व्यक्ति सहन नहीं कर सकता। फिर, यदि वह उसका भुगतान नहीं करता तो उस पर और जो धनी उत्तरदायी होते हैं वह उसका भुगतान कर देते हैं।

(३) किसी भी बैंक का व्यवस्थापक बिलों पर ऋण देते समय इस बात का ध्यान रख सकता है कि उनमें से कुछ बराबर भुगतान के लिये पकते रहें। इससे उसे बराबर नकदी मिलती रहती है।

(४) केन्द्रीय बैंक अच्छे बिलों पर फिर से ऋण देने (Rediscounting) के लिये बराबर तैयार रहते हैं। इन पर वह अपनी बैंकदर (Bank-rate) से ब्याज लेते हैं।

(५) यदि इन्हें भुनाने की दर और ब्याज की दर एक ही होती है तो भी इनके ऊपरी-मूल्य (Face-value) पर न कि जितना ऋण दिया गया है उस पर कटौती (Discount) मिलने के कारण बैंकों को लाभ ही होता है। इसके अतिरिक्त इनका यह लाभ ऋण देने के समय ही मिल जाता है और

अन्य ऋणों का ब्याज कुछ समय बीतने पर मिलता है। अतः, बैंक इस पूंजी से भी लाभ उठा सकते हैं।

किन्तु इस व्यवसाय में भी इसे बेपरवाही से करने पर बड़ी जोखिमें हैं। यह बात विशेषतः इसलिये है कि विनिमय बिल कई प्रकार के होते हैं— वास्तविक (Genuine), बनावटी (Non-genuine)। इन दोनों में विभेद करना भी असम्भव सा है। वास्तविक बिल व्यापारिक सौदों के सम्बन्ध में किये जाते हैं। अतः, उनके भुगतान की तारीख तक माल बिक जाने की सम्भावना होने से उनका भुगतान तो एक प्रकार से निश्चित सा ही रहता है। किन्तु बनावटी बिल तो केवल उनके धनियों की साख पर ही निर्भर रहते हैं। अतः, उनके भुगतान में सन्देह हो सकता है। कभी-कभी ये बिल केवल अपने व्यापारी मित्रों की आर्थिक सहायता करने के विचार से ही स्वीकृत कर लिये जाते हैं, और उनके भुन जाने से लिखनेवाले धनी को द्रव्य तो मिल ही जाता है। लिखनेवाला धनी इसके भुगतान की तारीख के पहले ऊपरवाले धनी के पास इसकी राशि पहुँचा देने का वायदा कर लेता है। अब, यदि वह ऐसा नहीं करता तो सम्भव है कि ऊपरवाला धनी उसका भुगतान न कर सके। राऊ कहता है कि यदि सहायता के सम्बन्ध के बहुत से बिल हो जायँ और लिखने-वाले तथा ऊपरवाले धनियों की आशायें सफलीभूत न हों तो यह सम्भव है कि ऐसे बिलों का भुगतान न होने के कारण बैंकर की हानि हो जाय। ये बिल साख पर तो निर्भर होते ही हैं और साख का अनुचित प्रयोग कभी भी किया जा सकता है। सहायता के बिल (Accommodation Bills) पतंगी बिल (Kite Bills) भी कहे जाते हैं। आशा पर किये गये बिल (Anticipatory Bills) अर्थ बिल (Financial Bills) भी कहलाते हैं। ये वर्तमान सम्पत्ति के ऊपर नहीं वरन् भविष्य में उत्पन्न होने वाली संपत्ति पर किये जाते हैं। ये अमेरिका में बहुत प्रचलित हैं और कृषकों को उनके दैनिक व्यय देने के लिये किये जाते हैं। ये भी बैंकरों के लिये उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि खड़ी खेती के मूल्य पर निर्भर रहना जोखिम से खाली नहीं है।

आढ़त के काम (Agency Services)

बैंकर अपने ग्राहकों के लिये अनेक प्रकार के आढ़त के काम भी किया

करते हैं। वे उनके चेकों, बिलों, प्रणपत्रो, ब्याजपत्रों, (Coupons), लाभांश पत्रों (Dividend warrants), चन्दे (Subscriptions), किराये, आय कर, बीमे के प्रीमियम, इत्यादि की वसूली भुगतान और जमा करते हैं। वे उनकी तरफ से हिस्से-पत्रों, स्टाकों, ऋणपत्रों, इत्यादि की स्टाक एक्सचेञ्ज में और अन्य वस्तुओं की अन्य बाजारों में लेवा-वेची करते हैं। वास्तव में वे आढ़त पाने पर उनके लिये कोई भी काम कर सकते हैं। कभी-कभी तो वे इन्हें आढ़त लिये विना ही केवल जमा प्राप्ति की लालच में ही किया करते हैं। किन्तु वे जब आढ़त का काम करते हैं तब उनके ऊपर बहुत से महत्वपूर्ण दायित्व आ पड़ते हैं।

अन्य काम (Miscellaneous Services)

अन्य कामों में बैंकरों द्वारा किये जानेवाले अनेक काम सम्मिलित हैं। वे अपने ग्राहकों की मूल्यवान सम्पत्ति, गहने और जवाहिरात तथा मूल्यवान कागज सुरक्षित रखने (Safe custody) के लिये भी लेते हैं। वे सम्पत्ति देने (Referee) का भी काम करते हैं जब कोई व्यवसायी किसी अन्य व्यवसायी की आर्थिक स्थिति का पता लगाना चाहता है तब उसे उसके बैंकर का हवाला (Reference) दे दिया जाता है जो उसे उसके विषय में सारी सूचनायें दे देता है। वे अपने ग्राहकों के सम्भावित ग्राहकों की स्थिति का पता भी लगा देते हैं जिससे वे उनकी साख पर काम करने अथवा न करने का निश्चय करते हैं। वे साख-पत्र (Letters of credit) और बैङ्क ड्राफ्ट भी निकालते हैं। इनके द्वारा राशि एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजी जाती है। किन्तु किसी बैंकर का सबसे महत्वपूर्ण काम तो यह है कि वह अपने ग्राहकों को सच्ची मित्रता और सहनशीलता सिखाता है। बैङ्किग की कार्य-कुशल प्रणाली साख के दर्जे की और समाज की व्यवसायिक सच्चरित्रता की इतनी उन्नति करती है कि बैङ्क साधुशीलता, विश्वासपात्रता, इमानदारी, सत्यता और योग्यता के निर्माता कहे जाते हैं। किसी राष्ट्र के यहाँ जब सीधी-सादी द्रव्य प्रणाली के स्थान पर पेचीदा साख-प्रणाली चालू हो जाती है तभी हमें इस बात का पता चलता है कि उपर्युक्त गुणों के उसके जनसाधारण में कूट-कूट कर भर जाने से क्या लाभ होता है।

प्रश्न

(१) व्यापारिक बैंकों के कामों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(२) बैंक किन-किन विभिन्न खातों में जमा प्राप्त करते हैं ? उनमें से प्रत्येक के महत्वपूर्ण लक्षण बताइये।

(३) बैंकों की जमा किन-किन तरीकों से बनती है ? साथ ही यह भी बतलाइये कि वह उन्हें कहाँ तक शक्ति प्रदान करती है ?

(४) 'साख की उत्पत्ति बैंक के लेखक की लेखनी पर ही निर्भर है।' उपर्युक्त की आलोचना कीजिये।

(५) कीन्स का कथन है "ऋण जमा के बच्चे हैं और जमा ऋण के बच्चे हैं।" इससे आप कहाँ तक सहमत हैं ?"

(६) बैंकों के ऋण देने के सम्बन्ध में लार्ड ओवरस्टन का जो यह कथन है कि यह मेरी बुद्धि है और दूसरों का द्रव्य है, उससे आप कहाँ तक सहमत हैं ?

(७) बैंकों के ऋण के जितने रूप हो सकते हैं उनका एक संक्षिप्त विवरण दीजिये। डिस्काउन्ट का व्यवसाय बैंकों को क्यों अधिक प्रिय है ?

अध्याय ५

व्यापारिक बैंकों के काम करने की प्रणाली

(Banking Operations)

व्यापारिक बैंकों के काम करने की प्रणाली में निम्न चार बातों का अध्ययन करना पड़ता है :—

(१) बैंकों को उनकी कार्यशील पूँजी (Working Capital) कैसे प्राप्त होती है ?

(२) बैंक अपनी कार्य-शील पूँजी का कैसे उपयोग करते हैं ?

(३) बैंक कैसे लाभ कमाते हैं ?

(४) बैंक अपने लाभ का किस प्रकार उपयोग करते हैं ?

अंश बेचना—बैंकों को उनकी कार्यशील-पूँजी अनेक ढङ्ग से प्राप्त होती है। प्रथम तो अन्य व्यापारिक संस्थाओं की तरह वह भी अपने हिस्से (Shares) निकालते हैं। किसी बैंक के संस्थापक यह निश्चय करते हैं कि उनके बैंक की रजिस्ट्री कितनी पूँजी से होनी चाहिये। सारी पूँजी बराबर-बराबर राशि के कुछ भागों में विभक्त कर दी जाती है, और प्रत्येक भाग एक हिस्सा (Share) कहलाता है। ये हिस्से जनता को क्रय करने के लिये दिये जाते हैं। कभी-कभी सब हिस्से प्रारंभ ही में जनता के क्रय के लिये नहीं निकाले जाते, वरन् उनमें से कुछ भविष्य में निकालने के लिये रोक लिये जाते हैं। फिर, जितने हिस्से निकाले जाते हैं उन सब को जनता हमेशा ले भी नहीं लेती है। अब यदि विवरण पत्रिका (Prospectus) में दी हुई न्यूनतम पूँजी (Minimum subscription) के हिस्सों के लिये उचित समय के अन्दर जनता के प्रार्थना-पत्र नहीं आ जाते हैं तो उनकी बँटनी (Allot- ment) नहीं होती और बैंक भङ्ग कर दिया जाता है। फिर, हिस्सों की पूरी राशि भी न मँगाई जाकर केवल कुछ अंशों में ही मँगाई जा सकती है। शेष राशि आवश्यकता पड़ने पर भविष्य में मँगाने के लिये छोड़ी जा सकती है। अन्तिम, यह भी संभव है कि सब हिस्सेदार कुछ माँगी हुई राशि न दे पावें। अतः, पूँजी के भिन्न-भिन्न रूप हैं और उनके भिन्न-भिन्न नाम भी हैं। जिस पूँजी से बैंक की रजिस्ट्री होती है उसे अधिकृत अथवा पूँजीपित अथवा नामपत्र की पूँजी (Authorised, Registered or Nominal Capital) कहते हैं, निकाली हुई पूँजी प्रसारित पूँजी (Issued Capital), खरीदी हुई पूँजी क्रीत पूँजी (Subscribed-Capital), माँगी हुई पूँजी (Called up Capitalt) और प्राप्त पूँजी प्रदत्त पूँजी (Paid up Capital) कही जाती है। प्राप्त पूँजी और माँगी हुई पूँजी के अन्तर की राशि अवशिष्ट पूँजी (Calls in arrear) कहलाती है। यह अन्तर अधिक दिनों तक नहीं चलता। उचित समय व्यतीत हो जाने पर उन व्यक्तियों के हिस्से अपहृत (Forfeit) कर लिये जाते हैं जो उन पर की गई माँग नहीं पाते हैं और उन्हें दूसरों के नाम बेच दिया जाता है। हिस्सों की पूर्ण राशि न माँग कर कुछ

कुछ छोड़ दी जाती है तो वह शेष राशि हिस्सेदारों का सुरक्षित दायित्व (Reserved Liability of the Shareholders) कहा जाता है। वैयक्तिक बैन्करों (Individual Bankers) और साझे के बैन्करों का दायित्व तो असीमित रहता है, अर्थात् यदि उनके व्यवसाय का ऋण उनके व्यवसाय की पूँजी से नहीं पूरा हो पाता तो उसे उन्हें अपनी निजी पूँजी से पूरा करना पड़ता है। किन्तु सम्मिलित पूँजी के बैंकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उनके हिस्सेदारों को केवल उनकी पूँजी की राशि ही देनी पड़ती है। यदि ध्यान से देखा जाय तो यह ठीक ही है। वैयक्तिक बैंकर और साझी बैंकर अपना व्यवसाय स्वयं चलाते हैं और उसकी नीति निर्धारित करते हैं। अतः, उनका उत्तरदायित्व भी असीमित रह सकता है। किन्तु सब हिस्सेदार तो व्यवसाय देखते नहीं, अतः उनका उत्तरदायित्व सीमित ही रहना चाहिये। सीमित दायित्व का सबसे पहिला विधान सन् १८५५ में इङ्गलिस्तान में पास किया गया था किन्तु उस समय यह केवल अन्य व्यापारों के लिए था, बैंकिंग के लिये नहीं। अधिकांश लोगों का यह विचार था कि बैंकरों की स्थिति ऐसी दायित्व-पूर्ण है और उनके पास लोगों की इतनी अधिक जमा रहती है कि उनका दायित्व सीमित नहीं किया जा सकता। सन् १८५७ में बड़े सकट का समय आ गया और उसमें बहुत से बैंक विशेषतः स्काटलैण्ड का पश्चिमी बैंक (Western Bank of Scotland) भी फेल हो गया। अतः यह देखा गया कि धनी लोग बैंकों के हिस्से नहीं खरीदते। उनके अधिकतर हिस्से गरीबों के पास ही रहते हैं। इसीलिये धनी लोगों को बैंकों के हिस्से लेने को प्रोत्साहित करने के लिये सन् १८५८ में बैंकों के हिस्सेदारों का दायित्व भी सीमित कर दिया गया। किन्तु बहुत से बैंकों ने यह सोचकर कि कहीं ऐसा करने से उनके ग्राहकों का उनके ऊपर से विश्वास न उठ जाय, ऐसा नहीं किया। लेकिन सन् १८७८ में ग्लासगो शहर के बैंक (City of Glasgow Bank) के फेल हो जाने पर उसके हिस्सेदारों की बहुत क्षति हो जाने के कारण बैंकों के हिस्सेदारों में इतना डर समा गया कि उन्हें दायित्व सीमित करना ही पड़ा। सन् १८७९ में सुरक्षित दायित्व का एक विधान पास किया गया जिसके अनुसार बैंक अपने हिस्सों को पूर्ण मूल्य (Nominal value) इस शर्त पर बढ़ा सकते थे

कि वह बढ़ा हुआ मूल्य केवल उनके दिवालिया होने पर ही आवश्यकता पड़ने पर लिया जा सकेगा। बस, यह उनका सुरक्षित दायित्व कहलाया। इसका फल यह हुआ कि जब एक ओर तो हिस्सेदारों का दायित्व सीमित हो गया दूसरी ओर बैंकों में जमा करनेवालों को यह विश्वास हो गया कि यदि वह फेल भी हो जायेंगे तो उनकी जमा के भुगतान के लिये कुछ पूँजी तो सुरक्षित दायित्व से मिल ही जायगी। तब से यह प्रथा प्रचलित है और बैंक अपने हिस्सेदारों से उनके खरीदे हुये हिस्सों की पूरी पूँजी नहीं मागते। हमारे देश में सीमित दायित्व का सिद्धान्त सन् १८६० में माना गया था। अतः, उसके बाद ही यहाँ पर बहुत से बैङ्क स्थापित हुये। ऊँचे दर्जे के बैङ्को की प्रसारित पूँजी और क्रीत पूँजी में कोई अन्तर नहीं होता। बात यह है कि उनके निकाले हुये सभी हिस्सों के खरीदार मिल जाते हैं। अधिकृत पूँजी और निकाली हुई पूँजी का अन्तर इस बात का द्योतक है कि व्यवसाय बढ़ने पर बैङ्क की पूँजी भी बढ़ जायगी। किन्तु इन सब में सबसे महत्वपूर्ण तो प्राप्त पूँजी ही है। वही तो बैङ्क की कार्यशील पूँजी का एक विशेष अंग है। किन्तु यह अंग अन्य अंगों की अपेक्षाकृत बहुत ही कम होता है। एक बात और ध्यान देने की है और वह यह है कि हिस्सेदार अपनी पूँजी पर कुछ आय भी चाहते हैं। बैङ्कों को लाभ तो मिलता ही है, किन्तु उसमें से कुछ तो वे सुरक्षित कोष (Reserve funk) के लिये बचा लेते हैं। हाँ, शेष हिस्सेदारों में लाभ के रूप में (Dividend) बाँट दिया जाता है। सुरक्षित-कोष अन्त में हिस्सेदारों का ही होता है। अतः, वह भी पूँजी का ही एक अङ्ग माना जाता है। किसी बैङ्क के सब हिस्से बिक जाने और उनकी पूरी पूँजी मँगा लेने के कारण जब व्यवसाय बढ़ने पर उस बैङ्क की पूँजी बढ़ने का कोई तरीका नहीं रह जाता तब इसी तरीके से बराबर उसकी पूँजी बढ़ती रहती है।

जमा प्राप्त करना—कार्यशील पूँजी प्राप्त करने का एक दूसरा और बहुत ही महत्वपूर्ण साधन जमा प्राप्त करने का है। जैसा कि हम पहिले ही देख चुके हैं यह जमा भिन्न-भिन्न रूपों में और भिन्न-भिन्न खातों में प्राप्त की जाती है। अतः, केवल वही जमा कार्यशील पूँजी बढ़ाती है जो नकदी के रूप में अथवा ऐसे अधिकारों के रूप में होती है, नकदी प्राप्त हो सकती है। विनिमय बिलों

पर अथवा अन्य तरह से ऋण देकर जो जमा प्राप्त की जाती है वह कार्यशील पूँजी नहीं बढ़ाती। पहिले प्रकार की जमा प्रत्यक्ष जमा (Direct deposits) और दूसरे प्रकार की जमा अप्रत्यक्ष जमा (Indirect deposits) कहलाते हैं। बैंकर अपने ग्राहकों की वह राशि भी जो उनके पास आढ़त के काम के सम्बन्ध में आती है, उस समय तक प्रयोग में ला सकते हैं, जिस समय तक वह आढ़त के काम में नहीं आ जाती। उदाहरण के लिये जब एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने के लिए द्रव्य दिया जाता है तो जब तक वह पानेवाले को नहीं दे दिया जाता तब तक बैङ्कर उसे प्रयोग में ला सकता है, इत्यादि।

किन्तु बैङ्क के जमा का व्यवसाय या तो अधिकार का पारस्परिक विनिमय है[1] या द्रव्य और अधिकार का विनिमय है। कोई बैङ्क जब द्रव्य पाता है तब वह जमा करनेवाले को अपनी इच्छा पर उसे निकालने का अधिकार देता है। जब उसे विनिमय बिल, चेक, प्रणपत्र, लाभपत्र, व्याजपत्र, इत्यादि उनकी रकम वसूल करने के लिये मिलते हैं तब उसे द्रव्य वसूल करने का अधिकार मिलता है और वह उसके स्थान पर उसे निकालने का अधिकार देता है। जब उसे चन्दा, किराया, आयकर, बीमे का प्रीमियम और दूसरे सामयिक भुगतान मिलते हैं तब वह द्रव्य पाता है और जिनके लिये वह ऐसा करता है उनको इन्हें निकालने का अधिकार देता है। इधर से उधर द्रव्य भेजने में भी वह द्रव्य पाता है और निकालने का अधिकार देता है। जहाँ तक अप्रत्यक्ष जमा का प्रश्न है उसमें तो केवल अधिकारों का ही विनिमय होता है। दूसरे शब्दों में यह साख का व्यवसाय है क्योंकि ग्राहकों और बैङ्कों के बीच में जितने लेन-देन होते हैं उनमें सब में विश्वास की मात्रा प्रधान होती है। इसके बिना कोई किसी को द्रव्य अथवा उसे पाने का अधिकार सौंप ही नहीं सकता है।

राऊ के कथन के अनुसार बैङ्कों का जमा का व्यवसाय बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें वह इधर-उधर पड़ी हुई दस, बीस, पचास और सौ-सौ की छोटी-छोटी राशि एकत्रित करता है। अकेले इनमें कोई आर्थिक कुशलता नहीं है,

---

1. "The whole beposit business of a Bank consists in the exchange of rights against rights or rights against money."

किन्तु जब बैंकर इन्हें प्रयोग में लाते हैं तब यह बड़े से बड़े काम कर डालते हैं। बेजहौट के कथन के अनुसार इंगलिस्तान के द्रव्य बाजार के इतना धनी और महत्वशाली होने का यदि एक मात्र नहीं तो मुख्य कारण यही है कि वहाँ पर द्रव्य की एकाग्रता पाई जाती है। लोगों की राशि जमा करना और उन्हें व्यापारियों और उद्योगपतियों को देना यह बैङ्कों की समाज के प्रति पहिली सेवा है और इसकी कुशलता इस बात पर निर्भर है कि उन्होंने कितनी राशि जमा कर ली है और व्यापार और उद्योग-धन्धों की कितनी माँग पूरी की है। भारतीय बैङ्क बहुत कुशल नहीं कहे जा सकते क्योंकि न तो उन्होंने यहाँ के सर्वसाधारण की बचत ही प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और न वे व्यापार और उद्योग-धन्धों की माँग ही पूरी कर पाते हैं।

बैङ्क अपने ग्राहकों को उनके जमा के सम्बन्ध में चेक काटने के अधिकार देकर अधिकाधिक क्रय-शक्ति उत्पन्न करते हैं। यह उनकी दूसरी समाज सेवा है। राऊ के कथन के अनुसार जमा से उत्पन्न होने वाली करन्सी (Deposit currency) अथवा चेक करन्सी अथवा बैङ्कों का यह द्रव्य, चाहे जिस नाम से पुकारा जाय, बहुत ही लोचप्रद (Elastic) है। वास्तव में चेक सम्बन्धी कोई वैधानिक अड़चन न होने से वे सुरक्षा और समाज हित का ध्यान रखते हुये किसी भी राशि तक निकाले जा सकते हैं। अब, यह सुरक्षा और समाज हित क्या है यह तो पहिले ही बताया जा चुका है। इनका उलंघन इस सेवा कार्य को अहित में परिणत कर देता है। रक्षा की सीमा पार करने से बैङ्क फेल हो सकते हैं और समाज हित त्याग देने से इतनी क्रय-शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि उससे वस्तुओं का मूल्य अत्यधिक बढ़ जाने से समाज का अहित होता है। साख उत्पन्न करना है तो आसान किन्तु उसी के अनुपात में उत्पत्ति बढ़ाना कठिन है।

नोट चलाना—पूँजी प्राप्त करने का तीसरा साधन नोट चलाना है। किन्तु यह साधन अब अधिकांश बैङ्कों के लिये उपलब्ध नहीं है। धात्विक-द्रव्य की तरह नोट चलाने का अधिकार सदा से ही राज्याधिकार माना गया है। किन्तु जब धात्विक-द्रव्य निकालने का अधिकार राज्य ने बराबर उपयोग किया है, तब कुछ विशेष हालत छोड़कर नोट चलाने का अधिकार उसने बैंकों ही को सौंप

दिया है। यदि कहीं बैंक स्वयं ही अपने नोट चलाते आ रहे थे तो वहाँ राज्य ने पहिले तो उनकी सुरक्षा के लिये कुछ वैधानिक नियम बनाकर उन्हें ऐसा करते रहने की विधानतः आज्ञा दे दी; किन्तु शीघ्र ही उसने यह बात अनुभव की कि इसमें समानता लाने के लिये, अच्छे निरीक्षण के लिये और इससे उत्पन्न हुए लाभ में राज्य का हिस्सा बढ़ाने के लिए इसका या तो किसी एक बैंक को एकाधिकार अथवा शेषाधिकार (Residuary power) देना पड़ेगा। वेरास्मिथ के अनुसार शेषाधिकार वह है जब कई बैंक नोट चलाते हैं किन्तु उनमें से एक को छोड़कर सब का यह अधिकार सीमित रहता है। वास्तव में एक मुख्य बैंक के ही नोट विशेषतः चालू रहते हैं और उसी पर अधिकांश करन्सी का दायित्व रहता है। हमें ज्ञात है कि यह सन् १८४४ में इंगलैण्ड में हुआ। हालैण्ड में यह सन् १८१४ ही में हो चुका था। फ्रांस में यह सन् १८४८ में, जरमनी में सन् १८७५ में, स्वीडिन में सन् १८९७ में, संयुक्त राष्ट्र में सन् १९१४ में, दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन में सन् १९२१ में, कोलम्बिया में सन् १९२३ में, आस्ट्रेलिया में सन् १९२४ में, चिली में सन् १९२५ में, इटली में सन् १९२६ में, न्यूजीलैण्ड में सन् १९३४ में, और कनाडा में सन् १९३५ में हुआ। भारतवर्ष में बैङ्कों के पास नोट चलाने की यह शक्ति सन् १८६१ तक रही। उस वर्ष सरकार ने इसे अपने हाथ में ले लिया और सन् १९३५ में यह इस देश के केन्द्रीय बैङ्क, रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को हस्तान्तरित कर दी गई।

जब कोई बैंक नोट निकालता है तब वह स्वयं अपनी कार्यशील पूँजी उत्पन्न करता है। पहिले-पहिले जो नोट चलाये गये थे वह द्रव्य की रसीदें थीं। साथ ही उन्हें चलाने वालों ने यह भी शीघ्र ही समझ लिया था कि जैसा जमा की रसीदों के सम्बन्ध में है वैसा ही इनके सम्बन्ध में भी है अर्थात् इन सब का भुगतान भी कभी एक साथ नहीं करना पड़ेगा। अतः, वह वास्तविक द्रव्य का एक बड़ा अंश चाहे जिस काम में लावें, उससे उनके नोटों के भुगतान में तनिक भी अड़चन नहीं पड़ेगी। जब तक किसी बैंक की साख मानी जाती थी तब तक उसके नोट नकदी ही समझे जाते थे और विधानतः ग्राह्य द्रव्य (Legal tender money) के सदृश्य ही माने जाते थे। बस,

बिल भुनाने में और ऋण देने में भी यही नोट देना प्रारम्भ हो गया और लोग इन्हें सहर्ष लेने भी लगे। बैंकों के लिये भी इस बात में कोई अन्तर नहीं था कि उनके साख की उत्पत्ति नोटों में हो अथवा अप्रत्यक्ष जमा में हो। यदि इनमें कोई अन्तर था तो वह केवल रूप का ही था। किन्तु व्यापारियों की दृष्टि में नोटों की अपेक्षाकृत जमा के अधिक लाभप्रद जँचने के कारण और जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, नोट निकालने पर अधिकाधिक बन्धन लग जाने के कारण जमा बहुत ही महत्व पकड़ती गई यहाँ तक कि उसकी करन्सी संसार के प्रगतिशील देशो में आज नोट करन्सी से कहीं अधिक प्रचलित है।

जमा और नोट करन्सी की सादृश्यता—राऊ—कहता है कि (१) दोनों का प्रयोग ग्राहकों को ऋण देने में अथवा उनके प्रणपत्रों और बिलो का विनिमय करने में किया जा सकता है। (२) दोनों ही प्रणपत्रों के रूप में अथवा ग्राहकों के बिलो के रूप में जनता की सेवा करते हैं। (३) दोनों में ही बैंकों से विधानतः ग्राह्य द्रव्य माँगने का अधिकार रहता है। (४) दोनों ही बैंकों के लिये आय के साधन हैं। (५) बैंकर के लिये दोनों माँग पर पूरा करनेवाले दायित्व हैं।

अन्तर—राऊ के अनुसार ही "बैंक नोट जमा की अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुरक्षित दायित्व हैं। अतः, बैंक अपनी साख इस रूप में चलाना अधिक पसन्द करता है। उद्योग-धन्धों में चाहे जितनी मन्दी क्यों न आ जाय जब तक बैंक जनता का विश्वासपात्र है तब तक उसके नोट चलते ही रहते हैं। जमा को तो उसके ग्राहक किसी समय भी अपना दायित्व पूरा करने के लिये प्रयोग में ला सकते हैं, किन्तु छोटे नोट बहुत दिनो तक चलते रहते हैं और प्रायः जमा के रूप में बैंकों के पास वापस आते हैं। बैंक नोट में चलन-शक्ति चेको के अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। जिस प्रकार चन्द्रमा गरीबों की लालटेन कहा जा सकता है उसी प्रकार बैंक नोट गरीबों की जमा कही जा सकती है। अतः, लोगो की वास्तविक माँग पूरा करने के लिये नोट देने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ती।"

किन्तु यह सब सैद्धान्तिक है। वास्तव में साधारण बैंकों के पास तो अब नोट चलाने का अधिकार रह ही नहीं गया है।

बैंक अपनी कार्यशील पूँजी का कैसे उपयोग करते हैं

उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट ही हो गया है कि बैंकों की अधिकांश कार्यशील पूँजी माँग पर देय है। हाँ, उनके हिस्सेदारों से प्राप्त पूँजी और उनके लाभ का वह अंश जिसे वह हिस्सेदारों में न बाँटकर सुरक्षित कोष के रूप में रख लेते हैं, अवश्य ही स्थायी होता है। किन्तु बैंकिंग के व्यवसाय का अर्थ पूँजी रख छोड़ना नहीं वरन् उसे चलायमान रखना है। बैंको को थोड़ा सा नकद कोष रखने के अतिरिक्त शेष सभी ऐसी लागतों में लगा देना चाहिये जो आवश्यकता पड़ने पर उसके खाली हो जानेवाले कोष का स्थान लेने के लिये उपलब्ध हो सके। थोड़े-थोड़े समय पर प्रायः ऐसे अवसर आते रहते हैं कि लोग अधिकाधिक द्रव्य निकाल लेते हैं। कभी-कभी तो इन अवसरों पर ग्राहक ऋण लेने भी आ जाते हैं, जिन्हें पूरा करना भी बैंकों के लिये बहुत ही आवश्यक है। अतः, हम अगले पृष्ठों में यह बात समझाने का प्रयत्न करेंगे कि बैंक अपनी सम्पत्ति और अपने पावने (Assets) किस रूप में रखते हैं और उनके चुनाव में उन्हें किन-किन बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

कुशल बैंकर ऐसी ब्याजू लागत ढूँढते रहते हैं जो आसानी से वसूल हो जाती हैं; और भुगतान के लिए लगातार पकती रहती हैं। वह आर्थिक स्थितियों का बराबर ध्यान रखते हैं और उन्हीं के अनुसार अपनी लागतों में हेर-फेर करते रहते हैं। मोटे तौर पर इन्हें दो विभागों में बाँटा जा सकता है—(१) लाभ न देने वाली और (२) लाभ देने वाली। प्रथम में तो उनके नकद कोष और मृत स्टाक और दूसरे में माँग पर वापस होनेवाली लागत (Call money), बिलों पर की लागत (Discounts), ऋण (Advances), बाजारू साख-पत्रों पर की लागत (Investments), और बिल स्वीकार करना (Acceptances), इत्यादि सम्मिलित हैं।

(१) नकद कोष—इसे अङ्गरेजी में टिल मनी (Till money) कहते हैं। इसका अर्थ बैंकों के बक्सों में और केन्द्रीय बैंक में रक्खा हुआ द्रव्य है। इन्हें मिलाकर उनकी रक्षा की प्रथम कतार (Firs tline of defence)

बनती है। यह दिवालियापन से बचाती है। संक्षेप में यह पूर्व विधान युक्ति (Precautionary measure) है। बैंकों को यथेष्ट नकद कोष रखने और उसे निरन्तर सुदृढ़ बनाने का सदा प्रयास करते रहना चाहिये। इसके लिये उन्हें देर में वसूल होनेवाली लागत शीघ्र वसूल होने वाली लागत में परिवर्तित करते रहना चाहिये। जहाँ तक यह प्रश्न है कि नकद कोष और माँग पर देय रकम (Demanb liability) का क्या अनुपात रहना चाहिये यह बात जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, बहुत सी बातों पर निर्भर है और परिवर्तित होती रहती है। यह निम्नांकित हैं :—

(१) कहीं-कहीं व्यवस्थापक सभाओ (Legislatures) ने कुछ प्रतिशत निश्चित कर दिया है। इससे नवसिखियो को अवश्य सहायता मिलती है और अत्यधिक साहस करने वालों के ऊपर भी प्रतिबन्ध रहता है। किन्तु इसके अतिरिक्त यह कुछ नही है। वास्तव में बैंक प्रबन्धकों को विधान द्वारा बाँधने की अपेक्षाकृत उनकी स्वयं की सच्चाई, बुद्धि और निर्णय शक्ति पर विश्वास करना अधिक अच्छा है। कोई वैधानिक सीमा निर्धारित कर देने से उनके मस्तिष्क में झूठी सुरक्षा का बोध हो जाता है और वे सोचने लगते हैं कि उन्हे जो कुछ करना था वह उन्होने कर दिया है। फिर, यह बतलाना भी कठिन है कि यह निर्धारित प्रतिशत क्या होनी चाहिये क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों की व्यवस्थापक सभाओं ने जो प्रतिशत निर्धारित किये हैं वे सभी एक दूसरे से बहुत ही भिन्न हैं। उदाहरण के लिये डेनमार्क में यह चालू जमा का १० प्रतिशत है, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यह भिन्न-भिन्न स्थानो में भिन्न-भिन्न है, अर्जेण्टाइना में यह स्थायी जमा का ८ प्रतिशत और चालू जमा का १६ प्रतिशत है, चिली में यही क्रमशः ८ प्रतिशत और २० प्रतिशत है, इक्वेडोर में यह क्रमशः १० प्रतिशत और २५ प्रतिशत और बोलिविया में क्रमशः १० प्रतिशत और २० प्रतिशत है। कुछ देशों में इस प्रतिशत में केवल बैंकों में रक्खा हुआ सुरक्षित कोष और कुछ में इसमें यह और केन्द्रीय बैंकों में भी रक्खा हुआ सुरक्षित कोष दोनों सम्मिलित हैं। हमारे देश में रिजर्व बैंक के सदस्य बैंकों (Scheduled Banks) को उक्त बैंक के पास उनकी चालू जमा का ५ प्रतिशत और स्थायी जमा का २ प्रतिशत रखना पड़ता है। उनके स्वयं के बक्सों में रक्खे जाने वाले कोष पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसके विपरीत अन्य

बैंकों (Non-scheduled Banks) को उनकी स्थायी जमा का २ प्रतिशत और चालू जमा का ५ प्रतिशत अपने ही बक्सों में रखना पड़ता है।

(२) यह साधारणतः रक्खे जानेवाले प्रतिशत पर भी निर्भर रहता है। यदि किसी स्थान का एक बैंक अधिक प्रतिशत रखता है तो उस स्थान के अन्य बैंकों को भी जनता का विश्वासपात्र बनने के लिये वैसा ही करना पड़ता है। अन्य स्थानों के बैंकों की अपेक्षाकृत इंगलैण्ड के बैंक बहुत कम प्रतिशत रखते हैं।

(३) किसी बैंक के नकद कोष का परिमाण उसके प्रत्येक ग्राहक की जमा के औसत के परिमाण पर भी निर्भर रहता है। वास्तव में यह उतना होना चाहिये जितना सबसे अधिक जमा रखनेवाले ग्राहक की माँग पूरा करने के लिये काफी हो।

(४) जिन देशों में अधिकाश भुगतान चेकों द्वारा होते हैं उन देशों में उनकी अपेक्षाकृत कम कोष रखने की आवश्यकता पड़ती है जिनमें अधिकांश भुगतान नकदी में होते हैं।

(५) यदि निकास प्रणाली (Clearing system) बहुत ही उन्नत है तो बैंकों पर की गई अधिकांश चेकों का भुगतान परस्पर ही हो जाता है। मान लीजिये 'अ' बैंक के ग्राहकों ने 'ब' 'स' 'द' बैंकों के ग्राहकों के भुगतान में 'अ' बैंक के ऊपर के चेक दिये हैं। इसी तरह से 'ब' 'स' और 'द' बैंकों के ग्राहकों ने भी अपने से अन्य बैंकों के ग्राहकों के भुगतान में अपने-अपने बैंकों के चेक दिये हैं। अब, प्रत्येक बैंक के ग्राहकों को अन्य बैंको के ग्राहकों से उनके अपने-अपने बैंकों के ऊपर के जो चेक प्राप्त हुये होंगे उन्हें वे अपने-अपने बैंकों को देंगे। अतः सभी बैंको को अन्य बैंको से पाना और देना भी होगा। यदि निकास प्रणाली है तो इन चेकों का परस्पर भुगतान हो जायगा, नकदी नहीं देनी पड़ेगी। अतः, ऐसी अवस्था में बैंकों को बहुत कम नकद कोष रखना पड़ता है।

(६) जहाँ पर लोग अपने पास नकदी न रख कर बैंकों द्वारा काम करते हैं, वहाँ पर उसके बराबर चालू रहने से जब बैंक एक तरफ उसे देते हैं दूसरी

तरफ उसे पाते भी हैं। अतः, उनका काम कम नकदी रखने पर भी चल जाता है।

(७) यदि किसी बैंक के ग्राहक ऐसे हैं जो कभी-कभी बहुत राशि निकालदेते हैं जैसे बिलो के दलाल, इत्यादि तब उसे इन्हें पूरा करने के लिये काफी नकद कोष रखना पड़ता है।

(८) यदि किसी बैंक की लागत ऐसी है जिसकी वसूली आसानी से हो सकती है तो कम नकदी रखने मे भी काम चल सकता है। जिन देशो में द्रव्य बाजार और बिल बाजार बहुत उन्नत दशा में हैं उनमें उन्हीं में लागत लगाई जाती है। अतः, आवश्यकता पड़ने पर उनकी वसूली भी हो सकती है, इंगलैंड में बहुत काफी द्रव्य बिलो और स्टाक एक्सचेञ्ज के दलालों को जो अपने ऋणों के लिये बहुत उच्च श्रेणी की देखनहार सिक्योरिटीज गिरवीं रख लेते हैं और उन्हें तीन से दस दिनों के अन्दर अथवा दूसरे ही दिन वापस करने का वायदा कर लेते हैं, दे दिया जाता है। वास्तव में यह ऋण जो बहुत ही थोड़ी अवधि के लिये अथवा दैनिक ही होते हैं एक तरह से बराबर चालू रहते हैं। इन्हें माँग पर अथवा लघु-कालीन ऋण (Money at call and short notice or Call money) अथवा रात्रि ऋण (Overnight money) कहते हैं। इनके अतिरिक्त बिल डिस्काउण्ट करने के व्यवसाय में भी जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, बिलो की लागत आदर्श लागत है। यदि केन्द्रीय बैंक हैं और आजकल तो सभी जगह केन्द्रीय बैंक हैं तो आवश्यकता पड़ने पर इन्हें उससे भुनाया भी जा सकता है।

(९) अन्तिम, यदि बैंक व्यापारिक क्षेत्र में स्थित हैं तो उन्हें उन बैंको की अपेक्षाकृत कम नकदी रखनी पड़ती है जो कृषक-क्षेत्र में स्थित हैं। बात यह है कि जब कृषको को बार-बार द्रव्य निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती, तब व्यापारियों को इसकी आवश्यकता पड़ती है।

(२) मृत स्टाक (Dead stock)—उसमें इमारतें और उनके सम्बन्ध की अन्य चीजें जैसे फरनीचर, इत्यादि सम्मिलित हैं। बैंकों के लिये अपना व्यवसाय करने के लिये इनका होना अत्यावश्यक है। किसी बैंक की इमारत काफी बड़ी और भड़कीली होनी चाहिये। वह वास्तव में विज्ञापन का

काम देती है। अच्छी इमारतें अच्छे ग्राहक आकर्षित करती हैं। वह ऐसी होनी चाहिये कि जिसमें न तो सेंध लगाई जा सके और न आग लग सके। पुराने और नये रिकार्ड रखने के लिये उसमें विशेष कमरे होने चाहियें। किन्तु इतना होते हुये भी उसमें बहुत अधिक लागत लगा देना उचित नहीं है। राऊ के शब्दों में[1] "एक बैंक के लिये ठोस नकदी होना ईंट और चूने में लागत लगा देने की अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छा है।" मृत स्टाक का विक्रय कठिन है। एक तो वह आसानी से बिकता ही नहीं और दूसरे उसे बेचने से बैंक की बदनामी भी हो जाती है, उसे तो बैंक फेल हो जाने पर ही बेचा जा सकता है, पहिले नहीं।

लाभदायक प्रयोग—कार्यशील पूँजी का एक अंश मृत स्टाक और नकद कोष में फँसा देने के बाद प्रत्येक बैंक-प्रबन्धक यह सोचता है कि शेष को वह कैसे लघुकालीन और दीर्घकालीन ऋणों में लगावे। यह स्पष्ट है कि वह काफी राशि केवल लघुकालीन ऋणों में ही लगाना चाहता है। किन्तु ऐसा करने के पहिले वह यह करने का प्रयत्न करता है कि जितनी भी राशि सम्भव हो ऐसी लागत में लग जाय जिससे उसे कुछ आय भी मिले और जो काम पड़ने पर उसी समय प्राप्त भी हो सके। कुछ देशों में भाग्यवश यह सम्भव भी है क्योंकि वहाँ पर बिलों और स्टाक एक्सचेञ्ज के दलाल बराबर ऐसा ऋण लेने की ताक में लगे रहते हैं।

(२) माँग पर वापस होने वाला ऋण (Call Money)—बिलों के दलालों को तो इसकी आवश्यकता उनके क्रय के सम्बन्ध में और स्टाक एक्सचेञ्ज के दलालों को इसकी आवश्यकता पाक्षिक भुगतानों के बीच के दिनों में स्टाक लेने के लिये पड़ती है। ये कन्सोल्स (Consols), सरकारी बाण्ड (Exchequer bonds) और लन्दन कारपोरेशन और नागरिक काउन्सिल के बाण्ड जो आसानी से बिक जाते हैं और जिन्हें रखकर कोई व्यक्ति भी सुख की नींद सो सकता है, प्रतिभूति की तौर पर देते हैं। प्रो० टाजिग के कथनानुसार बैंकों की दृष्टि से ये उनके व्यवसाय के बहुत ही सुविधापूर्ण अङ्ग हैं। इनसे

---

1 It is always preferable for a bank to have solid cash in its hands rather than invest it in bricks and mortar.

कभी थोड़ी और कभी बहुत किन्तु हमेशा यथेष्ट आय हो जाती है और साथ ही यदि किसी एक बैंक को आवश्यकता पड़ती है तो ये नकदी में अकेले परिवर्तित भी किये जा सकते हैं। वे जब चाहें इन्हें संकट के समय अथवा किसी अन्य लाभदायक लागत में लगाने के लिये उपयोग में ला सकते हैं। फिर जनता के लाभ की दृष्टि से भी ये लाभदायक हैं। कुछ आवश्यक कार्यों के लिये हमेशा थोड़ी और निश्चित अवधि के लिये नकदी की आवश्यकता पड़ती रहती है और उसके लिये यही माँग पर वापस होने वाले ऋण बहुत ही उपयुक्त साबित होते हैं।" राऊ के कथन के अनुसार[2] इसमें बैंकर कुछ इसी तरह का असम्भव-सा काम करता है कि रोटी बची भी रहती है और खाने के काम में भी आ जाती है। किन्तु ये बुराइयों से बिल्कुल खाली नहीं हैं। इनसे सट्टेबाजी प्रोत्साहित होती है। इसके अतिरिक्त ये साधारण समय के लिये तो अच्छे हैं किन्तु संकट काल के लिये व्यर्थ हैं अर्थात् जम जाते हैं (Become frozen)। ऐसे समय में इनका भुगतान मिलना कठिन हो जाता है और इनमें जो द्रव्य लगा रहता है वह ठीक उसी समय जब उसकी नकदी के रूप में एक बहुत बड़ी आवश्यकता होती है, फँसा रह जाता है। अतः, बहुत से बैंकर इनकी अच्छी सम्पत्तिमें गणना नहीं करते। लार्ड गाशन ने इनके विरुद्ध कहा है।[3] तथापि ये लन्दन और न्यूयार्क में बहुत प्रचलित हैं। भारत में ये प्रथम युद्ध के पहिले तक तो बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और कराची तक ही में प्रचलित नहीं थे। किन्तु उसके पश्चात् इनका प्रयोग प्रारम्भ हो गया। यहाँ पर इनकी माँग सोने, चाँदी के और स्टाकों के बाजारों में है। यह किसी प्रतिभूति के बिना उच्चतम श्रेणी के लोगों को दिया जाता है। ऋण की मन्दी और तेजी पर इनके ब्याज की दर निर्धारित रहती है। तेजी की ऋतु में यह बहुत ऊँची दर पर भी नहीं प्राप्त होती है और मन्दी की ऋतु में यह ½ प्रतिशत पर मिल जाते हैं। कुछ दिनों से यह द्रव्य सरकारी खजानो के बिलों (Treasury Bills) में लगा दिया जाता है। यह बैंकों के पारस्परिक ऋण (Inter bank loans) में

2 In the case of Call Money the banker seems to accomplish the impossible feet of 'Having the cake and eating it too.'

3 It is not an asset which constitutes a reserve—useful in the general interest of community at large.

भी लगा रहता है। किन्तु इस प्रकार की लागत तो केवल कुछ राशि लगाने के लिये ही उपयुक्त है। कार्यशील पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग तो अधिक आय पाने के लिये किसी अन्य काम में लगाया जाता है। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, बैंकर्स की दृष्टि से बिलों की लागत सबसे अच्छी है।

(४) बिलों में लागत—यह ऋण व्यापारियों द्वारा लिया जाता है। कभी-कभी बिलों और स्टाकों के दलाल भी इनसे लाभ उठा लेते हैं। हम जानते हैं कि बिल डिस्काउण्टिंग हाउस और बिल के दलालों से भी भुनाये जाते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर उन्हें फिर बैंकों से भुना लेते हैं। बिलों के दलाल साधारणतया तो उन पर अपनी पूँजी से ही राशि देते हैं, किन्तु कभी-कभी उन्हें बैंकों की भी शरण लेनी पड़ती है। वे उनसे इस आशा पर ऋण ले लेते हैं कि शीघ्र ही जब उनके कुछ बिल पक जायेंगे तब वह उन्हें लौटाल देंगे। बिलों के वास्तविक और झूठे (Genuine and Non-genuine) होने के कारण बैंकों को जो कठिनता पड़ती है उसे हम पहिले ही समझ आये हैं किन्तु जो ग्राहक अपने बिल भुनाते हैं उनके ऊपर दृष्टि रखने से यह कठिनता भी दूर हो सकती है। प्रायः, प्रत्येक बैंक के पास कुछ ऐसे ग्राहकों के नाम रहते हैं जिनके बिलों पर वे ऋण देने के लिये तैयार रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ग्राहक के नाम के आगे एक राशि लिखी रहती है जिस तक के ही उसके बिलों पर बैंक ऋण देते हैं, और यदि इस बात पर ध्यान रक्खा जाता है तो कोई डर नहीं रहता। बिलों पर ऋण देने के पहिले यह भी देख लेना चाहिये कि वह सब तरह से पूर्ण है, अर्थात् वह नियमानुसार लिखे, स्वीकृत किये और बेचान किये गये हैं। उनके लिखने वाले, ऊपर वाले और बेचान करने वाले धनियों की व्यापारिक स्थिति का भी पता लगाते रहना चाहिए क्योंकि उनका भुगतान तो इन्हीं के ऊपर निर्भर रहता है। फिर, एक ही प्रकार के सौदों के सम्बन्ध के ही बिलों पर सब पूँजी नहीं लगा देनी चाहिये क्योंकि इससे उस व्यापार के मन्दा पड़ जाने पर उसके फँसे रह जाने का डर रहता है। अंतिम बात यह है कि किसी बैंक को लगातार पकने वाले बिलों पर ही अपनी पूँजी लगानी चाहिये जिससे वह धीरे-धीरे मिलती भी रहे। इससे उसके ग्राहकों की माँग बराबर पूरी होती रहेगी।

(५) ऋण—वास्तव में ऋण के अन्तर्गत तो सब ही प्रकार के ऋण आ जाते हैं; यहाँ तक कि बिलों पर दिया जाने वाला ऋण भी आ जाता है। किन्तु माँग पर वापस होने वाले और बिल पर दिये जाने वाले ऋणों को बैंकर मुख्य ऋण के समकक्ष नहीं गिनते और वास्तव में यह ठीक भी है, क्योंकि इन पर लगी हुई पूँजी तो जब चाहे तब वसूल की जा सकती है। अतः, ऋण तो वही है जो हर समय वापस न हो सके। ऋण भी तीन प्रकार के हैं। प्रथम तो जमा की हुई पूँजी से अधिक निकालने की आज्ञा अधिविकर्ष (Overdrafts) के रूप में, दूसरे नकद साख (Cash credit) के रूप में और तीसरे साधारण ऋण (Loans and advances) के रूप में। ये प्रण-पत्रों की, अन्य प्रतिभूतियों की तथा वैयक्तिक प्रतिभूति के भी आधार पर दिये जाते हैं। सच तो यह है कि इन्हीं की बाहुल्यता पर बैङ्कों का लाभ निर्भर रहता है। किन्तु सुरक्षा के विचार से यह बहुत उपयुक्त नहीं हैं, अतः, इनके सम्बन्ध में कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए।

ऋणों के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बातें

(१) प्रत्येक बैंकर को नकदी का यथेष्ट कोष अपने पास रखना चाहिए। यदि यह अधिक हो जाय तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु कम नहीं होना चाहिए।

(२) जैसा प्रायः कहा जाता है उसे अपने सारे अण्डे एक ही टोकरी में नहीं रखने चाहिये। इसके यह अर्थ हैं कि उसे अपनी ऋण देने की सारी पूँजी एक ही व्यक्ति को नहीं दे देनी चाहिये। जहाँ तक हो वह अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र में बँटी रहनी चाहिए अर्थात् न तो एक व्यक्ति ही हो, न एक तरह का व्यापार ही हो, न एक स्थान हो और न एक प्रकार की प्रतिभूति ही हो।

(३) उसे प्रतिभूतियाँ भी भली भाँति देख लेनी चाहिये। इस विषय पर राऊ ने जो कुछ कहा है उसे तो हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। जो भी प्रतिभूति ली जाय उसे हर दृष्टि से देख लेना चाहिये। किन्तु जैसा कि एक अगले अध्याय में बताया जायगा कोई भी प्रतिभूति आदर्श प्रतिभूति नहीं है। भूमि और मकान का रेहन तो सबसे निकृष्ट है। उसे न तो आसानी से

और शीघ्रता से बेचा जा सकता है और न उसके ही मूल्य का कोई ठिकाना है।

(४) उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसे व्यापारियों के केवल चालू लेन-देन का ही प्रबन्ध करना है। उसे न तो सब तरह के न बिकने वाले धन द्रव्य के रूप में परिणत करने हैं और न उससे इसकी आशा की जाती है कि वह भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साख ही उत्पन्न करेगा।

(५) उसे अपने पक्ष में सदा यथेष्ट गुञ्जाइश (Margin) रख लेनी चाहिये। जितनी अधिक मूल्य में घट-बढ़ होने की संभावना हो उतनी ही अधिक यह गुञ्जाइश रखनी चाहिये।

(६) व्यापारिक बैंकों का उद्देश्य केवल लघुकालीन साख उत्पन्न करना है। अतः, यदि वे इस नियम से लेशमात्र भी विचलित हो जाते हैं तो बड़ी आपत्ति आ जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप के बैंक और विशेषतया जर्मन बैंक उद्योग-धन्धों में भी पूँजी फँसा देते हैं, किन्तु उनके यहाँ की जमा और इंगलैंड के तथा अन्य देशों के यहाँ की जमा में जिनकी बैंकिंग इंगलैण्ड की बैंकिंग की तरह की है, एक बड़ा अन्तर है। अतः, इसमें कोई हानि नहीं है। प्रत्येक बैंकर को अपने ग्राहक से यह पूछ लेना चाहिये कि उसे कितनी अवधि के लिए ऋण की आवश्यकता है और उसका जो पहिला उत्तर हो वही ठीक समझना चाहिये। प्रायः यह देखा गया है कि जब कोई व्यापारी अधिक दिनों के लिये ऋण माँगता है और उसे वह नहीं प्राप्त होता तब वह यह कहकर कि वह बाद में किसी अन्य जगह से ऋण प्राप्त करके बैंक को वापस कर देगा उसे थोड़े समय के लिए ही प्राप्त कर लेता है। ऐसा ऋण कभी भी वापिस नहीं होता। वाल्टर लीफ ने अपनी पुस्तक में ऐसे दो ऋणों के उदाहरण दिये हैं— एक में तो किसी बीमा कम्पनी से रेहन पर ऋण लेने की और दूसरे में नये हिस्से बेचकर ऋण लेने की बात थी, किन्तु यह कुछ भी न हो सका। ऐसे ऋण सदा के लिए चालू रह जाया करते हैं।

(७) ऋणों का बारम्बार का नवीनकरण भी अच्छा नहीं है। ऐसा करने

से वे जाम (Freeze) हो जाते हैं। इन्हें खातों का पोषण करना (Nursing of Accounts) कहा जाता है।

(८) ऋण के उद्देश्य का भी पता लगा लेना चाहिये। ऐसा कहा जाता है कि उपभोग के लिए ऋण नहीं देने चाहिए। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि ऋण कहाँ से वापस किया जायगा। कभी-कभी लोग ऐसी सम्भावनायें (Prospects) लेकर आते हैं जो पूरी नहीं हो सकतीं। यदि बैंकर इन पर उधार नहीं देता तो उससे न केवल उसी की बल्कि ग्राहकों की भी बचत हो जाती है।

(९) जो प्रतिभूति दी जायँ।उनके मूल्य की घट-बढ़ पर भी बैंकर को दृष्टि रखनी चाहिये। यदि उसमें ह्रास हो जाय तो उसे अन्य प्रतिभूति मँगाकर फौरन पूरा करा लेना चाहिये।

(१०) कम व्याज की नीति भी बहुत अच्छी नहीं होती। इससे लोग अत्यधिक उधार ले लेते हैं। किन्तु व्यापार तो केवल पूञ्जी ही से नहीं चलता है उसके लिए अन्य साधनों की भी आवश्यकता पड़ती है। अतः, उनके न रहने पर जो पूञ्जी लगाई जाती है वह भी व्यर्थ चली जाती है।

(११) अन्तिम बात यह है कि ऋण माँगने वाले का चरित्र बहुत अच्छा होना चाहिये। सच तो यह है कि अच्छे चरित्र से बढ़कर कोई दूसरी जमानत नहीं है। जो लोग उधार माँगते हैं उन्हें विश्वासपात्र होना चाहिये क्योंकि विश्वास ही तो साख की एक मुख्य चीज है। विश्वास के लिए ईमानदारी, गंभीरता, तत्परता, न्यायपरता और व्यवस्था पालन करने की आदत होना बहुत ही जरूरी है।

ऋण प्रतिभूति पर अथवा प्रतिभूति के बिना भी दिए जा सकते हैं। जहाँ तक भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिभूति का प्रश्न है उनका हम आगे चलकर विस्तृत अध्ययन करेंगे। अब रह गये बिना प्रतिभूति के ऋण सो वह वैयक्तिक प्रतिभूति पर दिए जाते हैं। इसमें ऋण लेने वाले के चरित्र की छान-बीन बहुत ही महत्व रखती है। उसकी कुल सम्पत्ति और ऋण वापस करने की क्षमता पर भी ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक बैंकर के कुछ ऐसे ग्राहक अवश्य होते हैं जो उसके संरक्षक की तरह होते हैं। इन्हें उसे किसी प्रतिभूति,

के बिना भी ऋण देना पड़ता है। उन्हें जब बहुत ही आवश्यकता पड़ती है तभी वह ऋण माँगते हैं। अतः, बैंकर उन्हें असंतुष्ट नहीं करना चाहते। वास्तव में आवश्यक शर्तें ध्यान में रखकर ऐसे ऋण देने से बैंकों की कभी हानि नहीं होती।

(६) विनियोग—बैंक अपनी पूँजी सरकारी, अर्ध-सरकारी, जनहित के लिए बनी हुई संस्थाओं और उद्योग-धन्धों सम्बन्धी साख-पत्रों में भी लगाते हैं। यदि सच पूछा जाय तो ऐसा करना उनके लिये उपयुक्त नहीं है। उनका काम तो पूँजी चालू रखना है। उसे फँसा रखना नहीं है। किन्तु वे इस काम में अपनी पूँजी केवल इसीलिए लगाते हैं कि वह इसमें से आवश्यकता पड़ने पर आसानी से वसूल हो जाती है। इन पर की वार्षिक आय भी अधिक नहीं होती। वह बिलों पर तथा अन्य प्रकार के ऋणों पर की आय की अपेक्षाकृत बहुत ही कम होती है। हाँ, इन साख-पत्रों की कीमत बढ़ जाने पर अवश्य लाभ हो जाता है, किन्तु यह तो सट्टेबाजी है जो बैंकिंग के व्यवसाय के विरुद्ध है। किन्तु ये स्टाक एक्सचेञ्ज के बाजार में किसी समय भी बेचे जा सकते हैं। अतः, वसूली की दृष्टि से तो यह लागत आदर्श लागत है। सरकारी साख-पत्र जिन्हें स्वर्ण साख-पत्र (Gilt-edged Securities) भी कहते हैं शायद इस दृष्टि से सबसे अच्छे होते हैं। उनके मूल्य का ह्रास भी प्रायः कम होता है। किन्तु बैंक एक ही प्रकार की लागत में अपनी सारी पूँजी कभी नहीं लगाते चाहे वह सरकारी साख-पत्र की हो, चाहे किसी की भी हो। उनकी पूँजी तो भिन्न-भिन्न प्रकार की लागतों में लगी रहती है।

(७) बिलों की स्वीकृति—एक अन्य प्रकार का ऋण भी होता है जिसे बिलों की स्वीकृति (Acceptance business) का ऋण कहते हैं। हम यह तो पहिले ही देख चुके हैं कि जब विक्रेता क्रेता के ऊपर कोई बिल करता है तब क्रेता उस पर स्वीकृति देता है। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि उसकी साख इतनी व्यापक न हो कि उसके द्वारा स्वीकृत बिल पर हर बैंक ऋण देने के लिये तैयार हो जाय। ऐसी स्थिति में क्रेता का बैंकर उस पर के बिल पर अपनी स्वीकृति दे देता है। इसमें वह अपने ग्राहक के संकीर्ण साख के स्थान पर अपनी विस्तृत साख दे देता है। इसके लिये वह उससे प्रतिफल (Commis-

sion) भी पाता है। यह काम पहिले-पहल यूरोप के उन बड़े-बड़े व्यापारी महाजनों द्वारा आरम्भ किया गया था जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी में नेपोलियन युद्ध के समय इंगलिस्तान द्वारा हालैण्ड के हराये जाने पर एम्सटरडम का जो दौर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में था उसके समाप्त हो जाने पर लन्दन में अपनी शाखायें खोल ली थीं। उन्होंने शायद यह बात समझ ली थी कि भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी ही अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में हालैण्ड की राजधानी का स्थान लेगी। कुछ बड़ी-बड़ी संस्थायें अमेरिकावालों की भी थीं। यद्यपि ये सब चालू खाते में जमा प्राप्त करने का काम न करने के कारण अपने को बैंकर नहीं कहते तथापि ये उन्हीं के सदृश्य महत्वपूर्ण हैं। संसार के सभी महत्वपूर्ण देशों के लोगों से इनके सम्बन्ध हैं जिससे ये सभी स्थानों के लोगों के विषय में जानकारी रखते हैं इससे ये उनके ऊपर किये गये बिलों पर स्वीकृति भी दे सकते हैं। इनकी इतनी साख है कि इनके द्वारा स्वीकृत किये गये बिलों पर सभी बैंक ऋण देने के लिये तैयार हो जाते हैं। प्रायः यह क्रेता से इस बात का वायदा करा लेते हैं कि वह इन्हें बिल पकने की तारीख के तीन दिन पहिले उनकी रकम दे देंगे। आजकल के व्यापारी महाजन विनिमय बैंको की मन्त्रणा से भी बिलों पर स्वीकृति देते हैं। प्रथम महायुद्ध के समय से अमेरिकावालों ने भी न्यूयार्क को लन्दन का प्रतियोगी बनाने के बहुत से प्रयत्न किये हैं। अतः, ऐसी संस्थायें अब वहाँ भी यथेष्ट मात्रा में खुल गई हैं। इसके अतिरिक्त यह काम अब बैंकों के हाथ में भी आ गया है। बात यह थी कि उक्त युद्ध के छिड़ने पर व्यापारी महाजनों को यूरोप के शत्रु देशों से जो कुछ पाना था वह नहीं मिल सका। अतः, उनके लिये उनके द्वारा स्वीकृत बिलों का भुगतान करना कठिन हो गया। किन्तु उनकी साख बचाना आवश्यक था। अतः, सरकारी आज्ञा से उन बिलों का भुगतान बैंक आफ इंगलैण्ड ने कर दिया। युद्ध के बाद जब यह पूँजी वसूल हुई तब बैङ्क आफ इंगलैण्ड ही को मिली। तब से यह काम बैंक करने लगे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यह काम बैंकिंग का एक व्यवसाय माना जाता है। किन्तु भारत के सम्मिलित पूँजी वाले बैंक यह काम नहीं करते। हाँ, यहाँ के सर्राफ अवश्य उन व्यापारियों की हुण्डियाँ खरीद लेते हैं जिन्हें वे जानते हैं। अतः, इससे

उन पर उनका दायित्व भी हो जाता है और इसी कारणवश उन पर बैंक भी ऋण दे देते हैं।

बैंक कैसे लाभ कमाते हैं

अब हम इस बात की ओर आते हैं कि व्यापारिक बैंक कैसे लाभ कमाते हैं। हम यह तो देख ही चुके हैं कि वे अपनी कार्यशील पूँजी किन-किन लाभदायक प्रयोगों में लगाते हैं। वास्तव में वही उनकी आय के मुख्य साधन हैं। यहाँ पर हम उन्हें फिर दोहराये देते हैं :—

(१) माँग पर वापस होनेवाले ऋणों पर का ब्याज।

(२) बिलों पर ऋण देने की कटौती (Discount Charges)।

(३) ऋणों पर का ब्याज।

(४) माल-पत्रों पर की लागतों पर का ब्याज।

(५) बिलों पर स्वीकृति देने का प्रतिफल (Commission)।

इनके अतिरिक्त प्रासङ्गिक मूल्य (Incidental Charges) की ओर आढ़त तथा अन्य कार्य करने से जो आय होती है वह भी उनके लाभ में सम्मिलित है। हम जानते हैं कि बैंक अपने ग्राहकों की चेकों, उनके विनिमय बिलों, प्रण-पत्रों, ब्याज के पत्रों (Coupons), बँटनी पत्रों (Dividend-warrants), चन्दे, किराये, आयकर और बीमा के प्रीमियम की वसूली और उनका भुगतान भी करते हैं। इनमें से अधिकांश काम तो वे निःशुल्क करते हैं; किन्तु कुछ के लिये उन्हें प्रतिफल भी प्राप्त होता है। जैसे बाहर की चेक वसूल करने तथा हिस्सों, स्टाकों और ऋण-पत्रों का स्टाक एक्सचेञ्जों में और अन्य सामानों का उनके बाजारों में क्रय-विक्रय करने के लिये वे दलालों की दलाली के अतिरिक्त अपना प्रतिफल भी लेते हैं। फिर, उन्हें धरोहरी (Trustees), सर्वराहकार (Administrators) और साधक (Executors) की हैसियत में काम करने पर भी उचित प्रतिफल मिलता है। इसी तरह से बहुमूल्य वस्तुओं जैसे जेवरात और जवाहिरात, लेखपत्र, इत्यादि अपने पास रखने (Safe Custody) के लिये भी उन्हें प्रतिफल प्राप्त होता है। यह कार्य सचमुच बहुत ही जोखिमपूर्ण है किन्तु जोखिम लेने के बिना तो कोई काम चल

ही नहीं सकता। इससे उन्हें न केवल यथेष्ट लाभ होता है बल्कि यह उनके व्यवसाय का एक मुख्य अङ्ग भी है। साख-पत्र रखने पर उनके ऊपर उनके ब्याज, इत्यादि और उनके पकने पर उन्हें स्वयं वसूल करने का उत्तरदायित्व भी रहता है। धन भेजने और विनिमय के व्यवसाय से भी उन्हें विशेष लाभ होता है। भारतवर्ष में प्रायः व्यापारिक बैंकों को धन भेजने से बहुत आय होती है। हाँ, विनिमय का काम वे प्रायः नहीं करते क्योंकि वह विदेशी विनिमय बैंकों के हाथ में है।

बैंक अपने लाभ का किस प्रकार उपयोग करते हैं

लाभ के सब मद ऊपर दिये गये हैं। किन्तु यह सब लाभ हिस्सेदारों के बीच में विभक्त करने के लिये नहीं रहता। इसमें से यह सब खर्च काट दिये जाते हैं जिन्हें करना प्रत्येक बैंकर के लिये आवश्यक रहता है। ये निम्नाङ्कित हैं :—

(१) स्थायी जमा तथा अन्य खातों पर का ब्याज।

(२) सञ्चालकों और हिसाब निरीक्षकों का शुल्क, कर्मचारियों के वेतन, पेन्शन और प्राविडेन्ट फण्ड का खर्च।

(३) बैंकरों के संघों, इत्यादि के सदस्य शुल्क।

(४) दफ्तर सम्बन्धी खर्च जैसे छपाई, डाक खर्च, विज्ञापन खर्च, स्टेशनरी खर्च, किराया और बीमे के प्रीमियम, इत्यादि।

(५) प्रतिनिधियों का सफर खर्च और उनके तथा अढ़तियों के शुल्क।

(६) मृत-स्टाक और साख-पत्रों की लागत के ह्रास का प्रबन्ध।

(७) अप्राप्य ऋण और बैंक के कर्मचारियों द्वारा किये गये गबन।

(८) आय तथा अन्य कर।

किसी बैंक का पक्का मुनाफा (Net Profit) उसके प्रबन्ध की कुशलता पर ही निर्भर रहता है। बहुधा जमा अधिक ब्याज न देकर वरन् ग्राहकों को सुविधायें देकर तथा उनकी अनेक प्रकार की सेवायें करके प्राप्त किये जाते हैं। कम वेतनवाले कर्मचारी रखने से कोई लाभ नहीं होता। उनसे प्रबन्ध की वह कुशलता नहीं प्राप्त होती, जो होनी चाहिये। हमारे देश में कुछ बैंक थोड़े-थोड़े वेतन पर मैनेजर, इत्यादि रख लेते हैं जिससे गबन इत्यादि बहुत होता है।

अधिक वेतनवाले कर्मचारी प्रायः कम वेतनवाले कर्मचारियों की अपेक्षाकृत सस्ते पड़ते हैं। उन्हें अधिक काम मिल जाता है और वे उसे भली भाँति निबाह भी लेते हैं। बट्टा खाता भी कम हो जाता है और गबन भी नहीं होता। पक्के मुनाफे में से उसके हिस्सेदारों के बीच में एक निश्चित दर से बँटनी करने के उपरान्त कुछ सुरक्षित कोष के लिये भी रख लिया जाता है। यह कभी-कभी ऐसे वर्षों में बँटनी की दर बढ़ाने के भी काम आता है जब लाभ कम होता है। किन्तु प्रायः यह दिन प्रतिदिन बढ़ाने वाले काम के साथ साथ दिन प्रतिदिन पूँजी बढ़ाने के उद्देश्य से भी सञ्चित किया जाता है।

प्रश्न

(१) बैङ्कों की कार्यशील पूँजी कौन-कौन से साधनों द्वारा प्राप्त होती है ? उनमें से प्रत्येक का एक संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(२) बैङ्करों के जमा किस तरह के होते हैं ? इस सम्बन्ध में आप सृजित जमा से क्या समझते हैं ?

(३) बैङ्कों की पूँजी कितने प्रकार की होती है ? हिस्सेदारों के सुरक्षित दायित्व से आप क्या समझते है ?

(४) 'बैङ्कों की जमा का सारा काम अधिकारों का पारस्परिक परिवर्तन और उनका द्रव्य के साथ परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है'—इसका विश्लेपण कीजिये।

(५) एक बैङ्कर जमा प्राप्त करके अपने ग्राहकों की और समाज की कौन-कौन सी सेवायें करता है ? क्या इससे वह समाज की कोई हानि भी कर सकता है ?

(६) 'किसी बैङ्क की जमा प्राप्ति का कार्य और नोट चलाने के कार्य दोनों एक ही प्रकार के हैं'—इसका विश्लेपण कीजिये।

(७) कोई बैंक अपनी कार्यशील पूँजी कैसे प्रयोग में लाता है ? इस सम्बन्ध में माँग पर वापस होनेवाले ऋणों से आप क्या समझते हैं ?

(८) किसी बैंकर को अपने ग्राहकों को ऋण देने के समय कौन-सी बातें ध्यान में रखनी चाहिये ? इसे स्पष्टतया समझाइये।

(९) बैङ्करों के स्वीकृत के कार्यों से आप क्या समझते हैं? यह कैसे प्रारम्भ हुआ?

(१०) वे कौन-कौन से तरीके हैं जिनसे बैंकर अपना लाभ कमाते हैं? क्या वह सभी हिस्सेदारों में विभक्त किया जा सकता है।

अध्याय ६

केन्द्रीय बैंकिंग (१)

केन्द्रीय बैंकिंग ने एक विशिष्ट व्यवसाय (Specialised Banking) का रूप तो केवल इसी शताब्दी में ही धारण कर लिया है। इसके पूर्व यूरोप में प्रायः सभी देशों में, पूर्व में जापान और जावा में तथा अफ्रीका में मिश्र और अल्जीरिया में नोट चलानेवाले और सरकारी काम करनेवाले बैंक तो अवश्य स्थापित हो चुके थे, किन्तु जैसा कि तीसरे अध्याय में बताया जा चुका है उन्हें केन्द्रीय बैंकों के कार्यों का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं था। हाँ, यह व्यवसाय धीरे-धीरे अवश्य उन्नति कर रहा था। बैंक आफ इंगलैण्ड से प्रारम्भ होकर अन्य सभी बैंक थोड़े बहुत ऐसे केन्द्रीय बैंकिंग के कार्य अवश्य करने लग गये थे जैसे व्यापारिक बैंकों के नकद कोष का एक बहुत बड़ा भाग अपने पास रखना, उन्हें बिलों पर तथा अन्य प्रतिभूतियों पर ऋण देना और आर्थिक तथा साख सम्बन्धी मामलों में अपने को उत्तरदायी और मुखिया समझना इत्यादि, इत्यादि। जहाँ तक उनका जनता से व्यवसाय करने का प्रश्न था वह भी भिन्न-भिन्न बैंकों के साथ भिन्न-भिन्न था। एक तरफ तो बैंक आफ इंगलैण्ड था जिसने यह व्यवसाय बिल्कुल त्याग दिया था और दूसरी तरफ बैंक आफ फ्रान्स था जो अपने यहाँ के छोटे से छोटे व्यापारियों के साथ भी काम किया करता था। इस शताब्दी में कुछ ऐसे नियम और चलन बन गये हैं जिनसे केन्द्रीय बैंकिंग का व्यवसाय शासित हो रहा है और उसका एक विशिष्ट रूप बन गया है। हिल्टन यंग कमीशन के सामने बैंक आफ इंगलैण्ड के शासक (Governor) ने केन्द्रीय बैंकों के कार्यों का उल्लेख कुछ निम्न आशय के शब्दों में किया था:—'उन्हें वैधानिक रीति से ग्राह्य होनेवाली

करन्सी बाहर निकालनेवाली और अन्दर करनेवाली सरिता का काम करना चाहिये। उन्हें सरकार की सम्पूर्ण नकदी और देश के अन्य बैंकों और उनकी शाखाओं के सुरक्षित कोष अपने पास रखने चाहिये। वह अपनी-अपनी सरकारों के देशान्तर्गत और अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन भी उनकी ओर से पूरा करते हैं। उनका यह भी कर्तव्य है कि वे अपने-अपने देश की द्रव्य की इकाई का मूल्य देश में और बाहर स्थिर रखने के उद्देश्य से अपने-अपने यहाँ की करन्सी और साख का परिणाम आवश्यकता के अनुसार घटाते और बढ़ाते रहें। जब आवश्यकता पड़े तब उन्हें बिलों तथा अन्य उपयुक्त प्रतिभूतियों के आधार पर आकस्मिक करन्सी और साख-पत्र चालू करने का भी प्रबन्ध करना चाहिये।

एम० एच० डी० काक ने, जिसे केन्द्रीय बैंकिंग के विषय में प्रमाणस्वरूप माना जाता है केन्द्रीय बैंकों के कर्तव्य का कुछ विशेष वर्णन किया है, जिसे यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—

केन्द्रीय बैंकिंग के कार्य

(१) व्यापार तथा साधारण जनता की आवश्यकतानुसार करन्सी निकालना। इसके लिये उन्हें नोट चलाने का या तो एकाधिकार अथवा आंशिक अधिकार दे दिया जाता है।

(२) सरकार के साधारण बैंकिंग और आढ़त के काम करना।

(३) व्यापारिक बैंकों के नकद कोष रखना।

(४) राष्ट्र का धात्विक कोष रखना।

(५) व्यापारिक बैंकों, बिल के दलालों तथा अन्य ऐसे ही अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसायियों को विनिमय अथवा सरकारी बिलों तथा अन्य उपयुक्त साख-पत्रों के ऊपर ऋण देना।

(६) जब कहीं से ऋण न मिल सके तब ऋण देने का दायित्व स्वीकार करना।

(७) बैंकों के पारस्परिक लेन-देनों के लिये निकास-गृह (Clearing House) का प्रबन्ध, इत्यादि करना।

(८) व्यापार की आवश्यकता के अनुसार और विशेषतः राज्य द्वारा चलाई हुई द्रव्य-प्रणाली स्थिर रखने के उद्देश्य से साख नियन्त्रण करना।

उसने केन्द्रीय बैंकों का एक अन्य आवश्यक गुण भी बताया था जो यह है कि वे साधारण व्यापारिक बैंको के व्यवसाय भी न करें अर्थात् न तो वे प्रत्येक व्यक्ति से जमा ही प्राप्त करें और न साधारण लोगों को किसी प्रकार का ऋण दें। किन्तु यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि बहुत से केन्द्रीय बैंक, जैसे फ्रांस का बैंक, आस्ट्रेलिया का बैंक, जावा का बैंक और मिश्र का राष्ट्रीय बैंक यह काम करते हैं। इधर कुछ दिनों से यह स्पष्ट हो गया है कि कुछ परिस्थितियों को छोड़कर जब राष्ट्र के आर्थिक हित के लिये यह आवश्यक प्रतीत हो, केन्द्रीय बैंकों को यह काम नहीं करने चाहियें। अतः, उपर्युक्त बैंक भी या तो इन्हे धीरे-धीरे कम कर रहे हैं या किसी विशेष कारणवश करते जा रहे हैं। भारतवर्ष में और अर्जेन्टाइना में जहाँ क्रमशः इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया और अर्जेन्टाइना राष्ट्र का बैंक कुछ केन्द्रीय कामो के साथ-साथ ऐसा करते थे नये केन्द्रीय बैंक स्थापित किये जा चुके हैं और उन पर ऐसा करने की रोक लगा दी गई है।

अब हम ऊपर दिये हुये सब काम का पृथक् रूप से विस्तृत अध्ययन करेंगे :—

(१) कागजी मुद्रा चलाना—प्रायः सभी जगह यह काम सबसे पहिले केन्द्रीय बैंकों को सौंप दिया गया था। हम यह बात जानते हैं कि बैंक आफ इंगलैण्ड इसे अपनी सस्थापना के समय से ही करता आ रहा है। इस विषय के कुछ बड़े-बड़े लेखक इसे केन्द्रीय बैंकों का एक मुख्य काम समझते हैं। सभी केन्द्रीय बैंको के पास आजकल या तो इसका एकाधिकार अथवा शेषाधिकार है। पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि कुछ बड़े-बड़े केन्द्रीय बैंकों को यह अधिकार कब दिये गये थे। जिन केन्द्रीय बैंकों के पास इस समय इसका एकाधिकार है उनके यहाँ के अन्य बैंकों से या तो किसी समय एक दम ही उनके चालू नोटों का भुगतान करने को कह दिया गया था, अथवा उन्हे धीरे-धीरे समाप्त करने का आदेश दे दिया गया था। हाँ, कुछ ऐसे केन्द्रीय बैंक भी हैं जिन्हें अन्य बैंको के चालू नोटों का दायित्व कुछ शर्तों पर अपने ऊपर ही ले

लेना पड़ा था। इंगलैण्ड में जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है सन् १८४४ में निजी बैंकों को अपने चालू नोट चालू रखने का अधिकार तो दे दिया गया था किन्तु एक ऐसी शर्त लगा दी गई थी कि जिससे उनका यह अधिकार धीरे-धीरे समाप्त होता गया। जर्मनी में नोट चलानेवाले अधिकांश बैंकों ने सन् १६३५ के बहुत पहिले ही उनके इस अधिकार पर जो बन्धन लगा दिये गये थे उनके कारण इसे वहाँ के रीश-बैंक को हस्तान्तरित कर दिया था और जो बच रहे थे उन्हें भी इस वर्ष अपना यह अधिकार उसे हस्तान्तरित करने को विवश किया गया। आजकल कुछ ही ऐसे केन्द्रीय बैंक बचे हैं जिनके पास इसका एकाधिकार नहीं है और उनमें से भी केवल संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कनाडा ही के केन्द्रीय बैंक मुख्य हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में राष्ट्रीय बैंकों के नोटों का भुगतान तो सन् १६३५-३६ में कर दिया गया था, किन्तु इस समय भी कुछ सरकारी नोट चालू हैं, यद्यपि उनका परिमाण बहुत ही कम है। कनाडा में भी चार्टर्ड बैंकों के नोटों का परिमाण बहुत ही कम है। कनाडा में भी चार्टर्ड बैंकों के नोटों का परिमाण बहुत ही कम है, अधिकांश में तो वहाँ के केन्द्रीय बैंक अर्थात् बैंक आफ कनाडा के ही नोट चालू हैं। भारतवर्ष में सन् १६४० की जुलाई से यहाँ की सरकार ने भी रिजर्व बैंक के नोटों के साथ-साथ जिसके पास उन्हें चलाने का एकाधिकार प्राप्त है अपने एक-एक रुपये के नोट उसी प्रकार चलाना प्रारम्भ कर दिया है जिस प्रकार ब्रिटिश राजकोष ने प्रथम युद्ध के समय एक-एक पाउण्ड और आधे-आधे पाउण्ड के नोट चलाने प्रारम्भ कर दिये थे। नोट चलाने का एकाधिकार कई कारणों से केन्द्रीय बैंकिंग के व्यवसाय का एक मुख्य अंग माना जाता है।

केन्द्रीय बैङ्क द्वारा नोट चलाने के लाभ—(१) इससे नोट करन्सी में जो आजकल की द्रव्य-प्रणाली में सभी जगह बहुत ही महत्वपूर्ण है सादृश्यता आ जाती है।

(२) इससे केन्द्रीय बैंकों का एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न हो जाता है जिसकी उन्हें सङ्कटकाल में बहुत आवश्यकता पड़ती है।

(३) इससे उसे व्यापारिक बैंको की साख उत्पन्न करने की शक्ति पर नियन्त्रण करने का भी अवसर प्राप्त हो जाता है। जैसा कि आगे चलकर ज्ञात होगा

उन्हें साख वृद्धि के लिये या तो अपने यहाँ का नकद कोष अथवा केन्द्रीय बैंक में अपनी जमा बढ़ानी पड़ती है। बात यह है कि उन्हें अपने द्वारा उत्पन्न की गई साख का एक निश्चित प्रतिशत इन्हीं में रखना पड़ता है। अब यदि केन्द्रीय बैंक यह समझता है कि साख की वृद्धि देश के हित में नहीं है तो वह ऐसे बैंकों की सहायता नहीं करता। और यदि वह इसका उल्टा समझता है तो ऐसा करता है।

(४) इससे सरकार को नोटों की सुरक्षा के विचार से उन्हें नियन्त्रित रखने में भी बड़ी सहूलियत मिलती है। इसके विपरीत यदि यह अधिकार कई बैंकों में बँटा रहता है तो इसमें उसे कठिनाई पड़ती है।

नोटों का नियन्त्रण—यह कम से कम सात प्रकार से किया जा सकता है।

(१) पहिले को अँग्रेजी में फिक्स्ड फाइडूसियरी इशू सिस्टम (Fixed Fiduciary Issue System) कहते हैं। इसमें एक निश्चित राशि के नोट तो सरकारी साख-पत्रों पर निकाले जाते हैं, किन्तु उसके ऊपर जो नोट रहते हैं, उनके लिये शत प्रतिशत धात्विक कोष रक्खा जाता है। इसमें लोच नहीं है जिससे धात्विक कोष के धातु की बाहरी अथवा भीतरी माँग के कारण काफी कम हो जाने पर नोटों का परिमाण भी घटाना पड़ता है। फिर, यदि करन्सी की बहुत माँग हो जाती है तो जब तक उसी मूल्य की धातु न प्राप्त हो जाय तब तक वह बढ़ाई भी नहीं जा सकती। किन्तु इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यह अच्छी स्थिति में करन्सी का अत्यधिक बढ़ जाना रोके रहता है। हाँ, सन् १६२८ से अँग्रेजी प्रणाली में इसमें कुछ लोच आ गया है। इस वर्ष वहाँ पर इस बात की आज्ञा दे दी गई थी कि कोष की आज्ञा से आवश्यकता पड़ने पर अधिक से अधिक दो वर्षों के लिये निश्चित राशि से ऊपर के नोट भी सरकारी साख पत्रों के आधार पर चालू किये जा सकते हैं। हम यह तो जानते ही हैं कि सरकारी साख-पत्रों के आधार पर नोट चालू करने की जो राशि है वह वहाँ पर किस तरह से धीरे-धीरे प्रारम्भ के १२ लाख पाउण्ड से बढ़कर सन् १६२१ तक १६,७५०,००० पाउण्ड हो गई थी। किन्तु प्रथम युद्ध के समय राजकोष ने एक-एक पाउण्ड और आधे-आधे पाउण्ड के नोट भी चलाये थे। अतः, सन्

१६२८ में उनका दायित्व भी बैंक को ही हस्तान्तरित कर दिया गया और सरकारी साख-पत्रों के आधार पर चालू करने के नोटों का परिमाण भी २६ करोड़ पाउण्ड कर दिया गया। तब से अब तक यह अनेक बार बदला जा चुका है[1] अँग्रेजी प्रणाली जापान और नारवे ने भी अपनाई है और इसमें थोड़ा-सा परिवर्तन करके तो इसे कई देशों ने अपना लिया है।

(२) दूसरी प्रणाली में नोटों का परिमाण विधानतः निश्चित कर दिया जाता है (Fixed legal maximum of note-issue)। यह सन् १८७० से सन् १६२८ तक फ्रांस में चालू रही। लेमौइन का कहना है "यह बहुत ही कड़ी प्रणाली है और द्रव्य के आधुनिक बाजारों की आवश्यकता पूरी करने के लिये बिल्कुल ही अनुपयुक्त है। इससे नोट-प्रसार रुका रहने की कोई सम्भावना नहीं रहती क्योंकि महासभा (Parliament) जब चाहती है, तब नोट चालू करने का परिमाण विधानतः बढ़ा देती है।

(३) तीसरी प्रणाली में नोट सरकारी साख-पत्रों के अधिकार पर चालू किये जाते हैं और साथ ही बैंक की प्राप्त पूँजी और सुरक्षित कोष से अधिक नहीं हो सकते। यह प्रणाली संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में राष्ट्रीय बैंकों के नोटों के सम्बन्ध में चालू थी। इसमें भी लोच नहीं है। जैसा बरगेस ने कहा है इसमें चालू नोटों का परिमाण सदा के लिये निश्चित सा हो जाता है और न तो वह मन्दी में घट सकता है और न तेजी में बढ़ सकता है।

(४) चौथी प्रणाली में नोटों का एक निश्चित प्रतिशत उदाहरण के लिये २५, ३०, ३३⅓ अथवा ४० प्रतिशत धात्विक कोष में रक्खा जाता है और शेष इस शर्त के साथ कि आवश्यकता पड़ने पर अधिकाधिक ब्याज देकर कुछ समय के लिये इस धात्विक कोष का प्रतिशत कम भी किया जा सकता है सरकारी साख-पत्रों और व्यापारिक बिलों में रक्खा जाता है। इसे सन् १८७५ में जर्मनी ने और सन् १६१३ में कुछ संशोधनों के साथ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने तथा प्रथम युद्ध के बाद कुछ अन्य देशों ने अपनाया था। इसमें यह

---

[1] सन् १६४७ के अन्त में नोटों का परिमाण १३६·२ करोड़ पाउण्ड था और स्वर्ण कोष का परिमाण २०·४६ लाख पाउण्ड था।

अच्छाई है कि जब एक तरफ तो इसमें लोच है तब दूसरी तरफ इसमें धात्विक कोष न मिलने पर अत्यधिक द्रव्य प्रसार नहीं हो सकता।

(५) पाँचवीं प्रणाली में चौथी प्रणाली ही की तरह नोटों का कुछ प्रतिशत तो धात्विक कोष में रक्खा जाता है किन्तु शेष के लिये कोई प्रबन्ध नहीं रहता। हाँ, बैंक फेल होने पर उसकी सम्पत्ति पहिले नोटों के और फिर अन्य भुगतानों में लगाई जाती है। इसमें बैंको के लिये चौथी प्रणाली की अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता रहती है। यह प्रणाली हालैण्ड में बहुत समय तक चालू थी, और आज-कल दक्षिणी अफ्रीका के संघ में चालू है।

(६) छठी प्रणाली अनुपातिक जमा प्रणाली (Proportional Deposit Method) है। इसमें नोट चलाने वाले बैंको को जितने के नोट चालू किये गए हैं उतने का एक विशेष प्रतिशत सरकारी साख-पत्रों अथवा धातु में केन्द्रीय बैंक में जमा कर देना पड़ता है। यह प्रणाली संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सदस्य बैंकों के नोटों के सम्बन्ध में चालू है। वहाँ पर उक्त बैंकों को एक निश्चित प्रतिशत सरकारी साख-पत्रों में लगाना पड़ता है और फिर उन्हें फेड्रल रिजर्व बोर्ड के पास जमा कर देना पड़ता है।

(७) सातवीं प्रणाली चौथी प्रणाली की ही संशोधन-मात्र है। इसमें एक निश्चित प्रतिशत तो धातु में रखनी पड़ती है, और कुछ किसी दूसरे देश के सरकारी साख-पत्रों में अथवा किसी विदेशी केन्द्रीय बैंक में जमा रखनी पड़ती है। भारतवर्ष में सन् १८६१ से सन् १६२० तक तो प्रथम प्रणाली (Fixed-Fiduciary Issue Method) चालू थी और आज-कल यह सातवीं प्रणाली एक विशेष रूप में चालू है।

अन्त में यह कह देना भी आवश्यक है कि प्रायः सभी राष्ट्रों ने केन्द्रीय बैंकों को नोट चलाने का जो एकाधिकार दे रक्खा है उससे उन्हें जो भारी लाभ होता है उसका उन्होंने बँटवारा करना प्रारम्भ कर दिया है। कहीं-कहीं पर तो नोट चलाने से इन्हें जो लाभ प्राप्त होता है उसका और इनके दूसरे बैंकिंग के कार्यों से जो लाभ प्राप्त होता है उसका अर्थात् दोनों का हिसाब अलग-अलग रक्खा जाता है और नोट चलाने से जो लाभ प्राप्त होता है वह पूरा राष्ट्र को दे दिया जाता है। अन्य स्थानों में या तो हिस्सेदारों को पहिले एक निश्चित प्रतिशत की डिवीडेन्ड देकर शेष सब राष्ट्र का हो जाता है या

सब की सब में बैंक और राष्ट्र का किसी विधान द्वारा निर्धारित तरीके पर बँटवारा होता है। बैंक आफ इंगलैण्ड के राष्ट्रीयकरण के पहिले तो उसके नोट चलाने से उसे जितना लाभ होता था वह सभी सरकार ले लेती थी और भारतवर्ष में रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पहिले हिस्सेदारों को केवल ३½ प्रतिशत की बँटनी दी जाने के बाद उसका सारा लाभ राजकोष में चला जाता था।

(२) राज्य के साधारण बैंकिंग आढ़त के कार्य करना और आर्थिक मामलों में सरकार को मन्त्रणा देना—पुराने केन्द्रीय बैंक तो यह काम उस समय भी करते थे जिस समय वह पूर्ण रूप से केन्द्रीय बैंक नही बन पाये थे, और नये केन्द्रीय बैंकों के तो उस विधान के प्रारम्भ ही में जिससे वह संस्थापित हुये हैं, यह दिया हुआ है कि वह यह सब काम करेंगे।

आजकल तो केन्द्रीय बैंक यह काम केवल इसलिए ही नहीं कि यह राज्य के लिए सुविधाजनक और अल्पव्ययी है बल्कि इसलिये भी करते हैं कि इनका देश के द्रव्य बाजारों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और यदि वह इन्हें न करें तो उनका इन पर नियन्त्रण भी न रह सके। वास्तव में एक केन्द्रीय बैंक उसकी सरकार के जो लेन-देन होते हैं उसका उसके देश के द्रव्य बाजारों पर जो प्रभाव पड़ता है उसे तभी दूर कर सकता है जब वह राज्य के लिये बैंकर, अढ़तिये और मन्त्रणा देने का काम करता हो। केन्द्रीय बैंकों का विनिमय सम्बन्धी दायित्व भी रहता है और सरकार के इनके लेन-देन इतने अधिक रहते हैं कि जब तक यह सब उनके द्वारा न सम्पादित किये जायँ तब तक वह अपना यह उत्तरदायित्व नहीं पूरा कर सकते। केन्द्रीय बैंकों के द्रव्य बाजारों से सीधी तौर पर सम्बन्धित होने के कारण वह सरकार को आर्थिक मामलों में भी सरकार और देश दोनों के हितों के अनुकूल मन्त्रणा दे सकते हैं।

केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंकर की हैसियत से अपने यहाँ की भिन्न-भिन्न सरकारों की तरफ से और उनके विभागों की तरफ से पूँजी सम्बन्धी और आय-व्यय सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के जमा प्राप्त करते हैं और भुगतान देते हैं। वह राज्य के आय और जनता से उनके लिये ऋण की वसूली की सम्भावना पर उन्हें ऋण भी देते हैं। कोई केन्द्रीय बैंक वास्तव में अपनी सरकार को स्थायी (Permanent) ऋण नहीं देता। हाँ, कुछ केन्द्रीय

बैंक अवश्य अपनी सरकार को स्थायी ऋण देने के विचार से ही संस्थापित किये गये थे। किन्तु बाद में उन्हें भी और अधिक ऐसे ऋण देने के लिये मना कर दिया गया। हम जानते हैं कि बैंक आफ इंगलैण्ड की संस्थापना वहाँ की सरकार को उसकी प्रारम्भ की १२ लाख पाउण्ड की सारी पूँजी देने के लिये ही हुई थी और बाद में भी धीरे-धीरे उसने उसे इतना ऋण दिया कि वह सब मिलाकर सन् १८०० तक १४,६८६,००० पाउण्ड हो गया। किन्तु फिर सन् १८३३ में इसे घटाकर ११,०१५,००० पाउण्ड कर दिया गया जो सन् १६२८ तक रहा। इसके बाद भी इस राशि में कई बार परिवर्तन किये जा चुके हैं। बैंक आफ फ्रांस ने भी सन् १८५७ से राज्य को स्थायी ऋण देना प्रारम्भ कर दिया था जो सन् १६२६ तक ३८०० करोड़ फ्रैंक हो गया। फिर, सन् १६२८ में यह घटाकर २० करोड़ फ्रैंक कर दिया गया। यह कमी जनता से ऋण लेकर और बैंक के स्वर्ण और विनिमय कोष का फ्रैंक की नई विनिमय दर से जो पहिले की दर की केवल $\frac{1}{5}$ ही रक्खी गई थी मूल्य लगाकर की गई थी। किन्तु कुछ ही समय बाद फिर उसने सरकार को ३०० करोड़ फ्रैंक का स्थाई ऋण दिया। इसके बाद सन् १६३५ से सन् १६३८ तक में उसने उसे कई लघुकालीन ऋण दिये जिनका कुल जोड़ ५,००० करोड़ फ्रैंक था। किन्तु इस वर्ष बैंक और सरकार के बीच में एक प्रतिज्ञापत्र लिखा गया जिससे बैंक के स्वर्ण और विनिमय कोष का फिर से प्रति पाउण्ड १७० फ्रैंक के हिसाब से मूल्य लगाने में जो लाभ हुआ उससे बैंक ने सरकार को जो लघुकालीन ऋण दे रक्खा था उसका आंशिक भुगतान किया गया और बैंक का सरकार के ऊपर ३६० करोड़ फ्रैंक का स्थायी ऋण माना गया। यह केवल दो उदाहरण मात्र हैं। प्रायः प्रत्येक केन्द्रीय बैंक ने आवश्यकता पड़ने पर अपनी सरकार को अवश्य ही कुछ न कुछ स्थायी ऋण दिये हैं। नये ऋण देने के बाद बार-बार भविष्य में ऐसा करने पर बन्धेज लगाये गये और फिर उन्हें तोड़ा गया। यह ऋण देने के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपनी-अपनी सरकार के साख-पत्र और बिल भी एक बहुत बड़े परिमाण में खरीद कर अपने पास रखते हैं। संसार के दो बड़े केन्द्रीय बैंक बैंक आफ इंगलैण्ड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेडरल रिजर्व बैंक, प्रथम युद्ध के समय से अब तक बराबर अपनी-अपनी सरकारों की इसी प्रकार सहायता करते आ रहे हैं।

यहाँ पर यह बता देना भी आवश्यक है कि सरकार को ऋण देकर किसी केन्द्रीय बैंक के अपनी साख बढ़ाने से बैंकों के नकद कोष बढ़ जाते हैं और उनका साख के प्रसार पर वही प्रभाव पड़ता है जो नोटों के प्रसार पर पड़ता है। यह संसार के कई महत्त्वपूर्ण देशों में सन् १६१४-१८ के बीच में और उसके बाद में हुआ था। जब कोई केन्द्रीय बैंक अपनी सरकार को ऋण देता है तब सरकार उसे जनता को या तो माल खरीद कर या उससे काम कराकर दे देती है। फिर, यही बैंकों में जमा के रूप में प्राप्त हो जाते हैं जिनसे उनकी साख-पत्रों पर की लागत (Investments) बिलों पर की लागत तथा ऋणों के परिमाण बढ़ा लिये जाते हैं।

भारतवर्ष का रिजर्व बैंक यूनियन सरकार को किसी भी सीमा तक इस शर्त पर ऋण दे सकता है कि वह तीन महीनों के अन्दर-अन्दर वापस हो जायँ। किन्तु वह उनके साख-पत्र भी अपनी पूँजी अपने सुरक्षित कोष और अपने बैंकिंग विभाग के जमा के ६० प्रतिशत के मूल्य तक रख सकता है। हाँ, इनमें से जो साल भर के बाद पकनेवाले हैं और जो दस साल के बाद पकनेवाले हैं उनका परिमाण उसकी पूँजी और उसके सुरक्षित कोष के अलावा बैंकिंग विभाग के जमा के क्रमशः ४० प्रतिशत और २० प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता। लघुकालीन साख-पत्रों का परिमाण इसीलिये अधिक रक्खा गया है कि जिससे उनके मूल्य के ह्रास से उसे क्षति न उठानी पड़े और साथ ही वह जब चाहे तब उन्हें वसूल भी कर ले।

सरकार के अढ़तिये और मत्री की हैसियत से भी केन्द्रीय बैंकों को बहुत से काम करने पड़ते हैं। वह सरकारी ऋणों का प्रबन्ध करते हैं; उनके सम्बन्ध के स्टाक और प्रमाण-पत्र हस्तान्तरित होने पर जिस रजिस्टर में उनके लेखे होते हैं उन्हें रखते हैं, सरकारी ऋण निकालते हैं, उन्हें दूसरे ऋणों में बदलते हैं अथवा उनका भुगतान करते हैं; सरकारी बिल निकालते हैं और उनके भुगतान करते हैं, विनिमय की निकासी (Clearing) का तथा अन्य बहुत से कार्य करते हैं।

(३) व्यापारिक बैंकों के नकद कोष रखना—व्यापारिक बैंकों ने अपने-अपने केन्द्रीय बैंको में धीरे-धीरे अपने नकद कोष रखने प्रारम्भ कर दिये।

वास्तव में यह तभी विशेष तौर पर होने लगा जब उन्होंने यह समझ लिया कि उनकी नोट चलाने की शक्ति के कारण और विशेषतः उनके देश के अन्दर बहुत ही विश्वासपात्र तथा विस्तृत क्षेत्र में चालू होने के कारण उनके यहाँ अपने खाते रखने से उन्हें बहुत लाभ होगा। सच तो यह है कि केन्द्रीय बैंकों में जमा की हुई रकम उनके स्वयं के पास की रकम के ही सदृश्य है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकों से घनिष्ठ सम्बन्ध उत्पन्न हो जाने में वह अपना एक बहुत बड़ा सम्मान भी समझने लगे। इंगलैण्ड के अठारहवीं शताब्दी के निजी बैंकों ने भी यह सब बातें भली-भाँति समझ ली थीं और इसी से वह बैंक आफ इंगलैण्ड में अपने हिसाब रखने लग गये थे। सन् १८२६ के बाद जब सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों की संस्थापना हुई तब उन्होंने भी पूर्वोक्त चलन चालू रक्खा। दूसरे देशों में भी यही हुआ। किन्तु संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेड्रल रिजर्व बैंक की संस्थापना के साथ ही इस सम्बन्ध के एक नये सिद्धान्त का प्रारम्भ हुआ जो यह है कि प्रत्येक बैंक अपने यहाँ के केन्द्रीय बैंक के पास अपनी जमा का विधान द्वारा निश्चित प्रतिशत अवश्य रक्खे। उसके बाद जितने केन्द्रीय बैंक संस्थापित हुये हैं उनमें से प्रत्येक के विधान में यह बात दी हुई है। हमारे देश में भी जैसा एक पिछले अध्याय में बताया जा चुका है सब सदस्य बैंकों (Scheduled Banks) को उनकी माँग पर वापस होनेवाली और एक निश्चित अवधि बीत जाने पर वापस होनेवाली दोनों प्रकार की जमा के क्रमशः ५ प्रतिशत और २ प्रतिशत का नकद कोष रिजर्व बैंक में रखना पड़ता है।

जहाँ तक किसी देश की द्रव्य सम्बन्धी और बैंकिंग सम्बन्धी स्थिति का प्रश्न है वह नकद कोष के इस प्रकार केन्द्रीय होने से चाहे वह विधान द्वारा हो चाहे चलन के अनुसार हो बहुत ही अर्थपूर्ण हो जाती है। उसके तेजी और आवश्यकता के समय पर पूर्ण रूप से कार्यान्वित हो सकने के कारण उसके आधार पर साख की लोच बहुत अधिक बढ़ जाती है। यदि हम संसार के मुख्य-मुख्य देशों के बैंकों द्वारा जो नकद कोष उनके यहाँ केन्द्रीय बैंकों की संस्थापना के पहिले रक्खे जाते थे और जो उसके बाद रक्खे जाते हैं उनकी तुलना करें तो हमें यह अवश्य ही ज्ञात हो जायगा कि इससे उनकी भी कमी हो जाती है।

भारतवर्ष ऐसे कृषि-प्रधान देश में कृषि की ऋतु में जो अत्यधिक साख की आवश्यकता पड़ती है उसे पूरा करने के लिये बैंकों के नकद कोष केन्द्रित रखना बहुत ही आवश्यक है, किन्तु यहाँ के रिजर्व बैंक की बैंक दर के बराबर एक समान रहने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि उक्त बैंक की संस्थापना के बाद से नकद कोष के उसके पास केन्द्रित रहने पर भी यहाँ की अत्यधिक साख की माँग बराबर पूरी हो जाती है। किन्तु जो कुछ कठिनाई है वह जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे इसी कारण है कि यहाँ के द्रव्य के आधुनिक बाजार और देशी बाजार के बीच में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है।

(४) राष्ट्र का धात्विक कोष रखना—प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को प्रायः विधान के अनुसार ही अपने पास यथेष्ट धात्विक कोष रखना पड़ता है। पहिले तो यह धात्विक कोष केवल नोटों के लिये ही रखना पड़ता था किन्तु धीरे-धीरे इस बात की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि यह जमा के लिये भी होना चाहिये। सच तो यह है कि प्रायः सभी आगे बढ़े हुये देशों में आजकल जमा के आधार पर निकाले गये चेकों का प्रयोग नोटों के प्रयोग की अपेक्षाकृत कहीं अधिक बढ़ गया है। अतः, ऐसा होना आवश्यक हो गया है। किन्तु इंगलैण्ड में और उसके साथ ही अन्य बहुत से देशों में आज भी जमा के सम्बन्ध में धात्विक कोष रखने के लिये कोई विधान नहीं है। हाँ, वह देश वैसे ही इतना अधिक धात्विक कोष रखते हैं[१] जितना कि केवल उनके नोटों के कारण नहीं होना चाहिये। फिर, यह कोष कितना होना चाहिये यह बात सदा के लिये नहीं निश्चित की जा सकती। अन्त में इसे उस विशेष केन्द्रीय बैंक के निश्चय पर ही छोड़ देना पड़ेगा। वास्तव में जो चीज अनिश्चित है वह यह है कि किसी देश की विनिमय दर और उसकी द्रव्य-प्रणाली स्थिर और चालू रखने के लिये कितने धात्विक कोष की आवश्यकता पड़ेगी। एक ही देश में भिन्न-भिन्न समय में और भिन्न-भिन्न देशों के बीच में यह बराबर परिवर्तित होती रहती है। जितने देश हैं उनकी सबकी आर्थिक स्थिति और प्रणाली में पारस्परिक विभिन्नता के साथ-साथ उनकी जनता की प्रकृति में भी विभिन्नता है, और वास्तव में इन्हीं सब बातों पर उनके धात्विक कोष की मात्रा की आवश्यकता निर्भर रहती है।

[१] यह बात इधर कुछ दिनों से सही नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि केन्द्रीय बैंकों के प्रबन्धकर्ता स्वयं ही यह बात अपने अनुभव से सीख लेते है और इसी कारण इसके लिये उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दी जा सकती है। हाँ, जब कोई नया केन्द्रीय बैंक खुलता है तब अवश्य उसके प्रबन्ध-कर्ताओं के अनुभवहीन होने के कारण इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि यह मात्रा निश्चित कर दी जाय।

कुछ देश अवश्य ऐसे हैं जिनकी विशेष परिस्थितियों के कारण उन्हें जो प्रायः आकस्मिक माँग पूरी करनी पड़ती है उसके कारण अवश्य उन्हें इसकी एक बहुत बड़ी मात्रा रखनी पडती है। ये निम्न प्रकार के हो सकते हैं—(१) जिनके यहाँ से कुछ थोड़ी-सी ही वस्तुयें अत्यधिक निर्यात होती हैं जैसे अर्जेन्टाइना, ब्रेजिल, चिली, कनाडा और न्यूजीलैण्ड। इनके मूल्य गिर जाने से इनकी व्यापारिक विषमता (Balance of Trade) इनके विपरीत हो जाती है जिससे इनके यहाँ के केन्द्रीय बैंकों को अत्यधिक धात्विक कोष निकालना पड़ता है। (२) वे जिनके यहाँ विदेशियों के लघुकालीन कोष जमा रहते हैं जैसे ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका। इन्हें कभी भी माँगा जा सकता है। (३) वे जिनके यहाँ की राजनैतिक परिस्थिति गड़बड़ होने के कारण उनकी करन्सी के विनिमय मूल्य में बराबर परिवर्तन होता रहता है, जैसे फ्रांस।

सन् १६३२ के पहिले बैंक आफ इंगलैण्ड के पास बहुत कम स्वर्णकोष था। किन्तु इसके बाद उसने इसे नोटों और विनिमय समता कोष (Exchange Equalisation Fund) के सम्बन्ध में बहुत बढ़ा लिया था। हाँ, द्वितीय महायुद्ध के कारण फिर यह बहुत कम हो गया था, किन्तु इधर फिर धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की फेड्रल रिजर्व प्रणाली में भी इसकी बाहुल्यता है। अब, केन्द्रीय बैंकों के अन्य कार्य लेने के पहिले यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रायः इनके नाम में रिजर्व (Reserve) शब्द आने के कारण जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेड्रल रिजर्व बैंक, दक्षिणी अफ्रीका का रिजर्व बैंक, पीरू का केन्द्रीय रिजर्व बैंक, न्यूजीलैण्ड और भारत के रिजर्व बैंक, इत्यादि बहुत से लोग इनके रिजर्व अर्थात् कोष रखनेवाले कार्यों का बहुत महत्व समझते हैं।

(५) व्यापारिक बैंकों, बिलों के दलालों और व्यापारियों तथा इसी प्रकार

की अन्य द्रव्य से सम्बन्धित संस्थाओं द्वारा लाये हुये विनिमय बिलों, सरकारी बिलों और दूसरे उपयुक्त साख-पत्रों पर इन्हें ऋण देना और (६) जब कहीं ऋण न मिल सके तब उसे देने का दायित्व स्वीकार करना—व्यापारिक बैंकों, बिलों के दलालों और व्यापारियों तथा इसी प्रकार की अन्य द्रव्य से सम्बन्धित संस्थायें प्रायः अपने केन्द्रीय बैंकों के पास ऋण के लिये तब तक नहीं जाती जब तक उनके स्वयं के और बाहर के वह सब साधन नहीं समाप्त हो जाते जिन तक उनकी आसानी से पहुँच हो सकती है। अतः, केन्द्रीय बैंक जब अन्य कहीं ऋण न मिल सके तब उसे देनेवाले समझे जाते हैं और क्योंकि वह यह काम प्रायः विनिमय बिलो, सरकारी बिलो और दूसरे उपयुक्त साख-पत्रों के आधार पर करते हैं, अतः, (५) और (६) काम हम एक साथ ही लेते हैं। किन्तु यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि यद्यपि बैंक आफ इंगलैण्ड ने विनिमय बिलों, सरकारी बिलो और दूसरे साख-पत्रों पर बहुत दिनो पहिले से ही ऋण देना प्रारम्भ कर दिया था तो भी वह जब कहीं ऋण न मिल सके तब उसे देने का दायित्व स्वीकार करने के लिये काफी समय तक तैयार नहीं था। सन् १८२५ तक तो यह उन बिलों के अतिरिक्त अन्य बिल लेने के लिये तैयार ही नहीं होता था जिन्हें वह बराबर लेता चला आ रहा था। हाँ, उस वर्ष के अन्त में जब बैंकों और दूसरी द्रव्य सम्बन्धी संस्थाओं के पास वह बिल नहीं रह गये जिन्हें वह लेने के लिये तैयार था तब उसने अवश्य इस सम्बन्ध के कुछ बन्धन अनिच्छापूर्वक हटा दिये। इसके बाद अन्य आर्थिक संकटों के अवसरों पर भी उसने बड़ी अनिच्छा दिखलाई किन्तु सन् १८७२ के पहिले पहिले तक जब बेजहौट की लोम्बर्ड स्ट्रीट नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी उसने यह दायित्व पूर्णतया स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया था। अन्य केन्द्रीय बैंकों ने भी वह धीरे-धीरे ही किया। हाँ, सन् १९१३ में जब संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेड्रल रिजर्व बैंक स्थापित हुये उस समय तक यह काम केन्द्रीय बैंकों का एक मुख्य काम समझा जाने लगा था। वास्तव में इसका महत्त्व सब जगह समझे जाने के कारण ही हौट्रे के सहित बैंकिंग के सभी बड़े बड़े लेखकों ने केन्द्रीय बैंकों के कार्यों में से इसे बहुत ही महत्वपूर्ण माना है। बिलो पर ऋण देने (Re-discounting) के अर्थ साधारणतया तो विनिमय के बहुत ही अच्छे

बिलों पर ऋण देने के ही हैं। किन्तु इधर इसमें सरकारी बिल और अन्य साख-पत्र भी सम्मिलित हो गये हैं। वास्तव में इस व्यापकता का एक-मात्र कारण यही है कि केन्द्रीय बैंकों ने कहीं भी ऋण न मिलने पर ऋण देने का अपना दायित्व स्वीकार कर लिया है और उसके लिये बहुत अच्छे विनिमय बिल सदा नहीं मिलते। बैंक, इत्यादि विनिमय बिलों के अतिरिक्त सरकारी बिलों और अन्य साख-पत्रों पर भी ऋण देते हैं। सच तो यह है कि प्रथम युद्ध के समय से सरकारी बिलों और अन्य साख-पत्रों का परिमाण विनिमय बिलों की अपेक्षाकृत कहीं अधिक बढ़ गया है। "बिलों पर ऋण देने का काम नोट चालू करने और नकद कोष रखने के कामों से बहुत ही सम्बन्धित है क्योंकि यह दोनों जब केन्द्रित हो जाते हैं तब केन्द्रीय बैंकों की ऋण देने की शक्ति भी अत्यधिक बढ़ जाती है। नोट चलाने के अधिकार के कारण कोई भी केन्द्रीय बैंक उससे जो हाथों-हाथ चलाने वाली करन्सी की माँग होती है उसे और नकद कोष केन्द्रित होने के कारण उसके पास जो बिलों, इत्यादि पर ऋण देने की प्रार्थना की जाती है उसे पूरी करने में पूर्णतया समर्थ रहता है।"

किन्तु व्यापारिक बैंकों को इस सुविधा का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। साधारणतया तो उन्हें स्वय के साधनों पर ही निर्भर रहना चाहिये। 'जब कि प्रत्येक केन्द्रीय बैंकों के संकट के समय उनकी सहायता करने के लिये तैयार रहना चाहिये और जब उन्हें कहीं से भी ऋण न मिल सके तब उन्हें ऋण देना चाहिये, इससे यह हर्गिज भी अर्थ नहीं हैं कि बैंकों को हर परिस्थिति में अपने केन्द्रीय बैंक से अपरिमित ऋण लेने का अटल अधिकार प्राप्त है।' भारतवर्ष में रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद कुछ वर्षों तक बैंकों को इस सम्बन्ध का एक बहुत बड़ा भ्रमोत्पादक विश्वास था और यहाँ के रिजर्व बैङ्क को उस समय बहुत बुरा-भला कहा गया था जब उसने त्रावङ्कर नेशनल क्विलन बैंक को सन् १९३८ के मध्य में जिस समय वह बड़ी कठिनाई में पड़ा हुआ था और अन्त में उसका काम बन्द हो गया था, मदद नहीं दी। अन्त में बैङ्क के ७वीं दिसम्बर सन् १९३८ के 'सदस्य बैंकों के बिलों पर तथा अन्य प्रकार से ऋण देने के सम्बन्ध के पत्र' द्वारा जो निम्न आशय का था, यह बात स्पष्ट की गई :—

"संसार के दूसरे देशों में केन्द्रीय बैंकों का जो चलन है उसके अनुसार तथा इस देश में बैंकिंग को एक उचित मार्ग पर चलाने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक अपने सदस्य बैंको को साख देने के समय केवल उनके द्वारा लाई गई प्रतिभूतियों पर ही नहीं वरन् उनके लागत की किस्मों पर और उनका व्यवसाय करने का जो ढंग है उदाहरण के लिये वह जमा आकर्षित करने के लिये ब्याज की दर तो नहीं देते हैं, अथवा साधारण अवसरों पर जब द्रव्य बाजारों में काफी द्रव्य रहता है तब वह रिजर्व बैंक से सहायता तो नहीं लेते हैं, अथवा वह अत्यधिक व्यापार तो नहीं करते हैं और वस्तुओं पर अथवा साख-पत्रों पर सट्टेबाजी के लिये अत्यधिक साख तो नहीं देते हैं अथवा प्रतिभूति प्राप्त किये बिना तो बहुत अधिक व्यवसाय नहीं करते हैं इस पर भी विचार करेगा। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रिजर्व बैंक विधान के अनुसार केवल अस्थायी ऋण ही दे सकता है। यह बात निश्चय करने के लिये कि वह जो साख दे रहा है उसका किसी प्रकार का दुरुपयोग तो नहीं होगा रिजर्व बैंक उधार लेनेवाले बैंकों से कोई भी ऐसी सूचना माँग सकता है अथवा उन पर कोई भी ऐसे बन्धेज लगा सकता है जो उसकी दृष्टि में वांछनीय हैं और सहायता की प्रार्थना करने वाले किसी भी सदस्य बैंक को उपर्युक्त सूचना देनी पड़ेगी तथा बन्धेजों को मानना पड़ेगा।

किसी अन्य बैंक की तरह रिजर्व बैंक को भी कोई कारण बताये बिना भी किसी बैंक को उसके कागजों पर ऋण देने की मनाही कर देने का पूर्ण अधिकार है। किन्तु जो सदस्य बैंक उचित ढंग पर व्यवसाय करते हैं वे रिजर्व बैंक से संकट के समय अथवा आवश्यकता पड़ने पर उचित प्रतिभूति देने पर अवश्य सहायता पाने की आशा रख सकते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि कोई केन्द्रीय बैंक जब कहीं ऋण न मिले तब ऋण देने का अपना दायित्व स्वीकार करते हुये भी अपने यहाँ के बैंकों का काम करने का स्तर ऊँचा कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी इस सम्बन्ध की स्थिति अक्टूबर सन् १९३७ के एक फेड्रल रिजर्व पत्र से स्पष्ट की गई थी।

(७) बैंकों के पारस्परिक लेन-देनों का निवास-गृह (Clearing house)

द्वारा निपटाना—यह काम केन्द्रीय बैंक या तो स्वयं ही या विधान के कहने पर लग गये हैं। इसमें भी बैंक आफ इंगलैण्ड का ही रास्ता दिखाया हुआ है। स्प्रेग के कथन के अनुसार इसका प्रारम्भ सन् १८५४ में हुआ था। वास्तव में बैंकों के नकद कोष अपने पास रखने के उपरांत बैंक आफ इंगलैण्ड के लिये यह काम करना आवश्यक हो गया था। दूसरे केन्द्रीय बैंकों ने भी शीघ्र ही इसे प्रारम्भ कर दिया। बैंकों का यह अनुभव है कि दूसरे बैंको के पास उनके ऊपर के जो चेक, इत्यादि होते हैं उनकी राशि लगभग उन चेकों, इत्यादि की राशि के बराबर ही होती है जो उनके पास दूसरे बैंकों के ऊपर की होती है। हो सकता है कि दिन-प्रतिदिन के हिसाब में यथेष्ट अन्तर हो, किन्तु अन्त में यह बिल्कुल भी नहीं रह जाता। अतः, दिन-प्रतिदिन के हिसाब का निपटारा उनके जो खाते केन्द्रीय बैंक में होते हैं उन्हीं में जमा नाम करके कर दिया जाता है। अब, यदि इससे किसी विशेष बैंक के खाते में उतनी बाकी नहीं रह जाती जितनी विधानतः और चलन के अनुसार रहनी चाहिये तब तक वह बैंक अपने बिलों, इत्यादि पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर उसे पूरा कर देता है। यह क्रम बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रथम तो इससे भिन्न-भिन्न बैंको के पारस्परिक लेन-देन एक बहुत ही सीधे-सादे ढङ्ग से निपट जाते हैं, अर्थात् केवल उनके खातों में ही लेखे करने पड़ते हैं। दूसरे, इससे इस काम में द्रव्य के प्रयोग की बचत होती है। अन्तिम बात यह है कि इससे संकट की स्थिति में भी नकदी न निकाले जाने की सम्भावना के कारण देश की बैंकिंग-प्रणाली बहुत ही सुदृढ़ बन जाती है।

कुछ देशों में जहाँ व्यापारिक बैंको ने केन्द्रीय बैंकों की संस्थापना के पहिले ही अपने पारस्परिक लेन-देनों के निपटारे के लिये स्वयं ही निकास गृहों में प्रबन्ध कर लिये थे अथवा जहाँ केन्द्रीय बैंको ने प्रारम्भ में इस तरफ कोई ध्यान ही नहीं दिया था; वहाँ पर अब भी स्वतन्त्र निकास-गृह हैं और उनके स्वयं के विधान तथा काम करने के स्थान हैं। किन्तु वहाँ भी केन्द्रीय बैंक एक तो उनके सदस्य हैं ही, साथ ही प्रत्येक निपटारे के बाद उनकी बाकी के निपटारे का भी प्रबन्ध करते हैं। अन्य स्थानों में वह प्रायः निकास-गृह के लिये स्थान देते हैं, उनके काम करने की विधि सम्बन्धी नियम बनाते हैं, उनका

निरीक्षण करते हैं और अन्त में उनकी बाकी के निपटारे का प्रबन्ध भी करते हैं।

इंगलैण्ड में लन्दन में बैंक आफ इङ्गलैण्ड का स्वयं का आफिस है, और साथ ही उन ग्यारह प्रान्तीय शहरों में से जिनमें निकास-गृहों का प्रबन्ध है सात में भी उसकी शाखायें हैं। तथापि इन सभी स्थानों के निकास-गृह स्वतन्त्र हैं। हाँ, इनकी बाकी का निपटारा अवश्य सभी जगह बैंक आफ इङ्गलैण्ड द्वारा किया जाता है। लन्दन में जहाँ उसका आफिस है और सातों प्रान्तीय शहरों में जहाँ उसकी शाखायें हैं, यह निपटारा उक्त आफिस और उसकी शाखाओं के ऊपर जैसा हो चेकें काट करके किया जाता है। किन्तु उन चार शहरों में जहाँ उसका कोई आफिस अथवा उसकी कोई शाख नहीं है यह उन बैंकों के लन्दन स्थित प्रधान आफिसों के बीच में उनके जो खाते बैंक आफ इङ्गलैण्ड के लंदन के आफिस में हैं, उन्हीं पर चेक काट करके उसी तरह से होता है, जिस तरह से यह लन्दन के निकास-गृह की बाकी के सम्बन्ध में होता है।

भारतवर्ष में रिजर्व बैंक की संस्थापना के पहिले भी यहाँ के मुख्य-मुख्य स्थानों में स्वतन्त्र निकास-गृह थे और उनमें कार्य सञ्चालन का अधिकार स्वाभाविक रूप से ही इम्पीरियल बैंक को था जो इस सम्बन्ध के सारे काम सब सदस्यों की ओर से करता था। यद्यपि रिजर्व बैंक विधान की ५८ (क) धारा के अनुसार उसे निकास-गृहों के सम्बन्ध के नियम बनाने के अधिकार हैं, तो भी उसने अभी तक इस विषय में कोई हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा है और पूर्वोक्त निकास-गृह पहिले की तरह स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करते आ रहे हैं। हाँ, उनमें से कुछ के कार्य सञ्चालन का अधिकार अवश्य इसने ले लिया है, किंतु कलकत्ता और कानपुर जैसे दो स्थान आज भी ऐसे हैं जहाँ क्रमशः इसके आफिस और इसकी शाखा होने पर भी इसने इस सम्बन्ध के कार्य-संचालन का कार्य दूसरों के ऊपर ही छोड़ रक्खा है। कलकत्ते में तो यह काम क्लियरिंग बैंक्स एसोसियेशन की साधारण कमेटी द्वारा नियुक्त एक निरीक्षक के हाथ में है और कानपुर में यही इम्पीरियल बैंक के हाथ में है। किंतु इन सभी स्थानों में बैंक अपनी बाकी का निपटारा उनके रिजर्व बैंक में जो खाते हैं उन्हीं के ऊपर चेक काटकर करते हैं। कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ रिजर्व बैंक के आफिस हैं और न उसकी शाखायें हैं।

अतः वहाँ इम्पीरियल बैंक न केवल निकास-गृह सम्बन्धी कार्यों का संचालन ही करता है वरन् उसकी बाकी का भी निपटारा करता है।

(८) व्यापार की आवश्यकता के अनुसार और सरकार द्वारा निर्धारित द्रव्य-प्रणाली स्थिर रखने के उद्देश्य से साख का नियंत्रण करना—वास्तव में केन्द्रीय बैंकों का यह कार्य अन्य सब कार्यों की तुलना में सबसे महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में शा ने कहा है "किसी केन्द्रीय बैंक का एक मात्र वास्तविक और सबसे महत्वपूर्ण काम साख नियन्त्रण है।" इसका एक मात्र कारण यही है है कि आधुनिक काल में सब प्रकार के द्रव्य-सम्बन्धी और व्यापार-सम्बन्धी लेन-देनों के निपटारे में साख का ही भाग सबसे प्रधान हो गया है। ऐसा कहा जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसे देशों में ९० प्रतिशत भुगतान मुद्राओं और नोटों द्वारा न किये जाकर चेकों द्वारा किये जाते हैं। ऐसा होने के कारण साख अच्छे और बुरे दोनों के लिये कार्यरूप में लाई जा सकती है, अतः, देश के हित के लिये इसका नियन्त्रण बहुत ही आवश्यक हो गया है। इसके अतिरिक्त साख चालू करने और उसे वापस करने का काम वास्तविक रूप में बैंकिंग के व्यवसाय के अन्तर्गत आने के कारण उसका नियन्त्रण भी राज्य के किसी विभाग द्वारा किये जाने की अपेक्षाकृत किसी बैंक द्वारा ही किया जाना चाहिये और यह बहुत से बैंकों की अपेक्षाकृत एक ही बैंक द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है। जहाँ तक इस नियन्त्रण के उद्देश्य का प्रश्न है इस विषय में बहुत मतभेद है। इसका चालू और जो कुछ ही दिनो के पहिले तक मुख्य उद्देश्य था वह विनिमय दर स्थिर रखने का था। हमारे देश में तो यह उद्देश्य बराबर ब्रिटिश राज्य के अन्त तक रहा। किन्तु विनिमय दर की स्थिरता के यह आवश्यक अर्थ नहीं हैं कि चीजों के मूल्य भी स्थिर रहेंगे। प्रायः उनमें बहुत घट-बढ़ होती रहती हैं। यदि हम यह बात भली भाँति सोचें तो हमें यह विदित हो जायगा कि विनिमय दर की स्थिरता की अपेक्षाकृत चीजो की मूल्य की स्थिरता कहीं अधिक वाञ्छनीय है। यह तो सभी जानते हैं कि मूल्य परि-वर्तन से बहुत से परिवर्तन हो जाते हैं और आधुनिक आर्थिक सङ्गठन बिल्कुल गड़बड़ हो जाता है तथा उससे जो बेतरतीबी फैल जाती है उसके आर्थिक और सामाजिक फल बहुत बुरे होते हैं। फिर विनिमय स्थिरता को अत्यधिक महत्व

देने वाले देश प्राय: किसी एक बड़े देश के अथवा कई मुख्य देशों के आश्रित हो जाते हैं। जब से भारतवर्ष ने स्टर्लिङ्ग विनिमय मान अपनाया था तब से इस देश में भी यही हो रहा था। इसकी द्रव्य-सम्बन्धी नीति बराबर इंगलैण्ड की द्रव्य-सम्बन्धी नीति पर ही आश्रित रही है। इन देशों की आर्थिक स्थिति एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होने के कारण भारतवर्ष के लिये यह बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुआ है। विनिमय अथवा मूल्य की स्थिरता का उद्देश्य छोड़कर साख नियन्त्रण का एक उद्देश्य व्यापारिक चक्र (Business cycles) से रक्षा करना अथवा उसे बिल्कुल दूर करना भी है। अब धीरे-धीरे लोगों का यह विश्वास होता जा रहा है कि साख नियन्त्रण का सबसे मुख्य उद्देश्य व्यापारिक कार्यों की साधारण एवं बराबर उन्नति करना और अत्यधिक तेजी तथा मन्दी रोकना ही है।

जहाँ तक साख नियन्त्रण के तरीकों का प्रश्न है भिन्न-भिन्न केन्द्रीय बैंकों ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न तरीकों का प्रयोग किया है। और कभी-कभी तो उन्हें एक ही अवसर पर साथ-साथ ही कई तरीकों का प्रयोग करना पड़ा है। इनमें से बैंक दर नीति (Bank rate policy) और बाजार में खुले तौर पर सौदा करने की प्रणाली (Open-Market Operation) बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं। किन्तु हम इनका विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में ही करेंगे। हाँ, किसी देश में उसका केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण में कहाँ तक सफल हो सकता है यह भी बहुत सी बातों पर निर्भर है। पहिले तो वह उसके द्रव्य बाजार की उन्नति के स्तर और उसके केन्द्रीय बैंक के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर है। अधिकांश देशों में द्रव्य के सुसंगठित बाजार हैं ही नहीं। हमारे ही देश में द्रव्य के दो बाजार हैं—एक देशी और दूसरा आधुनिक—तथा इन दोनों में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। देशी बाजार आधुनिक बाजार की बहुत कम सहायता लेता है, और इसी प्रकार आधुनिक बाजार भी देश के केन्द्रीय बैंक की बहुत कम सहायता लेता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि व्यापारिक बैंकों में से कितने बैंक केन्द्रीय बैंक के सदस्य हैं। तीसरे, उनके और केन्द्रीय बैंक के बीच में कैसा सहयोग है, और अन्तिम यह कि केन्द्रीय बैंक का व्यापारिक बैंकों पर तथा अन्य अर्थ से सम्बन्धित संस्थाओं पर कैसा प्रभाव है। ये भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। हाँ, केन्द्रीय बैंक इस

उद्देश्य से एक स्पष्ट नीति पर चलकर स्थिति तो अवश्य ही सुधार सकते हैं।

केन्द्रीय बैंकों का सरकार से सम्बन्ध

केन्द्रीय बैंकों के जो कार्य हैं उनके महत्व के कारण हमें उनके और सरकार के बीच के सम्बन्ध का भी अध्ययन अवश्य ही कर लेना चाहिये। प्रायः सभी देशों की सरकारों ने अपने-अपने मुख्य बैंकों के कार्यों में किसी न किसी रूप में हस्तक्षेप करना आवश्यक समझा है। उन्नीसवीं शताब्दी में तो यह बात विधान में ही स्पष्ट कर देने का चलन हो गया था। किन्तु प्रथम युद्ध के समय सरकार के अत्यधिक हस्तक्षेप के कारण इनसे जो जनता का अहित हो गया था, उसके कारण कुछ हवा बदल गई थी। सन् १९२० में ब्रूसेल्स कान्फ्रेन्स ने जो यह निश्चय किया था कि बैंकों और विशेषकर नोट चलाने वाले बैंकों पर उनकी सरकार का कोई दबाव नहीं रहना चाहिये और उन्हें अर्थ सम्बन्धी मामलों में दूरदर्शी नीति पालन करनी चाहिये वह उस समय के जनमत का द्योतक है। किन्तु बहुत से स्पष्ट कारणों से अधिकांश देशों में यह बात मान ली गई है कि प्रत्येक केन्द्रीय बैंक के संचालक मण्डल की रचना में उसकी सरकार का हाथ अवश्य रहना चाहिये और इधर तो उनका राष्ट्रीयकरण भी हो रहा है।

प्रथम तो कुछ ऐसे केन्द्रीय बैंक हैं जिनकी सारी पूँजी उनकी सरकार द्वारा ही प्राप्त हुई है, अथवा वह सरकार की और व्यापारिक बैंकों की, तथा लोगों की सम्मिलित पूँजी है। भारतवर्ष के रिजर्व बैंक की पूँजी के स्वामित्व के सम्बन्ध में सन् १९२७ ही में एक बड़ा गहरा मतभेद उत्पन्न हो गया था किन्तु अन्त में जब इसकी संस्थापना हुई थी उसके पहिले ही यह बात पूर्णतया मान ली गई थी कि वह जनता के लोगों की निजी पूँजी ही होनी चाहिये। किन्तु १९४९ में सरकार ने फिर इसके सब हिस्से स्वयं ही खरीद लिये। इस सम्बन्ध में यह भी कह देना आवश्यक है कि सरकार के स्वामित्व का इस समय कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि वह अब इसके बिना भी अनेक प्रकार से अपने-अपने केन्द्रीय बैंकों पर अपना नियन्त्रण रख सकती है। दूसरे, उनके प्रधान कार्यकर्ताओं की नियुक्ति भी सरकार द्वारा स्वयं ही, अथवा उनके संचालक मंडल की मन्त्रणा से अथवा

व्यवस्थापक सभाओं की स्वीकृति से की जाती है। यदि सरकार अपने यहाँ के बैंक की पूँजी एकत्रित करने में कोई भी हिस्सा नहीं बँटाती है तो भी इसके यह अर्थ नहीं है कि वह उनके सञ्चालकों की नियुक्ति में भी हिस्सा नहीं बँटा सकती है। कुछ देशों में उनकी सरकारों को उनके केन्द्रीय बैंकों की पूँजी में हिस्सा न भी बँटाने पर उनके सञ्चालकों की नियुक्ति में ऐसा करने का अधिकार है। भारतवर्ष में भी रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पहिले भी ऐसा ही था।

प्रश्न

(१) 'केन्द्रीय बैंकिंग ने केवल उसी शताब्दी में ही एक विशिष्ट व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है।' उपरोक्त कथन पर अपना मत दीजिये।

(२) केन्द्रीय बैंकिङ्ग के प्राय: कौन-कौन से काम हैं? क्या यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैङ्क साधारणत: व्यापारिक बैङ्कों के कार्य न करें?

(३) नोट चलाने के एकाधिकार अथवा शेषाधिकार से आप क्या समझते हैं? संसार के मुख्य-मुख्य केन्द्रीय बैंकों ने यह अधिकार कब प्राप्त किये हैं? इस अधिकार के कौन-कौन से लाभ हैं?

(४) नोट चलाने का नियन्त्रण करने के लिये कौन-कौन से तरीके हैं? उसमें से प्रत्येक के विषय में उदाहरण के साथ बताइये।

(५) 'सरकार के बैंकर' के क्या अर्थ हैं? क्या केन्द्रीय बैंक अपनी सरकार को ऋण दे सकते हैं? उदाहरण देकर बताइये कि इस सम्बन्ध के बन्धेज किस प्रकार से बारम्बार तोड़े गये हैं।

(६) यह बतलाइये कि रिजर्व बैङ्क देश की सरकार को कहाँ तक आर्थिक सहायता दे सकती है।

(७) केन्द्रीय बैङ्क किन-किन तरीकों से व्यापारिक बैङ्कों के नकद कोष रखते हैं? इस कार्य से कौन-कौन सुविधायें प्राप्त हो सकती हैं?

(८) राष्ट्र का धात्विक कोष प्राय: किस रूप में उसके केन्द्रीय बैङ्क के पास रहता है ? वास्तविक राशि किस बात पर निर्भर रहती है ? अपने उत्तर के सम्बन्ध में कुछ उदाहरण दीजिये।

(९) बिलों पर ऋण देने और जब कहीं ऋण न मिले तब ऋण देने का दायित्व स्वीकार करने में क्या सम्बन्ध है ? यह बताइये कि बाद वाले कार्य की किस प्रकार धीरे-धीरे उन्नति हुई है। भारतवर्ष के रिजर्व बैङ्क की इस सम्बन्ध में क्या नीति है ?

(१०) निकास-गृह का क्या सिद्धान्त है ? उनसे कौन-कौन से लाभ हैं ? इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैङ्कों का क्या भाग रहता है ? अपने उत्तर में भारतवर्ष और इंगलैण्ड के उदाहरण दीजिये।

(११) केन्द्रीय बैङ्कों द्वारा साख नियन्त्रण से आप क्या समझते हैं ? इसका क्या उद्देश्य होना चाहिये ? इसे करने के दो मुख्य तरीके बताइये।

(१२) किसी केन्द्रीय बैंक का उसकी सरकार से प्राय: क्या संबंध रहता है ? अपने उत्तर के सम्बन्ध में उदाहरण दीजिये।

अध्याय ७

केन्द्रीय बैंकिंग (२)

केन्द्रीय बैंकों का एक काम साख नियन्त्रण करना है। इसके लिये वह निम्न तरीके प्रयोग में ला सकता है :—

(१) बैङ्क दर

सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पहिले मुख्यत: बैंक दर नीति ही के द्वारा साख नियन्त्रण किया जाता था।

बैंक दर का अर्थ—बैंक दर वह दर है जिस पर कोई केन्द्रीय बैंक सर्वोच्च कोटि के बिल फिर से डिस्काउण्ट (Rediscount) करने के लिये तैयार रहता है। यह हर सप्ताह में एक विशेष दिन बैंक संचालकों की एक विशेष बैठक में निश्चित किया जाता है और फिर घोषित कर दिया जाता है। जहाँ तक होता

है यह एक बार निश्चित हो जाने पर फिर एक सप्ताह के अन्दर नहीं बदला जाता। आजकल यह वह दर भी है जिस पर कोई केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों को उनकी सर्वोच्च कोटि के साख पत्रों के आधार पर ऋण देने के लिये भी तैयार रहता है। यह परिवर्तन केवल इसीलिये हुआ है कि इधर बिलों की बहुत कमी हो गई है और सरकारी साख-पत्र तथा बिल बहुत बढ़ गये हैं। यह बिलों की कमी कई कारणों से हुई है जिनमें से मुख्य तो यह है कि इधर व्यापारिक बैंक प्रायः अपने ग्राहकों को उनके द्वारा जमा की हुई राशि से कहीं अधिक राशि निकालने की आज्ञा, अधिविकर्ष (Overdraft), नकद साख (Cash Credit) तथा जमानती ऋण (Collateral Loans) देने लगे हैं। इसके अलावा पहिले द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने के सम्बन्ध में भी बिलों का प्रयोग होता था, किन्तु अब ऐसा नहीं है। व्यापारिक बैंकों की संख्या बढ़ती जा रही है और वह यह कार्य अधिकाधिक अपने बैंक ड्राफ्टों द्वारा करते हैं। यह लन्दन में भी हो रहा है और अन्य स्थानों में भी हो रहा है। इसके अलावा प्रथम महायुद्ध के पहिले लन्दन के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का केन्द्र होने के कारण वहाँ पर अनेक विदेशी बिल डिस्काउण्ट होने के लिये आते थे। किंतु उसके बाद से अन्य स्थान भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के केन्द्र बन गये हैं, जिससे बिल डिस्काउण्ट होने का कार्य उनके बीच में बँट गया है। साथ ही संरक्षण की नीति चालू हो जाने के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी कमी हो गई है जिससे यह बिल भी अब उतने नहीं निकलते जितने पहिले निकलते थे। इसके विपरीत सरकारी साख-पत्रों और बिलों का प्रयोग विभिन्न सरकारों के ऋण के परिमाण में वृद्धि हो जाने के कारण बहुत बढ़ गया है। यह ऋण मात्रा की वृद्धि प्रथम और द्वितीय महायुद्ध की और उनके बीच के समय की कठिनाइयाँ दूर करने के हेतु ही हुई है।

साख नियंत्रण में बैंक दर का प्रयोग—साख नियन्त्रण में बैंक दर का प्रयोग पहिले-पहिल बैंक आफ इंगलैण्ड ने सन् १८३९ में किया था। इसके पहिले बैंक दर ४ अथवा ५ प्रतिशत रहती थी। यदि बाजार की दर ४ प्रतिशत से नीचे गिर जाती थी तो बैंक अपनी दर चार प्रतिशत से कम नहीं करता था। इसका अर्थ यह होता था कि उसके पास डिस्काउण्ट कराने के लिये बिल आना

रुक जाता था। बैंक को अपनी दर ५ प्रतिशत से अधिक बढ़ाने का भी अधिकार नहीं था। बात यह थी कि उस समय वहाँ पर अधिक ब्याज के विरुद्ध एक विधान (Usury Law) था। तीन महीनों तक की अवधि पर के बिलो के लिये सन् १८३३ में इसका बन्धन हटा दिया गया था। इसके कुछ वर्ष बाद ही यह हर अवधि के बिलों पर के लिये हटा लिया गया। किंतु इसके यह अर्थ नहीं हैं कि बैंक आफ इंगलैण्ड सन १८३९ के पहिले साख-नियंत्रण के लिये कुछ नहीं करता था। वह दूसरे तरीके प्रयोग में लाता था। एक तो वह हर प्रार्थी के ऋण की राशि सीमित करके साख का एक तरह से राशन बाँध देता था। दूसरे जो बिल वह डिस्काउण्ट करने के लिये तैयार रहता था उनकी अवधि कम कर देता था। सन् १८३९ में बैंक दर पहिले तो ५½ प्रतिशत और फिर ६ प्रतिशत कर दी गई। किन्तु इसके साथ ही जो बिल वह डिस्काउण्ट करने के लिये तैयार रहता था उनकी अवधि भी उसने ९५ दिन से घटाकर ३० दिन कर दिया था। किन्तु साख-नियन्त्रण के लिये बैंक दर नीति का अधिकाधिक प्रयोग केवल सन् १८४४ के बैंक विधान पास हो जाने के बाद ही होना प्रारम्भ हुआ और जैसे-जैसे बैंक ने और कहीं ऋण न मिलने पर स्वय ऋण देने का दायित्व स्वीकार कर लिया वैसे-वैसे यह दायित्व निबाहने के लिये उसे साख-नियन्त्रण के पहिले वाले तरीके छोड़ने पड़े। सन् १८४७ में जब एक संकट का समय (Crisis) उपस्थित हुआ तब बैंक को साख-नियन्त्रण की इस नई नीति की परीक्षा करने का अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु पहिले तो उसने कुछ नहीं किया और चुपचाप बैठा रहा और बाद में जब उसने यह नीति अपनाने का प्रयत्न किया तब इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। अतः, सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और उसने सन् १८४४ के विधान का वह भाग कुछ दिनों के लिये रद्द कर दिया जिसके द्वारा बैंक एक निश्चित राशि छोड़ कर अन्य के नोट शत-प्रतिशत स्वर्ण रक्खे बिना नहीं चालू कर सकता था। किन्तु इसके प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ी। केवल इसके पास कर देने से ही संकट टल गया। सन् १८५७ और १८६६ के संकट काल के समय भी इसने शीघ्रता नहीं की, और अपनी दर उस समय न बढ़ाकर जब साख की अत्यधिक बाढ़ हो रही थी केवल उसी समय ही बढ़ाई जब देश से स्वर्ण निर्यात होने लगा। अतः, इन दोनों अवसरो पर भी सन् १८४४

के विधान के जिस भाग का ऊपर संकेत किया गया है उसे रद्द करने के लिये प्रबन्ध करना पड़ा और सन् १८५७ के संकट के समय इसे प्रयोग में भी लाना पड़ा। हाँ, सन् १८७२ में जब इसे एक कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा तब इसने शीघ्रता की और उसमें इसे सफलता भी मिली। इसके बाद अन्य अवसरों पर भी इसने यही किया और उनमें भी यह सफल रहा। सन् १८९० में एक तरफ तो इसने अपनी दर बढ़ाकर साख का अत्यधिक फैलाव रोका और दूसरी तरफ अन्य अँग्रेजी बैंकों और अर्थ सम्बन्धी संस्थाओं के सहयोग से बारिंग ब्रदर्स के जो फेल हो चुके थे देने उनके पकने पर देने का विश्वास दिलाया। इससे न केवल जनता का भय दूर हो गया बल्कि बैंक की मर्यादा भी काफी बढ़ी। किन्तु धीरे धीरे साख-नियन्त्रण के अन्य तरीके भी प्रयोग में आने लगे जैसे लन्दन बाजार में उधार लेना, किसी हद तक स्वर्ण के क्रय-विक्रय के अपने दर बढ़ाना और घटाना तथा फ्रांस और रूस में साख का प्रबन्ध करना और उसे स्वीकार करना। तथापि प्रथम महायुद्ध के पहिले और विशेषतः सन् १८४४ के विधान पास हो जाने के बाद तक साख-नियन्त्रण का मुख्य तरीका बैंक दर नीति ही रहा। कहना न होगा कि अन्य केन्द्रीय बैंकों ने भी बैंक आफ इगलैण्ड के नियन्त्रण सम्बंधी अनुभव से लाभ उठाया किन्तु इसका और कहीं भी इतने जोर से और इतनी जल्दी-जल्दी प्रयोग नहीं हुआ। लूवेट के कथन के अनुसार जब कि बैंक आफ इंगलैण्ड ने सन् १८७५ और १९०० के बीच मे इसका १६७ बार उपयोग किया, बैंक आफ फ्रास ने केवल २५ बार और रीश बैंक (जर्मनी के केन्द्रीय बैंक) ने केवल ८४ बार इसका उपयोग किया। इसके कई कारण थे :—(१) लन्दन के स्वर्ण का एक स्वतन्त्र बाजार होने के कारण वह विदेशी पूँजी की लागत के लिये बहुत ही उपयुक्त स्थान माना जाता था। अतः, जब कहीं भी गड़बड़ मचती थी और वहाँ की पूँजी लन्दन से निकाली जाती थी तब लन्दन में अवश्य कठिनाई उत्पन्न हो जाती थी। (२) ब्रिटिश साख की रचना की तुलना में इस समय बैंक आफ इगलैण्ड का स्वर्ण कोष बहुत ही थोड़ा रहता था। (३) ब्रिटिश पूँजी विदेशों में लगने के कारण ग्रेट ब्रिटेन के बैंकिंग के साधनों पर बराबर बोझ पड़ता रहता था और उसका यह प्रभाव होता था कि कभी-कभी अत्यधिक लागत लग जाती थी तथा

उत्पत्ति और व्यापार सीमा उलंघन कर जाते थे जिससे सट्टेबाजी बढ़ जाती थी। यह केवल बैङ्क दर ही बढ़ाकर और कभी-कभी तो अत्यधिक बढ़ाकर ही रोकी जा सकती थी।

बैङ्क दर का अन्य दरों से सम्बन्ध—बैंक दर नीति साख नियन्त्रण तभी कर सकती है जब केन्द्रीय बैङ्क के डिस्काउण्ट की दर के परिवर्तन से द्रव्य के अन्य दरों में भी उसी अनुपात से परिवर्तन हो। इंगलैण्ड में द्रव्य की विभिन्न दरो के बीच में एक बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। बैंक दर प्रायः बाजार के डिस्काउण्ट दर से कुछ ऊँचा रहा करता था। यह एक प्रकार से दंड देनेवाली दर थी। अतः, बाजारवाले बैंक से उसी समय ऋण लेते थे जब उन्हें और कहीं ऋण नहीं मिलता था। साथ ही बैङ्क का यह सबसे नीचा दर था। इस पर बैङ्क केवल सर्वोच्च बिल डिस्काउण्ट करने के लिये तैयार रहता था। निम्न श्रेणी के बिल डिस्काउण्ट करने के लिये यह और ऊँची दर लगाता था। बैङ्क प्रति-भूतियों पर जो ऋण देता था उन पर भी इससे ½ प्रतिशत ऊँची दर लेता था। बैङ्क दर के परिवर्तन पर बाजार के डिस्काउण्ट दर में भी परिवर्तन होता था। बैङ्क सात दिन की सूचना की शर्त पर जो जमा प्राप्त करते थे उस पर जो ब्याज देते थे उसकी दर प्रायः इस दर से १½ प्रतिशत कम रहती थी। सन् १६२१ में तो यह अन्तर २ प्रतिशत तक हो गया था; माँग पर वापस होनेवाले ऋणों पर की ब्याज दर प्रायः जमा के ब्याज दर से ½ प्रतिशत अधिक होती थी। फिर, बैङ्क अन्य ऋणों के सम्बन्ध में अपने ग्राहकों से जो ब्याज लेते थे उसकी दर बैङ्क दर से प्रायः एक प्रतिशत ऊँची होती थी और कम से कम ५ प्रतिशत अवश्य होती थी। कभी-कभी यह क्रम नहीं चलता था, किन्तु प्रायः यही रहता था। किन्तु अन्य देशों में यह सम्बन्ध इतना निश्चित नहीं रहता था। अतः, वहाँ की बैङ्क दर नीति साख-नियन्त्रण में इतनी सफल नहीं होती थी। जिन परिस्थितियों में कोई केन्द्रीय बैङ्क साख-नियन्त्रण कर सकता है उनका अध्ययन तो हम पहिले ही कर चुके हैं, और यह भी स्पष्ट है कि इंगलैण्ड को छोड़कर किसी भी दूसरे देश में वह परिस्थितियाँ सम्पूर्ण रूप से नहीं पाई जातीं।

जब सन् १६१४ में फेड्रल रिजर्व बैंकों ने कार्यारम्भ किया था तब उन्होंने बैंक आफ इंगलैंड के साख-नियन्त्रण के तरीकों का अवलम्बन करना चाहा था

और न्यूयार्क में एक बहुत ही उन्नत द्रव्य बाजार की संस्थापना का निरन्तर प्रयत्न किया था। इसमें सन्देह नहीं कि वे इसमें बहुत अंशों तक सफल भी हो गये थे। किन्तु उनके यहाँ के बैंक दर और बाजारू दरों का सम्बन्ध कुछ भिन्न परिस्थितियों के कारण भिन्न था। ग्रेट ब्रिटेन में बैंक आफ इंगलैण्ड से सीधे ऋण की याचना नहीं करते थे। आवश्यकता के समय वे बिल के दलालों से और अन्य ऋण लेनेवालों से अपने माँग पर वापस होनेवाले ऋण माँग लेते थे, और साथ ही उनके बिल डिस्काउन्ट करना बन्द कर देते थे। इसका स्वभावतः यह फल होता था कि बाजारवाले बैंक आफ इंगलैंड से सहायता माँगते थे और वह उनसे यथोचित व्यवहार करता था। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में रिजर्व बैंकों के सदस्य बैंक सीधे रिजर्व बैंक के साथ काम करते थे। फिर, जब इंगलैण्ड में बैंक आफ इंगलैण्ड से ऋण प्राप्त करने का सबसे नीचा दर बैंक दर था संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यह बात नहीं थी। डिस्काउन्ट दर के अतिरिक्त फेडूल रिजर्व बैंक अन्य बैंकों द्वारा स्वीकृत हुये बिलों के क्रय की एक अन्य दर भी घोषित करते थे जो बिल बाजार की सहायता करने और उन्हें बनाये रखने के उद्देश्य से डिस्काउन्ट दर से नीची और प्रायः बाजार दर के बराबर होती थी। अतः, जब सदस्य बैंक रिजर्व बैंकों से ऊँचे दर पर अपने व्यापारिक साख-पत्र डिस्काउन्ट कराते थे तब वह बाजारवालों के बैंकरों द्वारा स्वीकृत किये हुये बिल वह नीची दर पर खरीद लेते थे। इसका यह फल होता था कि वहाँ पर साख-नियन्त्रण के लिए बैंक दर नीति उतनी कारगर नहीं होती थी जितनी ग्रेट ब्रिटेन में होती थी। तीसरे, जब से फेडूल रिजर्व बैंक स्थापित हुये हैं तब से वहाँ पर स्वर्ण कोष की बाहुल्यता रही है जिससे वह करन्सी प्रसार के लिये काम में आता रहा था। इन सब कारणों के साथ-साथ कुछ अन्य कारण भी थे, जैसे वहाँ पर सट्टेबाजी की अत्यधिक सुविधा और वहाँ के लोगों का उसके प्रति अत्यधिक झुकाव। फिर, रिजर्व बैंकों को बैंक दर निर्धारित करने की उतनी स्वतन्त्रता भी नहीं है जितनी बैंक आफ इंगलैण्ड को है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब रिजर्व बैंकों की प्रार्थना पर बोर्ड ने बैंक दर बढ़ाने की अनुमति नहीं प्रदान की।

बैंक दर की वर्तमान स्थिति—प्रथम महायुद्ध के काल में और ठीक

उसके बाद तथा द्वितीय युद्धकाल में और ठीक उसके बाद अनेक अवसरों पर केन्द्रीय बैङ्क बैङ्क दर ।नीति का पालन केवल इसलिए नहीं कर सके कि उन्हें सरकार की अर्थ-सम्बन्धी आवश्यकताओं का ध्यान रखना था। किन्तु इन दोनों काल के बाद जैसे ही केन्द्रीय बैङ्क अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिये मुक्त हो गए वैसे ही साख-नियन्त्रण के लिये बैङ्क दर नीति का फिर से अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। उदाहरणार्थ द्वितीय युद्धकाल और उसके ठीक बाद का समय बीत जाने पर नवम्बर १६५१ में वही बैङ्क दर जो पिछले २० वर्षों से २% थी २½%, फिर मार्च १६५२ में ४%, सितम्बर १६५३ में फिर ३½%, मई १६५४ में ३% और मार्च १६५५ में ३½% कर दी गई। तीन चार वर्षों में ही इस प्रकार बैङ्क दर के परिवर्तन के कुछ अर्थ तो हैं ही। अन्य देशों में भी ऐसा ही हुआ। भारतवर्ष में १६५१ में यह ३% से ३½% कर दी गई। किन्तु तो भी अब बैङ्क दर का साख नियन्त्रण पर वह प्रभाव नहीं है जो पहिले था। इसके कई कारण हैं। एक तो द्रव्य बाजार अब पहिले से अधिक द्रवित हैं। दूसरे जब से स्वर्णमान सारे संसार भर से हट गया है तब से उसके स्थान पर कृत्रिम करन्सी मान चल रहा है। तीसरे आजकल अधिकांश देशों में स्वाभाविक तौर पर काम होने के स्थान में योजनाओं के अनुसार काम हो रहा है जिससे मूल्य में, मजदूरी के दर में, उत्पत्ति में और व्यापार में द्रव्य की दरों के और साख की स्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ योजना के अनुसार ही परिवर्तन हो जाते हैं। बेंजमैन का कथन है कि बैंक दर नीति उसी आर्थिक संगठन में सफल हो सकती है जिसमें मूल्य, मजदूरी और ब्याज प्रायः आवश्यकता के अनुसार स्वाभाविक तौर पर ही बदलते रहते हैं न कि कृत्रिम तरीको से योजना के अनुसार अतः, इन परिस्थितियों में बैंक दर नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

किन्तु प्रायः सभी केन्द्रीय बैंक हर सप्ताह में अपने-अपने बैंक दर अब भी घोषित करते हैं। अधिकतर तो उनके विधानों में ही यह दिया हुआ है कि उन्हें अपना बैंक दर निश्चित और घोषित करना पड़ेगा। इससे बैंक दर के आज भी महत्वपूर्ण होने का पता लगता है। पहिले तो इससे यह मालूम हो जाता है कि केन्द्रीय बैंक कुछ विशेष प्रकार के साख-पत्रों की प्रतिभूतियो पर किस

दर से ऋण देने के लिये तैयार है। दूसरे, यह इस बात का भी द्योतक है कि ऋण साधारणतः किस दर पर प्राप्त हो सकता है। तीसरे, इससे यह भी पता लगता है कि केन्द्रीय बैंक का देश की साख की स्थिति के विषय में क्या मत है। कभी-कभी तो इससे वहाँ की साधारण आर्थिक स्थिति के विषय में भी बैंक के मत का पता चलता रहता है। गिब्सन के शब्दों में[१] हम यह कह सकते हैं कि बैंक दर की वृद्धि आर्थिक स्थिति के विकृत रूप की चेतावनी देती है। एडिस के कथनानुसार[२] यह व्यापारियों के लिये भयसूचक लाल रोशनी का काम करती है और उन्हें इस बात की चेतावनी देती है कि आगे चलकर उनके ठोकर खाकर गिर जाने की सम्भावना है। इसके विपरीत इसकी कमी हरी रोशनी की द्योतक है जो यह बतलाती है कि रास्ता बिल्कुल साफ है और व्यापार रूपी पोत सावधानी के साथ आगे बढ़ सकता है।

(२) बाजार में खुले तौर पर काम करना—(Open market operations)—यह तो पहिले ही बतलाया जा चुका है कि बैंक आफ इंगलैण्ड साख-नियन्त्रण के सम्बन्ध में बैंक दर नीति के साथ साथ अन्य कई तरीकों का प्रयोग प्रथम महायुद्ध और उसके बाद के बहुत पहिले से ही करता आ रहा था। इन सब में से बाजार में खुले तौर पर काम करने की नीति (Open market policy) ही धीरे-धीरे विशेष तौर पर प्रधानता प्राप्त करती गई—यहाँ तक कि आजकल यह बैंक दर नीति के सहायक रूप में न रहकर स्वयं ही एक स्वतन्त्र रीति से प्रयोग में आने लगी है। इस नीति के यह अर्थ हैं कि केन्द्रीय बैंक स्वयं ही बाजार में प्रत्यक्ष रूप से उन सब साख-पत्रों का क्रय और विक्रय करने लगे जिन्हें वह साधारण तौर पर लेता और बेचता है, चाहे वह सरकारी साख-पत्र हों अथवा जनता के दूसरे साख-पत्र हों, अथवा

१ 'A rise in Bank rate may be regarded as the amber coloured light of warning of a robot system of finance and economics'—Gibson.

२ 'A rise in Bank rate is a danger signal, the red light warning to the business community of rocks ahead on the course in which they are engaged. A fall in it on the other hand may be looked upon as the green light indicating hat the coast is clear and that the ship of commerce may proceed on her way with caution'—Addis.

बैंकों द्वारा स्वीकृत किये गये बिल हों अथवा व्यापारियों के बिल हो। लेकिन चलन यही है कि बैंक केवल सरकारी साख-पत्र ही लेते और बेचते हैं। हाँ, वह दीर्घकालीन और लघुकालीन दोनों होते हैं। जनता के दूसरे साख-पत्र वह कुछ स्पष्ट कारणों से नहीं छूते। वास्तव में यह सम्भव भी केवल इसीलिये हो सका है कि आजकल की सरकारों ने बहुत से ऋण ले रक्खे हैं। भारतवर्ष में १९५१ तक तो रिजर्व बैंक अन्य बैंकों से इन्हें खरीद लेता था। किन्तु उस वर्ष से वह इन पर प्रायः उधार देता है जिससे बैंक दर अधिक प्रभावित हो गई है।

बाजार में खुले तौर पर काम करने की नीति का प्रभाव यह केवल निम्न परिस्थितियों में ही पड़ सकता है।

(१) प्रथम तो यह आवश्यक है कि देश की बैंकिंग प्रणाली बहुत ही उन्नत अवस्था को पहुँच गई है, अर्थात् लोग अपनी बचत अपने पास न रखकर बैंकों में ही रखते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो जब केन्द्रीय बैंक साख-पत्र बेचने लगता है तब उन्हें लोग अपने पास की पूँजी से खरीद लेते हैं जिससे बैंकों के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु जब उनकी बचत बैंकों में जमा रहती है तब केन्द्रीय बैंक द्वारा बेचे गये साख-पत्र खरीदने के लिये लोग बैंकों से अपनी पूँजी निकालते हैं और बैंकों के नकद कोष में इस प्रकार से कमी आ जाने पर उनकी साख उत्पादन शक्ति में भी कमी आ जाती है। यही साख-नियन्त्रण है। यह साख-नियन्त्रण उस समय भी नहीं हो पाता जब विदेशी लोग केन्द्रीय बैंक द्वारा बेचे हुये साख-पत्र खरीद लेते हैं।

(२) दूसरे, बैंको के नकद कोष में वृद्धि होने और कमी पड़ने पर उनकी साख उत्पादन शक्ति पर भी प्रभाव पड़ना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता तो साख-नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। बहुधा ऐसा होता है कि नकद की वृद्धि पर भी व्यापारिक बैंक साख नहीं बढ़ाते।

(३) तीसरे, इसमें केवल यही प्रश्न नहीं है कि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक की लक्ष्य पूर्ति के लिये तैयार हो, बल्कि यह भी प्रश्न है कि कुछ साहसी लोग काम चलाने के उद्देश्य से ऋण लें और उनका इतना विश्वास हो अथवा उनके पास इस तरह की प्रतिभूति हो कि जिस पर बैंक उन्हें उधार दे सके। यदि यह दोनों बातें नहीं हैं तो बैंकों की इच्छा रहने पर भी साख प्रसार नहीं हो

सकता। इसी तरह से यदि काम करने वालों को व्यापार और सट्टे में लाभ दिखाई पड़ता है तो बैंक प्रयत्न करने पर भी शायद साख की माँग में कमी नहीं कर सकते।

(४) अन्तिम बात यह है कि बैंकों की जमा की चाल (Deposit velocity) में भी कोई परिवर्तन न हो। स्वाभाविक तौर पर तो व्यापार की वृद्धि से इसमें वृद्धि और उसकी मन्दी से इसमें मन्दी हो जाती है।

किन्तु सच बात तो यह है कि उपर्युक्त में से कोई भी बात पूरी तौर से किसी देश में भी नहीं मिलती। लेकिन साधारणतया बाजार में खुले तौर पर काम करने की यह नीति मुख्य-मुख्य देशों में अपना प्रभाव अवश्य रखती है। इसका महत्त्व यह है कि यह बैंकों के नकद कोष बढ़ा अथवा घटा देती है और इन परिवर्तनों से द्रव्य की दरों और साख की स्थितियों में भी परिवर्तन हो जाते हैं जिससे मूल्यों और व्यापारिक स्थितियों में भी आवश्यक उलट-फेर हो जाते हैं। हाँ, यदि कहीं कोई रुकावट पड़ जाती है तो अवश्य इच्छित प्रभाव नहीं पड़ता।

जहाँ तक लन्दन का प्रश्न है वहाँ के क्रिक नामक एक बैंक अर्थशास्त्री ने यह कहा है कि बैंक आफ इंगलैण्ड अपने प्रत्यक्ष काम से वहाँ का नकद कोष घटा-बढ़ाकर वहाँ के बैंकों की जमा प्रसार और संकुचन बड़े जोरों से और जान-बूझकर कर सकता है और करता है तथा इसी तरह साख नियन्त्रण में सफल होता है। एम० एच० डी काक ने बैंक आफ इंगलैण्ड की इस नीति के लक्ष्य के विषय में निम्न बातें बतलाई हैं :—

(१) बैंक दर का प्रभाव उत्पन्न करना अथवा बैंक दर में परिवर्तन करने के लिये स्थिति पैदा कर देना।

(२) सरकारी द्रव्य की अथवा ऋतु सम्बन्धी गति-विधि से द्रव्य बाजारों में जो हलचल पैदा हो जाती है, उसे रोकना।

(३) स्वर्ण निर्यात और आयात रोकना।

(४) नये ऋण निकालने और पुराने ऋण नये ऋणों में बदलने की अवस्था में सरकारी साख की रक्षा करना।

(५) व्यापार के पुनर्निर्माण में सहायता पहुँचाने के लक्ष्य से सस्ते द्रव्य की स्थितियाँ उत्पन्न करनी और उन्हें बनाये रखना।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेड्रल रिजर्व बैंकों की भी खुले तौर पर बाजार में काम करने की नीति के लक्ष्य के विषय में यही कहा जा सकता है। हाँ, उनके कामों में और उनके इस पर जोर देने तथा इसे करने के स्तर (Standard) में अवश्य कुछ विशेष अन्तर है।

भारतवर्ष के रिजर्व बैंक को भी आवश्यकता पड़ने पर इस नीति का प्रयोग करने का अधिकार दिया गया है, और साथ ही जहाँ तक सम्भव हो सका है उन परिस्थितियों को भी उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है जिनसे इसका यथेष्ठ प्रभाव पड़ सकता है।

साख नियन्त्रण के अन्य तरीकों का प्रयोग

साख नियंत्रण के अन्य तरीकों में से कुछ का संकेत तो हम बैंक दर नीति के सम्बंध में ही कर चुके हैं। वहाँ पर यह भी बतलाया जा चुका है कि सन् १८३९ के पहिले बैंक आफ इंगलैण्ड (१) प्रत्येक प्रार्थी के ऋण की राशि बाँध करके साख की राशनिंग कर दिया करता था, और (२) जिन बिलों का डिस्काउण्ट करने को तैयार रहता था उनकी अवधि भी घटा देता था। उसने इस वर्ष साख नियंत्रण के लिये वास्तव में बैंक दर नीति के साथ-साथ उपर्युक्त दूसरी नीति भी अपनायी थी और डिस्काउण्ट करनेवाले बिलों की अवधि ९५ दिन के स्थान पर केवल ३० दिन ही कर दी थी। उसी सम्बन्ध में हम यह भी देख चुके हैं कि धीरे-धीरे बैंक ने साख नियंत्रण के अन्य तरीकों का भी प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था जैसे लंदन बाजार में ऋण लेना, स्वर्ण का क्रय और विक्रय दर एक विशेष सीमा के अंदर बढ़ा देना और फ्रांस तथा रूस से उधार लेना अथवा स्वीकार करना। इधर हाल में कुछ अन्य तरीकों का भी प्रयोग होने लगा है। किन्तु उन सब का अध्ययन करने के पहिले हमें एक बार साख की राशनिंग का तरीका फिर से भली-भाँति समझ लेना है। बात यह है कि इधर तानाशाही (Fascist) सरकारों ने हाल में भी इसका काफी प्रयोग किया था। वास्तव में राष्ट्रीय योजनायें कार्यान्वित करने के लिये ऐसा करना आवश्यक हो जाता है।

(३) साख की राशनिंग—जर्मनी ने इसका प्रयोग सन् १९२४ में अपने निज रैंटेनमार्क के मूल्य का ह्रास रोकने के लिये किया था। फिर, वहाँ पर सन् १९२९ में भी यही प्रयोग में लाई गई थी। उस वर्ष यङ्ग योजना के सम्बन्ध की पेरिस की वार्तालाप के कारण वहाँ से द्रव्य का निर्यात प्रारम्भ हो गया था जिससे वहाँ की करंसी की स्थिति बिगड़ने की सम्भावना उपस्थित हो गई थी। अतः, उसे इसी नीति द्वारा साख नियंत्रण करके सँभाला गया था। सन् १९३१ में भी वहाँ पर रीश-बैंक ने साख का कोटा (Quota) बाँध करके बड़े-बड़े बैंकों को फेल होने से बचाया था। रूस में तो यह तरीका वहाँ के सरकारी बैंक की साधारण आर्थिक नीति का प्रायः एक अङ्ग ही बन गया है। कजनलनबाम (Katzenellenbaum) का कथन है कि केन्द्रीय बैंक का दर न तो ऋण सम्बन्धी कोष की माँग और भरती (Supply) का सूचक है और न उसकी भरती ठीक करता है। जहाँ तक रूस के सरकारी बैंक में जमा होनेवाले कोष का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में वह एक अन्य सिद्धांत के अनुसार चलता है अर्थात् जिन्हें उसकी आवश्यकता होती है उन्हें वह एक निश्चित योजना के अनुसार देता है और कभी-कभी जब उनकी माँग उसके पास के कोष की अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है तब वह उसे उनके बीच में एक विशेष योजना के अनुसार बाँट देता है। द्वितीय महायुद्ध के काल में प्रजातंत्र राज्यों में भी इस तरीके का काफी प्रयोग किया गया था। भारतवर्ष में भी ऐसा किया गया था।

(४) प्रत्यक्ष कार्यवाही करना और नैतिक प्रभाव डालना (Direct action and moral suasion)—वास्तव में प्रत्यक्ष कार्यवाही करने में नैतिक प्रभाव डालना भी सम्मिलित है। किंतु एम० एच० डी० काक ने इन दोनों के बीच में कुछ अंतर दिखलाने का प्रयत्न किया है। उसके कथन के अनुसार प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के अर्थ हैं किसी व्यापारिक बैङ्क के विरुद्ध कुछ कड़े उपायों का प्रयोग करना और नैतिक प्रभाव डालने के अर्थ हैं उपयुक्त प्रकाश डालकर अपना लक्ष्य सिद्ध करना। इसमें केन्द्रीय बैंक का प्रभाव और उसकी स्थिति समझने की ओर उसी के अनुसार काम करा लेने की शक्ति का अधिक महत्त्व है। केन्द्रीय बैङ्कों ने इन तरीकों का प्रयोग किसी न किसी रूप में

बैंक दर नीति और बाजार में खुले तौर पर काम करने की नीति अपनाने के साथ-साथ अथवा उनसे पृथक-पृथक अनेक बार समय-समय पर किया है। संयुक्त राष्ट्र अमरिका में जब-जब फेड्रल रिजर्व बोर्ड ने बैंक दर में परिवर्तन करने की अनुमति नहीं दी और विशेषकर १९२८-२९ में उसने उसके स्थान पर यही तरीके काम में लाने के लिये इशारा किया था। किन्तु क्लार्क के कथनानुसार हम यह कह सकते हैं कि फेड्रल रिजर्व बैंकों को इनके प्रयोग का जो अनुभव हुआ है उससे यह ज्ञात होता है कि यह काफी उपयोगी नहीं सिद्ध हुये, अतः, इनका प्रयोग बहुत ही समझ बूझ कर करना चाहिये। हाँ, रीश बैंकों ने भी प्रायः इनका प्रयोग किया है और वह इसमें फेड्रल रिजर्व बैंकों की अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ है। किन्तु यह केवल इसीलिये हो सका कि उसमें बहुत कड़े उपाय प्रयोग में लाने का भय दिखाया गया था जोकि केवल तानाशाही शासन-प्रणाली ही के अन्तर्गत सम्भव है।

(५) केन्द्रीय बैंकों में व्यापारिक बैंकों द्वारा रक्खी जानेवाली न्यूनतम नकदी में परिवर्तन—पाँचवें अध्याय में जब हम व्यापारिक बैंको के नकद कोष के विषय में अध्ययन कर रहे थे तब हमने यह देखा था कि कुछ देशों में इन बैंको को चालू जमा और स्थायी जमा का एक निर्धारित अंश अपने यहाँ केन्द्रीय बैंकों में रखना पड़ता है। इधर केन्द्रीय बैंकों ने कभी-कभी यह अंश घटाने-बढ़ाने की शक्ति का भी प्रयोग किया है। पहिले-पहल इसका आविष्कार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सन् १९३३ में हुआ था और फिर इसका संशोधन वहाँ पर सन् १९३५ में किया गया था। इसके सम्बन्ध का जो विधान बना था उसके द्वारा फेड्रल रिजर्व प्रणाली के शासक मण्डल को साख का हानिकारक प्रसार और संकुचन रोकने के लिये सदस्य बैंकों द्वारा उनके पास उनकी जमा का जो अंश जमा किया जाता है उसे घटाने बढ़ाने का अधिकार दे दिया गया है। वस्तुतः इसका प्रयोग वहाँ पर सन् १९३६ के अगस्त में किया गया था। उस वर्ष जमा होनेवाले कोष का अंश पहिले से ज्योढ़ा कर दिया गया। उस समय शासक मण्डल ने यह कहा था कि इसकी अपेक्षाकृत कि पहिले तो [illegible] अत्यधिक कोष साख बनने के काम में आवे और फिर उसे वापस लिया [illegible] यह अधिक श्रेष्ठतर है कि इसके प्रयोग में आने के पहिले

ही इसके एक अंश की उत्पादन-शक्ति रोक दी जाय। किन्तु स्वर्ण का बराबर आयात होने के कारण सदस्य बैंकों के कोष बढ़ते रहे और सन् १९३७ के आरम्भ में शासक मण्डल को फिर उनके द्वारा जमा किये जाने वाले कोष का अनुपात दो किस्तों में बढ़ाना पड़ा जिससे सदस्य बैंकों को अगस्त १९३६ के पहिले जो न्यूनतम जमा रखनी पड़ती थी उससे अब दुगनी जमा रखनी पड़ने लगी। परन्तु सन् १९३८ में इस जमा किये जाने वाले कोष का प्रतिशत नये प्रतिशत से १२½ प्रतिशत कम कर दिया गया। न्यूज़ीलैण्ड और स्वीडेन ने भी बाद में इस तरीके का प्रयोग किया था।

निस्सन्देह साख-नियन्त्रण का यह तरीका बहुत ही अच्छा है किन्तु साथ ही इसमें कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। प्रथम तो सब बैंकों के कोष एक साथ तथा एक ही मात्रा में नहीं घटते-बढ़ते। अतः, केन्द्रीय बैंकों का उनके यहाँ जमा किये जानेवाले घटा-बढ़ा देने से भिन्न-भिन्न बैंकों पर भिन्न-भिन्न असर पड़ता है। दूसरे, यह तरीका तभी सफल हो सकता है कि जब बाजार में खुले तौर पर काम करने की नीति सफल बनाने के लिये जिन परिस्थितियों का होना आवश्यक है वह सब परिस्थितियाँ यह तरीका प्रयोग में लाने के लिये भी मौजूद हों।

(५) साख-पत्रों के मूल्य का वह अंश घटाना-बढ़ाना जिसके बराबर आधार पर ऋण दिये जाते हैं—सन् १९३४ के साख-पत्र विनिमय विधान (Securities Exchange Act) द्वारा फेड्रल रिज़र्व प्रणाली को साख नियन्त्रण का एक अन्य तरीका भी बतला दिया गया है, अर्थात् साख-पत्रों के मूल्य का वह अंश घटाना-बढ़ाना जिसके बराबर उसके आधार पर ऋण दिये जाते हैं। जैसा कि स्पष्ट है इसका उद्देश्य साख-पत्रों की सट्टेबाजी रोकना है। सन् १९३६ में मण्डल (Board) ने बैंकों और दलालों के लिये यह आवश्यक कर दिया था कि वह लोग साख-पत्रों की प्रतिभूति पर अपने ग्राहकों को ऋण देते समय उनके मूल्य की कम से कम ५५ प्रतिशत की गुञ्जा-इश अपने पक्ष में रख लें फिर सन् १९३७ के नवम्बर में यह घटाकर ४० प्रतिशत कर दी गई थी। द्वितीय महायुद्ध के समय यह तरीका कई अन्य देशों में भी प्रयोग में लाया गया था जिनमें भारतवर्ष भी एक है।

(६) विज्ञप्ति—सभी केन्द्रीय बैंक समय-समय पर किसी न किसी रूप में अवश्य कुछ न कुछ विज्ञप्ति करते रहते हैं। किन्तु साख नियन्त्रण के लिये इसका प्रयोग जितना संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में हुआ है उतना अन्य किसी भी देश में नहीं हुआ है। बरगेस के कथनानुसार फेड्रल रिजर्व प्रणाली के अफसरों के वक्तव्यों का साख नियन्त्रण के लिये कभी-कभी तो उतना असर पड़ा है जितना कि शायद उनके प्रत्यक्ष दबाव का पड़ता। रीश बैङ्क ने भी इसका काफी प्रयोग किया है। सन् १९४६ में बङ्गाल के बैंकों पर जब सङ्कट पड़ा था तब भारतवर्ष में रिजर्व बैंकों ने भी ऐसा किया था।

केन्द्रीय बैंकों की व्यापारिक चक्र (Business cycles) रोकने की शक्ति

केन्द्रीय बैंकों के साख नियन्त्रण के कार्य के सम्बन्ध में यह तो पिछले अध्याय में ही बताया जा चुका है कि इसका एक उद्देश्य व्यापारिक चक्र का प्रभाव कम करना अथवा उसे बिल्कुल रोक देना भी है। साथ ही हम वहीं पर यह भी देख चुके हैं कि आज-कल तो इस साख नियन्त्रण का पहिला उद्देश्य व्यापारिक कार्यों की बराबर स्वाभाविक तौर पर उन्नति करते रहना और तेजी-मन्दी (Booms and slumps) रोकना ही है, अन्य सब बातें तो बाद में आती हैं। अब, यह बात समझने के पहिले कि केन्द्रीय बैङ्क इसमें कहाँ तक सफल हुए हैं, हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि व्यापारिक चक्र, तेजी और मन्दी (Booms and slumps) के क्या अर्थ हैं। जहाँ तक व्यापारिक चक्र के प्रयोग का प्रश्न है वह इसलिए होने लगा है कि व्यापारिक कार्यों की जो घट-बढ़ होती है वह एक प्रकार से चक्र ही की तरह की है।

वैसले मिचेल ने व्यापारिक चक्र की जो परिभाषा[1] दी है वह कुछ इस आशय की है :—यह व्यापारिक कार्यों का एक क्रमिक प्रसार और संकुचन है।

---

[1] Business cycle is any single succession of expansion and contraction of business activity, *i. e.* between one period of prosperity and another or between one depression and another, irrespective of whether the transition from prosperity to depression is of the nature of a crisis or merely mild recession—Wesley Mitchell,

इसमें यह आवश्यक नहीं है कि तेजी और मन्दी का परिवर्तन एक संकट के रूप में हो। इसमें दो तेजी की भी अवधि हो सकती है और दो मन्दी की भी अवधि हो सकती है। इसी आधार पर एम० एच० डी० काक इसमें चार प्रकार की गतिविधि सम्मिलित करता है, अर्थात् उत्थान (Prosperity), वापसी (Recession), झुकाव (Depression) और पुनरुत्थान (Revival)। इनमें से उत्थान की अवधि तेजी की अवधि (Boom period) और झुकाव की अवधि मदी की अवधि (Slump period) कहलाती हैं।

कारण और निराकरण—इसके कारण द्रव्य सम्बन्धी (Monetary) और गैर द्रव्य सम्बन्धी (Non-monetary) दोनो हैं। अतः, द्रव्य सम्बन्धी कारण पूरी तरह से नहीं तो कुछ अंशो में अवश्य ही रोके जा सकते हैं। उत्थान और प्रसार के समय के बाद जो वापसी अथवा संकट का समय आता है वह केवल अत्यधिक सट्टेबाजी के कारण ही आता है। एम० एच० डी० काक ही के कथन के अनुसार उत्थान के और व्यवसाय की वृद्धि के समय जन-साधारण में साहस और आशा की भावना स्वाभाविक रूप से ही दृष्टिगोचर होने लगती है। ऐसे समय में व्यवसाय में आसानी से लाभ बढ़ाने के लिये व्यवसायी समुदाय अपनी बिक्री और उत्पादन भी बढ़ाता है और उसके लिए बैंकों की सहायता प्राप्त करना चाहता है। इसका फल यह होता है कि बैंक उत्पादकों और अन्य व्यवसायियो को साख देते हैं और उत्पादक और व्यवसायी भी अच्छी परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने ग्राहकों को साख देते हैं। अतः, पूँजी की तुलना में व्यवसाय के अनुपात की उपभोग तथा उत्पत्ति के सामान के उत्पादन और व्यापार के परिमाण की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और चारों तरफ तेजी ही तेजी (Boom) दिखाई पड़ने लगती है। किन्तु यह लाभ की वृद्धि का, बढ़ते हुये व्यापार और उत्पादन का, अधिकाधिक सट्टेबाजी का और भूमि, सामान तथा साख-पत्रों के मूल्योंत्कर्ष का क्रम सदा के लिये तो नहीं बढ़ सकता। कभी न कभी तो विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और बिल्कुल उल्टा हो जाता है। वास्तव में सट्टा रोकना ही चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि बैंकों के पास जन समुदाय की भावनायें रोकने के साधन तो नहीं हैं किन्तु वह ऐसे साख का नियन्त्रण करके उनका

कार्यान्वित होना तो रोक ही सकते हैं। इससे वापसी (Recession) भी रुक जाती है। वापसी तथा संकट के क्रम का विश्लेषण करके साइक्स ने तीन मुख्य बातें बताई हैं जो निम्नांकित हैं :—(१) इसके लिये सट्टे की भावना होनी चाहिये; (२) सट्टे का प्रभाव मूल्य वृद्धि दृष्टिगोचर होता है; (३) सट्टा मूल्य को साख वृद्धि द्वारा ही प्रभावित करता है। अतः, उसका कथन है कि बैंक साख नियन्त्रण करके मूल्य नियन्त्रण कर सकते हैं और मूल्य नियन्त्रण से सट्टेबाजी रुक सकती है जिससे वापसी रुक जाती है। केन्द्रीय बैंक बैंकों का प्रधान है। अतः, वह उनकी स्वाभाविक स्थिति पर दृष्टि रखकर उन्हें सचेत कर सकता है और यदि इतने पर भी कोई संकट में पड़ जाय तो वह उसकी सहायता भी कर सकता है।

प्रश्न

(१) 'बैंक दर से आप क्या समझते हैं ? इधर इसके अर्थ में जो परिवर्तन हो गया है वह किन कारणों से हुआ है ?

(२) 'बैंक दर' नीति उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में तथा अन्य देशों में साख नियन्त्रण के सम्बन्ध में क्यों अधिकाधिक प्रयोग में आने लगी। फिर, सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के काल से इसका महत्व क्यों घट गया है ? इस समय इसका क्या महत्व है ?

(३) 'बैंक दर' और दूसरी दरों के बीच में लन्दन के द्रव्य बाजार में क्या सम्बन्ध था ? बैंक आफ इंगलैण्ड का 'बैंक दर' अन्य केन्द्रीय बैंकों के 'बैंक दर' से किन-किन बातों में भिन्न था ?

(४) 'साख नियन्त्रण के लिये बैंक दर नीति अन्य देशों में न तो उतनी प्रभावोत्पादक ही सिद्ध हुई और न उतनी प्रयोग में ही आई जितनी इंगलैण्ड में।' उपर्युक्त के क्या कारण थे ?

(५) बाजार में खुले तौर पर काम करने से आप क्या समझते हैं ? साख नियन्त्रण के लिये इस नीति की सफलता किन-किन परिस्थितियों पर निर्भर है ?

(६) साख नियन्त्रण के निम्न तरीकों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—(१) साख की राशनिंग, (२) डिस्काउण्ट के योग्य बिलों की अवधि घटाना, (३) प्रत्यक्ष कार्यवाही करना, (४) नैतिक प्रभाव डालना, (५) न्यूनतम नकद कोष में परिवर्तन, (६) प्रतिभूति के जिस अंश के बराबर ऋण दिया जाता है उसमें परिवर्तन और (७) विज्ञप्ति।

(७) 'व्यापार चक्र', 'तेजी' और 'मन्दी' से आप क्या समझते हैं? क्या केन्द्रीय बैंकों के पास व्यापार चक्र रोकने की शक्ति है?

अध्याय ८

साख और साख-पत्र*

आधुनिक व्यवसाय और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति दोनों ही साख और साख-पत्रों के प्रयोग पर निर्भर हैं। मैक्लियड के कथनानुसार यन्त्र के लिए जितना आवश्यक इञ्जन है, गणितशास्त्र के लिये जितना आवश्यक कलन (Calculas) है उतनी ही आवश्यक व्यवसाय के लिये साख है।

साख क्या है?

साख का शाब्दिक अर्थ तो विश्वास है, किन्तु वास्तविक रूप में इसका अर्थ भुगतान टालना (Postponement of Payment) है। हम कह सकते हैं कि यह वह विनिमय है जो एक निश्चित समय बीत जाने के पहिले पूरा नहीं होता है। साख की तीन आवश्यकतायें हैं :—(१) मूल्य विनिमय, (२) समय, और (३) विश्वास—यह विश्वास ऋणी की ऋण अदा करने की क्षमता और ईमानदारी दोनों में होना चाहिये।

प्रकृति (Nature)—औद्योगिक क्रान्ति के समय से साख ने इतना

* उ० प्र० शिक्षा परिषद् के पाठ्यक्रम के अनुसार यह प्रथम प्रश्नपत्र का विषय है।

महत्व प्राप्त कर लिया है कि कुछ लोग इसे धन अथवा पूँजी और उत्पत्ति का साधन समझने लगे हैं। इसकी सत्यता निश्चित करने के लिये हमें यह जानना आवश्यक है कि क्या साख किसी अन्य चीज की सहायता के बिना मनुष्य की इच्छा पूर्ति कर सकती है; क्योंकि धन का यही तो एक विशेष लक्षण है। फिर, यदि इसका उत्तर 'हाँ' में है तो हमें यह मालूम करना पड़ेगा कि क्या यह उत्पत्ति करने के लिये प्रयोग में आ सकती है; क्योंकि धन इसी तरह से पूँजी बनता है। प्रथम तो साख स्वयं ही धन नहीं है। हमारा किसी पर कितना ही विश्वास क्यो न हो, इस अकेले विश्वास से ही तो उसे पूँजी नहीं मिल जायगी, पूँजी मिलने के लिये तो किसी के पास धन भी होना चाहिये। हम उस पर विश्वास तो करते है किन्तु हमारे पास धन तो है ही नहीं। अतः, हम उसे पूँजी दे कहाँ सकते हैं। किन्तु हम देखते हैं कि बैङ्कों के पास जितना धन रहता है उससे कहीं अधिक मूल्य की साख वह उत्पन्न कर देते हैं। अतः, लोग कहते हैं कि धन से अधिक जितनी साख उत्पन्न हुई है वह तो धन है ही। किन्तु सत्य यह है कि इस बढ़े हुये धन की तह पर कुछ वास्तविक धन है जिसके बिना यह बढ़ा हुआ धन उत्पन्न हो ही नहीं सकता था। अतः, हम यह कह सकते हैं कि साख से धन बढ़ जाता है और वही जब प्रयोग में आने लगता है तब पूँजी बन जाता है और संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि साख धन को अधिक उपयोगी बना देती है। अतः, वह उत्पादन का साधन (Factor) नहीं है, वरन् तरीका (Method) है। वह पूँजी को उसी प्रकार अधिक कुशल बना देती है जिस प्रकार श्रम विभाजन (Division of Labour) श्रम को कुशल बना देती है।

रूप साख के अनेक रूप हैं—व्यवसायिक साख (Commercial Credit), बैङ्क की साख, सरकारी साख (Public Credit), औद्योगिक साख (Industrial or Capital Credit), वैयक्तिक साख (Individual or Personal Credit)। जब कोई व्यवसायी अपनी साख के कारण उधार माल खरीदता है तब वह व्यवसायिक साख कहलाती है। किन्तु इस साख का क्षेत्र बहुत ही सीमित रहता है और वह बहुत जल्द ही समाप्त हो जाती है। अतः, इसका क्षेत्र और इसकी अवधि बढ़ाने के लिये इसका

विनिमय बैंक साख से करना पड़ता है। विनिमय बिल व्यावसायिक साख के रूप हैं। उनका चलन सीमित रहता है। किन्तु जैसे ही उनका विनिमय बैंक की साख के साथ अर्थात् नोटों तथा बैंकों द्वारा स्वीकृत किये गये बिलों और साख पत्रों (Letters of Credit) जैसे अन्य साख-पत्रों (Credit Instruments) के साथ हो जाता है वैसे ही वह एक बहुत बड़े क्षेत्र में चालू किये जा सकते हैं। किसी व्यवसायी को तो कुछ ही व्यवसायी जानते हैं। अतः, वह अन्य व्यवसायियों से अपनी साख पर उधार माल नहीं खरीद सकता। किन्तु जब वह अपनी साख बैंक साख से बदल लेता है तब वह कहीं से भी उधार माल खरीद सकता है; बैंक उसे चेकें और बिल काटने (Draw) की आज्ञा दे देता है। बिल तो प्रायः उस व्यवसायी को माल उधार देने वाले स्वयम करते हैं। हमने इनके विषय में बहुत काफी अध्ययन पाँचवें अध्याय में ही बैंको द्वारा स्वीकृत किये जानेवाले बिलो के अन्तर्गत कर लिया है। सरकारी साख के अन्दर सरकार द्वारा उधार लेना आ जाता है। वे अपने ब्याजू साख-पत्र निकालते हैं। औद्योगिक साख के अन्तर्गत उद्योग-धन्धों द्वारा उधार लेना आता है। वैयक्तिक साख के अन्तर्गत उपभोक्ताओं द्वारा उपभोग के लिये उधार माल खरीदना अथवा उधार द्रव्य लेना आ जाता है। उधार या तो साख-पत्रों के आधार पर या हिसाब-किताब की पुस्तकों में किये गये लेखों के आधार पर मिलता है। जब वह हिसाब-किताब की पुस्तकों में किये गये लेखों के आधार पर मिलता है तब हम उसे किताबी साख (Book Credit) कहते हैं।

लाभ—साख से साख-पत्रों की उत्पत्ति होती है जो धात्विक मुद्रा के स्थान पर काम करते हैं। (अ) यह धात्विक मुद्राओं की अपेक्षाकृत विनिमय के सस्ते माध्यम पड़ते हैं; (ब) यह उठाने धरने में अधिक सुविधाजनक रहते हैं; और (स) यह धात्विक मुद्रा की कमी पूरा करते हैं—वास्तव में धात्विक मुद्रा अकेली आज-कल के विनिमय के माध्यम की आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकती। इनके प्रयोग से बहुत सी कीमती धातु दूसरे उपयोगों में आने के लिये मुक्त हो जाती है। यह द्रव्य को दूर-दूर भेजने के काम में भी आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान तो इनके द्वारा बहुत ही आसानी से भुगत जाते हैं।

साख के कारण जब समुदाय की बचत केन्द्रित हो जाती है, तब उससे बचत करने वाले और बचत का उपयोग करने वाले दोनों को लाभ होता है। अतः, समुदाय मितव्ययी बन जाता है। फिर, जब केन्द्रित राशि उद्योग-धन्धों अथवा व्यवसायादि में लग जाती है तब उससे अनेक व्यक्तियों का जीवन-निर्वाह होता है। आधुनिक काल का व्यापक उत्पादन साख ही के कारण सम्भव हो सका है।

साख के क़ीमतों की घट-बढ़ भी कम हो जाती है। जब कभी द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है तब बैंक साख के रूप में उसे उत्पन्न कर देते हैं, और जब उसकी आवश्यकता नहीं रहती है तब वह उसे समेट लेते हैं।

साख के राष्ट्र अपने यहाँ के आर्थिक संकट दूर कर लेते हैं। इसी के सहारे वे लम्बी-लम्बी लड़ाइयाँ लड़ते हैं।

जब कोई व्यक्ति थोड़े समय के लिये धन संकट में पड़ता है तब उसे भी साख के ही कारण उधार मिल जाता है और उसका काम चल जाता है।

हानियाँ—जहाँ पर साख से इतने लाभ हैं वहाँ पर उससे अनेक हानियाँ भी होती हैं। वास्तव में उससे सबसे अधिक बुराई तो उसके अत्यधिक उपयोग में आ जाने के कारण होती है। जब अत्यधिक साख उत्पन्न हो जाती है तब बहुत उत्साह बढ़ जाता है और उससे अत्युत्पादन तथा सट्टेबाजी बढ़ जाती है। इससे अयोग्य व्यक्तियों को भी सट्टेवाले तथा अन्य हानिकारक व्यवसाय करने का अवसर प्राप्त हो जाता है; जिससे न केवल उन्हीं की बल्कि दूसरों की भी हानि होती है। जो उपभोक्ता साख प्राप्त कर सकते हैं, वह प्रायः अधिक व्ययी होकर अपनी आर्थिक अवस्था खराब कर लेते हैं। फिर, इससे पूँजीवाद और उससे उत्पन्न अन्य बुराइयों की, जैसे प्रतियोगिता तथा श्रम शोषण, इत्यादि की उत्पत्ति हो जाती है।

साख-पत्र

साख से अनेक प्रकार के साख-पत्रों की उत्पत्ति हो गई है। अतः, उन सब का तो यहाँ पर अध्ययन करना असम्भव-सा है। किन्तु उनमें से कुछ का अध्ययन अवश्य हम यहाँ पर (१) विनिमय साध्य साख-पत्रों (Nego-

tiable Instruments), (२) हुण्डियों तथा (३) अन्य मान्य पत्रों के शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे।

विनिमय साध्य साख-पत्र—इनमें चेक, विनिमय बिल और प्रणपत्र सम्मिलित हैं। साधारणतः ये हस्तान्तरकृत को अच्छा अधिकार देते हैं किन्तु इनकी यह शक्ति विनिमय साध्यता (Negotiability) इन पर प्रतिबन्धयुक्त बेचान (Restrictive endorsements) करके अथवा चेक में उस पर अविनिमय साध्य रेखाङ्कन (Not negot-iable Crossing) करके समाप्त अथवा सीमित भी की जा सकती है। किन्तु विनिमय साध्यता की समाप्ति अथवा उसके प्रतिबन्ध के यह अर्थ नहीं है कि यह साख-पत्र हस्तान्तरित (Transfer) भी नहीं किये जा सकते हैं। हस्तान्तरित होने की शक्ति (Transferability) और विनिमय साध्यता (Negotiability) का अन्तर भली भाँति समझ लेना चाहिये। जिस साख-पत्र में विनिमय साध्यता नहीं होती अथवा उसे समाप्त अथवा सीमित कर दिया जाता है उसे, जितनी बार चाहे उतनी बार हस्तान्तरित तो किया जा सकता है, किन्तु यदि वह किसी व्यक्ति द्वारा चुरा लिया जाता है अथवा किसी अन्य अनुचित तरीके पर उसके पास पहुँच जाता है, तब उस पर हस्तान्तरकृत (Transferee) का उसी हस्तांतरकर्ता (Transferor) ही की तरह का अधिकार होता है जिसने उसे चुरा लिया था अथवा अन्य अनुचित तरीके पर प्राप्त कर लिया था, अर्थात् उससे उसने जो लाभ उठाया है उसे आवश्यकता पड़ने पर उसके वास्तविक स्वामी को लौटा देना पड़ता है। स्पष्ट है कि यदि हस्तांतरकर्ता ठीक है तो हस्तांतरकृत की कोई हानि नहीं है। इसके विपरीत यदि किसी ऐसे विनिमय साध्य साख-पत्र को जिसकी यह विनिमय साध्यता समाप्त अथवा सीमित नहीं कर दी गई है कोई व्यक्ति उसके पूरे मूल्य पर प्राप्त कर लेता है तो उसे उसका लाभ उसके वास्तविक स्वामी के जिससे उसे चुरा लिया गया था अथवा किसी अनुचित तरीके पर प्राप्त कर लिया गया था विरोध में भी अपने पास रखने का अधिकार है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जब हस्तांतरित होने की शक्ति निरपेक्ष स्वामित्व (Absolute ownership) नहीं प्रदान करती, विनिमय साध्यता ऐसा करती है।

चेक—विनिमय साध्य पुर्जों के भारतीय विधान की ६वीं धारा में चेक की जो परिभाषा दी गई है वह इस आशय की है :—चेक एक ऐसा विनिमय बिल है जो एक विशेष बैङ्क के ऊपर लिखा जाता है और जिसके भुगतान देने का आदेश माँग पर छोड़कर अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकता है। अतः, इसकी तीन विशेषतायें हैं।

(१) वह विनिमय बिलों के सदृश है, (२) इसका ऊपरवाला धनी को बैङ्कर होना चाहिये, और (३) यह दर्शनी होनी चाहिये, अर्थात् इसका भुगतान माँगने पर फौरन होना चाहिये।

उपर्युक्त विधान की ५वीं धारा में विनिमय बिलों की भी परिभाषा दी हुई है। वह निम्न आशय की है :—यह एक ऐसा लिखित पत्र है जिस पर इसे लिखने वाले के हस्ताक्षर रहते हैं और जो उसमें लिखित किसी व्यक्ति से उसमें लिखित किसी अन्य व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा उसके वाहक को उसमें लिखित राशि किसी शर्त बिना देने की आज्ञा देता है।

अस्तु उपर्युक्त परिभाषायें ध्यान में रखते हुये हम चेक की अपनी परिभाषा भी बना सकते हैं जो कुछ निम्न प्रकार की होगी :—एक चेक एक ऐसा शर्त रहित लिखित आज्ञा-पत्र है जिसमें उसे लिखनेवाला अपने हस्ताक्षर से उसमें लिखित किसी विशेष व्यक्ति को अथवा उसकी आज्ञानुसार अथवा उसके वाहक को उसमें लिखित एक विशेष राशि माँग पर देने के लिये कहता है। यद्यपि इस परिभाषा का प्रत्येक शब्द महत्वपूर्ण है तो भी इसमें निम्न विशेषतायें मिलती हैं :—

(१) यह एक आज्ञापत्र है।

(२) यह लिखित होता है।

(३) यह बेशर्त होता है।

(४) यह किसी विशेष बैङ्क पर होता है।

(५) इस पर इसे लिखनेवाले के हस्ताक्षर होते हैं।

(६) इसमें लिखित राशि माँगने पर फौरन देनी पड़ती है।

(७) इसकी राशि निश्चित होती है।

(८) जिसे भुगतान दिया जाता है उसका नाम इसमें लिखित होता है अथवा उसके आदेशानुसार होता है अथवा इसका वाहक होता है।

चेक से सम्बन्धित धनी तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) लिखनेवाला धनी (Drawer)—इसका बैंक में चालू खाता होता है, (२) ऊपरवाला धनी (Drawee)—यह बैंक होता है और (३) पानेवाला धनी (Payee)—जिसे चेक का धन मिलना होता है। यदि पानेवाला धनी कोई कल्पित व्यक्ति रहता है तो चेक का धन चेक के वाहक (Bearer) को मिलता है।

पाने वाले धनी का नाम लिखने के लिये जो स्थान होता है उसके अन्त में 'आर्डर (Order) अथवा बेरर (Bearer)' छपा होता है। अतः, चेक लिखने वाले को इसमें से एक काट देना चाहिये। यदि आर्डर कट जाता है तो बेरर चेक (Bearer Cheque) रह जाता है और यदि बेरर कट जाता है तो आर्डर चेक (Order Cheque) रह जाता है। बेरर चेक के अर्थ हैं कि उसका दाम उसके वाहक को दे दिया जाय और आर्डर चेक के अर्थ हैं कि उसका दाम ऊपर वाले धनी के आदेशानुसार दिया जाय। आर्डर चेक का बेचान होता है। इसके बारे में हम आगे चल कर विस्तृत रूप से अध्ययन करेंगे। यहाँ पर तो यह कह देना ही काफी है कि एक आर्डर चेक बेचान द्वारा ही हस्तांतरित की जा सकती है। कभी-कभी बेरर और आर्डर दोनों ही शब्द काट कर 'केवल' (Only) लिख दिया जाता है। ऐसी चेक भी आर्डर चेक कहलाती है। आर्डर चेक को हम फरमानजोग चैक और बेरर चेक को देखनहार चेक कहते हैं।

चेकें उसी स्थान की करन्सी में काटनी चाहिये जिस स्थान में बैङ्क रहता है। यदि चेक किसी अन्य करन्सी में काट दी गई है तो बैङ्क चाहे तो इसका भुगतान उस समय की विनिमय दर के अनुसार कर दे अथवा उसे लौटा दे।

चेक का नमूना

No. 135 Dated...... In favour of...... .... Rs.......	No. 135 Dated July 10, 1948. .... ALLAHABAD COMMERCIAL BANK LTD. ALLAHABAD Pay Mr. Ram Prasad ORDER/BEARER .... Rupees One hundred only .... Rs. 100/- .... G. Dayal.

सं० १३५ ...... ता० १० जुलाई, ११४८ पानेवाला धनी............ .... Rs......	सं० १३५ ता० १० जुलाई, १६४८ .... इलाहाबाद कमर्शियल बैंक, लिमिटेड इलाहाबाद श्री रामप्रसाद को अथवा उनके आदेश .... के अनुसार सौ रुपया दीजिये। .... रु० १००) जी० दयाल ....

चेक का रूप (Foil) और प्रतिरूप (Counter-foil) दोनो होते हैं। बायाँ भाग प्रतिरूप (Counter-foil) और दायाँ भाग रूप (Foil) कहलाता है। प्रतिरूप अपने पास रख लिया जाता है; रूप पाने वाले धनी को दे दिया जाता है।

चेक लिखते समय उसके रूप और प्रतिरूप दोनों भरने चाहियें। प्रथम तो

तारीख रहती है। इसे ठीक-ठीक भरना चाहिये। आगे की तारीख भर देने से जब तक वह तारीख नहीं आ जाती उसका भुगतान नहीं होता। ऐसी चेक उत्तर तिथीय (Post-dated) कहलाती है। यदि किसी चेक में पीछे की तारीख भर दी गई है तो यदि वह छै माह से भी पहिले की हो जाती है तो उसका भुगतान नहीं हो सकता। पहिले की तारीख भर देने से चेक पूर्व तिथीय (Ante-dated) हो जाती है और छै महीने से ज्यादा की चेक पुरानी (Stale) हो जाती है। यदि किसी चेक में बिल्कुल ही तारीख नहीं भरी जाती तो उसे पाने वाला धनी अथवा अन्य कोई व्यक्ति उस पर सही तारीख भर सकता है। यदि कोई बिना तारीख की चेक बैंक में पहुँच जाती है तो बैंकर चाहे तो उस पर सही तारीख भरकर उसका भुगतान कर दे अथवा अपूर्ण (Incomplete) लिखकर वापस कर दे।

तारीख भरने के बाद पाने वाले धनी का नाम भरना पड़ता है। इसे उन्हीं अक्षरों में भरना चाहिये जो पाने वाला धनी लिखता है, अन्यथा जब वह हस्ताक्षर करेगा, गलती हो जाने का डर रहेगा। यदि राशि स्वयम् के लिये निकालनी है तो उसमें 'मुझी को दीजिये' (Pay to self) लिखना चाहिये। इसके बाद प्रायः हर चेक में जैसा कि पहिले बताया जा चुका है 'बेरर' अथवा 'आर्डर' शब्द दिये रहते हैं। इनमें से आवश्यकतानुसार एक रख लेना चाहिये और दूसरा काट देना चाहिये। कभी-कभी दोनों काटकर 'केवल' लिख दिया जाता है।

पाने वाले धनी के नाम के बाद धन लिखना पड़ता है। यह धन पहिले तो शब्दों में और फिर अंकों में लिखा जाता है। शब्दो और अंको में एक ही धन होना चाहिये। यदि अन्तर है तो बैंकर अपनी इच्छानुसार या तो शब्दों की राशि या शब्दों और अंकों में से जिसकी राशि कम है उसका भुगतान कर सकता है। किन्तु प्रायः बैंकर 'शब्दों और अंकों के धन में अन्तर है' (Amounts in words and figures differ) लिखकर चेक वापस कर देते हैं। धन लिखते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शब्दों के बीच में और इकाइयों के बीच में कोई अन्तर नहीं छोड़ना चाहिये वरना जालसाजी की सम्भावना रह जाती है।

अन्त में लिखने वाले धनी के हस्ताक्षर होते हैं। इस धनी ने बैंक में जब अपना हिसाब खोला होगा तब वहाँ पर हस्ताक्षर का नमूना दिया होगा। अतः, यह हस्ताक्षर उसी से मिलना चाहिये। यदि यह हस्ताक्षर नहीं मिलता तो चेक का भुगतान नहीं किया जाता।

जहाँ तक चेक की सुरक्षा का प्रश्न है, आर्डर चेक बेरर चेक की अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुरक्षित रहता है। किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है 'केवल' (Only) शब्द लिख देने से वह और भी अधिक सुरक्षित हो जाती है। ऐसी चेक का हस्तांतरकर्ता हस्तांतरकृत को उस पर वैसा ही अधिकार देता है जैसा उसका स्वयं का रहता है। चेकों को रेखांकित (Crossed) भी बनाया जा सकता है। इसके लिये उसके ऊपरी बायें कोने पर दो आड़ी समानान्तर रेखायें खींच दी जाती हैं। यदि इनके अन्दर किसी विशेष बैंक का नाम नहीं लिखा जाता तब तो यह साधारण रेखांकन (General Crossing) कहलाता है। रेखांकन के अर्थ हैं कि उसका भुगतान किसी बैंक की मार्फत किया जाय। अतः, कोई बैंक किसी चेक का धन तभी तो लेगा जब उसकी उस व्यक्ति से जान-पहचान होगी जिसके लिये वह भुगतान ले रहा है। ऐसा व्यक्ति प्रायः उसका ग्राहक होता है। स्पष्ट है कि रेखांकित चेक अन्य चेकों की अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रहती है। यदि इसे और अधिक सुरक्षित बनाना है तो रेखाओं के अन्दर किसी विशेष बैंक का नाम दिया जा सकता है। ऐसा रेखांकन विशेष रेखांकन (Special Crossing) कहलाता है। यदि किसी चेक पर विशेष रेखाङ्कन किया गया है तो उसका भुगतान केवल उसी बैंक की मार्फत किया जाता है जिसका नाम रेखाओं के अन्दर दिया गया है। यदि इसे और अधिक सुरक्षित बनाना है तो रेखाओं के बीच में साधारण रेखांकन में और विशेष रेखांकन में भी 'केवल पाने वाले धनी के खाते में' (Account payee only) अथवा 'अविनिमय साध्य' (Not Negotiable) अथवा दोनों लिख दिये जाते हैं। 'केवल पाने वाले धनी के खाते में' (Account Payee only) लिख देने से उसका वसूल करने वाला बैंक (Collecting Banker) उसकी राशि पाने वाले धनी के खाते में जमा कर देता है उसे नकद नहीं देता। 'अविनिमय साध्य' (Not Negotiable) लिख देने से उस पर हस्तान्तरकृत का वैसा ही अधिकार हो

जाता है जैसा हस्तांतरकर्ता का था। अतः, यह रेखांकन चेकों को और भी अधिक सुरक्षित बना देते हैं।

चेक के अधिकारी (Holder of a cheque) को उसे उसके ऊपर वाले बैंक के पास उचित समय के अन्दर ले जाना चाहिये। यह काम वह स्वयं अथवा अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा कर सकता है। यदि कोई अधिकारी अपना चेक अपने पास रक्खे रहता है और इस बीच में ऊपर वाला बैंक फेल हो जाता है तो इससे जो हानि होती है उसका उत्तरदायित्व उसी अधिकारी के ऊपर पड़ता है। मान लीजिए कि राम ने श्याम को एक चेक दी है, और श्याम ने उसका भुगतान उचित समय के अन्दर नहीं लिया है तथा ऊपर वाला बैंक इसी बीच में फेल हो गया है, तब यदि राम को ऊपर वाले बैंक से केवल आधी राशि मिलती है तो राम श्याम को उस चेक की आधी राशि ही देगा। जिस चेक में रेखांकन नहीं होता वह चेक खुली चेक (Open cheque) कहलाती है।

चेक का अधिकारी (Holder)—विनिमय साध्य पुर्जे के विधान की ८वीं धारा में चेक के, प्रण-पत्र के और विनिमय बिल के अधिकारी की जो परिभाषा दी हुई है वह कुछ निम्न आशय की है—"यह वह व्यक्ति है जिसे उसे रखने का और जिनके ऊपर उसके भुगतान का दायित्व है उनसे उसका भुगतान पाने और वसूल करने का अधिकार है। यदि कोई चैक, प्रण-पत्र अथवा विनिमय बिल खो भी गया है अथवा नष्ट हो गया है तो भी उसका अधिकारी वही है जिसे उसके खोने अथवा नष्ट होने के पहले उपर्युक्त अधिकार थे। साथ ही उसे उस चेक, प्रण-पत्र तथा विनिमय बिल की एक अन्य प्रतिलिपि भी उनके ऊपर वाले धनी से इस बात का वायदा करके प्राप्त कर लेने का अधिकार है कि यदि उनके किसी निरपराधी व्यक्ति के हाथ में पड़ जाने से उसकी कोई हानि होगी तो वह उसे पूरा कर देगा। यदि कोई साख-पत्र डाक से भेजा जाता है और वह रास्ते में खो जाता है तो उसका दायित्व उस भेजनेवाले ही के ऊपर पड़ता है। हाँ, यदि भेजने वाले ने उसे जिसके पास भेजा गया था उसके आदेशानुसार ऐसा किया था तो वही जिसके पास उसे भेजा गया था उसका दायी होता है।"

मूल्य दिये हुये पुर्जे का अधिकारी (Holder for value)—जिस पुर्जे का मूल्य किसी ने कभी भी चुका दिया है उस पुर्जे का अधिकारी, मूल्य दिये हुये पुर्जे का अधिकारी माना जाता है। मान लीजिये कि एक चेक 'ब' के पक्ष में है और 'स' का 'ब' के ऊपर द्रव्य चाहिये जिससे 'ब' ने 'स' के पक्ष में उसका बेचान कर दिया है। अब यदि 'स' उसे 'द' को दान में दे देता है तो 'द' मूल्य दिये हुये पुर्जे का अधिकारी है। उसने स्वयं तो इसका मूल्य नहीं दिया है किन्तु इसका मूल्य 'स' के द्वारा दिया जा चुका है।

चलन के अनुसार अधिकारी (Holder in due course)—इसकी परिभाषा भी उपर्युक्त विधान ही में दी हुई है। यह निम्न आशय की है—यदि कोई चेक, प्रण-पत्र और विनिमय बिल वाहक को देय है तो उसका चलन के अनुसार अधिकारी वही व्यक्ति है जिसने उसके प्रतिफल के विनिमय में उसे प्राप्त किया है, और यदि वह आदेशानुसार देय है तो इसके लिये उपर्युक्त के अलावा उसे या तो उसका पानेवाला धनी अथवा बेचान द्वारा हस्तान्तरकृत होना चाहिये। साथ ही चलन के अनुसार अधिकारी के लिये यह भी आवश्यक है कि उसने उसके पक जाने के पहिले और उसके हस्तान्तरकर्ता पर इस बात का सन्देह किये बगैर कि उस पर उसका अनुचित अधिकार है उसे प्राप्त किया हो। अतः, यह स्पष्ट है कि वाहक को देय पत्र में तो वह उसे दिया गया हो और आदेशानुसार देय-पत्र मे या तो वह स्वयं उसका पानेवाला धनी हो या उसके नाम वह बेचान किया गया हो। साथ ही इसके लिये निम्न बातें भी आवश्यक हैं—

(१) वह किसी प्रतिफल के विनिमय में प्राप्त किया गया हो।

(२) जब वह प्राप्त किया गया हो तब पक न चुका हो।

(३) उसे इस बात का सन्देह होने की तनिक भी आशंका न रही हो कि उसके हस्तान्तरकर्ता का उस पर कोई अनुचित अधिकार था।

संक्षेप में यह 'अच्छी नीयत से मूल्य के विनिमय में किसी सन्देह बिना प्राप्त करनेवाला अधिकारी' (Bonafide holder for value without notice) होना चाहिये। यह वाक्यांश बेढंगा अवश्य है, किन्तु स्वयं स्पष्ट है।

किसी विनिमय साध्य पुर्जे के चलन के अनुसार अधिकारी का ही उस पर अच्छा अधिकार होता है।

चिह्नित चेक (Marked Cheque)—यह वह चेक है जिस पर ऊपरवाले बैंक ने कोई ऐसा चिह्न बना दिया है जिससे यह मालूम पड़ता है कि जिस समय वह चिह्न बनाया गया था उस समय यदि उसका भुगतान माँगा जाता तो बैंक दे देता। ऐसी चेक का भविष्य में भुगतान होना इस बात पर निर्भर होता है कि लिखनेवाले धनी के खाते में रकम शेष है या नहीं। कोई चेक उसके लिखनेवाले धनी की अथवा उसके पानेवाले धनी की और उसके किसी भी अधिकारी की प्रार्थना पर चिह्नित किया जा सकता है।

विनिमय बिल (Bill of Exchange)—विनिमय बिलों की परिभाषा तो ऊपर दी ही जा चुकी है। इसके भी चेकों ही की तरह के तीन धनी होते हैं, हाँ, यह अन्तर अवश्य रहता है कि यह आवश्यक नहीं है कि ऊपरवाला धनी कोई बैंक ही हो। यह देशी और विदेशी (Inland and Foreign) दो प्रकार के हो सकते हैं। देशी बिल वह है जिसे जिस देश में लिखा जाता है उसी देश में उसका भुगतान होता है, अथवा उसका ऊपरवाला धनी उसी देश का रहनेवाला होता है। इसके विपरीत विदेशी बिल वह है जिसमें उपर्युक्त बातें नहीं होती हैं।

देशी बिल का नमूना

प्रयाग

| २ आ० | रु० ८००) १५ जनवरी, सन् १६४८

उपरोक्त तिथि से एक माह बाद पाँच सौ रुपया पहुँचे दाम बाबू प्रकाशचन्द्र को अथवा उनके आदेशानुसार दे देना।

जोग देना
भाई मोहनलाल,
नीची बाग,
कलकत्ता ॥

गनदास हरिदास

Allahabad,
Jan. 15, 1948.

| 2 as. | Rs. 800/-

One month after date pay to B. Prakash Chand or order the sum of Rupees Eight hundred only, value received.

Ramdas Haridas

To

Mohanlal Esqr.,
Nichi Bagh,
Calcutta.

विदेशी बिल का नमूना मूल्य लिपि

प्रयाग (भारतवर्ष)

| २ आ० | पा० ४० १५ जनवरी, १६४८

यह मूल लिपि देखने के नब्बे दिन बाद यदि इसकी दूसरी और तीसरी लिपियों का भुगतान नहीं हुआ है तब चालीस पाउण्ड भाई एडवर्ड स्मिथ को पहुँचे दाम दे दीजिये।

जोग देना

बी० बादशाह

श्री जेम्स स्मिथ,
लन्दन

FIRST OF EXCHANGE

Allahabad (India),
January 15, 1948.

| -/2/- | £ 40—

Ninety days after sight of this First of Exchange (Second and third of the same tenor and date unpaid), pay to Edward Smith Esqr. the sum of Pounds Forty only, value received.

To

B. Badshah

James Smith Esqr.,
London.

बिल लिखते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) तारीख—जिस दिन बिल लिखा जाता है उसी दिन की तारीख भी लिखी जानी चाहिए। बात यह है कि बिल पकने की तारीख का पता उपर्युक्त तारीख ही में बिल की अवधि जोड़कर निकाली जाती है।

(२) अवधि—(Tenor or term)—जिस अवधि के लिए कोई बिल लिखा जाता है वह उसकी अवधि कहलाती है, जैसे उपर्युक्त तारीख के तीन माह बाद (Three months after date— 3 m/d) अथवा देखने के ९० दिन बाद (90 days after sight-90d/s) यह अवधि बहुत ही स्पष्ट तौर पर लिखी जानी चाहिये। बिल पकने की तारीख निकालने के लिये उसमें प्रायः तीन रियायती दिन भी जोड़े जाते हैं। यदि किसी बिल के पकने की तारीख किसी छुट्टी के दिन पड़ जाती है तो उसका भुगतान छुट्टी के पहिले ही हो जाता है। अँग्रेजी विधान में सार्वजनिक छुट्टियों और बैंक की छुट्टियों में कुछ अन्तर है। यदि कोई बिल किसी बैंक की छुट्टी के दिन पकता है तब उसका भुगतान उसके अगले दिन होता है। भारतीय विधान में ऐसी कोई बात नहीं है, अतः, यहाँ के विद्यार्थियों को सार्वजनिक छुट्टियों और बैंक की छुट्टियों के बीच का अन्तर जानने की आवश्यकता नहीं है। बिल दर्शनी (Demand) भी हो सकते हैं। उनमें रियायती दिन नहीं जुड़ते।

(३) धन की राशि—यह दो बार लिखी जाती है—शब्दों में और अंकों में। कुछ लोग बिलों के बीच में जितनी राशि का बिल होता है उसमें कुछ बढ़ाकर उससे नीचे (Under Rs..) लिख देते हैं।

(४) बिल के धनी—पानेवाले धनी का नाम तो इबारत के साथ ही दिया रहता है और उसमें आदेशानुसार अथवा वाहक शब्द (Order or Bearer) दिया रहता है। लिखनेवाले धनी का नाम इबारत के नीचे दाहिनी तरफ और ऊपरवाले धनी का बायीं तरफ दिया रहता है।

(५) स्टाम्प—दर्शनी बिलों को छोड़कर अन्य सब बिलों पर उनकी राशि के अनुसार स्टाम्प लगा रहता है।

(६) पहुँचे दाम (Value Received)—प्रत्येक बिल में यह शब्द

अवश्य लिखे जाते हैं। इनके यह अर्थ हैं कि ऊपरवाले धनी को इसका मूल्य किसी न किसी रूप में मिल गया है।

विदेशी बिलों की दो अथवा तीन लिपियाँ एक साथ तैयार की जाती हैं। अतः, प्रत्येक लिपि में अन्य लिपियों का संकेत रहता है। ऊपरवाले धनी को केवल एक ही लिपि का भुगतान करना पड़ता है। प्रत्येक प्रतिलिपि अँग्रेजी में वाया (via) कहलाती है। यदि किसी विदेशी बिल की एक ही लिपि तैयार की जाती है तो उसे सोला बिल (Sola) कहते हैं। कहीं-कहीं अन्य देशों में लिखे गये बिलो पर उनके भुगतान के लिये आने पर फिर से स्टाम्प लगाना पड़ता है।

प्रत्येक आवधिक बिल पर ऊपरवाले धनी को अपनी स्वीकृति (Acceptance) देनी पड़ती है। यह वह उसके बीच में हस्ताक्षर करके करता है। यदि वह चाहे तो स्वीकार किया (Accepted) और अमुक स्थान पर भुगतान होगा (Payable at...) भी उस पर लिख सकता है। जब तक बिल पर स्वीकृति नहीं होती उसे ड्राफ्ट कहते हैं, और जब यह हो जाता है तब वह स्वीकृत बिल (Acceptance) कहलाता है। बिल की स्वीकृति साधारण (General) तथा विशेष (Special) हो सकती है। साधारण स्वीकृति में ऊपरवाला धनी उसे उसमें दी हुई शर्तों पर स्वीकार करता है और विशेष स्वीकृति में वह इन्हें बदल देता है। अतः, यह निम्नाङ्कित हो सकते हैं—

(१) हेतुमत, शर्ती (Conditional)—जब भुगतान के पहले कोई शर्त पूरी हो जाने के लिए लिख दिया जाता है जैसे माल आ जाना।

(२) आंशिक (partial)—जितनी राशि लिखी हुई है उससे कम के लिए स्वीकृति देना।

(३) स्थानिक (Local)—जब किसी विशेष स्थान पर ही भुगतान देने के लिये लिख दिया जाता है—केवल इलाहाबाद बैंक में ही भुगतान मिलेगा और कहीं नहीं (Payable at Allahabad Bank and there only)। जिस जगह भुगतान दिया जायगा उसका स्थान लिख देने से वह बिल स्थानीय बिल (Domiciled-Bill) कहलाता है।

अवधि परिवर्तन—इसमें ऊपरवाला धनी बिल में दी हुई अवधि से कुछ अधिक अवधि में बिल का भुगतान करने की स्वीकृति देता है।

ऊपरवाले सब धनियों द्वारा न स्वीकृत होना—मान लीजिए कि एक बिल राम, श्याम और हरी के ऊपर लिखा गया है, किन्तु उस पर केवल राम की ही स्वीकृति होती है।

ड्राफ्ट स्वीकृति के पहले भी हस्तान्तरित किया जा सकता है। यदि किसी बिल पर विशेष स्वीकृति मिली है तो उसका अधिकारी उसे अस्वीकृत मान सकता है। हाँ, यदि उसने उसे लिखनेवाले धनी तथा उसके ऊपर जिन अन्य धनियो का दायित्व है उनसे पूछे बिना ही ऐसा कर लिया है तो विशेष स्वीकृति के कारण जितने दायित्व से ऊपरवाला धनी बच जाता है उतने ही दायित्व से अन्य सब धनी भी बच जावेंगे। किसी बिल की स्वीकृति के लिये उसके ऊपर-वाले धनी को छुट्टियाँ छोड़कर ४८ घण्टे का समय दिया जाता है।

बिल अपनी स्वीकृति और अपने भुगतान के लिये तिरस्कृत हो अथवा नकारा जा सकता है (Dishonoured)। किसी बिल के नकारे जाने पर उसके अधिकारी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उन सब धनियो को इसकी सूचना दे दे जिन्हें वह इस पर दावी बनाना चाहता है। फिर उसे उस पर नोट (Noting) भी कराना पड़ता है। इसके लिये नोटेरी पब्लिक (Notary Public) हैं। यह व्यक्ति यह बिल उसके ऊपर वाले धनी के पास एक बार स्वयम् ले जाता है, और यदि तब भी वह नकार दिया जाता है तो वह उस पर यह बात लिख देता है। यही नोटिंग है। इसके लिए नोटेरी पब्लिक अपना शुल्क भी लेता है। कहीं-कहीं पर नोटेरी पब्लिक से एक प्रमाण-पत्र भी ले लिया जाता है। इसे अँग्रेजी में प्रोटेस्ट (Protest) कहते हैं। कभी-कभी ऊपर वाले धनी का दिवाला निकल जाने पर उससे बिल के भुगतान के विषय में पूछ-ताछ की जाती है, और यदि इसका कोई ऐसा उत्तर नहीं मिलता कि जिससे यह विश्वास हो जाय कि उसके पकने पर उसका भुगतान हो जायगा तो यह प्रोटेस्ट अच्छी प्रतिभूति का प्रोटेस्ट (Protest for better security) कहलाता है।

बिल की नोटिङ्ग हो जाने के बाद अथवा उसकी प्रोटेस्टिङ्ग हो जाने के बाद कोई भी व्यक्ति उसे किसी भी ऐसे धनी के बजाय जिसके ऊपर उसका दायित्व

है स्वयं उसे सकार सकता है। वह यह स्पष्ट लिख देता है कि वह किसके लिये उसे सकार रहा है।

बिल नकारे जाने से उनके अधिकारियों को जो कठिनाई उठानी पड़ती है उसे दूर करने के लिये कभी-कभी तो लिखने वाला धनी पहले ही से उसके नीचे यह लिख देता है कि आवश्यकता पड़ने पर यह अमुक धनी के पास ले जाया जाय (Drawee in case of need)।

विशेष परिवर्तन (Material Alterations)—किसी भी विनिमय साध्य पुर्जे पर कोई भी विशेष परिवर्तन कर देने से उस पर जो उत्तरदायित्व बढ़ जाता है उसके लिये यदि वह उनकी आज्ञा से नहीं किया गया है जो उसके लिये दायी है तो वह उनके ऊपर लागू नहीं होता। निम्न परिवर्तन साधारण परिवर्तन हैं। अतः, वह उन लोगों पर लागू हैं जो उस पर उत्तरदायी हैं।

साधारण परिवर्तन—(१) अर्धलिखित पुर्जा (Inchoate Stamped Instruments) पूरा कर देना।

(२) जब कोई साधारण बेचान उसके ऊपर किसी का नाम लिखकर विशेष बेचान में परिवर्तित कर दिया जाता है।

(३) जब खुली हुई चेक पर साधारण अथवा विशेष रेखांकन कर दिया जाता है अथवा साधारण रेखाङ्कन विशेष रेखांकन में परिवर्तित कर दिया जाता है। वसूल करने वाला बैंक अपने पक्ष के रेखाङ्कन में किसी अपने अढ़तिया बैंक की जिसके द्वारा वह उसे वसूल कराना चाहता है विशेष रेखाङ्कन भी कर सकता है।

विशेष परिवर्तन के निम्न उदाहरण हैं—

(१) किसी पुर्जे की अवधि बदलने के विचार से उसकी तारीख बदलना।

(२) उसका धन बदलना।

(३) उसकी अवधि बदलना।

(४) उस पर दायी धनी बदलना।

(५) ब्याज अथवा विनिमय दर बदलना।

(६) भुगतान का स्थान बदलना।

प्रणपत्र—यह वह लिखित पुर्जा है (बैंक नोट और करन्सी नोट नहीं) जिसमें उसका लिखने वाला उसमें दिये हुये किसी धनी को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा जिसके पास वह पुर्जा हो किसी शर्त के बिना उसमें लिखी हुई एक निश्चित राशि देने का प्रण करता है।

प्रणपत्र में केवल दो ही धनी होते हैं—(१) लिखने वाला, (२) पाने वाला।

प्रणपत्र लिखने वाला धनी एक अकेला अथवा कई संयुक्त हो सकते हैं। संयुक्त प्रणपत्र लिखने वालों पर उसके भुगतान की केवल संयुक्त और अलग-अलग दोनों जिम्मेदारियाँ हो सकती हैं। प्रथम अवस्था में तो उसका पाने वाला धनी सब लिखने वाले धनियों से उसका भुगतान करने की केवल एक साथ ही प्रार्थना कर सकता है, किन्तु दूसरी अवस्था में वह चाहे तो प्रत्येक लिखने-वाले धनी से अलग-अलग भी उसका भुगतान करने को कह सकता है; किन्तु इसमें शर्त यह है कि उसे उतना ही भुगतान मिलेगा जितना प्रणपत्र में लिखा है।

प्रणपत्र का नमूना

२ आ०	रु० ३००)	बनारस, ६ जनवरी, १९४८

उपरोक्त तारीख से एक माह बाद मैं भाई लाठामल को केवल तीन सौ रुपया पहुँचे दाम देने का प्रण करता हूँ।

शिवनाथ दास

संयुक्त प्रणपत्र

२ आ०	रु० १००)	जीरो रोड, इलाहाबाद। जनवरी १२, १९४८

हम श्री हरवंश जी को उनके माँगने पर केवल एक सौ रुपया पहुँचे दाम देने का प्रण करते हैं।

ब्रजमोहन साहु

कृष्णमोहन साहु

संयुक्त और पृथक

२ आ०	रु० ६००)	मेस्टन रोड, कानपुर। फरवरी १५, १६४८

हम संयुक्त और पृथक-पृथक भाई रामलाल को आज से तीन महीना बाद केवल छः सौ रुपया पहुँचे दाम देने का प्रण करते हैं।

गोपीकृष्ण अग्रवाल
सीताराम केसरवानी

SPECIMEM P/N

-/2/-	Rs. 400/-	Allahabad, Nov. 25, 1947.

One month after date I promise to pay to Mr. Jaigopal the sum of Rupees Four hundred only, value received.

Balramdas

JOINT

-/2/-	Rs. 200/-	Kanpur Oct. 15, 1947.

On demand we promise to pay to Mr. Ram Anugrah the sum of Rupees Two hundred only, value received.

Brijmohan Lal
Bhagwati Prasad

JOINT and SEVERAL

-/2/-	Rs. 600/-	Kanpur, Aug. 29, 1947.

Three months after date, we jointly and severally promise to pay to Mr. Raghvendra or order the sum of Rupees Six hundred only, value received.

Mahmood Khan
Shahabuddin

भारतीय कागजी मुद्रा विधान के अनुसार रिजर्व बैंक छोड़ कर अन्य कोई व्यक्ति अथवा संस्था दर्शनी और देखनहार दोनों प्रणपत्र एक में नहीं लिख सकती है।

हुंडियाँ

यद्यपि विनिमय साध्य पुर्जे विधान में केवल तीन ही विनिमय साध्य पुर्जों अर्थात् चेक, विनिमय बिलों और प्रणपत्रों का ही नाम दिया हुआ है। किन्तु चलन के अनुसार अन्य कई पुर्जे भी ऐसे माने गये हैं। हुण्डियाँ प्रायः सभी विचार से विनिमय बिलों से मिलती-जुलती हैं। उन्हीं की तरह उन पर स्टाम्प लगता है, उन्हीं की तरह उन पर बेचान होता है और उन्हीं की तरह उन्हें सकारा जाता है। हाँ, उनकी लिखावट अवश्य कुछ भिन्न होती है। किन्तु जोखमी हुण्डी अवश्य विनिमय बिलों की तरह नहीं होती। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे इसे लिखने का सिद्धान्त ही कुछ दूसरा है। इसके अलावा जहाजी रसीद, डाक वारण्ट, सुपुर्दगी के आदेश-पत्र (जो सब माल सम्बन्धी हैं), शेयर वारण्ट, देखनहार ऋणपत्र (जो अधिक अवधि के होते हैं) आंशिक विनिमय साध्य पुर्जे (Semi-Negotiable Instruments) कहलाते हैं। इनके अधिकारी (लहनी वालों) को इनमें की सम्पत्ति अपने नाम से वसूल कर लेने का अधिकार तो रहता है किन्तु इन पर उनका वैसा ही अधिकार हो पाता है जैसे उन लोगों का था जो इनको उन्हें हस्तांतरित करते हैं।

हुंडिया विशेषतः दो प्रकार की होती हैं—(१) मुद्दती; और (२) दर्शनी। मुद्दती हुण्डी वह कहलाती है जिसका भुगतान हुन्डी लिखने की तारीख या मिति के बाद हुन्डी में लिखी हुई अवधि पूरी होने पर किया जाता है। दर्शनी हुन्डी वह कहलाती है जिसमें पहुँचे तुरन्त अथवा इसी तरह के अन्य कोई शब्द लिखे जाते हैं जिनका अर्थ यह होता है कि हुन्डी में लिखी हुई मिती के बाद किसी दिन भी उसे दिखाने पर उसका भुगतान हो जायगा।

फिर हुन्डियाँ देखनहार, फरमान जोग, धनी जोग, शाह जोग और जोखमी भी हो सकती हैं।

देखनहार हुन्डी—यह वह है जिसका भुगतान उसे दिखाने वाले व्यक्ति को किया जाता है। दर्शनी हुन्डियाँ देखनहार नहीं हो सकती हैं।

नाम जोग या फरमान जोग हुन्डी—यह वह है जिसका भुगतान पाने वाले धनी के आदेशानुसार किया जाता है। इसमें बेचान की आवश्यकता पड़ती है।

धनी जोग हुंडी—यह वह होती है जिसका भुगतान केवल पाने वाले धनी को ही हो सकता है।

शाह जोग हुन्डी—यह वह है जिसका भुगतान केवल किसी शाह को ही हो सकता है। शाह उस व्यक्ति या फर्म या कम्पनी को कहते हैं जिसका नाम उस सूची में लिखा हो जो किसी स्थानीय बोर्ड द्वारा समय-समय पर प्रकाशित हुआ करती है। आधुनिक काल के बैङ्क या इनके अलावा जिसे हुन्डी भरने वाला अपनी जानकारी या जॉच के मुताबिक शाह मान ले उसे भी शाह कहते हैं।

जोखमी हुन्डी—यह आजकल तो व्यापार का ढंग बदल जाने के कारण नहीं चलती किन्तु पहले इसका बड़ा चलन था। मान लीजिये कि बनारस के किसी व्यक्ति के पास कलकत्ते की किसी फर्म का आर्डर आता है। बनारस का व्यक्ति माल तैयार करके किसी ऐसे व्यक्ति के सुपुर्द कर देता था जो माल ले जाने का, उसका बीमा करने का और उसके सम्बन्ध की हुण्डी की मिति काटकर भुगतान करने के लिये (Discounting) तैयार होता था। यह हुंडी जोखमी होती थी। इसका लिखनेवाला, माल बेचनेवाला, ऊपरवाला, माल खरीदनेवाला और पानेवाला जिसे रक्खे भी कहते हैं वह होता था जो मिति काटकर इसका भुगतान करता था। मिति काटनेवाले न सिर्फ मिति का व्याज, बल्कि माल बनारस से कलकत्ते ले जाने का किराया और उतने समय की जोखिम की बीमे का प्रीमियम काट लेता था। यदि माल सुरक्षित कलकत्ते पहुँच जाता था तो ऊपरवाला धनी माल लेकर उसे सकार देता था और यदि माल रास्ते ही में खो जाता था तो हुंडी का भुगतान नहीं होता था और रक्खेवाले धनी का नुकसान होता था। इस तरह से यह हुंडी आजकल के विनिमय बिल, बिल्टी, बीमा पत्र और गिरवीं पत्र (Letter of Hypothecation) चारों का काम करती थी। चूँकि इसका भुगतान केवल उसी शर्त पर होता था जब माल ऊपर-

वाले धनी को सुरक्षित अवस्था में दे दिया जाता था, यह बिला शर्त का पुरजा नहीं था। इसमें और विनिमय बिल में यह सैद्धान्तिक अन्तर है।

हुंडी का नमूना

सिद्ध श्री कानपुर शुभ स्थान श्री पत्री पाई सीताराम लक्ष्मनदास जोग लिखी प्रयाग जी से माधुरीदास नरायनदास की राम राम बंचने। अपरंच हुंडी कीनी एक आप ऊपर रुपया ४००) आँकड़े चार सौ के नीमे दो सौ के दूने पूरे देना। यहाँ रक्खा भाई पन्नालाल शम्भूनाथ के मिति चैत्र बदी पंचमी संवत् २००३ से पूरे पचपन, दिन पीछे दाम धनी जोग बिना जाब्ता बाजार चलन हुंडी की रीति ठिकाने लगाय चौकस कर देना। मिति चैत्र बदी पंचमी संवत् २००३।

पीठ पर

नीमे के नीमे रुपिया एक सौ का चौगुना पूरा रुपिया चौकस कर दीजो।

श्री पत्री भाई सीताराम लक्ष्मनदास, कानपुर।

हुंडी लिखनेवाले भी उनके ऊपरवाले धनी के भुगतान न करने पर उनका भुगतान करवा देने के उद्देश्य से रक्खेवाले को किसी ऐसे व्यक्ति के नाम चिट्ठी दे देते थे जो उनका भुगतान कर दे। यह चिट्ठी जिकरी चिट कहलाती है।

हुंडियों की स्वीकृति उन पर हस्ताक्षर करके नहीं होती, वरन् ऊपरवाला धनी उनका ब्योरा अपनी हुंडी बही में कर लेता है।

यदि हुंडी खो जाती है तो उसकी प्रतिलिपियाँ मिल सकती हैं। पहिली प्रतिलिपि पैठ, दूसरी पर पैठ, तीसरी दर पैठ और चौथी पंचायती अथवा मेजर-नामा कहलाती है।

हुंडी का भुगतान करना उसे सकारना और हुण्डी का भुगतान न करना उसे खड़ा रखना कहलाता है।

चेक और विनिमय बिलों में अन्तर

चेक	विनिमय बिल
(१) चेक एक बैंकर के ऊपर लिखी जाती है।	(१) विनिमय बिल किसी के ऊपर भी लिखे जा सकते हैं।
(२) यह दर्शनी होती है।	(२) यह दर्शनी और मुद्दती दोनो हो सकते हैं।
(३) यह प्रायः देशी होती है।	(३) यह देशी और विदेशी दोनों हो सकते हैं।
(४) यह देश की ही करन्सी में लिखी जाती है।	(४) विदेशी विनिमय बिल विदेशी करन्सियों में भी हो सकते हैं।
(५) इसमें स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती।	(५) मुद्दती बिलों में स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती है।
(६) यदि यह उचित समय के अन्दर बैंक में नहीं ले जाई जाती तो यदि बैंक फेल नहीं हो जाता तो इसके लिखने वाले धनी का इस पर का दायित्व समाप्त नहीं हो जाता।	(६) यदि यह उचित समय पर ऊपर वाले धनी के पास नहीं ले जाया जाता तो लिखने वाला धनी तथा अन्य धनी इस पर के दायित्व से मुक्त हो जाते हैं।
(७) यदि लिखने वाला धनी बैंक को इसे खड़ी रखने के लिये लिख देता है अथवा वह मर जाता है, अथवा पागल हो जाता है, अथवा दिवालिया घोषित कर दिया जाता है तो इसका भुगतान नहीं होता।	(७) इसका ऊपर वाला धनी यदि इसका भुगतान नहीं करता है, तो लिखने वाला धनी स्वयं इसका भुगतान कर देता है।
(८) इस पर रेखाङ्कन किया जा सकता है।	(८) इस पर रेखांकन नहीं होता।
(९) यदि इस पर का बेचान जाली है तो बैंकर की कुछ वैधानिक बचत है।	(९) स्थानीय बिलों पर के जाली बेचानों के सम्बन्ध में बैंकरों को कोई भी वैधानिक बचत नहीं दी गई है।
(१०) इसके खड़े रह जाने	(१०) इसके खड़े रह जाने

पर इसके ऊपर जिन लोगों का दायित्व है उन्हें इसकी सूचना देने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।	पर इसके ऊपर जिन लोगों का दायित्व है उन्हें सूचना देनी पड़ती है ।
(११) इसकी नोटिङ्ग नहीं होती ।	(११) इसकी नोटिङ्ग होती है। कभी-कभी तो इसके प्रोटेस्ट की भी आवश्यकता पड़ती है ।

चेक और प्रणपत्रों में अन्तर

चेक	प्रणपत्र
(१) चेक प्रायः जमा रखने वाले (Creditor) के द्वारा लिखी जाती है ।	(१) प्रणपत्र लिखने वाले स्वयम् ऋणी (Debtors) होते हैं ।
(२) इसमें भुगतान करने का आदेश रहता है ।	(२) इसमें भुगतान करने का प्रण होता है ।
(३) इसमें दो से अधिक धनी भी हो सकते हैं ।	(३) इसमें दो ही धनी होते हैं ।
(४) इसका ऊपर वाला धनी केवल बैंकर ही हो सकता है ।	(४) इसका भुगतान कोई भी धनी स्वयम् अथवा किसी के साथ और पृथक्-पृथक् भी कर सकता है ।
(५) यह प्रायः प्रयोग में आती है। अतः, यह विनिमय के माध्यम का बहुत काम करती है ।	(५) यह बहुत प्रयोग में नहीं आते । अतः विनिमय के माध्यम की तरह भी काम में नहीं आते ।
(६) यह दर्शनी होती है ।	(६) यह दर्शनी और मुद्दती दोनो हो सकते हैं ।

विनिमय बिलों और प्रणपत्रों में अन्तर

विनिमय बिल	प्रणपत्र
(१) इसमें दो से अधिक धनी भी हो सकते हैं ।	(१) इसमें दो ही धनी होते हैं ।

(२) इसे प्रायः लेनदार (Creditor) ही लिखता है।	(२) इसे देनदार (Debtor) लिखता है।
(३) इसमें भुगतान करने का आदेश रहता है।	(३) इसमें भुगतान करने का प्रण रहता है।
(४) यदि यह दर्शनी नहीं होता तो इसकी स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती है।	(४) इसकी स्वीकृति की आवश्यकता नहीं पड़ती।
(५) इसे किसी की साख रखने के लिये सकारा जा सकता है।	(५) यह किसी की साख रखने के लिये नहीं सकारा जाता।
(६) विदेशी बिलों की कई प्रतिलिपियाँ एक साथ लिखी जाती हैं।	(६) यह अकेला ही लिखा जाता है।
(७) इसके ऊपर वाले धनी केवल संयुक्त रूप से ही इस पर दायी होते हैं।	(७) इसे लिखने वाले इस पर संयुक्त रूप से और पृथक् रूप से दोनो प्रकार से दायी हो सकते हैं।
(८) इसकी नोटिङ्ग होती है और इसके विदेशी होने पर इसकी प्रोटेस्टिङ्ग भी होती है।	(८) इसकी नोटिङ्ग और प्रोटेस्टिङ्ग की आवश्यकता नहीं पड़ती।
(९) यह बहुत प्रयोग में आता है।	(९) यह बहुत अधिक प्रयोग में नही आता।

विनिमय बिल और हुण्डी में अन्तर

विनिमय बिल	हुण्डी
(१) इसमें केवल आवश्यक बातें रहती हैं।	(१) यह एक पत्र के रूप में होता है और इसमें राम राम, इत्यादि भी लिखा रहता है।
(२) इसकी भाषा निश्चित है।	(२) इसकी भाषा स्थानीय चलन के अनुसार बदलती-बदलती रहती है।

(३) यह हमेशा बिला शर्त होता है।

(४) इसमें ऊपर वाले धनी का नाम नीचे बाँयें कोने पर दिया होता है।

(५) लिखने वाले धनी का नाम इसमें नीचे दाहिने कोने पर दिया रहता है।

(६) इसमें धन की राशि दो अथवा अधिक से अधिक तीन बार दी होती है।

(७) इसकी स्वीकृति इसी पर हस्ताक्षर करके दी जाती है।

(८) विदेशी बिलों की सभी प्रतिलिपियाँ एक साथ ही तैयार कर ली जाती हैं और भिन्न-भिन्न डाकों से भेज दी जाती हैं।

(९) यह संसार भर में सब जगह प्रयोग में आते हैं और इसी से देशी तथा विदेशी दोनों हो सकते हैं।

(१०) यह विनिमय साध्य पुर्जों के विधान द्वारा शासित होते हैं।

(११) इनके खड़े रह जाने पर इनकी नोटिङ्ग और कभी-कभी प्रोटेस्टिङ्ग भी होती है।

(३) यह किसी शर्त की भी हो सकती है, जैसे जोखमी हुण्डी।

(४) इसमें ऊपरवाले धनी का नाम सिरनामे में ही दिया रहता है। और बाद में इसकी पीठ पर दिया रहता है।

(५) इसमें लिखने वाले धनी का नाम सिरनामे ही में दिया रहता है।

(६) इसमें धन की राशि पाँच बार दी रहती है। अतः, उसमें जाल नहीं हो सकता।

(७) इसकी स्वीकृति के लिये केवल इसकी मुख्य-मुख्य बातें अलग नोट कर लेनी पड़ती हैं।

(८) इसकी प्रतिलिपियाँ केवल माँगने पर ही की जाती हैं। इसकी चार प्रतिलिपियाँ हो सकती हैं।

(९) यह केवल भारतवर्ष ही में प्रयोग में आती है और इसी से केवल देशी होती हैं।

(१०) यह स्थानीय चलन के अनुसार शासित होती हैं।

(११) इनकी नोटिङ्ग और प्रोटेस्टिङ्ग नहीं होती।

विनिमय बिल और हुण्डियों में समानता

(१) दोनों में तीन धनी होते हैं।

(२) दोनो दर्शनी और मुद्दती दोनों हो सकते हैं। दोनों में मुद्दती होने की अवस्था में धन के अनुसार स्टाम्प लगता है।

(३) दोनों में लिखने वाले धनी की साख के लिये स्वीकृति दी जा सकती है।

(४) दोनो की मिति काटकर धन मिल जाता है।

(५) दोनों का बेचान किया जाता है।

(६) दोनों में पकने की तारीख पता लगाने के लिए कुछ रियावती दिन जोड़ने पड़ते हैं।

(७) दोनों ही एक निश्चित रकम भुगतान करने के लिये होते हैं।

अन्य साख-पत्र

बैङ्क ड्राफ्ट—यह भी एक प्रकार का विनिमय बिल ही है। जब आधुनिक काल के बैङ्क भारतवर्ष में नहीं थे तब बैङ्क ड्राफ्ट का काम हुंडियाँ ही करती थीं। आजकल यदि किसी धनी को कहीं द्रव्य भेजना है तो वह किसी बैङ्क से एक बैङ्क ड्राफ्ट ले सकता है। यह बैङ्क ड्राफ्ट एक बैङ्क का उसके किसी अन्य आफिस के ऊपर अथवा अढ़तिया बैङ्क के ऊपर एक प्रकार का दर्शनी बिल होता है, जिसमें यह लिखा होता है कि वह एक अमुक धनी को अथवा उसके आदेश के अनुसार किसी को एक अमुक राशि दे दे। द्रव्य भेजने में आजकल बैङ्क ड्राफ्ट का बहुत चलन हो गया है। कोई बैङ्क अपने किसी आफिस को दर्शनी और देखनहार ड्राफ्ट नहीं करता।

बैंक ड्राफ्ट का नमूना

इम्पीरियल बैङ्क आफ इन्डिया

सं०......... इलाहाबाद......१९४

रु०...... माँगने पर......................अथवा उनके आदेशानुसार

.........रुपया पहुँचे दाम दीजिए।

जोग देना— इम्पीरियल बैङ्क आफ इण्डिया की ओर से

इम्पीरियल बैङ्क आफ इन्डिया
बम्बई

मैनेजर

IMPERIAL BANK OF INDIA

No.......................

Rs...... Allahabad..................195....

On demand pay to..

....*or order*

Rupees...*value received.*

To *For Imperial Bank of India,*

Imperial Bank of India,

Bambay. *Agent.*

डिविडेन्ड वारन्ट—जब कोई कम्पनी अपना डिविडेण्ड (हिस्सों पर का मुनाफा) बाँटती है तब वह हिस्सेदारों को डिविडेन्ड वारण्ट भेज देती है। यह चेक की शक्ल का, अथवा बिल की शक्ल का अथवा रसीद की शक्ल का हो सकता है। चेक की शक्ल का होने पर यह कम्पनी-द्वारा लिखा जाता है और इसका ऊपरवाला कम्पनी का बैंक तथा पानेवाला हिस्सेदार होता है। ऐसा वारण्ट चेक की तरह ही माना जाता है अर्थात् इस पर रेखाङ्कन भी हो सकता है। बिल के रूप का होने पर भी इसके वह धनी होते हैं जो चेक के रूप का होने पर होते हैं। इसके रसीद के रूप में होने पर यह पानेवाले (हिस्सेदार) की तरफ से रसीद होती है जिस पर बीस रुपया अथवा उससे अधिक की राशि होने पर स्टाम्प भी लगता है। यह कम्पनी की तरफ से निकाली जाती है और हिस्सेदार इस पर हस्ताक्षर करके इसे कम्पनी के बैङ्क में दे देता है।

ब्याज-पत्र (Interest Warrants)—सरकार और सम्मिलित पूँजीवाली कम्पनियों को जब अपनी उधार ली हुई पूँजी पर ब्याज देना होता है तब वे ब्याज-पत्र निकालते हैं। जब सरकार की ओर से ब्याज दिया जाता है तब इसे केन्द्रीय बैङ्क निकालता है और यह उसी के ऊपर लिखा भी जाता है। जब सम्मिलित पूँजीवाली कम्पनियाँ इसे निकालती हैं तब यह उनके अपने-अपने

बैङ्कों के ऊपर लिखे जाते हैं। जब इसे कोई केन्द्रीय बैङ्क अपने ही ऊपर करता है तब यह चेक के रूप में नहीं होता।

सरकारी बिल (Treasury Bill)—यह इंगलैण्ड और भारतवर्ष दोनों में निकाले जाते हैं। भारतवर्ष में इन्हें केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें दोनों निकालती हैं। यह एक लघुकालीन ऋण है जिसकी अवधि प्रायः तीन माह होती है। रिजर्व बैङ्क के बैङ्किंग विभाग के सभी दफ्तर और उसकी शाखायें 'केवल दिल्ली को छोड़कर' इन्हें टैंडर से अथवा मध्यकालीन दर से निकालते हैं। जब इन्हें निकालना होता है तब एक सूचना-द्वारा जिसमें इसकी सभी शर्तें दी रहती हैं इनके लिए टैंडर मँगाये जाते हैं। टैण्डर के प्रार्थना-पत्रों में सरकारी बिलों की शर्तों का, उनकी राशि और दर का खुलासा हवाला रहता है। दर प्रत्येक सौ रुपये के लिये रुपये, आनों और पैसों में दी रहती है। जितना रुपया ऋण में लेना है यदि उतने से अधिक के टैंडर आ जाते हैं तो उनके अनुपात *के हिसाब से कॅटनी हो जाती है। किसी धनी की कॅटनी पचीस हजार रुपयों से* कम की नहीं होती है। सरकारी बिल पचीस हजार, एक लाख, पाँच लाख, दस लाख और पचास लाख रुपयो के होते हैं। जब सप्ताह के बीच में इन्हें चालू करना होता है तब यह उसी दर से चालू कर दिये जाते हैं जो दर उस सप्ताह के स्वीकृत टैंडरों की होती है। इन सरकारी पत्रों की अवधि बीत जाने पर इनका भुगतान रिजर्व बैंक द्वारा ही हो जाता है।

साख-पत्र (Letters of Credit)—साख-पत्र कई प्रकार के होते हैं। एक तो यह परिपत्र (Circular) अथवा साधारण (General) हो सकते हैं। दूसरे यह चालू (Running) और विशेष हो सकते हैं।

परि साख-पत्र (Circular Letters of Credit)—जब किसी व्यक्ति को कई स्थानों पर रुपयों की आवश्यकता पड़ने की सम्भावना रहती है तब वह परि साख-पत्र लेता है। इसमें एक राशि दी होती है जिस हद तक पानेवाले को किसी एक अथवा कई स्थानों से राशि लेने का अधिकार रहता है। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को यूरोप के कई शहरों में घूमना है और उसे सब मिलाकर पाँच हजार पौंड की आवश्यकता है जिसको वह थोडा-थोडा करके यूरोप के बड़े-बड़े शहरों में लेना चाहता है। अतः, यदि उसके पास परि साख-

पत्र है तो वह जहाँ चाहे वहाँ जिसने ऐसा साख-पत्र निकाला है उसकी किसी शाखा में अथवा उसके किसी अदृतिये के यहाँ उसे दिखाकर अपनी आवश्यकता के अनुसार द्रव्य प्राप्त कर सकता है। द्रव्य देने वाला जितना द्रव्य देता है उसे साख-पत्र पर लिख देता है जिससे पूरी राशि जितनी उसमें लिखी है उससे अधिक न हो जाय।

साधारण (General) साख-पत्र—यह साख-पत्र किसी विशेष व्यक्ति के नाम रहता है जो एक निश्चित राशि तक भुगतान दे सकता है। जो माल खरीदना चाहते हैं उन्हें भी उनके अदृतिये के नाम ऐसा पत्र मिल जाता है जिससे कि अढतिया उन्हें माल दे देता है और उसके लिये साख पत्र लिखने वाले के ऊपर जो प्रायः कोई बैङ्क होता है, बिल अथवा हुण्डी कर लेता है।

चालू (Running or Revolving) साख-पत्र—इस साख-पत्र में एक निश्चित राशि दी होती है जिस तक द्रव्य मिल जाता है और जिसकी वापसी पर फिर भी द्रव्य मिल सकता है। अतः, यह बराबर चालू रहता है।

विशेष साख-पत्र—इसमें एक विशेष राशि दी रहती है जिस तक एक बार द्रव्य मिल जाता है। इसके भुगतान के बाद फिर द्रव्य नहीं मिल सकता। यदि आवश्यकता पड़े तो एक दूसरा साख-पत्र लिखवाना पड़ता है।

आई० ओ० यू० (I. O. U.)—यह पुर्जा अंग्रेजी के ऐसे तीन शब्दों के उच्चारण के नाम से विख्यात है जिसके अर्थ हैं—मैं तुम्हारा देनदार हूँ। इसमें दाहिनी ओर लिखने वाले का पता और लिखने की तारीख होती है। फिर उसके बाद बाईं ओर जिसका ऋण चाहिये उसका नाम, पता देकर बीच में आई० ओ० यू० शब्दों के साथ-साथ राशि दी होती है और अन्त में दाहिने किनारे पर लिखने वाले का हस्ताक्षर होता है।

औद्योगिक साख-पत्र—औद्योगिक कम्पनियाँ अपने हिस्से और ऋण पत्र निकालती हैं, उन्हें औद्योगिक साख-पत्र कहते हैं।

सरकारी साख-पत्र (Government Securities)—जब सरकार दीर्घकालीन ऋण लेती है तब वह सरकारी साख-पत्र निकालती है। ये सरकारी साख-पत्र कई शक्ल के हो सकते हैं, जैसे स्टाक सार्टिफिकेट्स (Stock

Certificates), प्रणपत्र (Promissory Notes) और देखनहार बाण्ड (Bearer Bonds)। एक प्रकार के साख-पत्र दूसरे प्रकार के साख-पत्रों में परिवर्तित किये जा सकते हैं। हाँ, स्टाक और प्रणपत्रों के स्थान पर देखनहार बाण्ड नहीं दिये जाते। स्टाक और देखनहार बाण्डों पर तो उन्हें भेजे बिना भी ब्याज मिल जाता है किन्तु प्रण-पत्रों पर केवल उन्हें भेजने पर ही ब्याज मिलता है।

प्रश्न

(१) 'साख' से आप क्या समझते हैं ? यह क्या काम करती है ? इसके कौन-कौन से रूप हैं ? इससे कौन-कौन से लाभ तथा कौन-कौन सी हानियाँ हुई हैं ?

(२) 'साख उत्पत्ति का साधन नहीं है वरन् उसकी कार्यक्षमता बढ़ाता है,' उपरोक्त की विवेचना कीजिये।

(३) विनिमयसाध्य पुर्जे से आप क्या समझते हैं ? विनिमय साध्यता और हस्तांतरण में क्या कोई भेद है ? एक विनिमयसाध्य पुर्जा अविनिमयसाध्य कैसे बनाया जा सकता है ?

(४) चेक की परिभाषा बताइये और उसका विश्लेषण कीजिये। चेक लिखते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ?

(५) ऐसे कौन-कौन से तरीके हैं जिनसे एक चेक अधिक सुरक्षित बनाया जा सकता है ?

(६) अधिकारी, मूल्य दिये हुये पुर्जे का अधिकारी और चलन के अनुसार अधिकारी में क्या भेद है ?

(७) चिह्नित चेक से आप क्या समझते हैं ? चेक चिह्नित कब बनाये जाते हैं ?

(८) विनिमय बिल की परिभाषा बताइये और एक नमूना बनाइये। इसे लिखते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ?

(९) देशी और विदेशी बिलों में आप कैसे विभेद करेंगे ?

(१०) क्या विनिमय बिलों पर स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती है ?

स्वीकृति कैसे दिखलाई जाती है ? विभिन्न प्रकार की स्वीकृति के विषय में बतलाइये।

(११) विनिमय बिलों के कौन-कौन से धनी होते हैं ? ? इनमें से प्रत्येक के दायित्व का संक्षेप में दिग्दर्शन कराइये।

(१२) बिलों के सम्बन्ध के निम्नलिखित पदों के विषय में बताइये—(१) नोटिङ्ग, (२) प्रोटेस्टिङ्ग, (३) साख के लिये सकारना और (४) विशेष परिवर्तन।

(१३) प्रण-पत्र किसे कहते हैं ? एक ही व्यक्ति का प्रण-पत्र संयुक्त प्रण-पत्र और संयुक्त तथा अलग-अलग जिम्मेदारी के प्रण-पत्र से आप क्या समझते हैं ?

(१४) हुण्डी किसे कहते हैं ? विभिन्न प्रकार की हुण्डियों के बारे में बताइये।

(१५) एक बिल चेक, प्रण-पत्र और हुण्डी से किन-किन बातों में विभिन्न है और हुण्डी से किन-किन बातों में उसकी समानता है ?

(१६) निम्न पर छोटी-छोटी टिप्पणियाँ लिखिये—(१) बैङ्क ड्राफ्ट, (२) लाभ-पत्र (Dividend Warrant), (३) सरकारी बिल (Treasury Bill), (४) सरकारी साख-पत्र और (५) औद्योगिक साख-पत्र।

(१७) साख-पत्रों (Letters of credit) से आप क्या समझते हैं ? ये कितने प्रकार के होते हैं ? प्रत्येक के विषय में अच्छी तरह से समझाइये। इनकी क्या आवश्यकता पड़ती है ?

अध्याय ९

बैंकर का ग्राहक से सम्बन्ध

बैंकर का ग्राहक से क्या सम्बन्ध है यह बात समझने के लिये हमें पहले यह समझ लेना चाहिये कि बैंकर किसे कहते हैं और ग्राहक किसे कहते हैं। जहाँ तक बैंकर का प्रश्न है वह तो हम पहले अध्याय ही में देख चुके हैं।

अब रह गया ग्राहक का प्रश्न। ग्राहक उसे कहते हैं[1] जो किसी बैंक से नियमित बैंकिंग के व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले लेन-देन बराबर करता रहता है और क्योंकि इस नियमित बैंकिंग के व्यवसाय में केवल द्रव्य की जमा और उसे निकालना ही सम्मिलित है, इसके यह अर्थ हैं कि बैंकर के यहाँ उसका चालू खाता होना चाहिये। जिनके अन्य प्रकार के खाते होते हैं अथवा जो नियमित बैंकिंग के तो नहीं बल्कि उसी के सदृश्य अन्य प्रकार के बैंकिंग के व्यवसाय से सम्बन्धित लेन-देन करते हैं वे ग्राहक नहीं कहे जा सकते। नियमित बैंकिंग के व्यवसाय के यह अर्थ नहीं हैं कि उसके लिये कुछ समय बीत गया हो। जैसा कि एक मामले में निश्चित हो चुका है कि यदि उसी दिन भी हिसाब खोला गया हो जिस दिन के लेन-देन के सम्बन्ध में कोई झगड़ा है तब भी वह ग्राहक माना जायगा।

कोई भी व्यक्ति (१) एक चल खाता (Current Account), (२) एक स्थायी खाता (Fixed Deposit Account), (३) एक बचत खाता (Saving Bank Account), इत्यादि खोल सकता है।

(१) **चालू खाता खोलना**—जब कोई व्यक्ति किसी बैंक में चालू खाता खोलना चाहता है तब उसका उस बैंक से बैंक के किसी परिचित व्यक्ति द्वारा परिचय कराया जाता है। खाता खोलने के लिये प्रायः एक छपा हुआ प्रार्थना-पत्र भरना पड़ता है जिसमें परिचय कराने वाले व्यक्ति के हस्ताक्षर और

---

[1] A customer 'must have recognisable course of habit of dealing in the nature of the regular banking business and as the transactions peculiar to regular banking business' consist of only deposit and withdrawal, a customer must have a current account with a banker. Persons having other accounts or doing business ancillary or allied to regular banking business are not customers of the bank. The use of the word 'regular' in the above definition does not in any way suggest that some period must elapse after opening an account before one can be entitled to be called a customer. In the case Commissioner of Taxation va. English Scottish and Australian Bank, Limited, it has been lsid down that 'customer' signifies a relationship in which duration is not of the essence, and includes a person who has opened an account on the day before paying in a cheque to wuich he has no title.

पते के लिये भी स्थान होता है। ग्राहक को हस्ताक्षरों की कापी (Autograph Book) में अपने हस्ताक्षर के नमूने भी देने पड़ते हैं। हस्ताक्षर वैसा ही होना चाहिये जैसा कि ग्राहक स्वभावतः हीं किया करता है। बात यह है कि उसके भविष्य के हस्ताक्षर इन हस्ताक्षरों से मिलाये जाते हैं, और यदि उनमें तनिक-सा भी अन्तर होता है तो बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हमारे देश में बैंकवाले प्रति दिन अनेक चेक यह लिखकर कि उनके लिखने वाले धनी के हस्ताक्षर नहीं मिलते हैं। (Drawer's signature differs) वापस कर देते हैं। इतना करने के उपरान्त ग्राहक अपनी पहली राशि जमा करता है; और बैंकर उसे पाने के बाद एक पास बुक, एक जमा करने की किताब (Pay-in-Book) और एक चेक बुक देता है।

पास बुक में बैंकर के लेजर में जो ग्राहक का खाता (Account) रहता है उसकी प्रतिलिपि होती है, और उसे प्रायः उसके पास बनाने के लिये भेजना पड़ता है। ग्राहक को चाहिये कि वह बराबर उसकी जाँच कर ले और यदि उसमें कोई त्रुटि हो तो उसे बैंकर को बता दे।

जमा करने की किताब में जमा करने के पर्चे (Pay-in-slips) होते हैं। जब द्रव्य जमा किया जाता है तब उसका ब्यौरा इस किताब में भर दिया जाता है। इसके भी दो भाग रहते हैं, रूप (Foil) और प्रतिरूप (Counter-foil)। रूप बैंक ही में रख लिया जाता है और प्रतिरूप कोषाध्यक्ष के हस्ताक्षर सहित किताब के साथ ही ग्राहक को वापस कर दिया जाता है। जमा करने की राशि के विषय में बाद में यदि कोई झगड़ा पड़ता है तो यही देखी जाती है।

चेक बुक में चेक के सादे फार्म होते हैं। ये नाम, रूप और ढाँचे, इत्यादि में एक ही तरह के होते हैं। चालू खातों में द्रव्य निकालने के लिये प्रायः चेकें ही काम में आती हैं। वैसे तो इसके लिये लिखकर अलग से भी आदेश दिया जा सकता है, किन्तु जाल से बचने के लिए और समानता की दृष्टि से बैंक चेकों का प्रयोग ही अधिक पसन्द करते हैं। चेकों के लिये कोई कीमत नहीं देनी पड़ती। जब एक चेक बुक की सब चेकें काम में आ जाती हैं तब दूसरी

चेक बुक मिल जाती है। इसके लिये एक प्रार्थना-पत्र भेजना पड़ता है। प्रायः प्रत्येक चेक बुक के अन्त में यह प्रार्थना-पत्र दिया रहता है जिसे भरकर बैंक को भेज दिया जाता है।

(२) **स्थायी खाता खोलना**– इस खाते में द्रव्य जमा करने पर ग्राहक को एक जमा की रसीद (Deposit Receipt) मिलती है जो हस्तान्तरित नहीं की जा सकती। जिस अवधि के लिये द्रव्य जमा किया गया है उसके बीत जाने पर ग्राहक यह रसीद बैंक को वापस कर देता है और उससे ब्याज सहित अपना द्रव्य पा जाता है। हाँ, यदि वह इसे फिर से जमा करना चाहता है तो उसे एक नई जमा की रसीद मिल जाती है। अवधि बीतने के पहिले इस खाते से कोई राशि नहीं निकाली जा सकती। हाँ, यदि ग्राहक को धन की आवश्यकता है तो वह अपनी जमा की प्रतिभूति पर बैंक से ऋण ले सकता है। कभी-कभी जो अवधि बीत गई है उसका ब्याज छोड़ देने पर यह राशि वापस भी कर दी जाती है। इस पर ब्याज केवल निश्चित अवधि का ही मिलता है। उसके बीत जाने पर यदि राशि फिर से नहीं जमा कर दी जाती है, अथवा निकाल ली जाती है तो ब्याज की हानि होती है।

(३) **बचत खाता खोलना**—यह खाता भी चालू खाते ही कि तरह एक प्रार्थना-पत्र देने पर खुलता है और इसमें भी हस्ताक्षरों का नमूना देना पड़ता है। साथ ही इसमें भी ग्राहक को एक पास-बुक और किसी-किसी बैंक में एक जमा करने की किताब (Pay-in-Book) और चेक बुक भी मिलती हैं। जब जमा करने की किताब और चेक बुक नहीं मिलती, तब जमा करने और निकालने के लिये साधारण फार्म प्रयोग में लाये जाते हैं और ऐसे अवसरों पर पास बुक भी ठीक करवानी पड़ती है। महीने में जो सबसे कम बाकी रहती है उस पर इसमें महीने भर का ब्याज मिलता है।

अब हम बैंकर के ग्राहक से सम्बन्ध के मुख्य-विषय पर आ सकते हैं। यह सम्बन्ध कई प्रकार के होते हैं। अपनी सुविधा के लिये इन्हें हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं :—(१) मुख्य, (२) सहायक, और (३) विशेष।

मुख्य सम्बन्ध

एक बैंकर और ग्राहक के बीच का मुख्य सम्बन्ध देनदार और लेनदार

का होता है। प्रायः ग्राहक यह सम्बन्ध बैंकर के पास एक राशि जमा करके स्थापित करता है। ऐसी अवस्था में बैंकर तो देनदार और ग्राहक लेनदार होता है। किन्तु कभी-कभी बैंकर अपने ग्राहक को कुछ राशि उधार दे देता है अथवा उसकी जितनी राशि उसके पास जमा है उससे अधिक निकालने की उसे आज्ञा दे देता है। ऐसी अवस्था में वह लेनदार और ग्राहक देनदार हो जाता है। जो राशि बैंक के पास जमा की जाती है वह उसके पास धरोहर (Trust) के रूप में नहीं रक्खी जाती। वह उसे उधार दी जाती है जिससे वह जिस प्रकार चाहे उसे अपने काम में ला सकता है। हाँ, कभी-कभी यह राशि धरोहर के तौर पर भी रक्खी जाती है। मद्रास के एक फैसले में[१] यह घोषित किया गया था कि यदि किसी बैंक को कोई राशि किसी कम्पनी के कुछ हिस्से खरीदने को दी जाती है, और बैंक कुछ हिस्से खरीद लेता है किन्तु पूरी खरीद करने के पहिले फेल हो जाता है तो वह शेष राशि का धरोहरी माना जायेगा और उसे ग्राहक को वह राशि पूरी की पूरी वापस करनी पड़ेगी। किन्तु इस फैसले में और वहीं के एक अन्य फैसले में[२] जो अन्तर है उसे भली भाँति समझ लेना चाहिये। इस दूसरे फैसले में जिसमें ग्राहक की राशि बैंक के खाते में पहिले ही से थी, ग्राहक ने बैंक से उस राशि के कुछ अंश के साख-पत्र खरीदने को कहा था और बैंक ने ऐसा करने की स्वीकृति भी दे दी थी, किन्तु ऐसा करने के पहिले ही वह फेल हो गया था यह फैसला दिया गया कि बैंकर जमा की राशि के किसी अंश के लिये भी धरोहरी नहीं है। यदि बैंकर को उसके ग्राहक से चेकें और विनिमय बिल वसूली के लिये प्राप्त होते हैं, तो यदि परस्पर कोई विशेष बात नहीं तै हो गई है तो वह वसूली की राशि बैंकर के पास धरोहर नहीं वरन् ऋण के तौर पर समझी जायगी।

इस सम्बन्ध की कुछ विशेषतायें—बैंकर और ग्राहक के बीच में जो यह सम्बन्ध है उसकी कुछ विशेषतायें हैं जो साधारण लोगों के इस संबंध में नहीं हैं।

(१) प्रथम तो बैंकर के पास जब कोई राशि जमा कर दी जाती है तो

---

१ Official Assignee of Madras vs. I. W. Irwin.
२ Official Assignee of Madras vs. D. Rajaram Aiyar.

वह जब चाहे तब उसे ग्राहक (लेनदार) को वापस नहीं कर सकता है। साधारण लोगों के पारस्परिक ऋणी जब चाहें तब लेनदार की राशि वापिस कर सकते हैं। एल० जे० अटकिन (L. J. Atkin) ने इसे एक फैसले में[3] बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने यह कहा था कि बैंकर और ग्राहक के बीच में जो समझौता होता है उसकी एक शर्त यह रहती है कि उचित सूचना दिये बिना बैंकर ग्राहक का हिसाब बन्द नहीं कर सकता।

(२) दूसरे, उपरोक्त, फैसले में यह भी उपलक्षित था कि भारतवर्ष में खातों के तीन वर्ष तक और इंगलैण्ड में छै वर्ष तक सुप्त पड़े रहने पर साधारण ऋणों की तरह उनमें अवधि बीत जाने के कारण अदालत की सहायता न मिल सकने का नियम (Statute of Limitations) नहीं लागू हो सकता। सत्य तो यह है कि बैंकों ने कभी इस नियम का लाभ उठाने का विचार ही नहीं किया क्योंकि इससे उनकी साख बिगड़ जाने का डर रहता है।

(३) तीसरे, इस अवस्था में बैंकर और उसके ग्राहक के बीच में यह निश्चित-सा रहता है कि बैंकर वह द्रव्य ग्राहक की आज्ञा के अनुसार देगा। प्रायः यह आज्ञा चेक पर लिखी जाती है। यदि बैंकर जाल के कारण, अथवा मिथ्या वर्णन के कारण अथवा गलती के कारण आज्ञा के विरुद्ध भुगतान कर देता है तब वही उसका दायी होता है। हाँ, जहाँ पर उसकी स्थिति वैधानिक रूप से सुरक्षित कर दी गई है वहाँ की बात तो दूसरी है। कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर वह अपने ग्राहकों की चेक तिरस्कृत (Dishonour) भी नहीं कर सकता है। एक बात अवश्य है कि बैंकर अपने ग्राहक के प्रति ही दायी रहता है। अन्य किसी के प्रति अर्थात् चेक के अधिकारी के प्रति नहीं।

(४) चौथे और अन्तिम बैंकर को ग्राहक की उसके ऊपर जो राशि बाकी है उसे गोपनीय रखना पड़ता है। वह उसके हिसाब के विषय में किसी को नहीं बता सकता। हाँ, कभी-कभी उसे ऐसा करना पड़ता है। उदाहरण के लिये निम्न परिस्थितियाँ ली जा सकती हैं—

(अ) जब अदालत उसे ऐसा करने के लिये कहे। यह प्रायः तभी होता

[3] Joachimson vs. Swiss Bank Corporation.

है, जब ग्राहक अदालत द्वारा किसी का ऋणी (Judgment-debtor) मान लिया जाता है।

(ब) जब ग्राहक स्वयं ही उसे ऐसा करने की आज्ञा दे देता है। यह आज्ञा स्पष्ट और उपलक्षित दोनों में से कोई भी हो सकती है।

(स) जब ऐसा करना उसके स्वयं के हित में आवश्यक हो जाता है। मान लीजिये कि उसके और ग्राहक के बीच में अदालत चल रही है। इस सम्बन्ध में उसे अदालत के सामने ग्राहक का खाता रखना पड़ता है।

(द) जब यह जनहित के लिये आवश्यक हो जाता है। वास्तव में इसका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। अतः, बैंकर को यह निश्चित करना पड़ता है कि उसे कब-कब ऐसा करना चाहिये।

हाँ, वह जब कोई उसके ग्राहक के साथ व्यापार करने के ध्येय से उसकी स्थिति के विषय में जानना चाहता है अवश्य उसके हिसाब की साधारण स्थिति बता सकता है। किन्तु इसमें उसे बहुत होशियारी करने की आवश्यकता पड़ती है।

बैंकों के लिये वैधानिक बचत—ऊपर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि बैंकों को चेकों के भुगतान के सम्बन्ध में विधान द्वारा कुछ बचत दी गई है—यह उन पर के ग्राहकों के हस्ताक्षर के द्रव्य के और बेचान के सम्बन्ध की है।

बैंकों के पास उनके ग्राहकों के हस्ताक्षरों के नमूने रहते हैं जिनसे वह चेकों पर के उनके हस्ताक्षर उनके भुगतान करने के पहले मिला लेते हैं। यदि किसी ग्राहक का हस्ताक्षर जाली बना लिया गया है अथवा उसके वास्तविक प्रतिनिधि-द्वारा नहीं किया गया है तो जाल चाहे जितना साफ क्यों न हो बैंक उन पर के भुगतान के लिये ग्राहक को दायी नहीं बना सकता है। हाँ, इस व्यवस्था में एक अपवाद है और वह यह है कि बैंक यह प्रमाणित कर दे कि भुगतान ग्राहक की जानकारी में की गई असावधानी (Negligence imputable to customer) के कारण हुआ है। इस सम्बन्ध का कोई विधान तो नहीं है किन्तु यह स्थिति कुछ फैसलों-द्वारा स्पष्ट की जा चुकी है। सी० जे० वैस्ट ने यंग बनाम क्रोट के मुकदमे के सम्बन्ध में यह न्याय किया था कि यदि बैंक ने ग्राहक के

अपराध के कारण जितना द्रव्य देना था उससे अधिक दे दिया है तो वह उसके लिये दायी नहीं है। यद्यपि यह उस स्थिति के सम्बन्ध में अधिक लागू है जब ग्राहक इतनी असावधानी से चेक पर द्रव्य लिखता है और वह आसानी से बढ़ा दी जाती है तो भी यह उस स्थिति के सम्बन्ध में भी लागू हो सकता है जब ग्राहक की असावधानी से उसके चेकों पर उसके हस्ताक्षर जाली बना दिये जायँ। किन्तु ग्राहक की जानकारी में की गई असावधानी (Negligence imputable to a customer) और साधारण असावधानी (Mere carelessness) में अन्तर है। स्कल-फील्ड बनाम लैण्ड्सबरो के मुकदमें में[४] लार्ड हैलसबरी ने अपने फैसले के सम्बन्ध में यह कहा था कि यदि ग्राहक अपने किसी काम द्वारा बैंक को कोई काम करके अथवा न करके कोई भुगतान कराने में सहायता देता है, तो यह स्पष्ट है कि वह अपना यह काम अथवा काम न करना बैंक के, जिसे वह धोखा देता है अथवा अपनी असावधानी से धोखा खाने की गुंजाइश पैदा कर देता है, अहित में प्रयोग में नहीं ला सकता। ग्राहक के लिये यह भी आवश्यक है कि जैसे ही उसे यह मालूम हो जाय कि उसके हस्ताक्षर जाली बनाये गये हैं वह इस बात की बैंक को सूचना दे दे ताकि बैंक सावधान हो जाय। ग्रीनउड बनाम मारटिन बैंक लिमिटेड के मुकदमें में जहाँ ग्राहक को यह पता लग गया था कि उसकी पत्नी ने उसके चालू खाते से उसके हस्ताक्षर जाली बनाकर कुछ चेकों का भुगतान ले लिया है और नौ महीने तक उसने यह बात छिपाये रक्खा, किन्तु जब वह मर गई और बैंक का उसके विरुद्ध कार्यवाही करने का अवसर निकल गया, तब उसने बैंक को सूचित किया। यह निश्चय किया गया था कि बैंक गलत भुगतान के लिये ग्राहक के प्रति दायी नहीं है।

---

[४] In the case Scholfield vs. Landsborough, Lord Halsbury during the course of his judgment observed that if the customer by any act of his induces the banker to act upon the document, by his act or neglect of some act usual in the course of, dealing between them, it is quite intelligible that he should not be permitted to set up his own act or neglect to the prejudice of the banker whom he thus misleads or by neglect permits to be misled.

बैंकों को जाली बेचानों पर भी भुगतान करने पर बचत दी गई है। हाँ, यह अवश्य है कि उन्हें चेकों का भुगतान करने में उचित सावधानी करनी चाहिये तथा भुगतान अच्छी नीयत से (In good faith), कोई असावधानी न करके (Without negligence) और अपने व्यवसाय के साधारण दौरान में (In the ordinary course of business) करना चाहिये। हमारे देश में विनिमयसाध्य पुर्जों के विधान की ८५ (१) धारा में इसे बहुत ही स्पष्ट कर दिया गया है। उसमें यह लिखा है[५] कि जहाँ पर आदेश के अनुसार चेकों का भुगतान करना है वहाँ पर यदि जिन्हें भुगतान मिलता है, उनके बेचान उन्हीं के द्वारा अथवा उनकी ओर से किये हुये मालूम पड़ते हैं, तो यदि बैंक ने उचित रीति से भुगतान कर दिया है तो वह अपने दायित्व से मुक्त हो जाता है। विनिमय बिलों के अँग्रेजी विधान की ६० वीं धारा में भी यही सिद्धान्त दिया हुआ है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि यह बचत उन बिलों के भुगतान के सम्बन्ध में लागू नहीं है जिनके भुगतान बैंकों द्वारा किये जाते हैं (Domiciled Bills)। अब इस प्रश्न का उत्तर देना कि कोई बेचान उसी धनी द्वारा अथवा उनकी ओर से किया गया मालूम पड़ता है अथवा नहीं कि जिसे उसे करना चाहिये था, बहुत ही कठिन है; किन्तु बैंक इसका उत्तर अदालतों के इस सम्बन्ध के फैसले और चलन दृष्टि में रखकर अपनी साधारण बुद्धि के बल पर दे लेते हैं। इनका और अधिक विस्तार में अध्ययन हम आगे चलकर बेचान के तरीकों के सम्बन्ध में करेंगे। ऊपर जो शर्तें दी हैं अर्थात् अच्छी नीयत से (In good faith), असावधानी न करके (Without negligence) और व्यवसाय के साधारण दौरान में (In the ordinary course of business) वह सब बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। एक रेखाङ्कित चेक का किसी ऐसे धनी को भुगतान कर देना जो बैंकर नहीं है व्यवसाय के साधारण दौरान में किया गया नहीं कहा जा सकता। फिर, किसी चेक का भुगतान कार्य करने के समय के पहिले अथवा बाद में करने से भी वह व्यवसाय के साधारण दौरान में किया गया नहीं माना जा सकता, इत्यादि, इत्यादि। इन सबके लिये हमें

---

[५] It lays down 'where a cheque payable to order purports to be endorsed by or on behalf of the payee, the drawee is discharged by payment in due course'

यह देखना पड़ेगा कि चेकें कौन-कौन सी परिस्थितियों में तिरष्कृत कर दी जाती हैं। अच्छी नीयत से (In good faith) के अर्थ हैं अधिकारी (Holder) के स्वामित्व में किसी कमी के ज्ञान बिना और असावधानी न करके (Without negligence) के अर्थ हैं इस बात की उचित जाँच-पड़ताल करके कि जिस धनी को भुगतान दिया जा रहा है वह वही धनी है जिसे भुगतान मिलना चाहिये।

बेचान (Endorsement)—**चेकों, बिलों और ऋण-पत्रों का बेचान**—विनिमयसाध्य पुर्जों के विधान की १५वीं धारा में यह दिया है[६], कि जब किसी विनिमयसाध्य पुर्जे का लिखनेवाला धनी अथवा अधिकारी उसे लिखने के लक्ष्य से नहीं वरन् हस्तांतरित करने के लक्ष्य से उस पर अथवा उसकी पीठ पर अथवा उसके साथ लगे हुये किसी पुर्जे पर अथवा किसी भी स्टाम्प लगे हुये ऐसे पुर्जे पर जिसे बाद में वह किसी विनिमयसाध्य पुरजे के रूप में परिवर्तित कर लेना चाहता है, अपने हस्ताक्षर करता है तो वह उसका बेचान करता है और उसे उसका बेचानकर्ता कहा जाता है। यहाँ पर 'हस्तांतरित करने के लक्ष्य से' बहुत ही महत्वपूर्ण है और इसके अन्तर्गत उस पुर्जे का हस्तांतरकर्ता द्वारा हस्तांतरकर्ता को दे देना भी उपलक्षित है। विनिमय बिलों के अंग्रेजी विधान में तो यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप में दी हुई है कि बेचान के अर्थ हैं सौंप करके बेचान पूरा करना (An endorsement means an endorsement completed by delivery). आंशिक राशि का बेचान वैधानिक नहीं माना जाता, राशि का बेचान वैधानिक नहीं माना जाता, यह पूरी राशि का होना चाहिये। यदि बेचान पृथक पुर्जे पर किया गया है और वह प्रायः तभी होता है जब वास्तविक पुर्जे के पीठ पर आगे बेचान करने के लिये

[६] Section 15 of the Indian Negotiable Instruments Act defines endorsement as follows—

'When the maker or holder of a negotiable instrument signs the same otherwise than as such maker, for the purpose of negotiation on the back or face thereof, or on a slip of paper annexed thereto or so signs for the same purpose a stamped paper intended to be completed as a negotiable instrument he is said to endorse it and is called the endorser.

स्थान नहीं रह जाता है, तो पृथक पुर्जे को अलाञ्ज (Allonge) कहा जाता है और वह वास्तविक पुर्जे के साथ जोड़ दिया जाता है। प्रायः अलाञ्ज पर का पहिला वेचान इस तरह से किया जाता है कि उसका आधा वास्तविक पुर्जे पर और आधा अलाञ्ज पर होता है।

वेचान के भेद—बेचान कई प्रकार के हो सकते हैं—

[१] रिक्त वेचान (Blank endorsement)—इसे साधारण बेचान (General or Simple endorsement) भी कहते हैं। इसमें बेचान करनेवाला केवल अपने हस्ताक्षर कर देता है।

[२] विशेष वेचान (Special endorsement)—इसे शर्त-सहित और पूर्ण वेचान भी कहते हैं। इसमें हस्तांतरकृत का नाम भी लिख दिया जाता है।

[३] आंशिक वेचान (Partial)—इसके अर्थ हैं चेक के कुछ ही अंश का बेचान करना। किन्तु यह वैधानिक नहीं है।

[४] बन्धन युक्त वेचान (Restriction)—(अ) जिसमें विनिमय-साध्यता बाँध दी जाती है, किन्तु उसे हस्तांतरित किया जा सकता है, उदाहरण के लिये 'केवल श्याम को दीजिये' (Pay to Shyam only)। (ब) जिसमें हस्तांतरकृत के ऊपर उसकी राशि उसमें दिये हुये कामों में ही प्रयोग में लाने के लिये बन्धन लगा दिया जाय, उदाहरण के लिये 'श्याम को मेरे काम के लिये दीजिये' (Pay to Shyam for my use)। इसमें बैंकर के लिये यह बात देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि वह राशि वेचानकर्ता के काम में लाई जाती है अथवा नहीं। वेचानकृत (Endorsee) के ऊपर बन्धन लग जाता है।

[५] दायित्व रहित वेचान (Sans Recourse)—जहाँ पर वेचान-कर्ता यह बात वेचान में ही स्पष्ट कर देता है कि वेचानकृत और उसके बाद में आने वाले जितने धनी हैं वह उनके तिरस्कृत हो जाने पर उसे दायी न ठहरावें, उदाहरण के लिये 'दायित्व रहित हरप्रसाद' (Sans Recourse Har Prasad)।

[६] हेतुमय बेचान (Conditional endorsement)—जहाँ पर भुगतान् कोई शर्त पूरा करने पर हो करने को कहा जाता है, जैसे रामलाल को कलावती के साथ विवाह करने पर भुगतान किया जाय। किन्तु यह शर्त भी बैंकर भङ्ग कर सकता है।

[७] ऐच्छिक बेचान (Facultative endorsement)—जब किसी साख-पत्र का ऊपर वाला धनी उसे तिरस्कृत कर देता है तब उसके अधिकारी (Holder) का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि यह लिखने वाले धनी को और उन सब धनियों को जो उसके ऊपर दायी हैं इसकी सूचना दे दे। किन्तु ऐच्छिक बेचान में बेचानकर्ता अपने इस सूचना पाने का अधिकार छोड़ देता है और वैसे ही उसका दायित्व स्वीकार कर लेता है। ऐसी अवस्था में हस्ताक्षरों के पहिले कोई ऐसी बात लिख दी जाती है। जैसे 'तिरस्कृत होने की सूचना पाने का अधिकार छोड़ दिया' (The right of receiving notice of dishonour waived)

बेचान के तरीके—यदि बेचान एक ऐसे ढङ्ग से किया जाता है कि जिससे यह मालूम पड़ता है कि उसे बेचानकर्ता ही ने किया है अथवा वह उसी की ओर से किया गया है तब एक बहुत बड़ी असुविधा दूर हो जाती है इससे ऊपर वाले बैंक की भी वह बचत हो जाती है जिसका पहिले ही वर्णन किया जा चुका है।

किसी व्यक्ति को देय चेक पर बेचान करने में कोई कठिनाई नहीं पड़नी चाहिये। प्रथम तो इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह उन्हीं अक्षरों में होना चाहिये जो चेक पर अथवा उसके बेचान पर पाने वाले धनी के नाम के सम्बन्ध में दिये गये हैं। इस तरह से यदि रामदुलार (Ram Dular) का नाम गलती से रामदुलारे (Ram Dulare) लिख दिया गया है तो बेचान के सम्बन्ध के हस्ताक्षर में रामदुलारे (Ram Dulare) ही लिखा जाना चाहिये रामदुलार (Ram Dular) नहीं। यदि हाँ बेचानकर्ता चाहे तो वह गलत अक्षरों के हस्ताक्षर के साथ-साथ कोष्ट में सही अक्षरों का हस्ताक्षर भी दे सकता है। दूसरे, यदि पाने वाले धनी का नाम चेक पर पूरा-पूरा दिया हुआ है तो बेचान में भी हस्ताक्षर पूरा-पूरा ही होना चाहिये। हाँ, ईसाइयों के नाम में ऐसा न भी हो तो कोई हर्ज नहीं। इस तरह से यदि कोई चेक रामलाल

अग्रवाल के पक्ष में है तो रामलाल अग्रवाल ही बेचान में लिखा जाना चाहिये, आर० एल० अग्रवाल नहीं। किन्तु यदि कोई चेक जेम्स स्मिथ के पक्ष में है तो जे० स्मिथ के नाम के हस्ताक्षर किये जा सकते हैं। यदि चेक आर० एल० अग्रवाल के पक्ष में है तो बेचान भी आर० एल० अग्रवाल किया जा सकता है। तीसरे, चाहे व्यक्तियों के और चाहे संयुक्त नाम हों, उनके साथ के सम्मान-सूचक शब्द बेचान के हस्ताक्षरों में नहीं लिखने चाहिये, उदाहरण के लिए रामलाल, न कि रामलाल इस्क्वायर अथवा मिस्टर रामलाल, इत्यादि, और रामलाल, श्यामलाल न कि मेसर्स रामलाल श्यामलाल अथवा सर्व श्री रामलाल श्यामलाल। इसका यह कारण है कि जब कोई स्वयं अपने हस्ताक्षर करता है तब वह उसके साथ सम्मान-सूचक शब्द नहीं लिखता। अतः, यदि बेचान के हस्ताक्षरों के साथ सम्मानसूचक शब्द लगा दिये जाते हैं तो हस्ताक्षर उन्हीं व्यक्तियों द्वारा किये हुये नहीं मालूम पड़ते जिनके द्वारा किये जाने चाहिये और यह तो हम पहिले ही देख चुके हैं कि बैंकर यहीं बात देखता है कि बेचान उसी के द्वारा किया हुआ मालूम पड़ता है अथवा नहीं जिसके द्वारा होना चाहिये था। हाँ, यदि बेचान बेचानकर्ता की ओर से किया गया है तो हस्ताक्षर करने वाला बेचानकर्ता के नाम के साथ-साथ सम्मानसूचक शब्द लगा सकता है, उदाहरण के लिये—

मि० श्यामलाल के लिये रामलाल वैयक्तिक मंत्री अथवा मि० श्यामलाल बकलम रामलाल वैयक्तिक मंत्री	मेसर्स रामलाल श्यामलाल की तरफ से जे० विश्वास मैनेजर अथवा मेसर्स रामलाल श्यामलाल बकलम जे० विश्वास मैनेजर
For Mr. Shyam Lal Ram Lal Personal Secretary	For Messrs Ram Lal Shyam Lal J. Biswas Manager

कुछ देशों में जैसे फ्रान्स और जरमनी में हस्ताक्षरों के पहिले सम्मानसूचक शब्द जोड़े जाते हैं, अतः, वहाँ पर बैंक ऐसे बेचान ठीक मान सकता है। यहाँ पर जो कुछ कहा गया है वह केवल सम्मानसूचक शब्दों के लिये कहा गया है। पदसम्बन्धी (Professional), विद्या सम्बन्धी (Academical) और विशेषता सम्बन्धी (Distinction) शब्दों के लिये नहीं कहा गया है। इस तरह से राम बाबू पी० एच० डी०, कौशलकिशोर राय बहादुर सप्रू के० टी० सी० आई० क्रमशः डाक्टर राम बाबू, रायबहादुर कौशलकिशोर, सर तेजबहादुर सप्रू के नाम के हस्ताक्षर नहीं कर सकते। कुँवारी स्त्रियाँ अपने हस्ताक्षर के बाद यह दिखलाने के लिये कि वह कुँवारी हैं कोष्ट के अन्दर मिस और विवाहित स्त्रियाँ अपने हस्ताक्षर के बाद में यह दिखलाने के लिये वह विवाहित हैं मिसेस लिख सकती हैं। अतः, शान्ती देवी (मिस), कामिनी बाई (मिसेस) तो ठीक है किन्तु मिस शान्ति देवी तथा मिसेस कामिनी बाई ठीक नहीं है। अन्त में, यदि कोई बेचान किसी द्वारा दिये गये किसी अधिकार के कारण किया गया है तो उस अधिकार का भी उल्लेख करना चाहिये। यदि यह अधिकार अदालत द्वारा दिया गया है तो अधिकारानुसार (Per-procurationem/per pro/ p.p.), ऐसा कुछ पाने वाले धनी के नाम के पहिले लिखना चाहिये। अथवा हस्ताक्षर के बाद पद लिखना चाहिये, उदाहरण के लिये—

पी० पी रामलाल	रामलाल
श्यामलाल	बकलम श्यामलाल सेक्रेटरी
	For Ram Lal Shyam Lal Secretary

निम्न बेचान भी ठीक हैं—

रामलाल बकलम	रामलाल
उसके अटार्नी	श्यामलाल सेक्रेटरी
श्यामलाल।	

यदि पाने वाला धनी हस्ताक्षर नहीं कर सकता तो उसके अँगूठे के निशान

के बाद किसी गवाह के हस्ताक्षर होने चाहिये। जहाँ तक हो सके यह गवाह बैंक का पहिले से जानी पहिचानी होना चाहिये। बैंकर प्रायः उसके हस्ताक्षर ले लेता है। ऐसी परिस्थति में बेचान निम्न तरीके का होगा—

अँगूठा निशानी जीवन ज्योति

साक्षी शिवकुमार सिंह, १५ जीरो रोड, इलाहाबाद

यदि किसी चेक के पाने वाले धनी एक से अधिक व्यक्ति हैं तो बेचान सबों द्वारा होना चाहिये। यदि उनका साझे का काम है तब तो कोई भी साझी-साझे का नाम लिख सकता है, उदाहरणार्थ मेसर्स-रामलाल श्यामलाल नाम के साझे के चेक पर कोई भी साझी रामलाल श्यामलाल लिख सकता है। किन्तु बैंक प्रायः इस बात पर जोर देते हैं कि बेचानकर्ता भी अपना नाम अवश्य लिखे, उदाहरण के लिये—

रामलाल श्यामलाल रामलाल श्यामलाल
बकलम श्यामलाल रामलाल

For Ram Lal Shyam Lal
Shyam Lal

यदि बेचान साझी को छोडकर अन्य किसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है तो उसे अपने पद का भी उल्लेख करना चाहिये।

यदि कोई चेक मेसर्स जेम्स के पक्ष में है तो इसके अर्थ जेम्स ऐण्ड सन अथवा जेम्स ऐण्ड सन्स अथवा जेम्स ऐन्ड ब्रदर अथवा जेम्स ब्रदर्स कोई भी हो सकते हैं। अतः, इनमें से किसी तरफ से भी बेचान हो सकता से। हाँ, जेम्स ऐण्ड कम्पनी गलत होगा। बात यह है कि मेसर्स जेम्स के अर्थ हैं कई जेम्स, अतः, जेम्स ऐण्ड सन, सन्स, ब्रदर, ब्रदर्स सभी सही हैं, किन्तु कम्पनी नहीं। किन्तु इस तरह चेक नहीं लिखनी चाहिये।

सम्मिलित पूँजी की तथा अन्य ऐसी ही संस्थाओं की ओर से निम्न तरह का बेचान किया जाता है :—

नार्दर्न इण्डिया ट्रेडिंग कम्पनी
बकलम जे० विश्वास, मैनेजर

पी० पी० नार्दर्न इण्डियाँ
ट्रेडिंग कम्पनी
जे० विश्वास

For Northern India Trading Co.

J. Biswas,
Manager

सी० ए० वी० हाई स्कूल
बकलम बेनी प्रसाद
हेडमास्टर
For C. A. V. High School.
Beni Prasad
Headmaster

सी० ए० वी० हाई स्कूल
बल्देव प्रसाद
मैनेजर

हाँ, निम्न बेचान वैयक्तिक होने के कारण अनियमित होंगे :—

जे० विश्वास, मैनेजर
नार्दर्न इंडिया ट्रेडिंग कम्पनी

बेनी प्रसाद, हेडमास्टर
सी० ए० वी० हाई स्कूल

बल्देव प्रसाद, मैनेजर,
सी० ए० वी० हाई स्कूल

विधानतः कोई प्रतिनिधि अपना प्रतिनिधित्व किसी दूसरे को नहीं हस्तांतरित कर सकता। अतः, यदि कोई बेचान किसी प्रतिनिधि की तरफ से किया गया है तो वह अनियमित है।

यदि कोई चेक धरोहरियों (Trustees) के नाम है तो बेचान सभी धरोहरियों का होना चाहिये। बैंक पर प्रो बेचान अथवा सब धरोहरियों की ओर से एक धराहरी द्वारा किये गये बेचान नहीं स्वीकार करता। बात यह है कि अदालत धरोहर के मामले में बहुत सख्त है। जिस किसी को भी यह मालूम है कि धरोहर की जमा का लेन-देन हो रहा है उसे बहुत ही सावधानी से काम करना चाहिये। बेचान में धरोहर (Trustee) का नाम भी रहना चाहिये।

हाँ, मृत लेख पर्वतों और प्रबन्धकों (Executors and administrators) की ओर से एक ही मृत लेख प्रवर्तक और प्रबन्धक बेचान कर सकता है, जैसे :—

For self and co-executors	श्री श्यामलाल के सब
of Mr. Shyam Lal	मृत प्रवर्तकों की ओर से
J. Gangola	जे० गंगोला,
	मृत प्रवर्तक

यदि कोई चेक किसी विवाहित स्त्री के पक्ष में उसके पति का नाम लेकर के दी गई है जैसे मिसेस जे० विश्वास तो उसके बेचान में रमा बाई पत्नी श्री० जे० विश्वास लिखना चाहिये। यदि कोई चेक किसी ईसाई मिस के पक्ष में है उदाहरण के लिये मिस ऐलिजाबेथ जोन्स और बेचान करते समय वह जेम्स स्थिम से ब्याही जा चुकी है तो उसके बेचान में एलिजाबेथ जेम्स पुत्री (Nee) जोन्स लिखा जायगा।

बेचान के तरीकों के सम्बन्ध में कुछ और भी ऐसी बातें हैं जिन्हें यहाँ पर समझ लेना बहुत ही आवश्यक है। प्रथम तो पेन्सिल और मोहर का किया हुआ बेचान विधानतः तो ठीक है किन्तु बैंक इसे नहीं पसन्द करते। दूसरे, यदि पाने वाला धनी स्वयं चेक का द्रव्य लेने जाता है तो भी बैंक चेक के पीछे उसके हस्ताक्षर ले लेता है। यह बेचान नहीं है क्योंकि यह हस्तान्तरण करने के उद्देश्य से नहीं किया जाता। वास्तव में यह द्रव्य पाने की रसीद है। यदि द्रव्य पाने वाला धनी चेक के पीछे हस्ताक्षर देने को मना करता है तो बैंक उससे अलग एक रसीद माँग सकता है, और वह यदि २०) रु० तथा उससे ऊपर के लिये है अथवा संयुक्त राज्य में २ पाउण्ड अथवा उससे ऊपर के लिये है तब उसके ऊपर एक स्टाम्प लगाना पड़ता है। रसीद न देने की सजा इतनी अधिक है कि कोई भी इसे मना नहीं कर सकता। अतः, इसके यह अर्थ हैं कि चेक के पीछे हस्ताक्षर करना मना करने से कोई लाभ नहीं है और उससे कोई दायित्व भी नहीं बढ़ता, अतः ऐसा किसी आपत्ति बिना ही कर देना चाहिये। तीसरे, यदि कोई चेक किसी कल्पित धनी को देय, उदाहरण के लिये मजदूरी को, किराये को, इत्यादि तो यह वाहक को देय (Bearer) समझी जाती है। अन्तिम, यदि कोई चेक वाहक को देय (Bearer) काटी गई है तो उस पर पूर्ण बेचान होने पर भी अर्थात्

बेचानकृत को देय लिखने पर भी वह विधानतः ग्राहक को ही देय समझी जाती है।

चेक कौन-कौन सी परिस्थितियों में तिरस्कृत की जा सकती हैं

बैंकर और ग्राहक के बीच में देनदार और लेनदार का जो सम्बन्ध है उसकी विशेषताओं का अध्ययन करते समय हमने यह भी देखा था कि बैंकर कुछ विशेष परिस्थितियाँ छोड़कर अपने ग्राहक की चेक तिरस्कार नहीं कर सकता। अब यहाँ पर हम यह देखेंगे कि वह परिस्थितियाँ कौन-कौन सी हैं :—

(१) जब किसी चेक पर का कोई बेचान अनियमित होता है।

(२) जब चेक लिखने वाले धनी का हस्ताक्षर बैंकर के पास उसका जो नमूना होता है उससे नहीं मिलता।

(३) जब चेक पर आगे की तारीख पड़ी हुई है। बात यह है कि कोई बैंकर किसी चेक के भुगतान का द्रव्य अपने ग्राहक के हिसाब में तभी डाल सकता है जब उस पर की तारीख आ जाय। यदि इसी बीच में ग्राहक दिवालिया घोषित कर दिया जाता है, अथवा पागल हो जाता है अथवा मर जाता है, और बैंकर ने चेक का भुगतान कर दिया है वह भुगतान उसके हिसाब में नहीं डाल सकता। आगे की तारीख की चेक का भुगतान करने पर यदि ग्राहक के हिसाब में कम द्रव्य बचता है और उससे अधिक की कोई नियमित चेक भुगतान के लिये आ जाती है तो उसका भुगतान करना पड़ता है। फिर ग्राहक किसी चेक पर जो तारीख पड़ी हुई है उससे पहिले यदि उसके भुगतान करने की मनाही कर देता है और बैंकर ने उसका भुगतान पहिले ही कर दिया है तो भी वह कठिनाई में पड़ जाएगा।

(४) जब चेक पर रेखाङ्कन है और वह किसी बैंक के मार्फत नहीं आती है।

(५) जब चेक छै माह या उससे अधिक पुरानी है।

(६) धरोहर सम्बन्धी हिसाब के सम्बन्ध में भुगतान की राशि के उपयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह हो जाने पर भी जब तक वह सन्देह दूर नहीं हो जाता तब तक चेक का भुगतान नहीं किया जाता।

(७) जब चेक की राशि के विषय में कोई सन्देह हो जाता है। शब्दों और अंको की राशियाँ एक सी होनी चाहियें। यदि बैंकर चाहे तो वह शब्दों की

राशि अथवा न्यूनतम राशि का भुगतान कर सकता है, किन्तु प्रायः वह ऐसी चेक वापिस कर देता है चेकों पर यदि कोई संशोधन किया गया है तो उसके साथ-साथ ग्राहक का हस्ताक्षर होना चाहिये।

(८) जब ग्राहक के हिसाब में भुगतान करने के लिये पूरी राशि नहीं रहती। हाँ, यदि जमा की हुई राशि से अधिक निकालने की आज्ञा दी जा चुकी है तो उस सीमा तक चेकों का भुगतान करना ही पड़ता है। यह याद रखना चाहिये कि इस प्रकार के प्रबन्ध की अवहेलना पहिले से सूचना दिये बिना नहीं की जा सकती है। यदि बैंकर ने ग्राहक के पास बुक में बाकी निकालने में गलती कर दी है और उसके कारण उसकी इतनी राशि निकलती हुई मालूम पड़ती है कि चेक का भुगतान हो सकता है तो उसका भुगतान कर देना चाहिये और फिर ग्राहक से कमी की राशि मँगवा लेनी चाहिये।

(९) जब ग्राहक स्वयम् किसी चेक का भुगतान रोक देता है। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि प्रत्येक बैंकर को अपने ग्राहकों के आदेश पूरी तरह से मानने चाहिये।

(१०) जब ग्राहक दिवालिया अथवा पागल घोषित कर दिया गया है अथवा मर गया है।

(११) जब किसी अदालत की ओर से कोई ऐसा आदेश (Garnishee order) प्राप्त हो गया है। मान लीजिये कि अ के ऊपर ब का रुपया चाहिये और ब को डिक्री (Decree) मिल गई है और साथ ही उसे यह मालूम है कि अ का अमुक बैंक में हिसाब है तो वह उस बैंक के ऊपर सुपुर्दगी का एक अदालती हुक्म (Garnishee order) निकलवा सकता है। इस हुक्म के यह अर्थ हैं कि बैंक अ को उस समय तक रुपया न दे जिस समय तक अदालत उस रुपये के सम्बन्ध में कोई आदेश न दे दे।

(१२) जब चेक अत्यधिक कट-फट गई है।

चेक तिरस्कृत करने के समय बैंक प्रायः निम्न कारण लिखते हैं :—

(१) लिखने वाले धनी से पूछिये Refer to Drawer (R/D) इससे चेक की तिरस्कृति का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। इससे केवल यह स्पष्ट होता है कि कोई न कोई ऐसी बात अवश्य है जिससे चैक का भुगतान नहीं

किया गया है। प्रायः यह उस परिस्थिति में लिखा जाता है जब लिखने वाले धनी की काफी राशि उसके हिसाब में नहीं रहती।

(२) प्रबन्ध नहीं किया गया (Not arranged)—इसके यह अर्थ हैं कि जिस हिसाब के ऊपर चेक काटी है उसमें उसके भुगतान के लिये यथेष्ट द्रव्य नहीं है। हाँ, यदि प्रबन्ध किया जाता तो दूसरे हिसाबों से उसमें काफी राशि आ जाती, किन्तु प्रबन्ध नहीं किया गया है। यदि बैंकर चाहे तो वह दूसरे हिसाब से भी भुगतान कर सकता है, किन्तु वह ऐसा करता नहीं।

(३) वसूलयाबी अभी तक नहीं हुई है चेक फिर लाइयेगा (Effects not yet cleared please present again) प्रायः यह देखा गया है कि ग्राहक अपने कुछ अधिकार पत्र बैंक को वसूली के लिये भेज देता है, और उन्हीं के आधार पर अपनी राशि यथेष्ट समझ कर चेक, इत्यादि काट देता है। किन्तु यदि इस बीच में अधिकार पत्रों की बैंक में वसूली नहीं होती तो उसकी चेकों का भुगतान नहीं होता। अतः, बैंक यह लिख देता है कि वसूलयाबी अभी तक नहीं हुई है, चेक फिर लाइयेगा।

(४) प्रबन्ध से अधिक है (Exceeds arrangement)—कभी-कभी ग्राहक अपने खातों से रुपया प्राप्त करने का प्रबन्ध कर लेता है किन्तु यदि इतने पर भी उसकी चेक की राशि इतनी अधिक है कि उसका भुगतान नहीं हो सकता तो यह कारण लिख दिया जाता है।

(५) बाकी यथेष्ट नहीं है (Insufficient Funds)—यह कारण तो स्पष्ट ही है किन्तु बैंक प्रायः ऐसा नहीं लिखते।

(६) पूरी राशि नहीं प्राप्त हो पाई है (Full covers not received)—इसके भी प्रायः वही अर्थ हैं जो (५) के हैं।

(७) लिखने वाले धनी ने भुगतान रोक दिया है (Payment stopped by the drawer)—यह कारण भी स्पष्ट ही है।

(८) लिखने वाले धनी के हस्ताक्षर नहीं मिलते (Drawer's Signature Differs)—प्रत्येक बैंक के पास उसके ग्राहक के हस्ताक्षरों का नमूना रहता है। अतः, इसके यह अर्थ हैं कि चेक पर के उसके हस्ताक्षर नमूने के उसके हस्ताक्षरों से नहीं मिलते।

(९) पाने वाले धनी का बेचान अपूर्ण है अथवा नहीं है अथवा अनियमित है अथवा अस्पष्ट है (···Payees Endorsement is incomplete, Required / Irregular / Elegible)—यह भी स्पष्ट ही है। अलिखित स्थान पर प्रथम, द्वितीय, इत्यादि जैसा हो लिख दिया जाता है।

(१०) बेचान का बैंक द्वारा प्रमाणित होना आवश्यक है (Endorsment Requires Bank's Guarantee Confirmation)—जब कोई चेक किसी बैंक द्वारा आती है तब यदि कोई बेचान अनियमित होता है तो बैंक द्वारा उसे प्रमाणित करवाया जाता है। अयः, ऐसी परिस्थिति में उपयुक्त कैफियत लिखी जाती है।

(११) लिखने वाले धनी के हस्ताक्षर की आवश्यकता है (Drawer's Signature Required)—जब लिखने वाला धनी अपने हस्ताक्षर करना भूल जाता है तब यह कैफियत लिखी जाती है।

(१२) चेक फटी है, अथवा पूर्वतिथीय है अथवा बहुत पुरानी हो गई है (Cheque is mutilated, Post-dated, Out of date)—फटी हुई चेक का भुगतान नहीं होता। यदि वह संयोग से फट गई है तो लिखने वाले धनी को उसे जोड़कर उस पर यह बात लिख देनी चाहिये।

इसी तरह से यदि किसी चेक पर आगे की तारीख पड़ी रहती है तो भी उसका भुगतान नहीं किया जाता। फिर जो चेक छै महीने अथवा उससे अधिक पुरानी हो जाती हैं, उसका भी भुगतान नहीं किया जाता।

(१३) शब्दों और अङ्कों में लिखे हुये धन भिन्न-भिन्न हैं (Amount in words and figures differ)—इसमें जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है या तो शब्द में लिखा हुआ धन या जो धन भी कम हो वह दे दिया जा सकता है किन्तु ऐसी चेक प्रायः उपर्युक्त कारण देकर वापिस कर दी जाती है।

(१४) रेखाङ्कित चेक किसी बैंक के मार्फत आनी चाहिए (Crossed cheque must be presented through a Bank)—यह कारण भी स्वयम् स्पष्ट है।

(१५) वसूली की मोहर लगनी चाहिये (Clearing Stamp Required)—वसूली करने वाले बैंक की अपनी मोहर भी चेक पर पड़नी चाहिये। अतः यदि कोई चेक किसी बैंक द्वारा आती है और उस पर उसकी मोहर नहीं पड़ती तो यह कारण लिख दिया जाता है।

(१६) संशोधन पर लिखने वाले धनी के हस्ताक्षर की आवश्यकता है (Alteration requires drawer's confirmation)—यदि चेक पर तनिक-सा भी संशोधन किया जाता है तो उस पर लिखने वाले धनी के हस्ताक्षर होते हैं। ऐसा न होने पर चेक वापिस कर दी जाती है।

(१७) लिखने वाले धनी का स्वर्गवास हो गया है (Drawer deceased)—यह कैफियत तो स्पष्ट ही है।

(१८) लिखने वाला धनी दिवालिया घोषित कर दिया गया है (Drawer declared bankrupt)—यह कैफियत भी स्पष्ट ही है।

(१९) अदालत की निषेध आज्ञा प्राप्त हो गई है (Garnisee order served)—अदालत की निषेध आज्ञा प्राप्त हो जाने पर फिर चेक का भुगतान नहीं होता।

(२०) चेक टाइप से तैयार की गई है (Type written cheque)—ऐसी चेक का भुगतान प्रायः नहीं किया जाता।

चेक गलती से तिरस्कृत हो जाने पर बैंकर का दायित्व

बैंक किसी चेक को किसी विशेष कारण बिना नहीं तिरस्कृत करता। हाँ, यदि वह ऐसा गलती से कर जाता है तो उसे न केवल लिखने वाले धनी की हानि ही पूरी करनी पड़ती है वरन् उसकी मान-हानि के लिये भी कुछ देना पड़ता है। जब किसी व्यापारी की चेक का भुगतान नहीं होता और विशेषतः हिसाब में यथेष्ट राशि न होने के कारण ऐसा नहीं होता तब उस व्यापारी की बड़ी बदनामी होती है और जैसा कि सभी को ज्ञात है व्यापार में बदनामी बहुत ही खराब चीज है। मान हानि की राशि का निश्चय स्वयं अदालत करती है। वह यह देखती है कि उस स्थान के लोग चेकों का तिरस्कृत हो जाना हेय दृष्टि से देखते हैं अथवा नहीं। वह यह भी देखेगी कि उस ग्राहक की कोई चेक

पहिले कभी उसके अपराध के कारण तिरस्कृत हुई थी अथवा नहीं। यदि ऐसा हो चुका है तो इस तिरस्कार मे उसकी कोई विशेष बदनामी नहीं समझी जायगी।

बैंक द्वारा भुगतान होने वाले बिलों के सम्बन्ध में बैंक का दायित्व

कभी-कभी ऊपर वाला धनी बिलों पर स्वीकृति देते समय उनके भुगतान का भी स्थान दे देता है। साधारणतः यह स्थान उसके बैंक का होता है। ऐसे बिल अँग्रेजी में डोमिसाइल्ड बिल (Domiciled bill) कहलाते हैं। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि जब कि बैंकों के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने ग्राहकों द्वारा काटे गये चेकों का भुगतान करें उनके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने ग्राहकों द्वारा स्वीकृत किये गये बिलों का भुगतान करें। हाँ, यदि यह किसी प्रकार भी पहिले से तै हो चुका है, तो अवश्य ही उन्हें ऐसा करना पड़ेगा। कोई बैंकर ऐसी परिस्थिति में भी इनका भुगतान करने से केवल निम्न हालतों में मना कर सकता है :—

(१) जब वह ठीक हालत में नहीं रहता।

(२) जब उसमें आवश्यक स्टाम्प नहीं लगा रहता। प्रत्येक मुद्दती बिल में प्रत्येक देश के विधान से निर्धारित कुछ न कुछ मूल्य का स्टाम्प अवश्य लगाना पड़ता है। हमारे ही देश में १३ जनवरी सन् १९४० के विधान के अनुसार एक वर्ष तक की अवधि के बिलों पर २ आना प्रति सहस्र रुपया तथा उसके अंश पर स्टाम्प लगाना पड़ता है।

(३) जब वह पकने की तारीख के पहले पेश किया जाय।

(४) जब उसमें कुछ विशेष संशोधन हो और उन पर ऊपर वाले धनी की सही न हो गई हो।

(५) जब ऊपर वाले धनी के हस्ताक्षर जाली मालूम पड़ती हों। प्रत्येक बैंकर को चाहिये कि वह उपर्युक्त हस्ताक्षरों को उसके पास जो हस्ताक्षरों के नमूने की किताब है उसमें जो उसके ग्राहक के हस्ताक्षर हैं, उससे मिला ले।

(६) जब पाने वाले धनी अथवा अन्य बेचानकर्ताओं के उस पर के हस्ताक्षर जाली मालूम पड़ते हों। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि

जाली बेचानों के बिलों पर भुगतान कर देने पर बैंकों को उस तरह की कोई बचत नहीं दी गई है जैसी जाली बेचानों के चेकों पर भुगतान कर देने पर दी गई है। प्रायः बैंकर बिल के अधिकारी से यह बात लिखवाकर अपनी बचत कर लेता है कि यदि कोई बेचान जाली होने के कारण वह दायी ठहराया जायगा तो उसकी क्षति वह पूरी करेगा।

(७) जब ऊपर वाला धनी दिवालिया घोषित कर दिया जाता है। उसके स्वर्गवास की हालत में भी बैंकर को उसके उत्तराधिकारी की सही प्राप्त कर लेनी चाहिये।

सहायक सम्बन्ध

सहायक सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं :—

(१) आढ़त (Agency) के और (२) धरोहर (Trust) के।

(१) आढ़त का सम्बन्ध

जब कोई बैंक अपने किसी ग्राहक के चेकों अथवा बिलों का भुगतान करता है तब उसके अढ़तिये (प्रतिनिधि—Agent) का काम करते हैं। अतः, यदि वह कोई गलती करता है तो उसके लिये अपने मालिक (ग्राहक) के प्रति ही दायी समझा जाता है। हाँ, उसे चेकों के भुगतान के सम्बन्ध में उनके जाली होने की हालत में अवश्य कुछ बचत दी गई है जिसका हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं।

फिर, हम यह भी जानते हैं कि वह अपने ग्राहकों की ओर से उनके चेकों, बिलों, प्रण-पत्रों, ब्याज पत्रों, (coupons) लाभ बँटनी पत्रों, चन्दे, आयकर, बीमा शुल्क इत्यादि की वसूली करता है। साथ ही वह उसकी तरफ से हिस्सों, स्टाकों, ऋण-पत्रों और बाण्डों इत्यादि को खरीदता और बेचता है। इन सब परिस्थितियों में और अन्य बहुत-सी परिस्थितियों में उसका और ग्राहक का सम्बन्ध फिर अढ़तिये और मुखिये का होता है और इसी कारणवश उनके बीच के अधिकार और दायित्व आढ़त के नियमों के अनुसार होते हैं। हाँ, इसमें एक अपवाद है और वह एक रेखाङ्कित चेक और बैंक ड्राफ्ट के सम्बन्ध का है।

रेखाङ्कित चेक (Crossed Cheque)—यह वह चेक है जिसके ऊपर कुछ शब्दों के साथ-साथ अथवा वैसे ही दो आड़ी समानान्तर रेखायें खींच दी जाती हैं। इनका यह प्रभाव होता है कि ऐसी चेकों का भुगतान ऊपर वाला बैंक किसी बैंक के अतिरिक्त अन्य किसी धनी को नहीं देता है। किसी चेक पर या तो साधारण या विशेष रेखाङ्कन किया जा सकता है।

साधारण रेखाङ्कन (General Crossing)—यदि किसी चेक के ऊपर कुछ शब्दों के साथ-साथ हाँ, किसी बैंक के नाम के साथ नहीं दो आड़ी समानान्तर रेखायें खींची गई हैं तो वह रेखाङ्कन साधारण रेखाङ्कन होता है। इसके नमूने निम्नाङ्कित हैं :—

1	2	3	4	5	6	7	8
	& Co.	Not Negotiable	Not Negotiable & Co.	Under one Hundred Rupees & Co.	& Co. Account payee only	Not Negotiable A/c payee only	Account payee only

बैंक ड्राफ्ट के वसूली के सम्बन्ध में भी यह बचाव दे दिया गया है।

साधारण रेखाङ्कन का यह प्रभाव होता है कि उस चेक का भुगतान ऊपर वाला बैंक अपने कटघरे पर किसी बैंक के अतिरिक्त अन्य किसी धनी को नहीं देता। यदि कोई रेखाङ्कित चेक किसी ऐसे धनी के पास आ जाती है जिसका किसी बैंक में हिसाब नहीं होता तो वह उसे वसूल करने के लिये अपने किसी ऐसे मित्र के नाम उसका बेचान कर देता है जिसका किसी बैंक में खाता होता है।

विशेष रेखाङ्कन (Special Crossing)—यदि किसी चेक के ऊपर के रेखाङ्कन के अन्दर किसी बैंक का नाम दिया रहता है तो वह रेखाङ्कन विशेष रेखाङ्कन कहलाता है। इस तरह के रेखांकन का यह प्रभाव पड़ता है कि उसका भुगतान रेखाङ्कन में दिये हुये बैंक को ही दिया जाता है। किसी चेक के रेखाङ्कन के अन्दर केवल एक ही बैंक का नाम रहता है। हाँ, यदि बैंक उस चेक की स्वयं वसूली नहीं कर सकता तो अवश्य उस पर दूसरे वसूली करने वाले बैंक के नाम का रेखाङ्कन कर दिया जाता है।

बैंकों को रेखाङ्कित चेकों की वसूली के सम्बन्ध में किस प्रकार का बचाव दिया गया है—वैसे तो जब कोई बैंक अपने किसी ग्राहक की ओर से किसी चेक की वसूली करता है तो उसकी स्थिति उसके अढ़तिये की-सी होती है अर्थात् यदि उस चेक पर ग्राहक का अच्छा अधिकार नहीं रहता तो वसूली करने वाले बैंक का भी अच्छा अधिकार नहीं रहता। किन्तु विनिमय साध्य पुर्जों के भारतीय विधान की १३१वीं धारा और विनिमय बिलों के अंग्रेजी विधान की ८२वीं धारा के अनुसार बैंक को उसके अपने ग्राहक के लिये एक रेखांकित चेक की वसूली करने पर एक बचत दी गई है। विनिमय साध्य पुर्जों के भारतीय विधान की १३२वीं धारा निम्नांकित है :—"यदि कोई बैंकर अच्छी नीयत से सावधानी के साथ किसी रेखांकित चेक का चाहे वह साधारण रेखांकन हो अथवा उसी के नाम का विशेष रेखाङ्कन हो अपने ग्राहक के लिये भुगतान प्राप्त कर लेता है तो बाद में यदि यह भी प्रमाणित हो जाता है कि उस पर खराब अधिकार था तब भी वह उसके वास्तविक स्वामी के प्रति केवल इस भुगतान को प्राप्त कर लेने के कारण ही दायी नहीं ठहराया जायगा।"

उपर्युक्त को स्पष्ट करने के लिये उसके साथ-साथ ही निम्न टीका भी दी हुई है :—

"इस धारा के सम्बन्ध में कोई बैंकर चाहे वह भुगतान पाने के पहले ही ग्राहक के हिसाब में वह राशि जमा कर दे अथवा नहीं जो भुगतान पाता है, वह अपने ग्राहक के लिये ही पाता है।"

यहाँ यह अवश्य याद रखना चाहिये कि बैंकर को यह बचाव केवल एक रेखाङ्कित चेक की वसूली पर ही दिया गया है और वह भी उसके स्वयं के

ग्राहक के लिये होने पर। यदि वसूली किसी खुली हुई चेक की अथवा किसी अन्य पुर्जे की हुई है (हाँ, इधर बैंक ड्राफ्ट की वसूली के सम्बन्ध में भी यह बचाव दे दिया गया है) अथवा बैंक के स्वयं के ग्राहक के लिये नहीं हुई है तो यह बचत नहीं मिलती। साथ ही उसे यह वसूली अच्छी नीयत से और सावधानी से भी करनी चाहिये। यदि कोई ग्राहक एक चेक जमा करके हिसाब खोलना चाहता है तो बैंकर को उसके विषय में पूछ-ताछ कर लेनी चाहिये। ऐसा न करने पर बैंकर को उपर्युक्त बचत नहीं मिलती। लैडब्रक बनाम टौड के मुकदमे में जिसमें एक चोर ने एक चेक पर उसके पाने वाले धनी के नाम का जाली बेचान किया था और फिर उससे एक बैंक में हिसाब खोलकर उसे वसूल कराकर सारी राशि निकाल ली थी। बैंक पर असावधानी करने का अपराध लगाया गया था और उससे सारा द्रव्य वापस ले लिया गया था। सेण्ट जान के अभिभाविकों और बार्कलेज के बीच के मुकदमें में भी जिसमें कि चोर ने अपनी पहचान के लिये फिजरौय स्क्वायर निवासी एक मि० अल्फ का नाम दिया था जिसे बैंक जानता भी नहीं था और जो बिल्कुल जाली था बैंक के ऊपर असावधानी का अपराध लगाया गया था।

वसूल करने वाले बैङ्क की चलन के अनुसार अधिकारी की स्थिति—चेक, विनिमय बिल और प्रण-पत्र विनिमय-साध्य पुर्जे हैं अर्थात् इनकी मुख्य विशेषता यह है कि इनका अधिकार इनका बेचान करके अथवा केवल इन्हें हस्तान्तरित करके हस्तान्तरित किया जा सकता है और हस्तान्तरकृत अगर अच्छी नीयत से किसी प्रतिफल के आधार पर, उचित रूप में और इनके पकने की तारीख के पहले इन्हें प्राप्त कर लेता है तो चाहे उसने इन्हें किसी ऐसे व्यक्ति से ही क्यों न पाया हो जिसका इन पर अच्छा अधिकार नहीं है तब भी उसका अधिकार तो इन पर अवश्य ही अच्छा माना जायगा और वह इनकी वसूली के लिये इनके लिए दायी धनियों के ऊपर अपने नाम से नालिश कर सकता है। अतः, यदि कोई वसूली करनेवाला बैंक अपनी इस स्थिति पर निर्भर रहना चाहता है अर्थात् अपने ग्राहक को वसूली के लिये आई हुई चेक का वसूली के पहले ही मूल्य देकर वह उसका अच्छी नीयत से मूल्य के विनिमय में किसी सन्देह के बिना प्राप्त करने वाला अधिकारी या चलन के अनुसार अधिकारी होने

का दावा करता है तो वह ऐसा कर सकता है। किन्तु यदि उसने उसका मूल्य नहीं दिया है, अथवा उस पर के रेखाङ्कन के अन्दर अविनिमय साध्य (Not Negotiable) लिखा हुआ है तो यदि उस पर किसी भी वेचानकर्ता का जाली वेचान है तो उसका उपर्युक्त दावा नहीं चल सकता। अतः, जिस वैधानिक बचत का पहले वर्णन किया जा चुका है वह वसूली करनेवाले बैंकों के लिये इस विशेष स्थिति में बहुत ही उपयोगी है।

(२) धरोहरी का सम्बन्ध

बैंक अपने ग्राहकों के धरोहरी भी होते हैं। इसका एक उदाहरण तो इस अध्याय के प्रारम्भ[1] ही में मुख्य सम्बन्ध के शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है। हम यह भी जानते हैं कि वे अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुयें इत्यादि भी सुरक्षित दशा में रखने के लिये प्राप्त करते हैं। जब वह इस काम के लिये कुछ प्रतिफल नहीं लेते हैं तब तो वह मुफ्ती धरोहरी की स्थिति में रहते हैं और धरोहर की वस्तु की क्षति हो जाने पर उसके लिये केवल एक बहुत बड़ी असावधानी (Gross negligence) करने पर ही दायी ठहराये जाते हैं। और जब वह इसके लिये कुछ प्रतिफल लेते हैं तब एक प्रतिफल पाये हुये धरोहरी की स्थिति में रहते हैं और तनिक-सी भी असावधानी करने पर धरोहर की वस्तु की क्षति हो जाने पर उसके लिये दायी ठहराये जाते हैं। किन्तु यह अँग्रेजी विधान के अनुसार है, भारतीय विधान में मुफ्ती धरोहरी और प्रतिफल पाये हुये धरोहरी की स्थिति में कोई अन्तर नहीं है। उसके अनुसार तो एक धरोहरी को उसके पास जो धरोहर रक्खी जाती है उसके सम्बन्ध में उतनी ही सावधानी रखनी पड़ती है जितनी कि एक साधारण विचारवान मनुष्य उन्हीं स्थितियों में अपने स्वयं के उसी की मात्रा, किस्म और मूल्य के माल के सम्बन्ध में रखता है और यदि उसने ऐसा किया है तो धरोहर खो जाने, नष्ट हो जाने अथवा खराब हो जाने पर उसकी क्षति का दायी नहीं ठहराया जा सकता है। किन्तु यह बचत गलत सुपुर्दगी के सम्बन्ध में नहीं दी गई है। प्रायः बैंक धरोहर की वस्तु मुहरबन्द स्थिति में लेते हैं और उनका एकमात्र दायित्व यही है कि वह उन्हें उसी मुहरबन्द स्थिति में या तो उसे रखने वाले को या उसके आदेश

---

[1] Official Assignee of Madras vs. I. W. Irwin.

के अनुसार वापस कर दें। कई मुकदमों में यह फैसला किया जा चुका है कि उसकी सुपुर्दगी किसी अनधिकृत व्यक्ति को कर देने से वह गलत सुपुर्दगी होगी और वह किसी हालत में भी खयानत (Conversion) अर्थात् अमानत को अपने प्रयोग में लाने से कम नहीं समझी जाती और उसी के अनुसार विधान द्वारा दण्डनीय मानी जाती है। किन्तु कभी-कभी बैंकों को कुछ साख-पत्र न केवल उन्हें सुरक्षित रखने के लिये वरन् उन पर की सामयिक आय और उनके पकने पर स्वयं उन्हें वसूल करने के लिये भी रक्खे जाते हैं। ऐसी अवस्था में वह उन पर अपने ऋण की अदायगी के लिये साधारण स्वत्व-ग्रहणाधिकार (General Lien) भी स्थापित कर सकता है। वस्तुतः बैंकों के साधारण स्वत्व-ग्राहणाधिकार (General Lien) को उनके अथवा अन्य व्यक्तियों के विशेष स्वत्व ग्रहणाधिकार की तुलना में भली भाँति समझ लेना चाहिये।

साधारण स्वत्व-ग्रहणाधिकार बनाम विशेष स्वत्व ग्रहणाधिकार (General Lien versus Particular Lien)—विशेष स्वत्व ग्रहणाधिकार तो वह है जिसमें कोई वस्तु उस समय तक अपने पास रोक रखने का अधिकार है कि जब तक उसके सम्बन्ध के सब भुगतान न मिल जायँ। इसके विपरीत साधारण-स्वत्व ग्रहणाधिकार वह है जिसमें कोई भी वस्तु उस समय तक रोक रखने का अधिकार है जब तक उसके मालिक के ऊपर कोई भी भुगतान बाकी रह जाय। बैंकों के यह दोनों ही प्रकार के स्वत्व-ग्रहणाधिकार हैं किन्तु यदि किसी बैंक का किसी वस्तु पर कोई विशेष स्वत्व-ग्रहणाधिकार है तो उसी के साथ-साथ उस पर उसका साधारण स्वत्व-ग्रहणाधिकार नहीं ठहर सकता। उदाहरण के तौर पर मान लीजिये कि किसी बैंक के पास एक ८००० रुपये के ऋण के सम्बन्ध में कोई १०००० रुपये की प्रतिभूति जमा है। अतः, उसका इस प्रतिभूति में से ८००० रुपये और उसका ब्याज वसूल कर लेने का इस पर विशेष स्वत्व-ग्रहणाधिकार है। किन्तु इसका शेष बचने पर उसके पास उसे अपने किसी अन्य ऋण के सम्बन्ध में रोक लेने का कोई साधारण स्वत्व-ग्रहणाधिकार नहीं है। हाँ, यदि वह उसके पास उस विशेष ऋण की अदायगी के बाद भी छोड़ दिया जाता है तो अवश्य उस पर उसका साधारण स्वत्व-ग्रहणाधिकार हो जाता है। स्वत्व-ग्रहणाधिकार प्रतिभूति बेचने का अधिकार नहीं देता, वह केवल

उसे रोक लेने ही का अधिकार देता है। प्रतिभूति काम में लाने के लिये पहले अदालत से डिक्री प्राप्त कर लेनी चाहिये, और फिर उस डिक्री के सम्बन्ध में उसे कुर्क करवा लेना चाहिये और तब वह बेची जा सकती है। बैंकों का उनके पास वसूली के लिये आई हुई चेकों पर साधारण स्वत्व-ग्रहणाधिकार हो जाता है और वह उनकी राशि अपने किसी भी ऋण की अदायगी में लगा सकते हैं। हाँ, यदि कोई राशि उनके पास किसी विशेष काम के लिये आई है तो अवश्य ही उसका प्रयोग उसी काम के लिए होना चाहिये।

(२) विशेष सम्बन्ध

किसी बैंकर और ग्राहक के बीच के उपर्युक्त सम्बन्ध तो उनके साधारण सम्बन्ध हैं; किन्तु इनके अलावा उनके कुछ विशेष सम्बन्ध भी हो सकते हैं। अतः, ऐसी स्थिति में बैंकर के ग्राहकों के प्रति कुछ विशेष दायित्व भी उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर जैसा कि हम जानते हैं किसी बैंक को अपने दिवालिया ग्राहक की चेकों का भुगतान नहीं करना चाहिये। यदि वह ऐसा कर देता है तो सरकारी कारकुन (Official Assignee) के प्रति जो उसके लेनदारों के हित के लिये उसकी सारी सम्पत्ति का स्वामी माना जाता है इसके लिये उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। उसे किसी ऐसे दिवालिये का हिसाब भी नहीं रखना चाहिये जिसका दिवाला अदालत द्वारा न छूट गया हो क्योंकि इसमें इस बात का डर है कि कहीं आगे चलकर उससे अदालत वह सब पूँजी न माँग ले जो उसके पास दिवालिया ने जमा की थी और धीरे-धीरे निकाल ली है। हम यह भी देख चुके हैं कि किसी ग्राहक के स्वर्गवास की सूचना पा जाने पर बैंक को उसकी चेकों का भुगतान करना बन्द कर देना चाहिये। ऐसी स्थिति में या तो मृत-लेख प्रवर्तक (Executor) आवश्यक मृत-लेख अथवा प्रबन्धाधिकार या ग्राहक का कोई उत्तराधिकार अपना उत्तराधिकार स्वयं ही पेश करते हैं और तब उन्हीं के अनुसार उपयुक्त अधिकारी के आदेशानुसार उसका भुगतान किया जाता है। यह भी पहले ही बताया जा चुका है कि बैंक एक पागल ग्राहक की चेकों का भी भुगतान नहीं करता है। किन्तु ऐसा करने के पहले उसे उसके सचमुच पागल हो जाने का पता लगा लेना चाहिये। यदि ग्राहक पागलखाने में

भेज दिया गया है अथवा किसी न्यायालय द्वारा पागल घोषित कर दिया गया है तब तो बैंक के भुगतान रोक देने मे कोई डर नहीं है। किसी नशे से मत्त ग्राहक की बराबरी भी पागल व्यक्ति ही से की जा सकती है, अतः, ऐसे व्यक्ति के स्वयं ही अपनी चेक का भुगतान लेने के लिये आने पर भी बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। हो सकता है कि ऐसा करने के पहले कोई विश्वस्त साक्षी ले ली जाय। सत्य तो यह है कि ऐसे लोगों से बैंक को कोई सम्पर्क ही नहीं रखना चाहिये।

बैंकर को अल्पवयस्क ग्राहकों के साथ काम करने में भी बहुत सावधानी बरतनी चाहिये। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा है कि उन लोगों के पास उनके पावने की वसूली के सम्बन्ध में किसी को मुक्त कर देने की शक्ति न होने के कारण बैंकर को उनकी जमा भी उनके द्वारा निकाल लेने पर अंत में कठि-नाइयों का सामना करना पड़ सकता है, किन्तु कुछ जिम्मेदार व्यक्तियों ने कहा है कि विधान ने अल्पवयस्कों को जो बचत प्रदान कर रक्खी है वह इस सीमा तक नहीं जा सकती है। चलन तो यह है कि उनके हिसाब तो खोल लिये जाते हैं और उनमें से उन्हें पूँजी निकालने की आज्ञा भी प्रदान कर दी जाती है, किन्तु उन्हें जमा से अधिक राशि निकालने के लिये कभी नहीं आज्ञा दी जाती। एक अल्पवयस्क बेचान कर सकता है और दूसरे की ओर से उनका प्रतिनिधि भी हो सकता है।

बैंकर को धरोहरियों के साथ काम करने में भी बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि जिन लोगों के हित के लिये ऐसी धरोहर की जाती है उनके हितों का अदालत बहुत ध्यान रखती है और जिन्हें यह मालूम रहता है कि वह किसी धरोहर से सम्बन्ध रखने वाले कोष में लेन-देन कर रहे हैं उनसे यह आशा की जाती है कि वह जाल इत्यादि के सम्बन्ध में साधारण तौर पर जो सावधानी करते हैं उससे कहीं अधिक सावधानी इस विशेष सम्बन्ध में करेंगे। धरोहरी लोग अपनी सामूहिक शक्ति अपने में से किसी एक को नहीं सौंप सकते। वास्तव में यह उसी स्थिति में हो सकता है जब धरोहर-सम्बन्धी पत्र में ऐसा विशेष रूप से लिखा हो। अतः, इस बात का पता लगाने के लिये कि सब धरोहरियों की ओर से किसी एक धरोहरी के हस्ताक्षर

ठीक माने जायें अथवा नहीं, धरोहर पत्र का अवश्य अध्ययन कर लेना चाहिये। यदि एक ग्राहक का एक हिसाब तो उसके स्वयं के नाम में है और दूसरा किसी धरोहर के नाम में है तो यदि वह धरोहर के हिसाब में से कुछ पूँजी अपने निजी हिसाब में हस्तान्तरित कर देता है तो बैङ्कर को आवश्यक पूछताछ कर लेनी चाहिये। धरोहर के तनिक भी भङ्ग हो जाने की शङ्का हो जाने पर बैङ्कर को बहुत ही सावधान हो जाना चाहिये। ऐसे हिसाब के सम्बन्ध में तनिक-सी भूल नहीं करनी चाहिये।

बैङ्कर को अपने ग्राहकों के कर्मचारियों और प्रतिनिधियों से लेन-देन करने में भी यथेष्ट सावधानी बरतनी चाहिये। बात यह है कि इन लोगों के अधिकार सीमित रहते हैं। अतः, जब भी यह कोई काम करते हैं तभी इस बात का पता लगा लेना चाहिये कि इन्हें वह काम करने का अधिकार है अथवा नहीं। विनिमय साध्य पुर्जों के भारतीय विधान की २७वीं धारा में यह लिखा हुआ है कि काम करने के और ऋण की वसूली तथा भुगतान करने के एक साधारण अधिकार के यह अर्थ नहीं हैं कि कर्मचारियों अथवा प्रतिनिधियों को अपने मालिक तथा मुखिया के विनिमय बिल स्वीकार करके और बेचान करके उन्हें बाँधने का भी अधिकार मिला हुआ है। इन लोगों के, जब उनके मालिकों के हिसाब के साथ-साथ स्वयं के भी हिसाब होते हैं, तब बैङ्कर को इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि मालिकों के हिसाब से उनके स्वयं के हिसाब में यदि कोई राशि हस्तान्तरित होती है तो वह उस पर यथेष्ठ ध्यान रक्खे। वसूली करने वाले बैङ्क को तो बहुत ही सावधान रहना चाहिये, क्योंकि इस संबन्ध की तनिक-सी भी असावधानी हो जाने पर उसे विनिमय साध्य पुर्जों के भारतीय विधान की १३१वीं धारा के अनुसार जो बचत मिली हुई है उसके समाप्त हो जाने का डर है। इंगलैण्ड में विसेल बनाम फाक्स के मुकदमे में जिसमें एक व्यापार से संबन्धित साथी ने अपने मालिक को देय चैक से जिस पर उसने अदालत द्वारा दिये गये अधिकार के नाम से (Per Procuration) बेचान करके एक बैङ्क में अपने नाम का खाता खोल लिया था, यह निश्चय हुआ था कि ऐसे बेचान पर यह बात पता चलने के कारण कि बेचान करने वाले को बहुत ही सीमित अधिकार हैं, बैङ्क को उसके अधिकारों का पता लगा

लेना चाहिये था और उसने ऐसा न करके एक बहुत बड़ी असावधानी दिखलाई थी। वस्तुतः बैंकों को ऐसे हस्ताक्षर देखते ही उनके संबन्धी अधिकार पत्र अवश्य देख लेने चाहिये।

अन्तिम, बैंकों को किसी संयुक्त हिन्दू परिवार के खातों के संबन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि उसकी सब चेकों पर परिवार के प्रबन्धकर्ता के ही, जिसे केवल कर्ता कहते हैं और जो प्रायः परिवार का सबसे बड़ा पुरुष व्यक्ति होता है, हस्ताक्षर होने चाहिये। विधानतः वही संयुक्त परिवार के फर्म की ओर से सब काम कर सकता है। यह साझे की फर्म के बिल्कुल विपरीत है, जहाँ साझे के सभी सदस्यों के विधानतः एक से अधिकार रहते हैं।

प्रश्न

(१) ग्राहक की परिभाषा दीजिये और उसके सम्बन्ध की विशेष बातें बताइये।

(२) किसी बैंक में प्रायः कौन-कौन से खाते खोले जा सकते हैं ? उन्हें खोलने के क्रम बताइये।

(३) किसी बैंकर और ग्राहकों के बीच में किस प्रकार के सम्बन्ध खड़े हो सकते हैं ? मुख्य सम्बन्ध की विशेषतायें बताइये।

(४) चेकों पर के जाल के सम्बन्ध में बैंकों को कौन-कौन सी बचत दी गई हैं। इस सम्बन्ध में (अ) एक जाली बेचान-युक्त चेक के और (ब) एक जाली हस्ताक्षर युक्त चेक के भुगतान हो जाने पर बैंक के दायित्व पर प्रकाश डालिये।

(५) किसी चेक का बेचान करने के क्या अर्थ हैं ? चेकों पर कब और कैसे बेचान करने चाहिये ? विभिन्न प्रकार के बेचान बताइये।

(६) कोई बैंक अपने ग्राहकों की चेकें किन-किन परिस्थितियों में, भुगतान किये बिना ही वापस कर सकता है ?

(७) चेकें भुगतान किये बिना ही वापस करने पर बैंक प्रायः कौन-कौन से कारण लिख भेजते हैं ? उन्हें भली भाँति समझाइये।

(८) यदि कोई बैंक कोई चेक भुगतान किये बिना ही गलती से लौटाल दे तो उसके कौन-कौन से दायित्व हैं ? अपने उत्तर के साथ-साथ उपयुक्त उदाहरण भी दीजिये।

(९) एक स्थानीय (Domiciled) बिल के भुगतान के सम्बन्ध में किसी बैंक के कौन-कौन से दायित्व हैं ? ऐसे बिल किन-किन परिस्थितियों में तिरस्कृत किये जा सकते हैं ?

(१०) एक रेखाङ्कित चेक की वसूली के सम्बन्ध में उसके वसूल-करनेवाले बैंक को कौन-कौन से अधिकार और दायित्व हैं ? इस सम्बन्ध में उसे जो वैधानिक बचत दी गई है, उसे स्पष्ट कीजिये।

(११) रेखाङ्कन से आप क्या समझते हैं ? उसके भिन्न-भिन्न रूप बताइये। रेखांकन का क्या उद्देश्य है।

(१२) बैंकर के स्वत्व (Lien) ग्रहणाधिकार से आप क्या समझते हैं ? इस सम्बन्ध में साधारण स्वत्व-ग्रहणाधिकार और विशेष स्वत्व-ग्रहणाधिकार के अन्तर बताइये।

(१३) बैंकों को किन विशेष प्रकार के ग्राहकों से काम करना पड़ता है ? उन्हें इनसे काम करने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ?

अध्याय १०

ऋण के लिए बैंकों की उपयुक्त प्रतिभूतियाँ

यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि बैंक केवल अच्छी प्रतिभूतियों के आधार पर ही ऋण देते हैं। वास्तव में इनके अनेक रूप हैं। उनकी जो जोखिमें हैं उन्हें समझने के लिये हमें उनमें से प्रत्येक के विषय में बहुत ही अच्छी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। बैंकों को किसी प्रकार की प्रतिभूति पर भी काम करने के समय बहुत ही सावधान रहना चाहिये। उन्हें न केवल यही देखना चाहिये कि प्रतिभूतियाँ मूल्य की पक्की और शीघ्र ही बिक जाने वाली हैं वरन् यह भी देखना चाहिये कि उन पर के अधिकार अरक्षित नहीं होंगे।

प्रतिभूति रहित ऋण (Clear advances)

कई बार जब कोई ग्राहक बहुत ही ऊँची साख का होता है और उसकी आर्थिक स्थिति भी बहुत अच्छी होती है तब उसे केवल उसकी वैयक्तिक प्रतिभूति पर ही ऋण मिल जाता है अथवा उसके खाते में से उसे जमा की हुई राशि से अधिक राशि निकाल लेने का अधिकार प्रदान कर दिया जाता है। ऐसी अवस्था में बैंकर केवल उसकी ईमानदारी, चाल-चलन और उद्यम तथा व्यापाराना ढंग पर ही भरोसा रखता है। हाँ, कभी-कभी अपनी बचत के ध्यान से वह उसके लिखे हुए प्रण-पत्र पर किन्हीं एक अथवा दो स्वतन्त्र व्यक्तियों के हस्ताक्षर भी ले लेता है, जिससे उस ऋण के सम्बन्ध की उनकी भी वैयक्तिक प्रतिभूति हो जाती है। किन्तु समय पर ऋण की वसूली न होने पर मुख्य देनदार तो ऋण लेने वाला व्यक्ति ही होता है। बैंकर को प्रतिभूति के प्रति अपने अधिकारों का तभी प्रयोग करना चाहिये जब उसकी पूरी राशि देनदार की स्वयं की सम्पत्ति से न वसूल हो सके। ऐसे ऋण प्रतिभूति रहित ऋण (Clean advances) कहे जाते हैं।

अब उपर्युक्त प्रतिभूति चालू (Continuing) और विशेष (Specific) भी हो सकती है। चालू प्रतिभूति की अवस्था में प्रतिभू एक विशेष राशि तक

चाहे वह कितनी बार ही क्यों न ली दी जाय, दायी रहता है और विशेष प्रतिभूति की अवस्था में वह केवल एक ही बार दी हुई राशि पर दायी रहता है। मान लीजिये कि 'अ' पाँच सौ रुपये का ऋण लेता है, और कुछ ही दिनों बाद वह २०० रु० वापस कर देता है, किन्तु फिर १०० रु० ले लेता है। अब, उस पर ४०० रु० की बाकी बची है। अतः, चालू प्रतिभूति में प्रतिभू ४०० रु० के लिये दायी है और वह उस २०० रु० का लाभ नहीं उठा सकता जो 'अ' ने पहले वापस किये थे। हाँ, विशेष प्रतिभूति में वह ३०० रु० के लिये दायी होगा क्योंकि २०० रु० तो 'अ' ने वापस कर दिये थे। इस अवस्था में उससे उन १०० रु० से कोई मतलब नहीं है जो 'अ' ने बाद में फिर लिये थे। प्रतिभू जब प्रतिभूति की राशि दे देता है तब वह राशि तुल्य देनदार से वसूल कर सकता है।

अतिरिक्त आनुसंगित प्रतिभूति (Collateral Securities)

उधार लेनेवाले व्यक्तियों को उधार राशि के सम्बन्ध में प्रायः कुछ अतिरिक्त (आनुसंगिक) प्रतिभूति भी जमा करनी पड़ती है। अतिरिक्त (आनुसंगिक) प्रतिभूति किसी भौतिक पदार्थ की अथवा उनके सम्बन्ध के अधिकार पत्रों की हो सकती है। यह प्रतिभूति वैयक्तिक प्रतिभूति के अतिरिक्त होती है और इसीलिये अतिरिक्त प्रतिभूति कहलाती है। वास्तव में इन्हें बेचकर ऋण की वसूली तभी की जा सकती है जब देनदार उसे वैसे ही देने से इन्कार कर दे अथवा न दे। वह अतिरिक्त प्रतिभूति स्वत्व-ग्रहणाधिकार (Lien) के अथवा गिरवी (Pledge) के अथवा रेहन (Mortgage) के रूप में हो सकती है।

स्वत्व-ग्रहणाधिकार में प्रतिभूति अपने पास रोक रखने का अधिकार है, उसे बेचा नहीं जा सकता। हाँ, यदि ऐसा करना है तो पहले अदालत से डिक्री प्राप्त करनी पड़ती है और फिर उस डिक्री में वह चीज कुर्क करवानी पड़ती है और तब बेचा जा सकता है। किन्तु पूर्ण रूप से विनिमय साध्य पत्रों की प्रतिभूति में जैसे देखनहार शेयर वारण्ट, स्टाक और सर्टिफिकेट; देखनहार और रजिस्टर्ड ऋण-पत्र, विनिमय बिल, प्रण-पत्र और चेकों में बैंक के स्वत्व (ग्रहणाधिकार) में देनदार को उचित सूचना देकर इन्हें बेच लेने का भी

अधिकार है। जहाँ तक अन्य अधिकार-पत्रों का प्रश्न है उनमें अवश्य यह अधिकार नहीं है। उन्हें केवल रोका जा सकता है।

गिरवी की हालत में बैंकर को प्रतिभूति रोकने और फिर उचित सूचना देकर बेचने का भी अधिकार है। अतः, स्वत्व (ग्रहणाधिकार) और गिरवी में पूर्ण रूप से विनिमय साध्य पत्रों को छोड़कर शेष में यही अन्तर है कि जब एक में प्रतिभूति की वस्तुयें केवल रोकी ही जा सकती हैं, दूसरे में वे बेची और रोकी दोनों जा सकती हैं। इसका यह निष्कर्ष है कि गिरवी स्वत्व (ग्रहणाधिकार) से अधिक अच्छा है।

जब प्रतिभूति अचल सम्पत्ति की दी जाती है तब उसका रेहन करवाना पड़ता है। इसमें स्वत्व (ग्रहणाधिकार) और गिरवी के विपरीत प्रतिभूति की वस्तु का कब्जा लेनदार का नहीं हो जाता। वह या तो देनदार का ही रहता है अथवा देनदार जिसे चाहता है उसका रहता है। इसमें प्रायः स्वामित्व अवश्य हस्तान्तरित हो जाता है। स्वत्व (ग्रहणाधिकार) और गिरवी में जैसा कि हमें मालूम है कब्जा तो प्रायः बदल जाता है किन्तु स्वामित्व नहीं बदलता। किन्तु यहाँ पर जो कुछ रेहन के विषय में कहा गया है वह केवल वैधानिक रेहन (Legal Mortgage) के लिये ही लागू है। वास्तव में रेहन कई प्रकार के होते हैं, किन्तु यहाँ पर हमें केवल वैधानिक रेहन (Legal Mortgage) और सादे रेहन (Equitable Mortgage) के विषय में ही समझना है। वैधानिक रेहन रेहननामे के आधार पर होता है जिसे लिखने के लिये एक सरकारी कागज का प्रयोग किया जाता है और जो रेहन के रजिस्ट्रार के पास रजिस्टर्ड करवाया जाता है। इसके विपरीत सादा रेहन (Equitable Mortgage) में केवल अधिकार पत्र अकेले ही अथवा एक स्मरण-पत्र (Memorandum) के साथ अथवा केवल स्मरण-पत्र (Memorandum of Charge) ही जिसके पास रेहन रक्खा जाता है उसे सौंप दिया जाता है। अतः, दोनों में यह अन्तर है कि जब पहले में रेहन की सम्पत्ति का स्वामित्व जिसके पास वह रेहन की जाती है उसका हो जाता है और इसी से उसे ऋण की अदायगी न होने पर उसे बेच लेने का अधिकार रहता है, दूसरे में ऐसा नहीं हो पाता। इसमें जिसके पास रेहन रक्खा जाता है उसे पहले अदालत की

शरण लेनी पड़ती है और उसकी आज्ञा प्राप्त करने के बाद ही वह उसे बेच सकता है। सादा रेहन (Equitable Mortgage) भारतवर्ष में केवल कलकत्ते, मद्रास, बम्बई, और उन शहरों में ही किया जा सकता है जिन्हें सरकार समय-समय पर गजट में निकालती है। वैधानिक रेहन में भी ऋण की अदायगी के बाद रेहन रखनेवाले को रेहन रक्खी हुई सम्पत्ति का फिर से स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। रेहन रखनेवाले की यह अधिकार प्राप्ति छुटकारे का दावा (Equity of Redemption) कहा जाता है।

अतिरिक्त (आनुसंगिक) प्रतिभूतियों के विभिन्न रूप

अतिरिक्त (आनुसंगिक) प्रतिभूतियाँ विभिन्न रूप की हो सकती हैं जो निम्नाङ्कित हैं :—

(१) स्टाक एक्सचेंज में बिकनेवाले पत्र

इनमें सरकार के और कम्पनियों के दोनों के पत्र आ जाते हैं। ये (अ) पूर्ण रूप से विनिमयसाध्य हस्तान्तरित होनेवाले (Fully Negotiable-Convertible) और (ब) अविनिमयसाध्य हस्तान्तरित न होनेवाले (Non-negotiable Inconvertible) दोनों होते हैं। हस्तान्तरित न होने वाले स्टाक फिर से रजिस्टर में स्वयं हस्ताक्षर करने पर हस्तान्तरित होने वाले (Inscribed) और हस्तान्तर-पत्र (Transfer deed) भरकर हस्तान्तरित होने वाले (Registered Stocks and Shares) स्टाकों में विभाजित किये जा सकते हैं। पूर्ण रूप से विनिमयसाध्य स्टाक दूसरों को देकर अथवा बेचान करके हस्तान्तरित किये जा सकते हैं। हस्तान्तरित न होने वाले वह स्टाक जो रजिस्टर में स्वयं हस्ताक्षर करने पर हस्तान्तरित किये जा सकते हैं (Inscribed) वह हैं जिन्हें हस्तान्तरित करने के लिये हस्तान्तरकर्ता को स्वयं कम्पनी में जाकर अथवा अपना कोई प्रतिनिधि भेजकर कम्पनी के रजिस्टर में हस्ताक्षर करना पड़ता है। अतः, यह दूसरों को देकर अथवा बेचान करके हस्तान्तरित नहीं किये जा सकते। इसलिये इनके रेहन रक्खे जाने पर बैंकर को इन पर अपना पूरा अधिकार प्राप्त करने के लिये इनके मालिक से

इनके हस्तान्तरित किये जाने के प्रमाणस्वरूप कम्पनी के रजिस्टरों में हस्ताक्षर करवा लेने चाहिये। जहाँ तक हस्ताक्षर-पत्र भरकर हस्तान्तरित होने वाले स्टाकों (Registered stocks) का प्रश्न है उनके हस्तान्तर होने का प्रमाण उन्हें निकालने वाली कम्पनी एक मुहरबन्द प्रमाण-पत्र देकर दे देती है और वह वैधानिक तौर से (Legal transfer) अथवा सादे तौर से (Equitable charge) हस्तान्तरित किये जा सकते हैं। वैधानिक तौर से हस्तान्तरित करने के लिये (Legal transfer) एक हस्तान्तर-पत्र लिखना अथवा लिखकर मोहर करवाना पड़ता है और जब उसका प्रमाण पत्र (Certificate) हस्तान्तर-पत्र सहित कम्पनी के पास पहुँच जाता है तब वह उसके अधिकारी के स्थान पर बैंकर का नाम दर्ज करके बैंकर को एक दूसरा प्रमाण-पत्र (Certificate) भेज देती है। इसके विपरीत सादे तौर से हस्तान्तरित करने ने लिये (Equitable charge) प्रमाण-पत्र (Certificate) को जमा करने के एक स्मरण-पत्र (Memorandum of deposit) सहित अथवा उसके आधार अथवा हस्तान्तरित करने के एक स्मरण-पत्र तथा एक सादे हस्तान्तर-पत्र पर हस्ताक्षर करके बैंकर के पास जमा कर देना पड़ता है। जब प्रमाण-पत्र (Certificates) जमा किये जाते हैं तब उनके साथ प्रायः जमा का एक स्मरण-पत्र (Memorandum of deposit) और हस्ताक्षर किया हुआ एक सादा हस्तान्तर-पत्र (Duly Executed Blank-Transfer) अवश्य रहता है। इससे बैंकर के लिये वह सुविधा हो जाती है कि जब उसकी ऋण की पूँजी वसूल नहीं होती तब वह हस्ताक्षर किये हुये सादा हस्तांतर-पत्र भरकर कम्पनी को सूचना देकर स्टाक अपने नाम में हस्तान्तरित करवा लेता है। इसके विपरीत जब केवल प्रमाण-पत्र ही जमा रहते हैं अथवा उनके साथ जमा का स्मरण-पत्र भी होता है, तब उधार की पूँजी न मिलने पर बैंकर देनदार को बुलवाकर उससे स्टाकों को वैधानिक तौर से हस्तान्तरित करने को कहता है और उसके ऐसा न करने पर अदालत से उनके हस्तान्तर करने की और बेचने की आज्ञा प्राप्त करता है। इनमें उसे बहुत असुविधा होती है। अतः, इस तरह की प्रतिभूति प्रायः चालू नहीं है।

स्टाक एक्सचेञ्ज में बिकने वाले पत्र

- पूर्ण रूप से विनिमयसाध्य स्टाक -- हस्तान्तरित होने वाले स्टाक (इन्हें दूसरों को देकर अथवा बेचान करके हस्तान्तरित किया जा सकता है)
- पूर्ण रूप से अविनिमयसाध्य स्टाक हस्तान्तरित न होने वाले स्टाक
  - रजिस्टर में स्वयं हस्ताक्षर करने पर हस्तान्तरित होने वाले स्टाक (Inscribed stocks) इन्हें दूसरों को देकर अथवा बेचान करके हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। इनके अधिकारी को स्वयं अथवा किसी प्रतिनिधि से कम्पनी के रजिस्टरों में हस्ताक्षर करवाने पड़ते हैं।
  - हस्तान्तर-पत्र भरकर हस्तान्तरित होने वाले स्टाक (Registered stocks and shares)
    - वैधानिक तौर से हस्तान्तरित होना (Legal transfer) इसमें हस्तान्तर-पत्र भरकर कम्पनी में भेजना पड़ता है। अथवा किसी ऐसे पत्र के बिना हस्तान्तर पत्र के साथ रख दिया
    - सादे तौर से हस्तान्तरित होना (Equitable charge)— इसमें प्रमाण-पत्र जमा के अथवा हस्तान्तर करने के स्मरण-पत्र के साथ ही और एक सादे हस्ताक्षर किये हुये जाता है।

गुण—(१) ये आसानी से शीघ्रतापूर्वक वसूल किये जा सकते हैं।

(२) इनकी वास्तविक बाजारू कीमत आसानी से मालूम की जा सकती है।

(३) इनकी कीमत बहुत नहीं घटती-बढ़ती।

(४) इनके स्वामित्व में कोई झगड़ा नहीं होता। अतः, यह आसानी से बेचे जा सकते हैं।

(५) पूर्ण रूप से विनिमयसाध्य स्टाकों के सम्बन्ध में यदि उन्हें अच्छी नीयत से और उनकी पूरी कीमत चुका कर प्राप्त किया गया है तो बैंकर के पास उनका अच्छा अधिकार रहता है, और जब तक उसके ऋण की रकम का भुगतान नहीं हो जाता, वह उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के विरोध में भी अपने पास रख सकता है।

(६) यदि बैंकर को द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है तो वह इन्हें केन्द्रीय बैङ्क में रखकर इन पर ऋण प्राप्त कर सकता है।

दोष—(१) जिन हिस्सों अथवा ऋण-पत्रों पर आंशिक भुगतान हुआ है उन पर कुछ और भुगतान माँगा जाने पर बैंकर को वह भुगतान देना पड़ सकता है, क्योंकि भुगतान न पहुँचने पर उनके अपहृत हो जाने का डर रहता है।

(२) कुछ कम्पनियों की यह शर्त होती है कि हिस्सेदार के ऊपर कम्पनी की कोई भी पूँजी बाकी रहने पर वह उसके हिस्से से वसूल की जायगी। यदि ऐसा है और बैंकर को यह नहीं मालूम है कि हिस्सेदार के ऊपर कम्पनी की कोई पूँजी चाहिये तो बाद में अपनी पूँजी वसूल करते समय उसे यह मालूम होने पर कि पूरी पूँजी वसूल नहीं की जा सकती उसे हानि हो सकती है।

(३) जब यह पूर्ण रूप से विनिमयसाध्य हस्तान्तरित होने वाली नहीं होती तब इनसे हस्तान्तर करवाने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऐसी अवस्था में बैंकर का अधिकार हस्तान्तरकर्ता के अधिकार की ही तरह का होता है और उसके दूषित होने पर उसका अधिकार भी दूषित हो जाता है।

सावधानियाँ—स्टाक इक्सचेञ्ज में बिकने वाले पत्रों की प्रतिभूतियों के सम्बन्धों में यदि निम्न बातें ध्यान में रक्खी जायें तो उनके सब दोष दूर हो सकते हैं।

(१) यथासम्भव गुञ्जाइश देनी चाहिये। जब कभी भी मूल्य गिर जाय, और अधिक प्रतिभूति माँग लेनी चाहिये।

(२) आंशिक भुगतान वाले हिस्से और ऋण-पत्र कभी नहीं लेने चाहिये।

(३) अविनिमयसाध्य पत्रों की अवस्था में पहले के हस्तान्तर करवा लेना चाहिये।

(४) सट्टे वाले हिस्से नहीं लेने चाहिये।

(२) विनिमयसाध्य पुर्जे

हमें यह तो ज्ञात ही है कि विनिमय बिल बैंकों से भुनवाये जा सकते हैं। अतः, जब वह ऐसा करते हैं तब उन पर उन्हें पूरे अधिकार मिल जाते हैं जिससे वे उन्हें बेच भी सकते हैं और दूसरों से फिर से भुना भी सकते हैं। हाँ, यदि यह गिरवीं रक्खे जाते हैं तो बैङ्कर ऐसा नहीं कर सकता। उसे इन्हें इनके पकने तक अपने पास रखना ही पड़ता है। अतः, बैंकर के विचार से तो इन्हें उसके हाथ बेच देना ही अच्छा है, गिरवीं रखना नहीं।

गुण—(१) यदि बैंकर ने इन्हें अच्छी नीयत से प्राप्त किया है तो उसका इन पर अच्छा अधिकार ही रहता है।

(२) इनका मूल्य निर्धारित रहता है।

(३) इन्हें फिर से भुनाया जा सकता है।

(४) इनके पकने पर द्रव्य मिलना निश्चित है।

दोष—इनके पकने पर बैंकर को इनकी वसूली करनी पड़ती है।

सावधानियाँ—जहाँ तक हो सके इन्हे भुना दिया जाय गिरवीं न रक्खा जाय।

(३) माल अथवा माल के अधिकार-पत्र

जब माल बैंकर के यहाँ गिरवीं रक्खा जाता है तब या तो वह उसी के गोदाम में ले आया जाता है या उधार लेने वाले के पास ही छोड़ दिया जाता है। यदि वह उधार लेने वाले के पास ही छोड़ दिया जाता है तो उसके गोदाम की तालियाँ अवश्य बैंकर को ही दे दी जाती हैं। दोनों ही स्थितियों में माल का बीमा करना पड़ता है और उसका खर्च उधार लेने वाले को देना पड़ता है। जब माल बैंकर के गोदाम में रक्खा जाता है तब वह उसका किराया भी ले लेता है। माल के अधिकार-पत्र भी गिरवीं रक्खे जा सकते हैं। इनमें जहाजी बिल्टी

(Bill of lading), डाक पत्र (Dock-warrant), गोदाम वालों के प्रमाण-पत्र (Warehoues keeper's certificates) घटवारे का प्रमाण-पत्र (Wharfinger's certificate), रेल की बिल्टी (Railway Receipt), माल देने के लिये आदेश-पत्र तथा ऐसे ही कोई अन्य कागजात जो माल का स्वामित्व हस्तान्तरित करने में काम में लाये जाते हैं, सम्मिलित हैं।

गुण—(१) माल और माल सम्बन्धी कागजात एक प्रकार से स्वयं वास्तविक वस्तु हैं अथवा उनके प्रतिनिधि हैं। अतः, प्रतिभूति के लिये बहुत अच्छे हैं।

(२) इनके मूल्य नहीं घटते-बढ़ते।

(३) इन्हें बहुत आसानी से बेचा जा सकता है।

(४) इनकी प्रतिभूति पर जो ऋण दिया जाता है उसके अवश्यमेव भुगतान होने की सम्भावना रहती है। वह द्रव्य इन्हीं के क्रय के लिये लिया जाता है और इन्हीं के विक्रय पर वापस कर दिया जाता है।

(५) इनका मूल्य आसानी से मालूम हो जाता है।

दोष—(१) माल खराब हो सकता है।

(२) इनके मूल्य में दैनिक परिवर्तन होता है। हाँ, यह परिवर्तन बहुत अधिक नहीं होता।

(३) कभी-कभी एक ही माल कई किस्म का होता है। अतः, इसमें धोखा दिया जा सकता है।

(४) कुछ माल रखने में बहुत जगह की आवश्यकता पड़ती है।

(५) इसमें चोरी हो जाने की भी बड़ी आशंका रहती है।

(६) इन्हें देनदार थोड़ी-थोड़ी राशि देकर थोड़े-थोड़े परिमाण में उठाता रहता है। अतः, माल देने में गलती हो सकती है।

(७) माल सम्बन्धी अधिकार-पत्रों में जालसाजी की बड़ी गुञ्जाइश रहती है।

भारतवर्ष में इनके प्रिय न होने के कारण—(१) वहाँ पर लाइसेन्स-प्राप्त गोदाम नहीं के बराबर हैं।

(२) प्रायः माल की उचित किस्में निर्धारित नहीं हैं और जहाँ पर ऐसा है भी वहाँ पर उनका उचित ध्यान नहीं रक्खा जाता।

(३) बहुत-सी जगहों में बहुत-सी चीजों के संगठित बाजार नहीं हैं। अतः, उनके मूल्य का पता लगाने में असुविधा होती है।

सावधानियाँ—(१) जिस माल के खराब हो जाने की अधिक सम्भावना है उसे नहीं रखना चाहिये और यदि वह रक्खा भी जाय तो उसका बीमा करवा लेना चाहिये। जहाँ तक माल खराब हो जाने का डर है, सोना-चाँदी खराब नहीं होता है। अतः, वह सर्वोत्तम है।

(२) माल के मूल्य का बराबर पता लगाते रहना चाहिये। वास्तव में उधार देते समय ही यथेष्ठ गुञ्जाइश रख लेनी चाहिये और यदि मूल्य बहुत कम हो जाय तो और अधिक अतिरिक्त प्रतिभूति मँगवा लेनी चाहिये।

(३) जो माल रक्खा जाय उसकी किस्म समझ लेने के लिये एक बहुत ही अनुभवी व्यक्ति रखना चाहिये।

(४) जब माल छोड़ा जाय तब बहुत निगाह रखनी चाहिये। जहाँ तक हो सके इसके लिये एक अलग गुमाश्ता होना चाहिये।

(५) माल सम्बन्धी कागजों पर उधार देने के पहिले उनकी वास्तविकता का पता लगा लेना चाहिये। साथ ही उनके वास्तविक अधिकारी की भी जाँच-पड़ताल करा लेनी चाहिये।

(६) बैंकर को वही माल लेने चाहिये जिन्हें वह अपने गोदाम में आसानी से रख सकता हो। यदि माल ऋणी के ही गोदाम में छोड़ दिया जाता है तो उसके गोदाम की जाँच करवा लेनी चाहिये और उसके दोष दूर करवा देने चाहिये। खत्तियों में कच्ची खत्तियों की तुलना में पक्की खत्तियाँ कहीं अच्छी होती हैं।

(७) सबसे आवश्यक तो यह है कि बैंकर को ऋण लेने वाले की ईमानदारी, इत्यादि का पता लगा लेना चाहिये। जो काम वह करता हो उसमें उसे होशियारी होना चाहिये।

(८) बैंकर को अपने ग्राहकों के कर्मचारियों, इत्यादि को उधार देते समय बहुत सावधान रहना चाहिये। प्रायः इनके अधिकार सीमित रहते हैं।

(९) माल गिरवी रक्खे जाने का प्रमाण बराबर लिखित रूप में ले लेने चाहिये।

(१०) जहाजी बिल्टी (Bill of lading) की कई प्रतिलिपियाँ होती हैं। अतः, सब ले लेनी चाहिये जिससे जाल न किया जा सके।

(४) जान बीमा-पत्र

बीमे का प्रस्ताव पत्र भरते समय यदि कोई बात गलत नहीं लिखी गई है तो जान बीमा-पत्र के आधार पर उसके परित्यज्य मूल्य (Surrender Value) तक की राशि बहुत ही अच्छी तरह से उधार दी जा सकती है। किन्तु बैंकों के पास प्रायः जो प्रतिभूतियाँ रहती हैं उनमें यह बहुत अधिक मात्रा में नहीं पायी जाती। बीमा कम्पनियों के स्वयं ही बीमा-पत्रों के आधार पर उधार देने के लिये तैयार रहने के कारण अधिकांश में इनके आधार पर उन्हीं से ऋण ले लिया जाता है और इसमें बीमा कम्पनियों को तथा उधार लेने वाले दोनों को बहुत ही सुविधा रहती है। इनका भी वैधानिक रेहन (Legal mortgage) अथवा सादा रेहन (Equitable mortgage) हो सकता है। सादे रेहन में बीमा-पत्र दे दिया जाता है, चाहे साथ में जमा करने का स्मरण-पत्र दिया जाय अथवा नहीं। इसके विपरीत वैधानिक रेहन में एक बेची-पत्र (Deed of assignment) भी भरा जाता है जिसमें मूलधन और ब्याज देने का वायदा रहता है और बीमा पत्र के ऋण की अदायगी हो जाने पर छुटकारे की शर्त के साथ उसकी बेची भी रहती है।

गुण—(१) इनका त्याज्य मूल्य आसानी से मालूम किया जा सकता है। प्रायः, इनकी पीठ पर इसे निकालने का तरीका दिया रहता है। साथ ही बीमा कम्पनी से भी इसका पता लगाया जा सकता है।

(२) यदि बीमे का प्रतिफल बराबर चुकता होता रहता है तो इनका त्याज्य मूल्य भी बराबर बढ़ता जाता है।

(३) यदि बीमा-पत्र स्मरण-पत्र के बिना ही जमा कर दिया जाता है तो भी ऋण लेने वाले के दिवालिया हो जाने पर पहले बैंकर को बीमा-पत्र से ऋण की राशि वसूल करने का अधिकार रहता है और फिर उसके बाद सरकार द्वारा निर्धारित इतिकर्ता का अधिकार होता है।

(४) ऋण लेने वाले के एक विशेष आयु पर पहुँचने पर अथवा मर जाने पर उसका जान बीमा-पत्र स्वयं ही पक जाता है।

(५) यदि जान बीमा-पत्र की बेची हो गई है और बीमा-कम्पनी को सूचना दी जा चुकी है तो यह पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है। इसमें अधिकार के खराब होने का प्रश्न नहीं उठ सकता।

(६) आवश्यकता पड़ने पर बैंकर इसकी बेची किसी अन्य धनी के नाम भी कर सकता है।

दोष—(१) यदि प्रस्ताव-पत्र ठीक नहीं भरा गया था तो बीमा-पत्र के पकने पर वह अवैध ठहराया जा सकता है।

(२) यदि बीमा कराने वाले की आयु का प्रमाण बीमा कम्पनी के द्वारा पहले से स्वीकृत नहीं कराया जा चुका है तो बीमा कराने वाले की मृत्यु पर बैंकर को ऐसा कराने में कठिनाई पड़ सकती है।

(३) प्रायः आत्महत्या और न्यायालय की ओर से फाँसी की सजा बीमा पत्रों के अन्दर नहीं सम्मिलित होती।

(४) बीमा प्रायः विधवा और बच्चों के हित के लिये करवाया जाता है। अतः, बैंक के लिये उसकी राशि लेना भलमनसाहत नहीं समझी जाती।

(५) बीमे का मूल्य उसका शुल्क देने से ही बढ़ता है। अतः, यदि बीमा कराने वाला यह नहीं देता तो उसे बैंक को देना पड़ सकता है।

(६) यदि बीमा किसी अन्य व्यक्ति ने करवाया है तो जिसकी जान का बीमा हुआ है उसकी जान में बीमा कराने वाले की आर्थिक दिलचस्पी न होने के कारण बीमा अवैध सिद्ध हो सकता है।

(७) यदि बीमा-पत्र नहीं ले लिया गया है तो वह किसी और के नाम बेचा जा सकता है। वास्तव में जो व्यक्ति भी पहले बीमा कम्पनी को बीमे की बेची की सूचना दे देता है वही उसे पाने का हकदार समझा जाता है।

सावधानियाँ—(१) बैंकर को यह बात देख लेनी चाहिये कि जिसका जान बीमा कराया गया है उसकी आयु का प्रमाण बीमा कम्पनी ने मान लिया है।

(२) उसे यह भी देख लेना चाहिये कि बीमा कराने वाले की जिसका जान बीमा कराया गया है उसकी जान में बीमा कराने के समय आर्थिक दिलचस्पी थी।

(३) उसे सादे रेहन की अपेक्षाकृत वैधानिक रेहन पर अधिक जोर देना चाहिये।

(४) उसे यह बात देखते रहना चाहिये कि शुल्क देने की रसीदें बराबर उसके यहाँ जमा होती रहती हैं और वह बराबर दिया जाता है।

(५) उसे बीमा कम्पनी को रेहन की सूचना दे देनी चाहिये और इस बात का पता लगा लेना चाहिये कि वह पहिले से तो रेहन नहीं थी।

(६) बैंकर की दृष्टि से एक निश्चित अवधि पर अथवा यदि उससे पहिले मृत्यु हो जाय तो उस पर पकने वाला बीमा (Endowment) केवल मृत्यु पर पकने वाले बीमे (Whole life) की अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छा है।

(७) कुँवारी स्त्रियों के बीमे के सम्बन्ध में उनका विवाह हो जाने पर बीमा-पत्र के ऊपर विवाह की बात लिखवा लेनी चाहिये।

(८) प्रत्येक बीमा-पत्र की सब धारायें अपने अधिकार और दायित्व समझने के लिये बहुत अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिये।

(५) अचल सम्पत्ति

जब अचल सम्पत्ति प्रतिभूति की तौर पर दी जाती है तब प्रायः उसका रेहन नामा होता है और जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है यह रेहन नामा प्रायः वैधानिक होता है क्योंकि सादा रेहन नामा तो हमारे यहाँ कुछ विशेष शहरों को छोड़कर अन्य शहरों में होता ही नहीं और न उसमें सम्पत्ति बेचने का ही अधिकार रहता है। अचल सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार-पत्रों को भली-भाँति जँचवा लेना चाहिए अन्यथा उन पर का अधिकार झूठा प्रमाणित हो सकता है। उनका मूल्य भी भली-भाँति अँकवा लेना चाहिये और उनका बीमा भी करवा लेना चाहिये।

गुण—सत्य तो यह है कि अचल सम्पत्ति में ऐसा कोई गुण ही नहीं है जिससे कि वह प्रतिभूति के तौर पर स्वीकृत की जाय, किन्तु प्रायः ऐसे ग्राहक मिलते हैं जिनके पास इन्हें छोड़कर और कोई चीज प्रतिभूति के तौर पर देने के लिये निकलती ही नहीं। अतः, इन्हें स्वीकार करना ही पड़ता है।

दोष—(१) वैधानिक रेहन में तो बहुत ही खर्च पड़ता है और वह असुविधाजनक भी होता है, और सादा रेहन कुछ विशेष शहरों को छोड़कर अन्य शहरों में हो ही नहीं सकता।

(२) अचल सम्पत्ति के वास्तविक अधिकारी का पता लगाना बहुत ही कठिन है। हमारे देश में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम बहुत ही टेढ़े-मेढ़े हैं।

(३) अचल सम्पत्ति का मूल्य ठीक ठीक आंक लेना बहुत ही कठिन हो जाता है और यह भी घटता-बढ़ता रहता है।

(४) इसे बेचने में बहुत ही असुविधा होती है क्योंकि इसमें बहुत सी वैधानिक कार्रवाइयाँ करनी पड़ती हैं। फिर इन्हें खरीदने वाले भी मुश्किल से ही मिलते हैं और भिन्न-भिन्न व्यक्ति इनके भिन्न-भिन्न मूल्य लगाते हैं।

(५) कुछ मकान मरम्मत, इत्यादि न होने के कारण बहुत जल्दी ही खराब हो जाते हैं।

(६) ऋण की अदायगी न होने पर जिस दिन से प्रतिभूति पर रक्खे गये मकान, इत्यादि बैंक के हाथ में आ जाते हैं, उस दिन से उसे उनमें किरायेदार रखने और उनकी मरम्मत कराने के दायित्व अपने ऊपर लेने पड़ते हैं।

(७) इनके अधिकार-पत्रों की वास्तविकता का पता लगाना बहुत ही कठिन हो जाता है।

(८) जहाँ पर जमीन पट्टे पर होती है वहाँ पर किराया न पहुँचने पर पट्टे की समाप्ति की आशंका रहती है।

(९) इसके आग से नष्ट हो जाने का डर रहता है।

सावधानियाँ—(१) अचल सम्पत्ति लेते समय ऋण लेने वाले का उस पर का अधिकार भली-भाँति पता लगा लेना चाहिये।

(२) अधिकार-पत्र अच्छी तरह से जँचवा लेने चाहिये।

(३) भविष्य में मरम्मत इत्यादि के लिये प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(४) पट्टे की सम्पत्ति के सम्बन्ध में किराया देने का प्रबन्ध हो जाना चाहिये।

(५) इनका ध्यान [illegible] अथवा [illegible] चाहिये और अन्य [illegible] से [illegible] [illegible] का [illegible] अथवा [illegible] चाहिये ।

(६) जहाँ तक हो एक बैंक के बाद दूसरा बैंक नहीं स्वीकार करना चाहिये और यदि दूसरे बैंक की सूचना [illegible] [illegible] के लिए और [illegible] [illegible] नहीं देनी चाहिये ।

प्रश्न

(१) 'उधार' (Advances) से आप क्या समझते हैं ? चालू (Continuing) और विशेष (Specific) प्रतिभूतियों को भली भाँति समझाइये ।

(२) अतिरिक्त (आनुषंगिक) प्रतिभूति (Collateral securities) से आप क्या समझते हैं ? ये किस प्रकार की होती हैं ? इनमें से प्रत्येक के विषय में बताइये ।

(३) बैंक प्रायः किस प्रकार की अतिरिक्त प्रतिभूतियाँ ले लेते हैं ? प्रत्येक की विशेषताओं पर छोटी-छोटी टिप्पणियाँ लिखिये ।

(४) बैंकर की दृष्टि से स्टाक एक्सचेंज में बिकने वाले साख-पत्रों की प्रतिभूति कैसी होती है ? इसके दोष कम करने के लिये अपने सुझाव रखिये ।

(५) माल और माल के अधिकार-पत्रों के अतिरिक्त प्रतिभूति की तरह से प्रयोग में आने के गुण और दोष भली भाँति समझाइये । इन्हें लेते के समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ? भारतवर्ष में यह बहुत अधिक प्रिय क्यों नहीं हैं ?

(६) जान बीमा-पत्र प्रतिभूति की तरह पर लेने में कौन-कौन से गुण और दोष हैं ? इन्हें लेने के समय किन किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ?

(७) 'अचल सम्पत्ति अच्छी प्रतिभूति नहीं है' यह बात बैंकर की दृष्टि से समझाइये ।

(८) 'विनिमय साध्य पुर्जों को जहाँ तक सम्भव हो गिरवी की तरह से ही लेना चाहिये' इस पर अपने विचार लिखिये ।

अध्याय ११

बैंकों का निकासगृह (Clearing House)

बैंकों का निकासगृह वह संस्था है जहाँ स्थानीय बैंकों के पारस्परिक लेन-देनों का निपटारा हो जाता है। इसे समाशोधन गृह अथवा वलरण भी कहा जाता है। जैसा कि छठे अध्याय में बताया जा चुका है। यह काम प्रायः सभी केन्द्रीय बैंक या तो चलन के अनुसार करते आ रहे हैं या विधान ने उन्हें ऐसा करने के लिये बाध्य कर रक्खा है। जिन देशों में केन्द्रीय बैंकों की संस्थापना के बहुत पहले ही से व्यापारिक बैंकों ने स्वयं ही अपने लेन-देनो का निपटारा करने के लिये प्रबन्ध कर लिया था अथवा जहाँ पर केन्द्रीय बैंकों ने यह काम बहुत दिनों तक प्रारम्भ ही नहीं किया था वहाँ पर स्वतन्त्र निकासगृह स्थापित हैं और उनके स्वयं के नियम तथा काम करने के स्थान बने हुये हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि वहाँ के केन्द्रीय बैंक भी इनके सदस्य हैं और साथ ही प्रत्येक दिन की निकासी के अन्त में बैंकों के जो शेष बचते हैं उनके निपटारे का भी प्रबन्ध वही करते हैं। अन्य देशों में तो वही निकासगृह के लिये स्थान देते हैं, वही काम करने के लिये नियम बनाते हैं, वही उनकी निगरानी करते हैं और वही अन्त में बचे हुये शेष का निपटारा करते हैं। उपर्युक्त अध्याय में इस बात का भी संकेत कर दिया गया था कि बैंकों का अनुभव यह बतलाता है कि एक विशेष समय के अन्दर एक विशेष बैंक के ग्राहकों द्वारा उस पर कटे हुये उन चेकों की राशि जो दूसरे बैंकों द्वारा उसके यहाँ वसूली के लिये आती हैं उन चेकों की राशि के प्रायः बराबर होती हैं जो उसके पास दूसरे बैंकों के ऊपर की उसके ग्राहकों द्वारा इसी काम के लिये आती हैं। वस्तुतः बैंकों के निकासगृहों की संस्थापना ही इसी सिद्धान्त के आधार पर की गई है।

काम करने का ढंग

इनमें काम करने का ढङ्ग बहुत ही साधारण है। मान लीजिये कि अ, ब, स, और द चार बैंकों के बीच में निकासी का काम होना है। अब इनमें

से प्रत्येक के पास जाने वाली निकासी के सम्बन्ध के विशेष तौर पर छपे हुये कागज (Summary sheets of out-clearing) रहते हैं जिनमें उन सभी चेकों और बिलों, इत्यादि का लेखा कर लिया जाता है जिनकी एक बैंक को अन्य बैंकों से वसूली करनी होती है। अतः, यदि 'अ' बैंक को चेके और ड्राफ्ट छाँटने पर 'ब' बैंक के ऊपर के चेक और ड्राफ्ट मिलते हैं तो वह इन्हें उक्त कागज में 'ब' बैंक का नाम लिखकर, लिख लेता है। इसी तरह से दूसरे बैंकों के ऊपर की राशि भी अलग-अलग लिख ली जाती है। यह प्रत्येक बैंक करता है। इसके बाद चेक, इत्यादि फिर से देखकर उनके अलग-अलग बण्डल बना लिये जाते हैं। फिर, ये बण्डल निकासगृह में ले जाये जाते हैं और चारो बैंकों के निर्धारित स्थान में प्रत्येक दूसरा बैंक इन्हें रख देता है। वहाँ पर इन बैंकों के कर्मचारी प्राप्त बण्डलों से उसी प्रकार के आने वाली निकासी के कागजातों (Summary sheets of in-clearing) में लेखे करते हैं। जिस प्रकार इनके लेखे जाने वाली निकासी के कागजातों में पहिले किये गये थे। अब यदि 'अ' बैंक को 'ब' बैंक से जो पाना है वह उसको जो उसे देना है उससे अधिक है तब उसे उससे पाना है और यदि इसका उल्टा है तो उसको उसे देना है। अतः, प्रत्येक बैंक से अन्त में जो पाना है अथवा उसे देना है वह एक साधारण चिट्ठे (General Balance-Sheet) में लिख लिया जाता है। इस चिट्ठे में निकासगृह के सब सदस्य बैंकों के नाम, उनके पाउने और देने के खानों सहित छपे रहते हैं। अब, यदि किसी बैंक से पाना है तो वह पाउने के खाने में और यदि देना है तो वह देने के खाने में लिख लिया जाता है। अन्त में पाउने और देने के जोड़ों का शेष निकाल लिया जाता है और यदि पाउना ज़्यादा है तो केंद्रीय बैंक से अपना एकाउण्ट क्रेडिट करने (जमा करने) और यदि देना ज्यादा है तो अपना एकाउण्ट डेबिट करने (नाम लिखने) को कह दिया जाता है। केंद्रीय बैंक इन लेखों के दोहरे लेख निकासी के एकाउण्ट (Clearing) में करता है। यदि सब का हिसाब ठीक है तो निकासी के एकाउण्ट में दोनों तरफ के लेखे बराबर हो जाते हैं अन्यथा गलती ढूँढ़कर ठीक कर ली जाती है। अन्त में सब बैंक वाले अपने-अपने ऊपर की चेक अपने यहाँ ले जाते हैं और वहाँ पर उनकी जाँच-पड़ताल करके

उनके लेखे कर लेते हैं और यदि वहाँ पर यह ठीक नहीं जँचती तो दूसरे दिन की निकासी में वह बाहर जाने वाली चेकों के साथ वापस कर दी जाती है।

लाभ

इस संगठन से बैंकों और जनता दोनों को बहुत से लाभ हैं। बैंकों के लिये तो यह इस प्रकार से लाभदायक है कि (१) उन्हें अपने कर्मचारियों को भिन्न-भिन्न बैंकों में नहीं भेजना पड़ता। केवल एक कर्मचारी निकासगृह में चला जाता है। (२) उन्हें व्यर्थ में नकदी में भुगतान नहीं करना पड़ता—एक तो प्रत्येक बैंक को भुगतान नहीं किया जाता, दूसरे सब बैंक को मिलाकर भुगतान भी केवल केंद्रीय बैंक में जो एकाउन्ट रहता है उसी में लेखा करने से हो जाता है। (३) इससे यह भी लाभ होता है कि बैंकों को अपने पास बहुत कम नकदी रखनी पड़ती है। यह जनता के लिये भी बहुत लाभप्रद है। (१) इससे उसका बहुत कम नकदी से काम चल जाता है। (२) इसके कारण चेकों, इत्यादि का जो प्रयोग बढ़ जाता है उससे भी जो साख की वृद्धि होती है उससे भी जनता का बड़ा लाभ होता है।

अँग्रेजी निकासगृह

जैसा कि छठे अध्याय में बताया जा चुका है, इंगलिस्तान में, लन्दन में और ग्यारह प्रान्तीय शहरों में स्वतन्त्र निकासगृह हैं। इनमें से लन्दन में और सात प्रान्तीय शहरों में तो जहाँ बैंक आफ इंगलैण्ड के अपने दफ्तर और शालायें हैं, बैंक अपनी पारस्परिक बाकी का निपटारा उनके बैंक आफ इंगलैण्ड में जो स्थानीय एकाउन्ट हैं उन पर चेकें काट कर कर लेते हैं। किन्तु उन चार शहरों में जहाँ निकासगृह तो हैं किन्तु बैंक आफ इंगलैण्ड के दफ्तर और शालायें नहीं हैं ऐसा नहीं हो पाता। अतः, वहाँ पर यह काम उनके लन्दन स्थित प्रधान दफ्तर के जो एकाउन्ट बैंक आफ इंगलैण्ड में हैं उनके द्वारा करवाया जाता है।

लन्दन में निकासी का काम—लन्दन में निकासी का काम तीन भागों में विभक्त है। (१) शहर से सम्बन्धित निकासी (Town clearing)

(२) अन्य शहरों से सम्बन्धित निकासी (Country clearing) और (३) शहर के दूर स्थित स्थानों से अथवा वृहत लन्दन से सम्बन्धित निकासी (Metropolitan clearing)

(१) शहर से सम्बन्धित निकासी—के अन्तर्गत वह क्षेत्र आता है जो बैंक आफ इंगलैण्ड के दफ्तर से करीब है। इसकी प्रति दिवस प्राय: दो निकासी होती है, एक प्रातः और दूसरी मध्याह्न में। निकास-गृह का प्रत्येक सदस्य बैंक हर निकासी के समय प्रत्येक बैंक से ऊपर की अथवा उन बैंकों के ऊपर की चेकों के जिनके ये सदस्य बैंक प्रतिनिधि हैं पृथक्-पृथक् बन्डल बनाकर जिन्हें वहाँ पर चारजेज (Charges) कहा जाता है निकासगृह के दफ्तर में भेज देता है। वहाँ पर ये आपस में बदले जाते हैं और फिर इनसे लेखे तैयार किये जाते हैं और अन्त में जोड़, इत्यादि ठीक करके बाकी निकाली जाती है। फिर, वह साधारण चिट्ठे में प्रत्येक बैंक के नाम के आगे डेबिट (नाम) अथवा क्रेडिट (जमा) में जैसा होता है लिख ली जाती है। इसके बाद दोनों खाने पृथक्-पृथक् जोड़कर उनकी बाकी निकाल ली जाती है। अब, प्रत्येक बैंक का केंद्रीय बैंक में एकाउण्ट तो होता ही है। अतः, उसी एकाउण्ट में यह बाकी डेबिट अथवा क्रेडिट करके जैसा होता है इसका निपटारा कर दिया जाता है।

(२) अन्य शहरों से सम्बन्धित निकासी—के अन्तर्गत वृहत् (समूचे) लन्दन को छोड़कर इंगलैन्ड और वेल्स में फैले हुए सभी बैंको और उनकी शाखाओं के चेकों की निकासी आ जाती है। लन्दन के बाहर जितने बैंक हैं प्रायः उन सबों ने लन्दन शहर में स्थित किसी न किसी बैङ्क को निकासी के लिये अपना प्रतिनिधि अवश्य बना रक्खा है। अतः, इनके पास उनके जो अन्य बैंकों के ऊपर के चेक, इत्यादि रहते हैं वह आ जाते हैं। इसमें भी निकासी का वही क्रम चलता है जो शहर से सम्बन्धित निकासी में चलता है। हाँ, यह निकासी प्रतिदिन केवल एक बार ही होती है और इसमें साधारण चिट्ठे से जो बाकी निकलती है वह सीधे-सीधे न निपटकर तीसरे दिन की शहर से सम्बन्धित निकासी के साधारण चिट्ठे में शामिल कर ली जाती है। इस देरी का कारण यह है कि ऊपर वाले बैंकों के प्रतिनिधि बैंक जो चेक पाने वाले बैंकों के प्रतिनिधि बैंकों से

पाते हैं उन्हें वह ऊपर वाले बैंकों के पास भेजते हैं और वहाँ से उनके सकर जाने पर ही उन्हें निकासी में सम्मिलित करते हैं।

शहर से दूर स्थित स्थानों से अथवा वृहत लन्दन से सम्बन्धित निकासी बहुत बाद में प्रारम्भ हुई थी। इसमें उस क्षेत्र के बैंकों की चेकों की निकासी होती है जो न तो प्रथम और न दूसरे प्रकार की निकासी में सम्मिलित की जा सकती हैं। वृहत लन्दन का क्षेत्र बहुत बड़ा है। अतः, इससे लन्दन के उन बैंकों को सुविधा दी गई है जो बैंक आफ इंगलैण्ड के दफ्तर से दूर पर स्थित हैं। ये बैंक इस क्षेत्रफल में स्थित बैंकों की चेकें, इत्यादि छाँटकर लन्दन शहर के अपने प्रतिनिधि बैंकों के पास भेज देते हैं जो उन्हें ऊपर वाले बैंकों के अपने यहाँ के प्रतिनिधि बैंकों के बंडलों में शामिल कर लेते हैं। इस निकासी से सम्बन्धित साधारण चिट्ठे की बाकी भी दूसरे दिन की शहर से सम्बन्धित निकासी के साधारण चिट्ठे में शामिल कर ली जाती है। इसमें भी प्रतिनिधि बैंक प्राप्त चेक ऊपर वाले बैंकों के पास सकारने के लिये भेजते हैं जिसकी सूचना दूसरे दिन आ जाती है।

प्रत्येक निकासी की लौटी हुई चेक दूसरे दिन की उसी निकासी के लिये जाने वाली चेकों की निकासी में मिला दी जाती है।

एक बात और ध्यान देने की है कि शहर से सम्बन्धित और वृहत लन्दन से सम्बन्धित निकासी में चेकें और ड्राफ्ट दोनों सम्मिलित कर लिये जाते हैं किंतु अन्य शहरों से सम्बन्धित निकासी में केवल चेकें ही शामिल की जाती हैं ड्राफ्ट नहीं शामिल किये जाते।

भारतवर्ष में निकासी

पाँचवें अध्याय में यह भी बताया गया था कि हमारे देश में भी रिजर्व बैंक की संस्थापना के पहिले से ही कई जगह स्वतंत्र निकासगृह थे जिनमें कार्य की देख-रेख स्वभावतः इम्पीरियल बैंक ही अन्य सदस्य बैंकों की ओर से किया करता था। फिर, रिजर्व बैंक की संस्थापना होने पर यह काम रिजर्व बैंक के पास आ गया। किन्तु फिर भी कलकत्ता और कानपुर दो ऐसे स्थान हैं जहाँ पर रिजर्व बैंक के क्रमशः दफ्तर और शाखा होने पर भी वहाँ के निकासगृहों की

देख-रेख रिज़र्व बैंक के जिम्मे नहीं है। हाँ, बाकी का निपटारा तो अवश्य बैंकों के जो इसके यहाँ एकाउन्ट हैं, उन्हीं पर चेकें काटकर होता है। जिन स्थानों में रिज़र्व बैंक का दफ्तर अथवा शाखा नहीं है वहाँ पर इम्पीरियल बैंक न केवल निकासगृह की देख-रेख करता है वरन् बाकी का निपटारा भी करता है।

यहाँ पर इस समय अमृतसर, अहमदाबाद, आगरा, अलप्पी, इलाहाबाद, कलकत्ता, कानपुर, कालीकट, कोयम्बटूर, जालन्धर, देहरादून, देहली, नागपुर, पटना, बङ्गलौर, बम्बई, मङ्गलौर, मद्रास, मदूरा, लखनऊ, राजकोट, पूना, गया और शिमला में भारतवर्ष में और कराँची, रावलपिण्डी, लयालपुर और लाहौर में पाकिस्तान में निकासगृह हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे शहर हैं जिनमें बहुत से बैंक हैं किन्तु निकासगृह नहीं हैं—उदाहरणार्थ जबलपुर, जमशेदपुर, बनारस, बरेली, मेरठ, सूरत इत्यादि हैं। अतः, इनमें उन्हें खुलना चाहिये।

इसके अतिरिक्त कुछ स्थानों में लन्दन निकासगृह की तरह ही अन्य शहरों से सम्बन्धित निकासी का प्रबन्ध भी करना चाहिये। इसके लिये कलकत्ता, बम्बई दिल्ली, कानपुर इत्यादि से प्रारम्भ किया जा सकता है।

भारतीय निकासगृहों ने कुछ ऐसे नियम बना रक्खे हैं जिनसे नये बैंक उनके सदस्य नहीं बन पाते हैं, उदाहरणार्थ कोई बैंक तब तक उसका सदस्य नहीं बन पायेगा जब तक तीन-चौथाई सदस्य उसके पक्ष में न हों। अस्तु, कहीं-कहीं पर विदेशी बैंकों का प्रभुत्व है। अतः, वह नये भारतीय बैंकों को उनका सदस्य नहीं बनने देते। इसके परिणामस्वरूप कलकत्ते में कुछ बैंकों ने एक नई संस्था बना ली है जिसे मेट्रोपॉलिटन बैङ्किंग एसोसियेशन कहते हैं। यह संस्था इनकी चेकों, इत्यादि के निकासी का प्रबन्ध करती है।

भारतीय निकासगृहों में भी निकासी का क्रम वही है जो अन्य स्थानों में है। प्रत्येक निकासगृहों के कुछ सदस्य हैं। इनके अतिरिक्त इनमें कुछ उप-सदस्य भी हैं। जो बैङ्क सदस्यता की शर्तें पूरी नहीं कर सकते वह उपसदस्य बनने की प्रार्थना करते हैं। यह प्रार्थना किसी सदस्य बैङ्क द्वारा भेजी जाती है। अस्तु, उपसदस्य बैङ्कों की ओर से यही सदस्य बैङ्क निकासी का काम करते हैं।

अन्य देशों के निकासगृह

अमेरिका के निकासगृह बहुत लाभदायक काम करते हैं। वे जमा करने वालों को दिया जाने वाला न्यूनतम व्याज निश्चित करते हैं। साथ ही में बैंकों को ऐसे प्रमाण-पत्र देते हैं जिनके आधार पर उन्हें ऋण प्राप्त हो सकता है इत्यादि, इत्यादि। यूरोप में भी प्रत्येक बड़े देश में निकासगृह स्थापित हैं। हाँ, इनमें उतना काम नहीं होता जितना इंगलैण्ड और वेल्स में होता है। बात यह है कि योरोप में चेकों और रेखाङ्कन का चलन उतना नहीं है जितना इंगलैण्ड और वेल्स में है।

प्रश्न

(१) निकासगृह की परिभाषा दीजिये और यह बताइये कि केन्द्रीय बैंक इस सम्बन्ध में क्या काम करते हैं? यह भी बताइये कि निकासगृहों में किस सिद्धान्त पर काम होता है?

(२) निकासगृह की कार्य-व्यवस्था संक्षेप में किन्तु स्पष्ट तौर पर समझाइये। अपने उत्तर के सम्बन्ध में एक उदाहरण ले लीजिये।

(३) निकासगृह के कौन-कौन से लाभ हैं? उनका वर्णन कीजिये।

(४) इंगलिस्तान की निकासी (Clearing) का वर्णन कीजिये। लन्दन में निकासी (Clearing) का जो प्रबन्ध है उसे विस्तृत रूप में बताइये।

(५) भारतवर्ष में निकासी (Clearing) का क्या प्रबन्ध है? उसका थोड़ा-सा विवरण दीजिये। क्या उसमें कुछ सुधार की आवश्यकता है?

अध्याय १२

भारतीय बैंकिंग

ऐतिहासिक दृष्टि

भारतवर्ष में आधुनिक बैंकिंग का प्रादुर्भाव तो अंग्रेजों के आने के साथ-साथ ही हुआ था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके पहिले हमारे यहाँ

बैंकिंग थी ही नहीं। ऋण देने के प्रमाण तो यहाँ पर वैदिक काल में ही ईसा से कम से कम दो हजार वर्ष पहले मिलते हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'ऋण' शब्द बार बार आया है। फिर, ऋण देने वाले महाजनों के नाम बौद्ध पुस्तकों (जातकों) में भी मिलते हैं जो विन्सेंट स्मिथ के अनुसार ईसा से पाँच-छै सौ वर्ष पहले से सम्बन्धित हैं। इसके बाद सरस्वती नगर के महाजनों ने फिरोजशाह को (१३५१-८८) बहुत काफी रकम उधार में दी थी जिसे उसने फौज के खर्च में लगाया था। इसी तरह से हमें साख-पत्रों का भी जिक्र मिलता है। भगवान कृष्ण के समय की एक कथा प्रसिद्ध है जिसमें जूनागढ़ के नरसिंह भगत ने द्वारिकापुरी के सेठ साँवल साह के ऊपर एक हुण्डी की थी। सम्भव है कि यह केवल कथा ही हो, क्योंकि बौद्ध पुस्तकों के और सूत्रों के समय तक हुण्डी का अन्य कहीं संकेत नहीं पाया जाता। किन्तु कुछ शहरों के बड़े-बड़े व्यापारी साख-पत्र (Letters of credit) तो अवश्य निकालते थे। इसके अलावा जमा का काम भी होता था—यहाँ तक कि ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी में मनु के समय तक यह काफी बढ़ गया था क्योंकि उसने अपनी स्मृति में जमा और गिरवीं पर एक पूरा अध्याय लिखा है। साथ ही मुद्राओं के विनिमय का काम भी बहुत पहले ही होने लगा था और मुगलकाल तक तो यह बहुत ही अधिक उन्नति कर चुका था। बात यह है कि उस जमाने में बहुत सी नई-नई मुद्रायें बनाई गई थीं, जिनमें से कुछ तो एक ही नाम की थीं, यद्यपि प्रत्येक का बाजारू दर भिन्न था। इन सबसे यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष के ऐतिहासिक काल में तो अवश्य ही यहाँ पर बैंकिंग की एक ऐसी सुदृढ प्रणाली चालू थी जो यहाँ की आवश्यकताओं के लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त थी। हाँ, यह पश्चिमी प्रणाली से अवश्य भिन्न थी।

आधुनिक बैंकों के प्रवेश के पहिले देशी बैंकों (Indigenous Bankers) का महत्व

आधुनिक बैंकों के प्रवेश के पहले यहाँ पर देशी बैंकों का बहुत महत्व था। उस समय के महाजनों के धनी-मानी होने से उनके व्यवसाय का लाभप्रद होना

तो स्वयं सिद्ध है। इसके अतिरिक्त पश्चिम के यहूदियों के विपरीत, जनता और सरकार दोनों ही उन्हें बहुत ही अच्छी दृष्टि से देखते थे। यहाँ तक कि औरङ्गजेब जैसा धर्मपरायण बादशाह भी उनका बड़ा सम्मान करता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने उस समय के सबसे प्रसिद्ध महाजन मानिकचन्द को 'सेठ' की उपाधि से विभूषित किया था। उसके बाद बादशाह फर्रुखसियर ने अपने समय के महाजन फतेहचन्द को जो सेठ मानिकचन्द का दत्तक पुत्र था 'जगत सेठ' की पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली उपाधि प्रदान की थी। फिर, इनका सम्बन्ध अंग्रेजों से भी बहुत अच्छा रहा। रेवेरेण्ड जे० लाङ्ग के लेख के अनुसार क्लाइव ने सन् १७५६ में उस समय के जगत सेठ की चार दिन की आवभगत में १७३४ रु० खर्च किये थे जिसका बदला उसने उसका बंगाल के नवाब के विरुद्ध साथ देकर दिया था। जहाँ तक इनकी व्यवसाय कुशलता का प्रश्न है उसके लिये हम सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री जे० बी० टेबरनियर का लेख देख सकते हैं। उसने लिखा है कि इटली के सब यहूदी जो द्रव्य और विनिमय के कामों में बहुत ही दक्ष हैं, भारतवर्ष के इन महाजनों के यहाँ काम सीखने वालों की भी मुश्किल से बराबरी कर सकते हैं।[1]

देशी बैंकों की अवनति

किन्तु इनका व्यवसाय और इनकी शक्ति धीरे-धीरे कम होने लगी— यहाँ तक कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक इनका महत्त्व बहुत ही घट गया था। इसके निम्न कारण थे :—

(१) अंग्रेजी व्यापारी इनकी लिखावट न समझ सकने के कारण इनका प्रयोग नहीं कर सके।

(२) इनका चलन भी नहीं बदला। ये अपने ही ढंग प्रयोग में लाते रहे और केवल कृषि, हाथ की कारीगरी तथा देशी व्यापार ही की सहायता करते रहे।

(३) यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बहुत दिनों तक यहाँ पर पश्चिमी

1 All the Jews who occupy themselves with money and exchange in the empire of the Grand Seigneur Pass for being very sharp; but in India they would scarcely be apprentices to these!

बैंकों को नहीं आने दिया किन्तु अन्त में वह आ ही गये और देशी महाजनों के व्यवसाय के कुछ अंगों में उनकी होड़ करने लगे और अन्त में उन्हें पछाड़ दिया।

(४) मुगल साम्राज्य की अवनति के बाद जो गड़बड़ी मची थी उसके कारण भी देशी महाजनों की बहुत हानि हुई। प्रायः उन लोगों की जो राशियाँ राजाओं, इत्यादि के यहाँ थी वह वसूल नहीं हो सकी।

(५) देशी महाजन स्वयं बेईमानी, इत्यादि करने लगे जिससे वह बदनाम हो गये और अन्त में उनका व्यवसाय गिर गया।

(६) सन् १८३५ के बाद ब्रिटिश भारतीय रुपया सारे देश में चल जाने के कारण उनका विनिमय का व्यवसाय भी बन्द हो गया जिससे उनकी बड़ी हानि हुई।

(७) रेल, वाष्पयान, डाक और तार इत्यादि खुल जाने के कारण व्यापारिक मार्ग और सम्बन्ध बदल गये जिससे भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों के लिये जगह छोड़नी पड़ी और वे अंग्रेजी बैंकों को अधिक काम देने लगे।

आधुनिक बैंकों की संस्थापना

जहाँ तक ज्ञात है सबसे पहिला आधुनिक बैंक मद्रास प्रान्त में खुला था, यद्यपि अधिकांश पुस्तकों में कलकत्ते की आढ़ती कोठियों के बैंकों (Calcutta Agency Houses) का नाम है। यह सरकारी बैंक था और इसका प्रबन्ध काउन्सिल के सदस्यों के हाथ में था। शायद यह सन् १६८८ में खुला था। फिर, सन् १७२४ में बम्बई सरकार ने बम्बई शहर में ऐसा ही एक बैंक खोला। इसके बाद मद्रास में कई निजू बैंक खुले और एक अन्य सरकारी बैंक भी खुला। पहले तो ये सब बैंक जमा प्राप्त करने और एकाउण्ट रखने के लिये खोले गये थे किन्तु बाद में इन्होंने अपने नोट भी चलाने प्रारम्भ कर दिये। बंगाल में सबसे पहले आधुनिक बैंक कलकत्ते की आढ़ती कोठियों द्वारा खोले गये। ये कलकत्ते की आढ़ती कोठियाँ व्यापारिक संस्थायें थीं और विशेषतः चाय और नील का काम करती थीं। बैंकिंग का तो इनका एक

अतिरिक्त व्यवसाय था। अलेक्जैण्डर एंड कम्पनी ने कुछ अन्य कम्पनियों के साथ मिलकर सन् १७७० में बैङ्क आफ हिन्दुस्तान खोला। बंगाल बैङ्क और जेनरल बैङ्क आफ इंडिया लगभग सन् १७८६ में खुले। इनमें से प्रथम तो किसी भी आढ़ती कोठी से सम्बन्धित नहीं था और १६ मार्च सन् १७८६ के कलकत्ता गजट के अनुसार उसे व्यापार करने की मनाही भी थी। जहाँ तक दूसरे बैङ्क का प्रश्न है, अभी तक यही ज्ञात है कि वह सारे ब्रिटिश साम्राज्य में सीमित दायित्व का सबसे पहिला बैङ्क था। वास्तव में इंगलिस्तान में यह सीमित दायित्व का सिद्धान्त बहुत देर में अर्थात् सन् १८५५ में लागू किया गया और वह भी बैङ्कों के लिये नहीं। बैङ्को के लिये तो यह वहाँ सन् १८५७ के संकट (Crisis) के बाद माना गया और तब भी नोट इससे अलग रक्खे गये। भारतवर्ष में इस सिद्धान्त को सन् १८६१ के भारतीय कम्पनी विधान में स्थान दिया गया।

जनरल बैंक आफ इंडिया उत्तरोत्तर वृद्धि करता गया। शीघ्र ही यह सरकार का बैंक बना दिया गया। वास्तव में इसका प्रबन्ध बहुत ही अच्छे हाथों में था और इसी से इसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों, विशेषकर बैंक आफ हिन्दुस्तान तथा बङ्गाल बैंक को पछाड़ दिया। किन्तु सन् १७८७ में अनेक बेसिर-पैर की बातें कही गईं और अनुचित-आलोचना की गई। फिर, सन् १७८८ के दुर्भिक्ष के बाद जब यह सरकार को ८ प्रतिशत के ब्याज के ऋण न दे सका तब सन् सन् १७८९ में इसका सरकार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। इस वर्ष के अन्त तक बारम्बार की माँग पूरी न कर सकने के कारण बङ्गाल बैंक भी बन्द हो गया। केवल बैंक आफ हिन्दुस्तान ही बच रहा। इसने न केवल सन् १७९१ के संकट का वरन् सन् १८१९ और सन १८२९ के संकटों का भी बड़ी सफलता से सामना किया। किंतु अंत में सन् १८३१ में अलेक्जैण्डर एवं कम्पनी के जिससे कि यह प्रारम्भ से ही सम्बन्धित था फेल होने पर यह भी फेल हो गया। आढ़ती कोठियों द्वारा खोले गये अन्य बैंकों का भी यही हाल हुआ। मैसर्स पामर ऐण्ड कम्पनी द्वारा खोला गया कलकत्ता बैंक तो सन् १८२९ में ही फेल हो चुका था। मेसर्स मैकिंटोश ऐण्ड कंपनी से सम्बन्धित कमर्शियल बैंक आफ कलकत्ता सन् १८३३ में भङ्ग हो गया। ये सब बैंक नोट भी निकालते थे;

अतः, इनके फेल होने से न केवल इनमें रु० जमा करने वालों को ही जिनमें बहुत-सी विधवायें और बहुत से पेन्शन पाने वाले भी थे वरन् नोट रखने वालों की भी बड़ी हानि हुई। यह सब यूरोपीय धन्धे थे। अतः, इनके फेल होने का दायित्व भारतीयों के सिर नहीं मढ़ा जा सकता।

प्रेसीडेन्सी बैंक

बैङ्क आफ बङ्गाल जो कि सर्वप्रथम प्रेसीडेन्सी बैंक था सन् १८०६ में कलकत्ता बैङ्क के नाम से स्थापित हुआ था; और उसे सन् १८०६ में बैङ्क आफ बङ्गाल के नाम से अधिकार-पत्र प्राप्त हुआ था। इसकी संस्थापना का मुख्य उद्देश्य कोई विशेष जोखिम और असुविधा उठाये बिना जनता की सेवा करना और आवश्यकता पड़ने पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार को आर्थिक सहायता देना था। इसका एक उद्देश्य मुद्रा की पूर्ति करना भी था। सन् १८२३ में इसे नोट चलाने की भी आज्ञा प्रदान कर दी गई और सन् १८३६ में इसे अपनी शाखायें खोलने और भारतीय विनिमय का काम करने की भी आज्ञा दे दी गई—विदेशी विनिमय का काम करने की आज्ञा इसे नहीं मिली। बङ्गाल की सरकार ने इसके कार्य रक्षा की सीमा के अन्दर रखने के उद्देश्य से इसके प्रबन्ध में भाग लेने के लिये इसकी पंचमांश पूँजी भी अपने पास से लगाई थी। अतः, बैङ्क का सेक्रेटरी प्रायः सिविल सरविस का सदस्य होता था और कुछ संचालकगण (Directors) भी सरकार चुनती थी।

बैङ्क आफ बम्बई और मद्रास भी क्रमशः सन् १८४० और १८४३ में संस्थापित हुए और इनकी पूँजी के भी कुछ हिस्से इनकी सरकारों ने बङ्गाल की सरकार की तरह ही लिये। ये भी नोट चलाते थे। तीनों प्रेसीडेन्सी बैङ्कों को सरकार का बैङ्किग व्यवसाय करने का एकाधिपत्य भी दिया गया था। किन्तु नोट चलाने का अधिकार इनसे सन् १८६१ में छीन लिया गया क्योंकि उस वर्ष स्वयं सरकार ने इसका एकाधिकार ले लिया। हाँ, नोट चलाने का अधिकार छीन लेने से इनकी जो क्षति हुई थी उसकी पूर्ति के लिये सरकार की नकदी प्रेसीडेन्सी शहरों में तथा अन्य स्थानों में जहाँ इनके दफ्तर और इनकी शाखायें थीं इनके पास इनसे कुछ ब्याज लिये बिना ही रक्खी जाने लगी।

सन् १८६८ में एक विशेष घटना घटित हो गई जिसके फलस्वरूप सरकार का प्रेसीडैन्सी बैङ्को से जो सम्बन्ध था उसमें एक बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। बात यह थी कि अमेरिका के घरेलू युद्ध के कारण रूई की कीमत बढ गई थी और उसमें सट्टेबाजी होने लगी थी। अतः, बैंक आफ बम्बई इसमें फँस गया जिससे उसकी बड़ी हानि हुई। इसके फलस्वरूप उसे भङ्ग कर दिया गया। किन्तु फौरन ही एक दूसरा बैंक उसी नाम से एक करोड़ रुपये की पूँजी से खोल दिया गया। पुराने बैंक की जमा की राशि तो सब दे दी गई, किन्तु हिस्सेदारों को लगभग कुछ नहीं मिला। अतः, सरकार ने इसके बाद बैंक आफ बङ्गाल और मद्रास के हिस्से भी बेच दिये और फिर वह किसी भी बैंक का न तो संचालक चुन सकती थी और न उसके कार्यों में भाग ले सकती थी। साथ ही बैंक आफ बम्बई के फेल होने के कारणों का पता लगाने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की गई और उसकी रिपोर्ट निकलने के बाद सन् १८७६ में एक प्रेसीडैन्सी बैंक विधान पास किया गया जिसके अनुसार इन बैंकों के कामों पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये। संक्षेप में ये निम्नाङ्कित थे—

(१) वे विदेशी विनिमय का काम नहीं कर सकते थे।

(२) उन्हें भारतवर्ष से बाहर उधार लेने और जमा प्राप्त करने की भी मनाही कर दी गई थी।

(३) वे छः महीनों से अधिक के लिए उधार नहीं दे सकते थे।

(४) उन्हें रेहन पर, अचल सम्पत्ति की प्रतिभूति पर, दो स्वतंत्र व्यक्तियों से कम द्वारा लिखे गये प्रण पत्रों पर और माल पर जब तक कि वह माल अथवा उसके सम्बन्धी अधिकार-पत्र उनके पास न रख दिये जायँ उधार देने की मनाही कर दी गई थी।

वे अब सरकार की नकदी का भी पूर्ण रूप से उपयोग नहीं कर सकते थे। बात यह थी कि प्रेसीडैन्सी शहरों में सरकार के स्वयं के सुरक्षित कोष (Reserve Treasuries) खुल गये और उन्हीं में उसकी अधिकांश नकदी रक्खी जाने लगी। प्रेसीडैन्सी बैंकों के पास सरकार की बहुत कम नकदी रहती थी।

यद्यपि ये बैंक जमा प्राप्त करते थे, देशी बिल डिस्काउण्ट करते थे और यहाँ के सरकारी ऋण का प्रबन्ध करते थे, तो भी यह विदित हो गया था कि ये केवल प्रेसीडेन्सी शहरों के लिए ही अथवा अधिक से अधिक थोड़े से बड़े-बड़े व्यापारिक शहरों के लिए ही उपयोगी थे, अन्य स्थानों के लिए नहीं। वास्तव में इनमें निम्न दोष थे—

(१) इनके बीच में किसी प्रकार का एकीकरण नहीं था। वास्तव में बैंक आफ बङ्गाल को सारे भारतवर्ष का बैंक बनाने की माँग ईस्ट इंडिया कंपनी के संचालक कोर्ट के सामने सन् १८३६ ही में रक्खी जा चुकी थी। फिर सन् १८६० और ७६ में भी यह माँग दोहराई गई। सन् १८६८ में भी फाउलर कमीशन के सामने कुछ लोगों ने एक केन्द्रीय बैंक की संस्थापना की माँग रक्खी। सन् १६१३ में चैम्बरलेन कमीशन ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक अनुभवी कमेटी की नियुक्ति का सुझाव पेश किया। प्रथम महायुद्ध के समय एक केन्द्रीय बैंक की अनुपस्थिति बहुत ही खली।

(२) इन्होंने केवल उन्हीं स्थानों में अपनी शाखायें खोली थीं जिनमें इन्हें लाभ मिलने की संभावना थी। जिस समय ये तीनों बैंक एक किये गये, उस समय सब मिलाकर इनकी केवल ५६ शाखायें थीं।

(३) देश के व्यापार को सहायता पहुँचाने के लिए इनके पास काफी धन राशि नहीं थी। इनकी सब की मिलाकर केवल ३¾ करोड़ रुपये की पूँजी थी, इनका सुरक्षित कोष केवल ३,७७,७६,००० रु० था और इनकी जमा राशि इनके एकीकरण के समय सन् १६२० में ८७,०४,५३००० रु० थी। सरकार की अधिकांश नकदी उसके कोष और उपकोष में फालतू पड़ी रहती थी।

(४) यहाँ के चालू नोटों के देश की व्यापारिक माँग के अनुसार घटने-बढ़ने के लिए कोई प्रबन्ध नहीं था, अतः, उसे ब्याज और डिस्काउण्ट की दरों में बहुत कमी-बेशी होती रहती थी। सरकार का नियन्त्रण तो करन्सी पर था और साख पर जो कुछ नियन्त्रण था वह प्रेसीडैन्सी बैंकों का था। अतः, इनमें कोई सम्बन्ध नहीं था।

(५) ऊपर जो पहले दो बन्धन दिये हुये हैं वह केवल जोखिम से बचाने के लिये थे। किन्तु विनिमय दर स्थिर हो जाने पर भी जब विनिमय

के काम में कोई जोखिम नहीं रह गई तब भी यह बन्धन चलते रहे। तीनों बैंकों ने लन्दन और भारतवर्ष में उधार लेने और विदेशी विनिमय में काम करने की एक संयुक्त माँग सरकार से सन् १८७७ में पेश की थी। सन् १८६६ में बैंकों की माँग पर विचार करने के लिए एक सभा भी हुई थी; किंतु जनता के इनके पक्ष में रहने पर भी सरकार ने कुछ भी नहीं किया। लन्दन में उधार लेने का प्रश्न तो बराबर अच्छी तरह से विचार किये बिना ही अस्वीकृत कर दिया जाता था।

(६) ये न तो बैंको के बैंक ही थे और न अन्य किसी जगह से उधार मिलने पर उधार देने का ही दायित्व स्वीकार करते थे। सच तो यह है कि यह इतने मजबूत ही नहीं थे कि उपर्युक्त कार्य कर सकते। जो हो, इन्होंने तो उतना भी नहीं किया जितना ये कर सकते थे।

स्वतन्त्र व्यापारिक बैंक

आढ़ती कोठियों द्वारा स्थापित किये गये बैंकों के सन् १८३३ में फेल हो जाने के बाद, यहाँ पर स्वतंत्र व्यापारिक बैंक खुले। सन् १८६० तक ये अपरिमित दायित्व के सिद्धान्त पर रहे। इस बीच में सी० एच० कुक के अनुसार यहाँ पर लगभग १२ बैंक खुले और उनमें से लगभग आधे फेल भी हो गये। बात यह थी कि जब तक आढ़ती कोठियाँ थी तब तक तो वे सरकारी कर्मचारियों के लिए बैंकिंग का काम करती थीं। किन्तु सन् १८२९-३२ के संकट काल के समय इनके फेल हो जाने के बाद बड़ी कठिनाई पड़ी। अतः, यह कठिनाई दूर करने के लिए शीघ्र ही आगरा ऐण्ड युनाइटेड सर्विस बैंक तथा गवर्नमेंट सेविंग्स बैंक, कलकत्ता खुले। फिर, आगरा, सेविंग्स बैंक और अनकवेनैंटेड सर्विस बैंक स्थापित किए गये। किन्तु यह बैंक भी दीर्घ काल तक नहीं चल सके। इनके फेल हो जाने के कारणों में सट्टेबाजी और जालसाजी मुख्य थे। बात यह थी कि उस समय एकाउण्ट का निरीक्षण ठीक नहीं था। अच्छे बैंकिंग के लिये अच्छा एकाउण्ट निरीक्षण बहुत ही आवश्यक है। किन्तु इस काल के कुछ बैंकों ने बड़ा अच्छा काम किया।

सन् १८६० भारतीय बैंकिंग के लिये विशेष महत्व का था। उस वर्ष यहाँ पर बैंकों को सर्वप्रथम सीमित दायित्व के सिद्धान्त की सुविधा दी गई। अतः, इसके फलस्वरूप और अमेरिका के घरेलू युद्ध के कारण वहाँ से रुई का निर्यात रुक जाने से भारतीय रुई की जो कीमत बढ़ गई थी उससे यहाँ पर जो धन-वृद्धि हो गई उसके फलस्वरूप यहाँ पर विशेषतः सन् १८६४-६५ में लगभग २५ बैंक खुले; किन्तु ये सब बहुत शीघ्र ही काल-कवलित हो गये। सत्य तो यह है कि जिस सट्टे के कारण ये उत्पन्न हुये थे उसकी समाप्ति पर ही यह भी समाप्त हो गये। हाँ, बैंक आफ अपर इण्डिया जो सन् १८६४ में खुला था अवश्य सन् १९१४ तक चला।

सन् १८६५-१९०५ का समय विश्राम का समय था। इन चालीस वर्षों में बहुत कम बैंक खुले। किन्तु जो खुले उनमें से कुछ ने तो बड़ा काम किया। इलाहाबाद बैंक जो सन् १८६५ में खुला था, आज तक है और पाँच बड़े बैंकों में से एक है। अलायन्स बैंक आफ शिमला १८७४ में खुला था। यह बहुत ही सफल रहा और सन् १९२३ में जब फेल हुआ तब केवल अपने अभाग्य ही के कारण फेल हुआ। अवध कमर्शियल बैंक सन् १८८१ में रजिस्टर्ड हुआ था। इसका प्रधान आफिस फैजाबाद में है। यह रिजर्व बैंक का सदस्य बैंक (Scheduled Bank) है। पंजाब नेशनल बैंक सन् १८९४ में खुला और इस समय यहाँ के पाँच बड़े बैंकों में से एक है। पापुल्स बैंक सन् १९०१ में खुला और सन् १९१३ में बन्द हो गया। इसका एक मात्र उद्देश्य औद्योगिक संस्थायें खोलना और चलाना था। किन्तु जिन परिस्थितियों में इसने यह काम अपने ऊपर लिया था वह संतोषजनक न थीं। उद्योग-धन्धे या तो थे ही नहीं या अधूरी हालत में थे। अतः, इसके प्रबन्ध संचालक ने स्वयं ही कई काम खोले और उनका प्रबंध किया जिसका फल वही हुआ जो बैंकिंग और व्यापार सम्मिलित करने का होता है। ऐसी हालत में बैंकिंग के सिद्धान्त नहीं निभ पाते।

सन् १८६५ में जो बैंक फेल हुये थे उससे बैंक संस्थापकों की हिम्मत टूट गई थी। जो बैंक फेल हुये थे वे भारतीय और यूरोपीय दोनों के प्रबन्ध में थे। हम जानते हैं कि बैंक आफ बम्बई जैसा मजबूत बैंक भी अपमानित हो चुका

था और प्रधानतः सन् १८६५ से सट्टे के कारण जो संकट पैदा हो गया था उसी के फलस्वरूप सन् १८६८ में भङ्ग किया जा चुका था। किन्तु उपर्युक्त विश्राम का एक अन्य कारण भी था जिससे स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। हमें ज्ञात है कि चाँदी का मूल्य सोने में सन् १८७१-७२ के बाद गिरने लगा था। अतः, भारतवर्ष के उस समय रजतमान पर होने के कारण, चाँदी के मूल्य में जो भी कमी होती थी उसका प्रभाव रुपये के विनिमय दर पर पड़ता था। इससे देश के विदेशी व्यापार में अनिश्चितता आ गई और उससे उद्योग-धन्धों पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। यह स्थिति सन् १८९३ तक रही। करन्सी की कठिनाइयों ने बैंकिंग पर दोहरा प्रभाव डाला। एक तो लोगों का ध्यान बैंकिंग की स्थापना की ओर से हटकर द्रव्य की इकाई स्थिर करने की ओर लग गया, और दूसरे व्यापार की अनिश्चितता से ऐसी परिस्थितियाँ और ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया जो बैंकों की स्थापना के विरुद्ध था।

इसके बाद के काल में सन् १९०६-१३ का विदेशी आन्दोलन चला जिसके फलस्वरूप इस बीच में ९८ बैंक संस्थापित किये गये। इनमें से बहुत-से बहुत छोटे थे और सन् १९१३-१६ में फेल हो गये। किन्तु आजकल के बहुत से महत्वशाली बैंक भी इसी समय चालू हुए थे। इस समय के पाँच बड़े बैंकों में से दो तो जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है इसके पहिले के काल में संस्थापित हो चुके थे। अन्य तीन इसी काल में खुले थे। बैङ्क आफ इन्डिया सन् १९०६ में रजिस्टर्ड हुआ था, बैङ्क आफ बरौदा सन् १९०९ में, और सेन्ट्रल बैङ्क आफ इन्डिया सन् १९११ में रजिस्टर्ड हुये थे। अन्य बैङ्कों में से जो इस समय संस्थापित हुए थे और आज तक चल रहे हैं, ये मुख्य हैं:—इन्डियन बैङ्क (१९०७), पंजाब ऐन्ड सिन्ध बैङ्क (१९०८) और बैङ्क आफ मैसूर (१९१३)। ये सभी रिजर्व बैङ्क के सदस्य बैङ्क (Scheduled Bank) हैं।

प्रथम युद्ध और युद्धोत्तर की तेजी ने बैङ्किंग को एक और प्रोत्साहन दिया। सबसे पहिले टाटा इंडस्ट्रियल बैङ्क सन् १९१८ में खुला। इसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल प्रतीत होता था। किन्तु दीर्घकालीन और साधारण बैङ्किंग के काम साथ-साथ करने के कारण और अधिकांश यूरोपीय कर्मचारियों की निरन्दे

हाथ में इसका काम था, अनभिज्ञता तथा उसी से उत्पन्न साधारण जनता और भारतीय कर्मचारियों की उदासीनता के फलस्वरूप यह फेल हो गया और सन् १६२३ में सेन्ट्रल बैङ्क आफ इन्डिया के साथ मिला दिया गया। फिर, इन्डस्ट्रियल बैङ्क आफ वेस्टर्न इन्डिया, कारनानी इन्डस्ट्रियल बैङ्क, यूनियन बैङ्क आफ इन्डिया तथा अन्य कई बैङ्क जो आज तक चालू हैं और रिजर्व बैङ्क के सदस्य बैङ्क हैं इसी समय खुले। किन्तु बहुत से अन्य बैङ्क भी इसी अवधि के बीच में खुले जो केवल फेल होने वाले बैङ्कों की संख्या बढ़ाने के लिये ही थे। यद्यपि सन् १६१३-१६ के सकट की उग्रता कम हो गई तो भी सन् १६१६-२५ में भी बैङ्क फेल होते रहे। सब मिला कर इस अवधि में ५.१ करोड़ रु० की पूँजी के ८४ बैङ्क फेल हुए जिनमें अलायन्स और टाटा जैसे सुदृढ़ बैङ्क भी थे।

इसके बाद के काल में भी बहुत से छोटे और बड़े बैङ्क संस्थापित हुये। किन्तु द्वितीय युद्ध काल अर्थात् सन् १६४०-४५ के बीच में इनमें विशेष तौर पर उन्नति हुई। इसके मुख्य कारण निम्नांकित थे।—युद्ध की परिस्थितियाँ सुधर जाने के कारण विश्वास की मात्रा बढ़ जाना, युद्ध सम्बन्धी परिस्थितियों के कारण आर्थिक लेन-देनों की वृद्धि और सरकार द्वारा मित्र राष्ट्रों की तरफ से क्रय करने के कारण करन्सी के परिमाण में अत्यधिक वृद्धि पाँच लाख और उससे अधिक की पूँजी और सुरक्षित कोष वाले सम्मिलित पूँजी के बैङ्कों की संख्या सन् १६२६ के २८ से बढ़कर सन् १६४० में ५८ (४१ सदस्य बैङ्क और १७ साधारण बैङ्क) और सन् १६४६ में १०० सदस्य बैङ्क हो गये थे। इसी तरह से एक लाख और पाँच लाख के बीच वाले बैङ्कों की संख्या सन् १६०६ में ४७, सन् १६४० में १२० और सन् १६४५ में १७४ थी। हाँ, पचास हजार और एक लाख के बीच वाले बैङ्क सन् १६४० और सन् १६४५ में क्रमशः १२१ और ११४ थे और पचास हजार से नीचे वाले बैङ्क इन्हीं वर्षों में क्रमशः ३३२ और २४४ थे। छोटी पूँजी वाले बैङ्क अब कम खुलते हैं। विशेषतः पचास हजार से कम पूँजी वाले बैङ्कों का खुलना तो सन् १६३६ से विधान द्वारा ही बन्द कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त जो ऐसे बैङ्क हैं भी, उन्हें अपने सुरक्षित कोष बढ़ाकर अपनी पूँजी बढ़ाने के लिये बाध्य किया जा रहा है।

इन वर्षों में बैंक फेल भी काफी हुये। सन् १९३१ में जिस वर्ष सबसे कम बैंक फेल हुये थे यह संख्या १८ थी और सन् १९४० में जिस वर्ष सबसे अधिक बैंक फेल हुये थे यह संख्या १०२ थी। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सन् १९३६ के पहिले जब भारतीय कम्पनी विधान में 'बैंक' शब्द की परिभाषा थी ही नहीं यहाँ पर बैंक फेल होने का कोई विशेष अर्थ नहीं था। बात यह थी कि उस समय तक कोई भी संस्था चाहे वह बैंकिंग का काम करती रही हो अथवा नहीं अपने को बैंक कह सकती थी। अतः, ऐसी संस्थाओं के फेल होने से यही समझा जाता था कि बैंक ही फेल हुये हैं, किन्तु वास्तव में यह बात न थी। फिर, प्रायः थोड़े ही दिनों के खुले हुये और थोड़ी ही पूंजी वाले बैंक ही अधिक फेल होते थे। हाँ, बैंक आफ अपर इन्डिया, अलायन्स बैंक आफ शिमला, पीपुल्स बैंक और टाटा इन्डस्ट्रियल बैंक का फेल होना अवश्य कुछ अर्थ रखता था। किन्तु सन् १९३६ से तो बैंकों के फेल होने के विशेष अर्थ हैं यद्यपि इधर भी प्रायः कमजोर बैंक ही फेल हुये हैं। हाँ, कुछ बड़े बड़े बैंक भी फेल हुये हैं। जैसे शिवराम अय्यर बैंक, मद्रास, बङ्गाल नेशनल बैंक; ट्रावनकोर नेशनल ऐन्ड क्विलन बैंक; बनारस बैंक; और ज्वाला बैंक। इनका फेल होना बहुत ही शोक की बात है। और विशेषतः इसलिए कि यह सदस्य बैंक थे।

इम्पीरियल बैंक

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि सारे देश के लिए एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता तो सन् १८३६ से ही प्रतीत होने लगी थी। अतः, सन् १९२० में उस वर्ष के इम्पीरियल बैंक विधान द्वारा तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों का एकीकरण करके एक इम्पीरियल बैंक बनाया गया। इसकी प्राप्त पूंजी ५·६२ करोड़ रु० रक्खी गई और इसे जनता के हित में काम करने के लिए कहा गया। यही कारण था कि इसके केन्द्रीय मंडल के १६ शासकों में से १० की नियुक्ति सपरिषद् गवर्नर-जनरल के हाथ में रक्खी गई।

जिन बातों का सम्बन्ध सरकार की आर्थिक नीति अथवा उसका इसके पास जो नकद कोष रहता था उसकी रक्षा से होता था उनमें सरकार इसे कोई भी

आदेश दे सकती थी। वह इसके कामों, कागजातों, पाउने और देने की सूची के सम्बन्ध में इससे किसी प्रकार की पूछ-ताछ भी कर सकती थी। वह इसके हिसाब की जाँच-पड़ताल करने और उस पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए अपने निरीक्षक (Auditors) भी नियुक्त कर सकती थी। अन्तिम, नए स्थानीय दफ्तर और मंडल खोलने के पहले बैंक को उसकी स्वीकृति प्राप्त कर लेना भी आवश्यक था।

इस बैंक और भारत सचिव के बीच में एक समझौता भी हुआ था जिसमें यह तै पाया था कि बैंक सरकार के सब बैंकिंग के कार्य करेगा और उसके ऋण की भी व्यवस्था करेगा। साथ ही यह भी कि यह अपनी संस्थापना के पाँच वर्षों के अन्दर अपनी सौ नई शाखायें खोलेगा जिनमें से कम से कम पच्चीस का स्थान स्वयं सरकार निश्चित करेगी। इनके बदले में जहाँ-जहाँ इसकी शाखायें थीं वहाँ-वहाँ इसे सरकार का नकद कोष अपने पास रखने का अधिकार दिया गया था और यह अपना कोष करन्सी द्वारा जहाँ चाहे वहाँ कुछ प्रतिफल दिए बिना ही भेज सकता था। इसके अतिरिक्त जिन दो स्थानों में इसकी शाखायें थीं उनके बीच में सरकार ने करन्सी ट्रान्सफर (Currency Transfer) और सप्लाई बिल (Supply Bills) न निकालने का वचन दिया था। हाँ, इसके लिए इसने करन्सी संचालक से स्वीकृत कमीशन पर जनता को एक जगह से दूसरी जगह द्रव्य भेजने की सुविधा देना स्वीकार किया था।

फिर, विधान ने यह भी निर्धारित कर दिया था कि यह बैंक बैंकिंग के कौन-कौन से काम नहीं कर सकेगा। इसके अलावा इसे अच्छी ऋतु में द्रव्य बाजार की सहायता करने की क्षमता प्रदान करने के लिए सरकार के कागजी मुद्रा विभाग को इसे देशी बिलों और हुंडियों की प्रतिभूति पर १२ करोड़ रु० तक की अतिरिक्त करन्सी पहले चार करोड़ तक तो ६ प्रतिशत ब्याज पर और शेष आठ करोड़ ७ प्रतिशत ब्याज पर, उधार रूप में दे देने का अधिकार दे दिया गया था।

किन्तु देश में एक सर्वांगी केन्द्रीय बैंक संस्थापित करने की माँग बराबर होती रही और अन्त में हिल्टन यङ्ग कमीशन ने इस बैंक से पृथक एक केन्द्रीय

बैंक स्थापित करने की बहुत ही स्पष्ट शब्दों में सिफारिश की। अतः, सन् १६३५ में जो रिजर्व बैंक खोला गया वह उसी सिफारिश के फलस्वरूप था।

रिजर्व बैंक खुलने के बाद भी इस बैंक का महत्व कम नहीं हुआ। जिन स्थानों में रिजर्व बैंक के बैंकिंग विभाग का कोई कार्यालय नहीं था और इसका कार्यालय था उन स्थानों में यह उसके अढ़तिया का काम करता रहा। कार्यालयों की संख्या की दृष्टि से, पूंजी की दृष्टि से, सुरक्षित कोष की दृष्टि से, जमा की दृष्टि से और प्रत्येक दृष्टि से यह देश के बड़े से बड़े बैंकों से भी यहाँ तक कि स्वयम् प्रमुख बैंक से भी बड़ा था।

किन्तु रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के साथ साथ इसके राष्ट्रीयकरण के लिये भी आवाज उठी और जुलाई १६५५ से यह स्टेट बैंक हो गया।

विदेशी बैंक

इस देश में जो बैंक खुले उनके अलावा कुछ विदेशी बैंक भी जिनके प्रधान कार्यालय यहाँ से बाहर हैं अपनी शाखाओं द्वारा यहाँ पर काम करते आ रहे हैं। पहले तो सन् १८५३ तक ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने आढ़ती कोठियो की सहायता से ओरियन्टल बैंकिंग कारपोरेशन को छोड़ कर जो यहाँ पर सन् १८४२ में खोला गया था अन्य विदेशी बैंकों को यहाँ पर नहीं खुलने दिया। इसका एक मात्र कारण यह था कि वह यह नहीं चाहती थी कि उसके अलावा अन्य कोई संस्था भारतवर्ष के किसी भी व्यवसाय से लाभ उठा सके। वह यह कहती थी कि तृतीय जार्ज के शासन काल में जो ४७वाँ विधान पास हुआ था उसने उसे ऐसे बैंकों को संस्थापित करने का अधिकार दिया था और उससे उन्हें अधिकार पत्र देने का जो राजकीय अधिकार था वह समाप्त हो चुका था। किन्तु सन् १८५३ तक यह निश्चित हो गया कि उपर्युक्त विधान ने उसे अपने राज्य में बैंक संस्थापित करने का अधिकार तो दिया था किन्तु उससे भारतवर्ष में बैंको को व्यवसाय करने का अधिकार-पत्र देने का राजकीय अधिकार समाप्त नहीं हुआ था। अतः, उक्त वर्ष, चार्टर्ड बैंक आफ इन्डिया, आस्ट्रेलिया ऐण्ड चाइना और चार्टर्ड बैंक आफ एशिया (जो बाद में मर्कैन्टाइल बैंक आफ इन्डिया, लन्दन और चाइना हो गया) राजकीय अधिकार पत्र द्वारा खोले गये। उपर्युक्त बैंक

में से ओरियन्टल बैंक तो सन् १८८४ में फेल हो गया और मर्कैन्टाइल बैंक को सन् १८९३ में अपना अधिकार-पत्र छोड़ कर अपने को फिर से संगठित करना पड़ा। अतः, इनमें से केवल चार्टर्ड बैंक आफ इन्डिया, आस्ट्रेलिया और चाइना ही रह गया। सन् १८६३ में कलकत्ता बैंकिंग कारपोरेशन खुला जिसका प्रधान कार्यालय कलकत्ते में था। किन्तु दूसरे ही वर्ष इसने अपना नाम बदल कर नेशनल बैंक आफ इण्डिया कर लिया और फिर दो वर्ष बाद इसका प्रधान कार्यालय लन्दन चला गया। अन्य जो अँग्रेजी और विदेशी बैंक यहाँ पर काम कर रहे हैं उनमें से कम्पटोइर नेशनल डी एस्काम्पेट डी पेरिस सन् १८६२ में खुला, निदरलैंड्स इन्डिया कमर्शियल बैंक सन् १८६३ में, हांग-कांग ऐन्ड शांघाई बैङ्किङ्ग कारपोरेशन सन् १८६४ में, योकोहामा स्पेशी बैङ्क सन १८६४ में और ईस्टर्न बैङ्क सन् १९१० में खुले। आजकल इनकी संख्या १५ है।

सहकारी और भूमि-बन्धक बैंक

उपर्युक्त के अलावा हमारे यहाँ सरकारी और भूमि-बन्धक बैङ्क भी हैं। भारतवर्ष में सहकारी आन्दोलन सन् १९०४ से चल रहा है। उस वर्ष यहाँ पर पहला सहकारी विधान बना था। फिर, सन् १९१२ में दूसरा सहकारी विधान बना। यह दूसरा विधान पहले विधान की बुराइयाँ दूर करने के लिये बना था। सहकारी बैङ्क भारतीय कृषकों को ऋण की सुविधा देने के लिये स्थापित किये जाते हैं। यह जमा प्राप्त करते हैं और ऋण भी लेते हैं। अतः, इनकी यह पूंजी इनके सदस्यों को उनकी आवश्यकता और योग्यता के अनुसार ऋण देने के काम में आती है। जिन सहकारी बैङ्कों की पूंजी और सुरक्षित कोष मिलाकर पाँच लाख रु० अथवा उससे अधिक है उनकी संख्या सन् १९२५ में ८, सन् १९४५ में ५० और सन् १९४६ में ६२ थी और एक लाख तथा पाँच लाख के बीच वाले बैङ्कों की संख्या इन्हीं वर्षों में क्रमशः ९०,२२३ और २६५ थी। इनके अलावा सन् १९४६ में छोटी-छोटी सहकारी संस्थाओं की संख्या १½ लाख के लगभग थी। भूमि-बन्धक समितियों और बैङ्कों की संख्या १९४६ में क्रमशः २६२ और ५ थी।

डाकखानों के सेविंग्स बैंक

प्रस्तुत वर्णन पूरा करने के लिये डाकखानों के सेविंग्स बैंकों का वर्णन करना भी बहुत आवश्यक है। अन्य देशों की तरह भारतवर्ष में स्वतन्त्र सेविंग्स बैङ्क नहीं हैं। किन्तु इम्पीरियल बैङ्क आफ इंडिया ने तथा अन्य बैंकों ने अपने यहाँ सेविंग्स विभाग खोल रक्खा है। पहले-पहले सरकार ने सेविंग्स बैङ्क प्रेसीडेन्सी शहरों में खोले। फिर, यह जिलों में खोले गये। किन्तु सन् १८८२ में डाकखानों के सेविंग्स बैङ्क खुले और धीरे-धीरे उपर्युक्त बैङ्क उन्हीं में सम्मिलित हो गये। वस्तुतः, डाक विभाग चार तरह से बचत और विनियोग (Investment) प्रोत्साहित करता है—(अ) अपने सेविंग्स विभाग में जमा प्राप्त करके, (ब) नेशनल सेविङ्गस सर्टीफिकेट निकाल करके, (स) जनता की ओर से सरकारी साखपत्रों का निःशुल्क क्रय और विक्रय करके और (द) सरकारी और विश्वविद्यालयों के कर्मचारियों का जीवन बीमा करके। लड़ाई के समय में १० वर्षीय डिफेन्सी सेविंग्स सर्टीफिकेट और बाद में बारह वर्षीय नेशनल सेविंग्स सर्टीफिकेट और पोस्ट आफिस डिफेन्स बैङ्क एकाउण्ट प्रारम्भ किये गये थे। डिफेन्स सेविङ्ग सर्टीफिकेट और पोस्ट आफिस डिफेन्स सेविंग्स बैङ्क एकाउण्ट लड़ाई के बाद बन्द कर दिये गये। जून १९४८ से पञ्चवर्षीय तथा सप्तवर्षीय नेशनल सेविंग्स सर्टीफिकेट भी चालू कर दिये गये हैं।

लोन आफिस, निधि और चिट फण्ड

उपर्युक्त संस्थायें तो सभी जगह हैं। किन्तु कुछ ऐसी संस्थायें भी हैं जो केवल कुछ ही स्थानों में हैं, जैसे बङ्गाल के लोन आफिस और मद्रास के निधि और चिट फण्ड। बङ्गाल के लोन आफिस तो पहले भूमि बन्धक बैंकों के स्थान पर ही खोले गये थे। वे जमा प्राप्त करते हैं। उनका मुख्य व्यवसाय भूमि तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं की प्रतिभूति पर जमींदारों और कृषकों को ऋण देना है। ये वैयक्तिक प्रतिभूति पर भी ऋण देते हैं। कुछ व्यापार और अपनी उद्योग-धन्धों और विशेष कर चाय के धन्धों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। कुछ ऋण देने के साथ-साथ व्यापार भी करते हैं। निधि पहले-पहले मद्रास में चालू हुई थी। ये पारस्परिक ऋण देने वाली संस्थायें हैं। किन्तु

अब इन्होंने आधुनिक बैंकों के कुछ कार्य करने प्रारम्भ कर दिये हैं और जमा प्राप्त करने तथा गैरसदस्यों को उधार भी देने लग गई हैं। चिट फण्ड भी कुछ लोगों की एक ढीली-ढाली समिति है जो मितव्ययता फैलाने में बड़ी सहायक है। इसके सदस्य कुछ किश्त इसके संस्थापक के पास बराबर जमा करते जाते हैं और वह पहली किश्त की पूरी राशि तो स्वयं अपने परिश्रम के लिये ले लेता है और शेष किश्तें एक-एक करके सब सदस्यों को बारी-बारी से दे देता है।

प्रश्न

(१) इस देश की बैंकिंग की क्रमिक उन्नति का इतिहास लिखिये और मध्यकाल में उसकी जो अवस्था थी उसका दिग्दर्शन कराइये। बाद में इसकी अवनति के क्या कारण थे ?

(२) इस देश के आधुनिक काल के बैंकों की प्रथम संस्थापना के विषय में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। उनके फेल होने के क्या मुख्य कारण थे ?

(३) प्रेसीडेन्सी बैंकों का एक संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण दीजिये और यह बताइये कि वह कौन-कौन से काम नहीं कर सकते थे ? उनमें कौन-सी कमी थी ?

(४) सन् १८३३ से अब तक आधुनिक बैंकों की जो संस्थापना हुई है और जो फेल हुये हैं उसका एक संक्षिप्त विवरण दीजिये और हर काल की विशेषतायें बताइये। सन् १८६५ और १९०५ के बीच में जो बहुत कम बैंक स्थापित हुये थे उसके कारण बताइये।

(५) इम्पीरियल बैंक की संस्थापना और सन् १९५५ तक उसकी कार्य-प्रणाली पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और यह भी बताइये कि उसे कौन-कौन से विशेष अधिकार मिले थे और उसके क्या दायित्व थे।

(६) भारतवर्ष में विदेशी बैंकों की संस्थापन और उन्नति का एक संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण दीजिये।

(७) निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—कलकत्ते की आढ़ती कोठियाँ (Calcutta Agency Houses), सहकारी और भूमिबन्धक बैंक, डाकखानों के सेविंग्स बैंक, बङ्गाल के लोन आफिस, मद्रास के निधि और चिट फण्ड।

अध्याय १३

बैंकिंग की देशी प्रणाली

(Indigenous System of Banking)

भारतवर्ष का बैंकिंग के ऐतिहासिक विवरण का अध्ययन करने के उपरान्त अब हम उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का अध्ययन करेंगे। प्रथम तो इनका एक पचमेल समूह है जिसमें अनेक प्रकार के ग्रामीण और शहरी महाजन तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य और साख का काम करनेवाले अनेक लोग सम्मिलित हैं। इनके बहुत से नाम हैं जैसे बनिया, महाजन, साहूकार, शर्राफ और कोठीवाल तथा यह सारे देश में फैले हुये हैं। इनके सम्बन्ध के किसी प्रकार के अङ्क तो प्राप्त नहीं हैं, किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनकी संख्या ३ और ४ लाख के बीच में होगी। ये सभी जाति के हैं और विशेषतः अग्रवाल, जैन, मारवाड़ी, चट्टी, खत्री, अरोड़ा, मुल्तानी और बोहरा जाति के हैं। मुसल्मानों में काबुली और पठान हैं।

देशी बैंकिंग और देशी बैंकर के अर्थ

अंग्रेजी के इण्डीजेनस (Indigenous) शब्द के अर्थ देश में ही उत्पन्न अथवा देश में ही प्राकृतिक रूप से जनित होने के कारण इण्डीजेनस बैंकिंग द्रव्य के लेन-देन की वह प्रणाली है जो इसी देश में विकसित हुई है और इंडीजेनस बैंकर वह हैं जो उस प्रणाली के अनुसार बैंकिंग का व्यवसाय करते हैं। वास्तव में यह विदेशी प्रणाली और उसके अनुसार व्यवसाय करने वालों से जो क्रमशः आधुनिक बैंकिंग तथा आधुनिक बैंकर कहे जाते हैं, बिल्कुल भिन्न है। इसके यह अर्थ हैं कि यदि इसी देश के निवासी विदेशी प्रणाली के

अनुसार बैंकिंग का व्यवसाय करते हैं तो भी वह इंडीजेनस बैंकर नहीं कहे जा सकते। अस्तु, ऐसा हम उन्हीं को कहेंगे जो विशुद्ध भारतीय ढङ्ग के अनुसार बैंकिंग का व्यवसाय करते हैं और इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इसके अन्तर्गत उधार देने और बैंकिंग के काम में कोई भेद नहीं समझा जाता। किन्तु बैंकिंग के विषय में अनुसन्धान करने वाली अनेक प्रान्तीय कमेटियों (Provincial Banking Enquiry Committees) के इस बात के कह देने के बाद भी आधुनिक काल के बहुत से भारतीय लेखकों ने इनमें विभेद उत्पन्न करने के प्रयत्न किये हैं। अतः, फल वही हुआ जो होना चाहिये था, अर्थात् वे इसमें सफल नहीं हो सके। वस्तुतः, इन्होंने एक गड़बड़ी पैदा कर दी है। उदाहरणार्थ वह कहते हैं कि उधार देने वाले और इंडीजेनस बैङ्कर का बड़ा भेद है। उधार देने वाला अपना द्रव्य उधार देता है, जमा नहीं प्राप्त करता। उधार उत्पत्ति और उपभोग दोनों के लिये देता है......। साथ ही वह खेती, माल ढोने और दूसरे प्रकार का काम भी उधार देने के काम के साथ-साथ ही करता है। किन्तु सबसे विशेष भेद तो यह है कि उधार देने वाला प्रायः उपभोग के लिये ही अधिक उधार देता है और इंडीजेनस बैङ्कर प्रायः उत्पत्ति के लिये ही अधिक उधार देता है। इंडीजेनस बैङ्कर अपने और उधार लिये हुये द्रव्य से व्यवसाय करता है, जमा प्राप्त करता है, व्यापार और उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता पहुँचाता है, केवल बैंकिंग का ही व्यवसाय करता है और हुंडियों में भी लेन-देन करता है। फिर, इंडीजेनस बैंकर और आधुनिक काल के सम्मिलित पूँजी वाले बैङ्कों के बीच में भेद बताते हुए वही यह कहते हैं कि सब इंडीजेनस बैङ्कर जमा नहीं प्राप्त करते और आधुनिक काल के बैङ्क जमा प्राप्त करके द्रव्य का संग्रह करते हैं। आधुनिक काल के बैङ्कों से बिल्कुल विपरीत, इंडीजेनस बैङ्कर केवल बैंकिंग ही का व्यवसाय नहीं करते वरन् उसके साथ ही प्रायः अन्य व्यवसाय भी करते हैं। इसके अतिरिक्त वे आधुनिक काल के बैंकों की तरह केवल उत्पत्ति के लिये ही उधार नहीं देते। इस सबसे यह स्पष्ट है कि वह कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ। एक स्थान पर तो ऐसा मालूम होता है कि वह यह कहते हैं कि इंडीजेनस बैंकर जमा प्राप्त करते हैं, अधिकांश में उत्पत्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं की

पूर्ति करते और केवल बैङ्किंग का ही व्यवसाय करते हैं और दूसरे स्थान पर ऐसा मालूम होता है कि वह यह कहते हैं कि इंडीजेनस बैङ्कर जमा नहीं प्राप्त करते, केवल उत्पादन को ही नहीं सहायता देते और केवल बैङ्किंग का ही व्यवसाय नहीं करते। अतः, उनसे यह पूछा जा सकता है कि उधार देने वाले और इंडीजेनस बैङ्करों में वे जो भेद बतलाते हैं वह वस्तुतः कहाँ तक सही है। बैङ्किंग के विषय में अनुसन्धान करने वाली केन्द्रीय समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा है कि हम जानते हैं कि कुछ उधार देने वाले जमा प्राप्त करते हैं और साथ ही कुछ बैङ्किंग का व्यवसाय करने वाले ऐसे लोग हैं जो जमा तो नहीं प्राप्त करते किन्तु जिन्हें जनता बैङ्कर कहती है। सत्य तो यह है कि जनता के दृष्टि में बैङ्कर और उधार देने वाले के बीच में कोई भेद नहीं है। अब, यदि हम पञ्जाब कमेटी की तरह ही यह कहते हैं कि दोनों में दर्जे का भेद है, अर्थात् जब कि इंडीजेनस बैङ्कर बैङ्किंग और व्यापार दोनों करते हैं, बैङ्किंग मुख्य रहता है, अथवा जब कि वह उत्पत्ति और उपभोग दोनों के लिये ही उधार देते हैं, उत्पत्ति के लिये उधार देना मुख्य है तो यह भी केवल काल्पनिक है। इस कमेटी ने इस सम्बन्ध में जो अन्य बातें कही हैं उनके सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। अर्थात् (१) जब कि उधार देने वाला प्रायः प्रतिभूति लिये बिना ही उधार देता है; इंडीजेनस बैङ्कर प्रायः प्रतिभूति लेकर ही उधार देता है; अथवा (२) उधार देने वाले के ग्राहक इंडीजेनस बैङ्करों के ग्राहकों की अपेक्षा निश्चित समय पर उधार की वापसी कम करते हैं; अथवा (३) उधार देने वाले इंडीजेनस बैङ्कर की अपेक्षा अधिक व्याज लेते हैं; इत्यादि इत्यादि। हाँ, यदि हम दोनों में भेद करना ही चाहते हैं तो हम डाक्टर जैन की तरह ही यह कह सकते है कि भारतवर्ष में प्रायः इन दोनों में भेद इनकी कार्यशील पूँजी के परिणाम के अनुसार किया जाता है।

अब यह विषय छोड़ने के पहले हमें इंडीजेनस बैंकरों की जो परिभाषायें प्रायः पाठ्य पुस्तकों में दी हुई हैं उन्हें भी देख लेना चाहिये। इनमें से एक तो वह है जो केन्द्रीय कमेटी ने दी है, अर्थात् इंडीजेनस बैंकरों का अर्थ उन बैङ्करों से है जो इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया, विनिमय बैंक (Exchange Banks),

सम्मिलित पूँजी वाले बैंक (Joint Stock Banks) और सहकारी समितियों से भिन्न हैं और इसमें कोई भी ऐसी वैयक्तिक अथवा निजू फर्म सम्मिलित है जो जमा प्राप्त करती है और हुंडियों का व्यवसाय करती है अथवा द्रव्य उधार देती है। यह स्पष्ट है कि इसमें द्रव्य उधार देना भी[1] सम्मिलित है। दूसरी परिभाषा वह है जो डाक्टर जैन ने दी है, अर्थात् इंडीजेनस बैंकर के अर्थ हैं कोई भी ऐसी वैयक्तिक अथवा निजू फर्म, जो उधार देने के अतिरिक्त या तो हुंडियों का व्यवसाय करती है या जमा प्राप्त करती है या दोनों काम करती है। इस परिभाषा में कम से कम दो कामो पर जोर दिया गया है जिनमें से एक अर्थात् उधार देने का काम आवश्यक है और दूसरा (१) जमा प्राप्त करने का काम अथवा (२) हुन्डियों का व्यवसाय करने के काम में से कोई भी एक हो सकता है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि कम से कम दो कार्य होने क्यों आवश्यक हैं। क्या एक से काम नहीं चल सकता और फिर उधार देने का काम क्यों आवश्यक है, जमा प्राप्त करने का काम क्यों आवश्यक नहीं है। विशेषतः जब हम यह जानते हैं कि आधुनिक विचार के अनुसार उधार देना और जमा प्राप्त करना दोनों मिलाकर ही बैंकिंग के व्यवसाय की पूर्ति करते हैं।

अतः, उपसंहार में यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक बैंकिंग की देशी प्रणाली के क्रमिक विकास की दृष्टि से देखा जाता है, इंडीजेनस बैंकरों की परिभाषा के अन्तर्गत वह सब वैयक्तिक और निजू फर्म आ जाती हैं जो किसी भी रूप में द्रव्य का व्यवसाय करती हैं और जहाँ तक इसके आधुनिक विचार से देखा जाता है इसमें केवल वही वैयक्तिक और निजू फर्म आती हैं जो उधार

---

[1] वास्तव में इस परिभाषा के अन्तिम वाक्यांश के दो अर्थ होते हैं: (१) वह जो जमा प्राप्त करती हैं और हुन्डियो का व्यवसाय करती हैं अथवा केवल द्रव्य उधार देती हैं, (२) वह जो जमा प्राप्त करती हैं और या तो हुन्डियों का व्यवसाय करती हैं अथवा द्रव्य उधार देती हैं। लेखक का विश्वास है कि पहिला अर्थ सही है और इसी के अनुसार उसने इन शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु यदि दूसरा अर्थ ठीक माना जाता है तो यह चलन के विरुद्ध है क्योंकि इस देश में ऐसे इन्डीजेनस बैंकर नहीं मिलेंगे जो जमा प्राप्त करते हैं और हुन्डियों का व्यवसाय करते हैं किन्तु द्रव्य उधार नहीं देते।

देने के व्यवसाय के साथ-साथ जमा प्राप्त करने का व्यवसाय भी और विशेषतः चेकों द्वारा निकाली जा सकने वाली जमा प्राप्त करने का व्यवसाय करती हैं। अब, यदि हम केवल यह दूसरी परिभाषा ही लेते हैं तो इस देश में इंडीजेनस बैंकरों की संख्या बहुत ही कम हो जाती है। जो हो, इस पुस्तक में यह शब्द उन व्यक्तियों और कोठियों के लिये प्रयोग में लाया गया है जिनके पास बहुत अधिक पूँजी है और जो द्रव्य सम्बन्धी कोई भी व्यवसाय करती हैं।

देशी बैंकर

ये ग्रामीण और शहरी दोनों होते हैं। "देहाती उधार देने वाले" और जैसा कि वह प्रायः कहे जाते हैं "बनिये" भारतवर्ष में बहुत काल से चले आ रहे हैं। नियमानुसार तो यह उधार देने का काम प्राचीन भारत के व्यापारिक और औद्योगिक वर्ग अर्थात् वैश्यों का ही है; किन्तु बहुत प्राचीन काल में ही इन वैश्यों के आधिपत्य को ऊँचे वर्ग के उन लोगों ने समाप्त कर दिया था जो समाज द्वारा दिये हुये सम्मान के स्थान पर धन को अधिक महत्व देते थे। आजकल उधार देने वाला किसी भी जाति का हो सकता है। रिपोर्टों में तो ब्राह्मणों, राजपूतों, खत्री, तेली, हलवाई और अनेक प्रकार के वैश्यों का, जिनमें सर्वोच्च अग्रवाल से लेकर निम्नतम कएडू तक सभी सम्मिलित हैं, उल्लेख मिलता है। बनिया वर्ग लालच और कमीनेपन के लिये कई शताब्दियों से बहुत ही बदनाम है। "बनिया मारे जान, ठग मारे अनजान।" "ना बनिया मीत, न वेश्या सती।" "बनिया सुई की तरह घुसता है और तलवार की तरह निकलता है।" किन्तु इन कहावतों में वह जैसा दर्शाया गया है वस्तुतः वैसा नहीं है। ग्रामीण उधार देने वाला ग्रामीण जीवन का अत्यावश्यक अङ्ग है—यह अङ्ग मँहगा और कभी-कभी भयानक भी सिद्ध होता है, किन्तु सदैव आवश्यक रहता है। जब कभी-कभी परिस्थितियों से मजबूर होकर वह उधार देना बन्द कर देता है तो दूर-दूर तक त्राहि-त्राहि मच जाती है।

यद्यपि ऊपर 'बनिया' शब्द उधार देने वालों के लिये प्रयोग में लाया गया है, किन्तु साधारणतया तो यह उधार देने वालों का वह वर्ग है जिसकी आटा, दाल, इत्यादि वस्तुओं की दूकान होती है। बनिये उधार सामान भी बेचते हैं

और छोटी-छोटी राशियाँ उधार भी देते हैं। ये छोटी जाति के वैश्य हैं। इनकी पूँजी थोड़ी होती है और इनका दर्जा इनके ग्राहकों की ही तरह का होता है।

एक दूसरी तरह के भी उधार देने वाले होते हैं जिन्हें महाजन कहा जाता है। बनिये की तुलना में महाजन की पूँजी और व्यवसाय दोनों अधिक होते हैं। बनिये की तरह महाजन भी किसी जाति का हो सकता है, किन्तु प्रायः ऊँची जाति के उधार देने वालों को बनिया न कह कर महाजन ही कहा जाता है। महाजन का दर्जा प्रायः उसके ग्राहकों की तुलना में ऊँचा होता है और अधिकतर वह उसे बड़े सम्मान से देखते हैं। वह प्रायः बनिये के काम की अपेक्षा कोई अन्य ऊँचा व्यवसाय करता है।

शहरों में बनिये और महाजन ऋणदाताओं के अतिरिक्त साहूकार, सर्राफ और कोठीवाल ऋणदाता भी होते हैं।

साहूकार महाजन ही की तरह का होता है। हाँ, प्रायः वह अधिक धनी होता है। साहूकार गाँव का भी काम करता है। इसके दो रूप हो सकते हैं। एक तो वह धनी मानी व्यक्तियों को उनकी सम्पत्ति रेहन रख कर उधार देता है। दूसरे, वह गाँव के महाजन को भी आवश्यकता पड़ने पर उधार दे सकता है।

सर्राफ सोने, चाँदी का काम करता है। वह ऋण तो देता ही है, किन्तु साथ में हुंडियों का भी व्यवसाय करता है और कभी-कभी जमा भी प्राप्त करता है। फिर, यह सब काम अन्न, घी, चीनी, कपड़े और अन्य वस्तुओं के दूकानदार भी करते हैं।

कोठीवाल प्रायः उच्चकोटि के व्यापारी होते हैं जो बैंकिंग के भी मुख्य काम करते हैं। कभी-कभी वह भी अन्य धनी मानी व्यक्तियों को ऋण देते हैं।

उपर्युक्त स्थायी ऋणदाताओं के अतिरिक्त फेरीवाले ऋणदाता भी होते हैं। ये लोग प्रायः गाँवों में ही होते हैं, हाँ, कभी-कभी शहरों में भी पाये जाते हैं।

फेरीवाले ऋणदाताओं में किस्तिया होते हैं। उत्तर प्रदेश के पश्चिमीय भाग में इसे रहती वाला, अवध में उगाहीवाला, और उत्तर प्रदेश के पूरब में हुन्डी-वाला अथवा थरकार कहते हैं। यह किस्त की प्रणाली पर ऋण देते हैं। प्रायः १० रु० का ऋण इसमें १ रु० की १२ किस्तों में वसूल किया जाता है। कुछ

शहर के रहने वाले लोग भी अपने गुमाश्तों द्वारा यही काम कराते हैं, अथवा स्वयं जाकर करते हैं। उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद के साहू अपने गुमाश्तों को भेज कर ऊख पैदा करने वालो को ऋण देते हैं और काबुली, हड़िया तथा ब्यौपारी स्वयं गाँवों में जाकर यह काम करते हैं। काबुली अफगानिस्तान के पठान थे। ये प्रायः कपड़े का व्यवसाय करते थे और उन्हें उधार बेचते हुये तथा उसकी कीमत किस्त में वसूल करते हुये इधर-उधर घूमते रहते थे। कभी-कभी ये द्रव्य भी उधार दे देते थे। हड़िया बिहार के सूदखोर हैं। ये ढोरों का भी व्यापार करते हैं। अन्य बातों में यह काबुलियो से मिलते-जुलते हैं। ब्यौपारी हड़िया ही की तरह के हैं किन्तु प्रायः उत्तर प्रदेश के हैं।

उपर्युक्त के अलावा और भी बहुत से लोग हैं। बंजारे गल्ले का व्यवसाय करने वाले और उसे ढोने वाले होते हैं। ये अधिकतर तराई के इलाके में हैं। ब्यौहारी कसाई महाजन हैं। फेरीवाले प्रायः उन सभी व्यापारियों को कहते हैं जो घूम-घूमकर चीजें बेचते हैं। किन्तु यहाँ पर यह उनके लिये प्रयोग में आया है जो उधार माल बेचते हैं और इसी कारण ऊँचे दाम लेते हैं। खाँड़साड़ी खाँड़ का व्यापार करते हैं। और गन्ना उपजाने वाले किसानों को इस शर्त पर उधार देते हैं कि वह उनके हाथ अपना गन्ना अथवा गुड़ पहले ही से निश्चित दर पर बेचेंगे।

यह उत्तर प्रदेश और उत्तरी भारत के विषय में है। अन्य हिस्सो में ऐसे ही महाजन हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। दक्षिणी भारत में और बर्मा में चट्टी हैं। उनमें पुन्थाकुडी चट्टी छोटे व्यापारी हैं। ये अपने कन्धों पर झोले लटका कर इधर-उधर व्यापार करते फिरते हैं और खानाबदोश कहे जा सकते है। इनके अलावा नट्टूकोटाई चट्टी होते हैं जो बहुत धनी हैं। उनका काम करने का ढङ्ग कोठीवालों का सा होता है। गुजरात में बोहरा हैं।

अभी तक जिन व्यावसायिक ऋणदाताओं के विषय में कहा गया, उनके अलावा बहुत से ऐसे ही ऋणदाता भी हैं जिनका व्यवसाय ऋण देने का नहीं है। ये सभी वर्ग के हैं, उदाहरणार्थ पेन्शन पाने वाले, पण्डे, गाँवों के पटवारी और मास्टरों जैसे छोटे-छोटे अफसर, नाई, चमार, फकीर, इत्यादि, इत्यादि। कुछ विधवायें भी यह काम करती हैं। फिर कृषक ऋणदाता भी होते हैं। इनमें

और व्यावसायिक ऋणदाताओं में यह अन्तर है कि जब कि यह अपना व्यवसाय ऋण देने का नहीं बताते व्यावसायिक ऋणदाता अपने को ऋणदाता कहते हैं। इनकी ब्याज की आय बहुत कम है। ये अपनी आय के लिये किसी अन्य व्यवसाय पर निर्भर रहते हैं।

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि उपर्युक्त ऋणदाताओं में से कुछ तो विशेषकर सर्राफ, कोठीवाल, नट्टूकोटाई चट्टी और दूसरे लोग जो कोठीवालों के ही सदृश हैं, ऋण देने के अलावा बैंकिंग के अन्य कार्य भी करते हैं। हाँ, इनमें से अधिकांश जमा लेना नहीं पसन्द करते। फिर, यह हुन्डियों का व्यवसाय भी बहुत नहीं करते, क्योंकि यह व्यवसाय यहाँ पर अधिकतर द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिये किया जाता था, और अब इसे आधुनिक बैंकों ने और सरकार के डाक विभाग ने छीन लिया है। किन्तु देश में कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो जमा प्राप्त करते हैं और उसे चेकों पर वापस करते हैं। वास्तव में उन्होंने आधुनिक बैंकों के तरीके अपना लिये हैं।

काम करने का ढङ्ग

इनका काम करने का ढङ्ग बहुत ही सस्ता और सीधा-सादा है। न तो इनकी गद्दियों में अधिक रुपया लगा है और न यह आलीशान ही मालूम पड़ती हैं। हाँ, नियमित गद्दियाँ अवश्य हैं, किन्तु वे बहुत सादे ढङ्ग की हैं। हिसाब-किताब का ढङ्ग भी बहुत सादा है। हाँ, सही और कुशल अवश्य है। जो लोग केवल उधार देने का ही व्यवसाय करते हैं और वह भी छोटे पैमाने पर उनके यहाँ शायद गद्दियाँ न हों। कुछ के यहाँ शायद हिसाब-किताब भी न हो। उधार मिलने के पहले कोई नियमित कार्यवाही नहीं होती, अतः, इसके मिलने में देर भी नहीं लगती। ये विज्ञापनों में भी विश्वास नहीं करते। इसके विपरीत ये अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में बहुत छिपाव रखते हैं। इस धन्धे की शिक्षा भी घर के लोगों ही से मिल जाती है। इनकी भाषा, लिखन-शैली, अङ्क, इत्यादि सभी स्थान-स्थान पर भिन्न भिन्न हैं और कहीं तो एक ही स्थान पर भी कई हैं। कुछ गोपनीय भाषा भी है। डाक्टर जैन ने अपनी पुस्तक इन्डीजिनस बैंकिंग इन इण्डिया में एक ऐसी ही गोपनीय भाषा का जो अहमदाबाद में चलती है ज़िक्र किया है जिसमें किट के अर्थ एक, घर के दो;

ऊधन के तीन, गोठ के चार, मुई के पाँच हैं। उत्तर प्रदेश में अंकों के लिये निम्न शब्द प्रचलित हैं :—

सांग = १, सवान = २, एकवाई = ३, फोंक = ४, बुध = ५, ढैंक = ६, पैंत = ७, मंग = ८, कोन = ९, सलाय = १० ।

उधार देने के तरीके

इस देश में देशी बैंकर उधार देने के लिये अनेक तरीके काम में लाते हैं। इनमें से निम्नाङ्कित मुख्य हैं, अतः, हम इनका यहाँ पर अध्ययन करेंगे।

[१] प्रण-पत्र—जब ऋण की राशि और उस पर के ब्याज की दर ऋण देने वाले और लेने वाले के बीच में तै हो जाती है तब ऋण लेने वाला ऋण की राशि ब्याज के साथ माँग पर अथवा एक विशेष अवधि बीत जाने के बाद वापस कर देने का एक प्रण-पत्र लिख देता है। यदि राशि बहुत अधिक होती है तो प्रण-पत्र पर अन्य लोगों के हस्ताक्षर भी करवा लिये जाते हैं जो प्रतिभू (जामिन) कहलाते हैं। यदि मुख्य देनदार ऋण वापस नहीं करता तो यह प्रतिभू ऋण वापस करते हैं, कभी-कभी प्रण-पत्रों में यह भी लिखवा लिया जाता है कि यदि ऋण की वापसी समय पर नहीं होगी तो और ऊँचा ब्याज दर लिया जायगा।

[२] रसीद अथवा टीप—जब प्रण-पत्र प्रयोग में नहीं लाये जाते तब ऋण लेने वाले से एक रसीद अथवा टीप लिखवा ली जाती है। इसमें ब्याज की दर भी लिखवा ली जाती है।

[३] दस्तावेज अथवा तमस्सुक—यह सरकारी स्टाम्प लगे हुये कागजों पर लिखे जाते हैं। इसमें ऋण सम्बन्धी पूरी बातें लिखी होती हैं। प्रायः इनमें भी एक निश्चित् तिथि पर ऋण की वापसी न करने पर ऊँचे दर से ब्याज देने की शर्त रहती है।

[४] टिकट वही—इनमें राशि खाते में डाल दी जाती है और उस पर स्टाम्प लगाकर के हस्ताक्षर करवा लिये जाते हैं। इनमें ऋण सम्बन्धी शर्तों और ब्याज की दर, इत्यादि का हवाला देने का चलन नहीं है। यह बातें प्रायः मौखिक रूप में ही तै हो जाती हैं।

[५] किस्त—यह अनज, रेहत और रेहती भी कहलाती है। इसका वर्णन पहिले भी किया जा चुका है। कभी-कभी पहली किस्त तो ऋण देने के

समय ही काट ली जाती है। इधर कुछ उधार लेने वालों के मना कर जाने के कारण किसी किताब पर अलग उनके हस्ताक्षर अथवा अँगूठे का निशान लेने की प्रणाली भी चालू हो गई है।

[६] रुजही—यह भी एक प्रकार की किस्त ही है इसमें ३० रु० उधार लेने वाला केवल २८ रु० ही पाता है और उसे १ रु० रोज करके ३० दिन तक अदा करता रहता है।

[७] हथउधार अथवा दस्तगुर्दा—इसमें कोई लिखित प्रमाण नहीं रहता। उधार केवल मौखिक ही दे दिया जाता है और कभी-कभी इस सम्बन्ध की ऋण लेने वाले से शपथ ले ली जाती है।

[८] गिरवीं—इसमें सोना, चाँदी इत्यादि के आधार पर ऋण दिया जाता है। प्रायः जो माल रक्खा जाता है उसके मूल्य के एक अंश तक ही उधार दिया जाता है। भारतवर्ष के लोगों में, विशेषतः विधवाओं में यह चलन बहुत है।

[९] रेहन—इसमें भूमि अथवा मकान, इत्यादि की प्रतिभूति पर उधार दिया जाता है। इसके सम्बन्ध में जो कागज लिखा जाता है वह रेहननामा कहलाता है और उसे उस जिले के रेहन के रजिस्ट्रार के पास रजिस्टर्ड करवाना पड़ता है जिसमें सम्पत्ति होती है। इसमें ऋण की वापसी की किस्तों, इत्यादि की तारीखें लिखी रहती हैं। रेहन कई प्रकार के होते हैं और उनमें सब में कोई न कोई विशेष बात होती है। प्रथम तो सादा (Simple) रेहन होता है। इसमें सम्पत्ति उसके स्वामी के ही पास रहती है। दूसरे इस्तेमाली रेहन (Usufructuary mortgage) होता है जिसमें सम्पत्ति ऋणदाता के पास आ जाती है। और उसमें उसे जो लाभ होता है वह ब्याज के स्थान पर समझा जाता है। प्रायः ऋणदाता वह सम्पत्ति ऋण लेने वाले के पास ही छोड़ देता है और उसमें किराया लेता रहता है। कभी-कभी यह शर्त भी रहती है कि ऋण लेने वाले के मूलधन एक विशेष समय के अन्दर वापस न करने पर वह सम्पत्ति फिर ऋणदाता ही की हो जायगी, अर्थात् ऋण लेने वाले का रेहन के छुटकारे का अधिकार नहीं रह जाता। तीसरे, पट्टा पटावन रेहन भी हो सकता है। इसमें सम्पत्ति को एक विशेष समय तक प्रयोग में लाने का अधिकार

ऋणदाता को दे दिया जाता है जिससे ऋण के मूलधन की और ब्याज की अदायगी हो जाती है और फिर वह सम्पत्ति अपने पहिले स्वामी अर्थात् ऋणी के पास वापस आ जाती है।

ऊपर नकद ऋण की प्रणालियाँ दी हुई हैं। इनके अतिरिक्त जिन्सों के ऋण (Kind loans) होते हैं। इनमें निम्न बहुत ही प्रचलित हैं :—

(१) फसल कट जाने पर सवाये, ड्योढ़े अथवा दूने की वापसी की शर्त पर बोने के लिये अथवा घर के खर्च के लिये अनाज उधार देना।

(२) कुछ महाजन बोने के लिए बीज और खाने के खर्च के लिये द्रव्य प्रायः इस शर्त पर देते हैं कि फसल तैयार होने पर वह यह सब वापस ले लेंगे और साथ ही फसल का कुछ और भी हिस्सा लेंगे।

नकद और जिन्सों के सम्मिलित ऋण का भी चलन है। इसमें बनिया प्रायः किसान की सारी आवश्यकतायें पूरी करता है। वह उसे अपनी दूकान से चीजें भी देता है और नकद द्रव्य भी देता रहता है। चीजों की कीमत और नकद उसके हिसाब में पड़ती रहती है और फसल आ जाने पर वह सब बनिया स्वयं खरीद लेता है और हिसाब साफ कर देता है। फिर, यही फसल अधिकांश में वह मंडियों में भेज देता है। इससे उसे बड़ा लाभ होता है।

कभी-कभी इस शर्त पर भी ऋण दिये जाते हैं कि ऋण लेने वाले फसल तैयार होने पर उसे ऋणदाता को पहले से ही निश्चित मूल्य पर बेच दें। यह उन ऋणदाताओं के यहाँ अधिक होता है जो उसी चीज का व्यापार करते हैं जो ऋण लेने वाले पैदा करते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि ऐसी परिस्थिति में जो मूल्य निर्धारित किया जाता है वह बहुत ही थोड़ा होता है और उससे ऋण लेने वाले की हानि ही होती है।

ब्याज तथा अन्य व्यय—ब्याज स्थानानुसार तथा समयानुसार बदलता रहता है। जिन्सों के ऋण में यह २५ प्रतिशत से लेकर शत प्रतिशत तक होता है। ऊपर जो सवाया, ड्योढ़ा और दूना दिया गया था उसमें यही तो है। फिर यह दर केवल ऋण की अवधि के लिये है जो औसतन छः माह की होती है, अतः, वार्षिक दर दुगुनी होती है।

नकदी ऋण के लिये यह प्रतिभूति रहने पर तो ८ प्रतिशत से १२ प्रतिशत तक रहती है, और प्रतिभूति न रहने पर यह १२ से ३७½ प्रतिशत तक होती है। कभी-कभी एक आना प्रति रु० मासिक होता है जो ७५ प्रतिशत वार्षिक पड़ता है।

साहूकारों का पारस्परिक व्याज ६ प्रतिशत वार्षिक होता है। यह साहूकारी व्याज कहलाता है।

प्रायः चक्रवृद्धि व्याज लगाया जाता है। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ मिश्रधन मूलधन का दुगना, तिगुना, चौगुना अथवा पचगुना हो गया है। यह चक्रवृद्धि व्याज ही के कारण होता है।

ऋणदाता सादे और चक्रवृद्धि व्याज के अतिरिक्त चलन के अनुसार अन्य व्यय भी लेते हैं। देहातों में आसानी से महाजन का मुफ्त काम करते पाये जाते हैं। विवाहादि अवसरों पर यह बहुत होता है। प्रायः नकदी और जिन्सों की भेंट की जाती है। अब यह सब विधानतः बन्द कर दिया गया है। ऋणदाता के यहाँ एक धर्म-खाता होता है जिसमें प्रायः ऋण लेने वाला ऋण लेने के समय कुछ अवश्य देता है। कुछ लिखाई के लिये भी काट लिया जाता है जिसे महाजन के मुनीम आपस में बाँट लेते हैं। अन्य जो खर्चे सुनने में आते हैं उनमें नजराना, थैली की मुँह खुलाई और दस्तूरी बहुत ही प्रचलित हैं। अब यह सब बन्द हो रहे हैं।

किन्तु जब अदालतों में नालिश होती है तब न तो ऊँची दर का व्याज और न यह सब खर्च ही मिलते हैं। किन्तु प्रायः महाजन अदालत नहीं करते; जहाँ तक होता है जोर दबाव से ऋण वसूल लेते हैं। प्रायः सभी राज्यों में ऐसे विधान बन गये हैं कि अदालतें ऋण के सम्बन्ध की तमाम बातों पर विचार कर सकती हैं और ऊँची दर के व्याज और यह सब व्यय काट सकती हैं। किन्तु यह उनकी तबियत पर होती है। हाँ, इधर कुछ जगह ऐसा करना उनके लिये आवश्यक कर दिया गया है।

देशी बैंकरों के काम

ये उत्पत्ति और उपभोग दोनों के लिये ऋण देते हैं। कभी-कभी तो वे किसानों को अनाज, बीज और जानवर भी उधार देते हैं। वे सभी तरह के

लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, चाहे गरीब हों अथवा अमीर, किसान हों अथवा अन्य कोई, चाहे वह प्रतिभूति दे सकें अथवा नहीं। अमीर इनसे अपनी विलासिता की माँग पूरी करने के लिये उधार लेते हैं, गरीब ऐसा अपनी आवश्यकताओं की चीजें लेने के लिये करते हैं, किसान खेती करने के लिये ऐसा करते हैं; और अन्य लोग व्यापार, उद्योग-धन्धे तथा अन्य काम चलाने के लिये ऐसा करते हैं। अतः, वह लोगो के आर्थिक जीवन के एक आवश्यक अङ्ग बन गये हैं, और लोग यह जानते भी हैं। शायद यही कारण है कि वे इनका सम्मान भी करते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि उधार लेने वाले आधुनिक बैंकरों की अपेक्षाकृत इन देशी महाजनों को अधिक पसन्द करते हैं। बात यह है कि यह उनकी माँगो पर उसी समय विचार करके उन्हें पूरी कर देते हैं। ये उन्हें अधिक देर तक नहीं ठहराते। फिर, यदि इन्हें यह मालूम हो जाता है कि जिस दिन ऋण की वापस होनी है उस दिन ऋणी को उसे वापस करने में कठिनाई है तो यह उसे उसी दिन वापस करने पर बल नहीं देते। ये अपने ग्राहको के बारे में जानते रहते हैं, अतः, जब वह ऋण लेने आते हैं तब उनके सम्बन्ध में व्यर्थ की पूछ-ताछ नहीं करते। इनका महत्व तो इसी से पता चल जाता है कि इस देश में लोगों ने कितनी राशि इनसे उधार ले रक्खी है। डाक्टर जैन ने सन् १६२८ में यह कहा था कि यद्यपि ठीक-ठीक कहना तो कठिन है किन्तु इन्होंने ब्रिटिश भारत में ८०० और ६०० करोड़ रु० के करीब उधार बाँट रक्खा है। इसके बाद की दशा तो और भी खराब हो गई थी। हाँ, युद्ध के समय अनाज, इत्यादि के दाम बढ़ जाने के कारण कुछ लोगों का कहना है कि किसान मजे में हो गये हैं। किन्तु यह बात बड़े-बड़े किसानों के लिये सत्य हो सकती है, छोटो के लिये नहीं। जो उधार देने के अतिरिक्त बैंकिंग के अन्य कार्य भी करते हैं उनके कार्य अनेक तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। जहाँ तक भारतवर्ष के मुख्य उद्यम कृषि को आर्थिक सहायता पहुँचाने का प्रश्न है, उसके विषय में तो यह कहा जा सकता है कि वह यह अप्रत्यक्ष रूप में करते हैं। बात यह है कि उनके प्रायः शहरों में रहने के कारण वे किसानों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो स्थापित कर ही नहीं सकते। अतः, वह गाँवों में उधार देने वाले लोगों और व्यापारियों को इस काम के लिये पकड़ लेते हैं। ये उनसे सहायता पाते हैं और

उसके बदले में उन्हें गाँवो की फसल लाकर देते हैं। किसान दो तरह से अपनी फसलें बेचते हैं। एक तो वह है जो छोटे और बे-पढ़े लोग काम में लाते हैं। वे अपने गाँव में ही किसी व्यापारी के हाथ जिसके प्रायः वह पहले से ही ऋणी रहते हैं, अपनी सारी फसल बेच देते हैं। गाँवों के यह व्यापारी ऋण की राशि काट कर बाकी दाम उन्हें नकद चुका देते हैं। फिर, यह गाँवों में अपने बेचने लायक माल रोककर शेष सब मंडियों में ले जाते हैं। वहाँ पर प्रायः यह सामान उन्हीं महाजनों के हाथ बेचा जाता है जो इन्हें पहले से ही रुपया दिये रहते हैं। इस समय बैंकिंग का बहुत सा व्यवसाय होता है, जैसे द्रव्य इधर-उधर भेजना, हुंडियों का बट्टे पर भुगतान करना और माल की प्रतिभूति पर उधार देना, इत्यादि। यह सब काम यही मंडियो के व्यापारी महाजन करते हैं। दूसरा तरीका यह है कि देश में अनेक छोटी-छोटी मंडियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक में उनके समीपवर्ती गाँवों का माल आता है। जो किसान किसी के ऋणी नहीं होते, अथवा पढ़े-लिखे और चतुर हैं वह अपने गाँवों में ही माल न बेचकर इन मंडियों में उसे ले आते हैं। इससे उन्हें यह लाभ होता है कि यहाँ पर पूर्ति और माँग के नियमों के अनुसार कीमतों के निर्धारित होने के कारण उनके ठगे जाने की कम सम्भावना रहती है। किन्तु यह उन्हीं लोगों के लिये सम्भव है जो काफी चतुर हैं और अन्य प्रकार से नहीं ठगे जा सकते तथा जिनके पास मंडियो तक माल लाने के साधन हैं। इन मंडियों में कई तरह के खरीदार रहते हैं, जैसे शहरो के व्यापारी, देशी महाजनो के अढ़तिये जो या तो उन्हीं के लिए अथवा उनके ग्राहकों के लिए खरीदारी करते हैं, निर्यात करने वालों के प्रतिनिधि, इत्यादि, इत्यादि। वहाँ प्रायः नकद दाम दिये जाते हैं। अतः, एक स्थान से दूसरे स्थान को बराबर राशियाँ आती-जाती रहती हैं।

जहाँ तक अन्य उद्योग-धन्धों का प्रश्न है, यह लोग ऊँचे पैमाने पर किये जाने वाले धन्धों में तो अवश्य ही अधिक दिलचस्पी नहीं रखते। शायद ऐसा इसीलिये है कि उनके करने के जो ढङ्ग हैं उनके विदेशी होने के कारण वह उनसे अनभिज्ञ हैं। किन्तु इधर ये लोग उनमें अधिकाधिक दिलचस्पी ले रहे हैं। बहुत-सी मिलें इन्हीं के उद्योग के कारण खुल रही हैं, और अनेक इन्हीं के प्रबन्ध के अन्तर्गत हैं। कुछ शहरो में ये अपनी राशि मिलों में भी जमा कर देते हैं। बात यह है कि उन्होंने इनके हृदय में विश्वास पैदा कर लिया

है। अतः, वह इनमें अपनी रकम स्थायी खातों में लगा देते हैं और जब यह निश्चित समय जो प्रायः दो महीनों का रहता है समाप्त हो जाता है तब यह या तो उसे फिर वहीं लगा सकते हैं या निकाल सकते हैं। इससे इन्हें इनको आवश्यकता पड़ने पर अधिक लाभ के कामों में भी लगा देने का अवसर मिल जाता है।

किन्तु घरेलू धन्धों की तो एकमात्र यही आर्थिक सहायता करते हैं। वस्तुतः कारीगरों के पास तो स्वयं की पूँजी बहुत ही कम रहती है। ऋणदाता और महाजन इन्हें कच्चा माल देते हैं और उसके बदले में इनसे इस बात का वायदा करवा लेते हैं कि ये अपना बना हुआ माल उन्हीं के हाथ बेचेंगे। इससे इन्हे जो मूल्य मिलते हैं वह बहुत ही कम होते हैं। किन्तु अपनी बेबसी के कारण इन्हें ऐसा करना पड़ता है। प्रायः इनके बनाये हुये माल पर अच्छी फिनिश भी यह ऋणदाता तथा महाजन ही कराते हैं। फिर, वह इन्हें स्वयं बेचते हैं। उदाहरण के लिये हम किसी भी शहर का कोई भी मशहूर घरेलू धंधा ले सकते हैं।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि कृषि की उपज बाजारों में ऋणदाताओं तथा महाजनों द्वारा आर्थिक सहायता पहुँचाने के कारण ही आ पाती है। इसके अतिरिक्त अन्य चीजों का वितरण भी इन्हीं की सहायता के कारण हो पाता है। यह अपने ग्राहकों की ओर से केवल अपनी आढ़त में माल रखकर ही नहीं वरन् बेचने वाले और खरीदारों के बीच में उनकी हुंडियों का भुगतान करके और अपनी हुंडियो द्वारा उनके द्रव्य इधर से उधर भेज कर भी व्यापार में सहायता पहुँचाते हैं। हाँ, यह विदेशी व्यापार में केवल उसका वह अङ्ग छोड़ कर जो माल बन्दरगाहों से मंडियों में और मंडियों से बन्दरगाहों में भेजने से सम्बन्धित है, अन्य किसी तरह से सहायता नहीं पहुँचाते।

ये जनता से बहुत कम जमा प्राप्त करते हैं, और जब करते हैं तब लाभ के विचार से नहीं वरन् अपने मित्रों पर एहसान करने के विचार से ऐसा करते हैं। इनमें परस्पर भी काफी उधार लिया-दिया जाता है। हुंडी का काम जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है, अब पहिले से कम होता है। किन्तु ऐसा नहीं है कि यह बिल्कुल न होता हो। सर्राफ अब भी हुंडियाँ बट्टे पर खरीद लेते

हैं और जब उनके द्रव्य नहीं रहता तब वह इन्हें आधुनिक बैंकों से भुनवा लेते हैं। इन पर जो सर्राफ के वेचान हो जाते हैं उससे वह भी इनका भुगतान करने के लिए दायी हो जाते हैं। अन्तिम बात यह है कि उनमें से कुछ आधुनिक बैंको की तरह ही बैंकिंग का व्यवसाय करने लग गये हैं, यद्यपि इनकी संख्या बहुत कम है।

देशी बैंकरों के संगठन में दोष

देशी बैंकरों के संगठन में बहुत से दोष हैं।

(१) इनमें से अधिकांश लकीर के फकीर हैं और पुराने ढङ्ग से ही काम करना चाहते हैं। हाँ, कुछ अवश्य ऐसे हैं जिन्होने सुधार कर लिया है और जमा प्राप्त करते हैं, चेकें देते हैं, और अपने ग्राहकों के लिये वह सब काम करते हैं जो आधुनिक बैंक करते हैं, किन्तु इनकी संख्या बहुत ही कम है।

(२) इनमें पारस्परिक ईर्ष्या है जिससे इनका कोई अच्छा संगठन नहीं है। हाँ, कुछ पुराने और नये संगठन अवश्य हैं किन्तु इनके सदस्यों की संख्या बहुत कम होने के कारण यह सबसे प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते। महाजन और पंचायत जैसे पुराने संगठनों का महत्व तो अदालतें खुल जाने से समाप्त हो गया है। अतः, उनके केवल धार्मिक तथा सामाजिक कृत्य अवशेष रह गये हैं। आधुनिक सङ्गठनों में बम्बई के उदाहरणार्थ बम्बई सर्राफ असोसियेशन, मारवाड़ी चैम्बर आफ कामर्स, कमीशन एजेन्ट असोसियेशन, मुल्तानी बैंकर्स असोसियेशन के नाम लिये जा सकते हैं। देश के अन्य हिस्सों में भी कुछ और सङ्गठन हैं। ये अपने सदस्यो में मेल-जोल स्थापित करने में और उनके लाभ के काम करने में बहुत ही लाभदायक सिद्ध हो चुके हैं। किंतु स्थिति सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती। इनके सदस्यों की संख्या कम होने के कारण इन्हें उनका प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता।

(३) इन्होंने देश के लोगों में बैंकिंग की आदत नहीं डाली। न ये साख का सृजन करते हैं। इन्होंने चेक और बिलों जैसे साख-पत्रों का प्रयोग प्रोत्साहित नहीं किया। हुंडियाँ भी जिनसे यह बहुत दिनों से परिचित हैं, व्यापार की सहायता करने में काम में नहीं लाई जातीं; प्रायः वह नकद ही होता है।

(४) इनके मुख्य व्यवसाय अर्थात् उधार देने के काम में भी अनेक दोष हैं। उत्पत्ति और उपभोग की माँगों के बीच में तनिक सा भी भेद नहीं माना जाता। ब्याज की दर बहुत ऊँची रहती है और कुछ विशेषतः छोटे-छोटे ऋणदाता बेइमानी भी करते हैं। संक्षेप में यह बहुत ही दूषित है।

(५) छोटे-छोटे ऋणदाताओं की तो बात ही क्या है बड़े-बड़े महाजन भी बैंकिंग के साथ-साथ व्यापार भी करते हैं। कुछ मौके बेमौके सरकारी साख-पत्रों में सट्टेबाजी भी करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अन्य देशों में भी कुछ निजू बैंकर हैं जो किसी नियम के अनुसार काम नहीं करते और बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार भी करते हैं। किन्तु इसमें जो सबसे बढ़कर दोष है वह यह है कि इनके व्यापार में नुकसान पहुँचने पर इनके यहाँ जमा करने वालों की हानि हो जाने का डर रहता है। हाँ, भारतवर्ष में इनके यहाँ जमा न होने के कारण ऐसी जोखिम नहीं है। किन्तु तो भी रिजर्व बैंक जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे इन्हें अपने से सम्बन्धित करने के लिये तब तक तैयार नहीं है जब तक यह बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार करना नहीं बन्द कर देते।

(६) इनमें से कुछ और अधिकतर केवल ऋण देने वाले हिसाब-किताब भी नहीं रखते हैं। आडिट से तो यह अनभिज्ञ ही हैं। अतः, देश का केन्द्रीय बैंक इनकी सहायता नहीं कर सकता।

(७) इनके व्यवसाय सम्बन्धी कोई अङ्क नहीं प्राप्त हो सकते। वास्तव में यह बात जानने के लिये कि इनका सुधार किस ओर होना चाहिये इस बात की बहुत आवश्यकता है।

(८) इनमें और आधुनिक बैंकों में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। अतः, देश में एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न दो दो द्रव्य बाजार हैं। प्रायः यह देखा गया है कि जब देशी बैंकरों के पास द्रव्य की कमी होने के कारण वे ब्याज की ऊँची दर लेते हैं, दूसरी तरफ आधुनिक बैंकों के पास द्रव्य की अधिकता के कारण वे जमा पर बहुत कम दर का ब्याज देते हैं और इस तरह वह स्रोत बन्द कर देते हैं जिसके द्वारा बैंकिंग की उन्नति होती है।

देशी बैंकरों के सुधार के लिये कुछ सुझाव

देशी बैंकरों के सुधार के लिये अनेक सुझाव रक्खे गये हैं। प्रायः बैंकिंग

सम्बन्धी प्रान्तीय कमेटियाँ इन्हें प्रमाण-पत्र (License) देने के पक्ष में थीं। हाँ, इस बात पर अवश्य मतभेद था कि यह ऐच्छिक अथवा अनिवार्य हो। जो ऐच्छिक के पक्ष में थीं उनका कथन था कि (१) बहुत से महाजन इसका घोर विरोध करेंगे, (२) अपनी मजबूत स्थिति के कारण लगाये हुए प्रतिबन्ध तोड़ देंगे और (३) ब्याज के बिना उधार देने वाले लोग काम बन्द कर देंगे।

इसके विपरीत अनिवार्य रूप में प्रमाण-पत्र देने के पक्षपाती यह कहते थे कि (१) जब तक ऐसा न होगा बेईमान महाजनों की बेईमानियाँ न रुक सकेंगी, और (२) कानून तथा चिकित्सा के सम्बन्ध में तो प्रमाण-पत्र लेना आवश्यक है और उसमें कोई कठिनाई नहीं पड़ती तब इसमें कैसे कठिनाई पड़ेगी।

प्रमाण-पत्र के लिये निम्न शर्तों का सुझाव था :—(१) ब्याज पर प्रतिबन्ध (२) हिसाब-किताब एक विशेष प्रकार से रखना और आडिट कराना, (३) प्रत्येक ऋणी को समय-समय पर उसके हिसाब की प्रतिलिपि देना, (४) उसके ऋण की वापसी पर रसीद देना और उसका प्रतिरूप अपने पास रखना, और (५) चक्रवृद्धि ब्याज लगाने के लिये कम से कम एक वर्ष का समय निश्चित करना।

उपर्युक्त प्रतिबन्ध मानने पर उसे निम्न अधिकार देना—(१) कृषि सम्बन्धी हुण्डियों और गोदामों की रसीदों की जमानत पर दिये हुये ऋण की वापसी के लिये उसे वही, अधिकार देना जो सरकार को अपनी वसूल करने के लिये मिले हुये हैं, (२) कृषि सम्बन्धी कागजों पर उधार पाने की सुविधा, इम्पीरियल बैंक और डाकखानों द्वारा उसी प्रकार द्रव्य भेजने के अधिकार जिस प्रकार आधुनिक बैङ्कों और सहकारी समितियों को मिले हुए हैं, और (४) डाकखानों में चालू खातों में रुपया जमा करने और उसे चेकों द्वारा निकालने का अधिकार, इत्यादि।

किन्तु कुछ कमेटियाँ जिनमें केन्द्रीय कमेटी भी थी किसी प्रकार का प्रमाण-पत्र देने के पक्ष में नहीं थीं। उनका कहना था कि प्रमाण-पत्र की बात तो केवल दो उद्देश्य ही लेकर सुझाई जा रही है, अर्थात् (१) महाजनों द्वारा

जो अधिक ब्याज लिया जा रहा है उसे कम करने के लिये, और (२) उनमें से कुछ जो अन्य बुरी बातें करते हैं उसे रोकने के लिये। इनका कहना था कि इनमें से पहिला उद्देश्य तो जनता को शिक्षित बनाकर, उनमें मितव्ययता और बचत करने की आदत डालकर और महाजनो के ऋण देने के एकाधिपत्य की समाप्ति करके पूरा किया जा सकता है। जहाँ तक दूसरा उद्देश्य पूरा करने का प्रश्न है वह बुरी बातों के लिये अधिकाधिक दण्ड देकर रोका जा सकता है। तब से अब तक बहुत कुछ किया जा चुका है।

बङ्गाल, आसाम, मध्य प्रान्त, बिहार बम्बई और पंजाब में महाजन कानून बन गये हैं जिनके अनुसार प्रत्येक महाजन को सरकार से एक प्रमाणपत्र लेना पड़ता है। कुछ राज्यों में यह अनिवार्य है और कुछ में ऐच्छिक है। जहाँ ऐच्छिक है वहाँ जिन महाजनों के पास प्रमाणपत्र नहीं है वे अदालत की सहायता नहीं प्राप्त कर सकते। प्रमाणित महाजनों को नियमानुसार हिसाब रखना पड़ता है, निश्चित समय पर अपने ऋणी को उसके हिसाब की प्रतिलिपि देनी पड़ती है, रुपये की वापिसी पर रसीद देनी पड़ती है, इत्यादि इत्यादि।

ब्याज की दर तो लगभग सभी राज्यो में बाँध दी गई है। कुछ राज्यों में ऋणियों को कुछ छुटकारा भी दिया गया है। यहाँ पर एक बहुत पुराना दमदुपत सिद्धान्त है, जिसके अनुसार किसी ऋणी के ऋण की दुगुनी राशि दे देने पर उस ऋण से छुटकारा मिल जाता है। अतः कुछ राज्यों में इस सिद्धान्त का सहारा लिया गया है। ऋणी के शरीर और उसकी सम्पत्ति की प्रायः सभी जगह रक्षा की गई है। ऐसा कहीं नहीं है जहाँ इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ न किया गया हो। किन्तु तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ करने योग्य था वह सभी कर दिया गया है।

कुछ विधानों में तो बहुत से दोष हैं जो दूर करने ही चाहिये। किन्तु बेईमानी के सामने विधान का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। हाँ, ईमानदार व्यक्ति के लिये अवश्य यह ईमानदारी के प्रमाणस्वरूप हो जाता है।

जो लोग ऋण देने के साथ-साथ बैङ्किग के अन्य काम भी करते हैं वह भी कुछ सुधरने के बाद देश के आर्थिक सङ्गठन के बहुत ही उपयोगी सदस्य बन सकते हैं। उनके रहने की आवश्यकता है। आधुनिक बैङ्क सारे देश के

लिये बैंकिंग की सुविधायें नहीं प्रदान कर सकतीं। अतः, वह इनका स्थान भी नहीं ले सकतीं। फिर यह एक बहुत ही उपयोगी काम कर सकते हैं। हमारे देश में बिलों को दलाली और उनकी स्वीकृति का काम कम होता है। इसे वह खूब कर सकते हैं। हम जानते हैं कि वह हुण्डी का काम बहुत प्राचीन काल से करते आ रहे हैं; अतः, उनका यह अनुभव देश में बिलों का बाजार सुदृढ़ करने में जो यहाँ की बैंकिंग प्रणाली के लिये बहुत ही आवश्यक है बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

बैंकिंग सम्बन्धी अनुसन्धान करने के लिये जो केन्द्रीय कमेटी बनी थी उसने इन्हें रिजर्व बैंक से सम्बन्धित करने का सुझाव रक्खा था और इस काम के लिये इन्हें उपयुक्त बनाने के लिये इनके द्वारा कुछ शर्तें पूरी करने की योजना बनाई थी। किन्तु रिजर्व बैंक से संस्थापित हो जाने पर भी अभी तक इस सम्बन्ध में कुछ नहीं हो पाया है। रिजर्व बैंक विधान की ५५ (१) धारा में यह दिया हुआ था कि यह बैंक यथासम्भव शीघ्र अथवा अपनी संस्थापना के तीन वर्ष के अन्दर (अर्थात् ३१ सितम्बर, सन् १९३७ तक में) सपरिषद् गवर्नर जनरल को निम्न विषयों पर अपनी सम्मति दे :—

(अ) इस विधान की जो धारायें तालिका में सम्मिलित बैंकों (Scheduled Banks) के सम्बन्ध में दी हुई हैं उन्हें ब्रिटिश भारत में बैंकिंग के काम करने-वाले उन व्यक्तियों और संस्थाओं के ऊपर लागू करने के सम्बन्ध में जो उक्त तालिका में सम्मिलित नहीं हैं, और

(ब) कृषि को आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिये जो अवलम्बन है उन्हें तथा उस धंधे और बैंकिंग के व्यवसाय के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये जो तरीके हैं उन्हें सुधारने के सम्बन्ध में।

'अ' भाग तो स्पष्ट ही देशी बैंकरों से सम्बन्धित है, किन्तु जहाँ तक वे कृषि के व्यापार की आर्थिक सहायता करते हैं और कृषकों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उधार देते हैं, वहाँ तक कृषि को आर्थिक सहायता पहुँचाने का काम करने की हैसियत से उनके सुधार और उनके कार्यों का रिजर्व बैंक से सम्बन्धित करने के प्रश्न 'ब' में भी सम्मिलित हैं और इसीलिये यह दोनों विषय एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

बैंक ने उपर्युक्त शर्तें पूरी करने के उद्देश्य से सन् १९३६ के दिसम्बर में एक प्रारम्भिक रिपोर्ट और सन् १९३७ के दिसम्बर में एक वैधानिक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। यह दोनों रिपोर्ट परस्पर पूरक हैं और इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश डालती हैं। ब्याज की दर और उनका काम नियन्त्रण में लाने के लिये विधान बनाने के सुझाव रक्खे गये थे। ऊपर जिन विधानों का संकेत किया गया है वह इन्हीं सुझाव के कारण बनाये गये थे। देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक से सम्बन्धित होने के लिये जो शर्तें पूरी करनी थीं वह भी उसी समय इनके प्रतिनिधियों को बतला दी गई थीं। वास्तव में यह कोई नई नहीं थीं। बैंकिंग के विषय में अनुसन्धान करने के लिये जो कमेटियाँ बनाई गई थीं वे भी पहिले ही लगभग यही सुझाव रख चुकी थीं। संक्षेप में उन्होंने यह सुझाव रक्खा था कि यदि ये रिजर्व बैंक से सम्बन्धित होना चाहते हैं तो इन्हें अपने व्यवसाय का ढङ्ग आधुनिक बैंकों के ढङ्ग के अनुसार करना पड़ेगा और विशेषत: बैंकिंग का जमा प्राप्त करने का व्यवसाय अपनाना पड़ेगा। इन्होंने जो उत्तर दिये थे उनसे यह स्पष्ट है कि वे सब जमा प्राप्त करने का व्यवसाय अपनाने और हिसाब का विज्ञापन करने के विचार से सहमत नहीं थे। जहाँ तक अन्य प्रश्न थे उन सबके लिये वे तैयार थे। उदाहरण के लिये वे अपने हिसाब एक निश्चित रूप में रखने के लिये और सट्टेबाजी छोड़ देने के लिये सहमत थे। वे केवल बैंकिंग का व्यवसाय करने के लिये भी तैयार नहीं थे। उनका विचार था कि अधिकांश उनके अपने बाप दादों के गैर बैंकिंग से व्यवसाय छोड़ देने से न केवल उनके लाभ का श्रोत ही बन्द हो जायगा बल्कि उनकी उस स्थानीय साख को भी धक्का लगेगा जो उनके लिये बैंकिंग का व्यवसाय करने के लिये बहुत ही आवश्यक है यथार्थ में यह सत्य ही प्रतीत होता है। फिर, यह बात भी कुछ समझ में नहीं आती कि जब वे बैंकिंग के अन्य व्यवसाय कर रहे हैं तब उन्हें जमा प्राप्त करने का व्यवसाय अपनाने के लिये इतना मजबूर करने की क्या आवश्यकता थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि यह अंग्रेजी बैंकिंग प्रणाली की एक व्यर्थ की नकल थी। क्या भारतवर्ष के अपने यहाँ विकसित देशी प्रणाली के अनुसार कार्य करने में कोई बड़ा भारी अपराध है? देशी बैंकर स्वयं ही देश की बैंकिंग प्रणाली में एक बहुत ही ऊँचा स्थान प्राप्त करना चाहते हैं जो उससे किसी दशा में भी

कम न हो जो भूतकाल में था। यदि कोई कठिनाई अनुभव हो रही थी तो वह केवल इसीलिये थी कि हमारे गोरे महाप्रभुओं का दृष्टिकोण कुछ विचित्र-सा था। अब तो हम लोगों के स्वतंत्र हो जाने पर रिजर्व बैंक का दृष्टिकोण बदलना ही चाहिये। हाँ, यह भी बहुत ही आवश्यक है कि देशी बैंकर भी समय के परिवर्तन के साथ-साथ अपने काम करने का ढङ्ग बदल दें और अपने को एक केन्द्रीय बैंक के सदस्यों के योग्य बना लें।

वैज्ञानिक रिपोर्ट में एक अन्य सुझाव भी था और शायद वह जैसा कि बैंक भी आशा करता है, भविष्य में इन्हें इनके का काम ढङ्ग बदले बिना ही और इनके ऊपर किसी विशेष प्रकार का प्रतिबन्ध लगाये बिना ही उससे प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित कर दें। हम जानते हैं कि वे बहुत प्राचीन काल से ही हुन्डियों का प्रयोग करते आ रहे हैं। अतः, यदि वे इसे प्रोत्साहन दें तो अवश्य ही यहाँ पर एक बिल बाजार स्थापित हो जाय। बैंक ने इधर इस सम्बन्ध में बहुत कुछ किया है जो हम आगे चल कर देखेंगे। अतः, इस तरह से वे अवश्य ही उससे सम्बन्धित हो जायेंगे।

रिजर्व बैंक स्वीकृत (Approved) देशी बैंकरों का एक तालिका रखता है और उन्हें द्रव्य स्थानान्तरण में उसी प्रकार की सुविधायें देता है जैसे दूसरे बैंकों को मिली हुई हैं।

देशी बैंकरों का रिजर्व बैङ्क से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित हो जाने से लाभ

अब, प्रश्न यह है कि देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित हो जाने से क्या लाभ होगा। कुछ लोगों का यह कहना था कि उनका यह संबंध अन्य बैंकों द्वारा ही होना चाहिये। उनके पास ऐसे स्वीकृत देशी बैंकरों की तालिका रहती है जिनकी हुन्डियाँ वे एक निश्चित सीमा तक लेने के लिये तैयार रहते हैं। अतः, यह सुझाव था कि यह काफी है। रिजर्व बैंक को केवल इन हुन्डियों के इन्हीं बैंकों द्वारा लाने पर इन्हें ले लेना चाहिये। किन्तु इस सुझाव का बड़ा विरोध हुआ और अब तो यह छोड़ ही दिया गया है। बम्बई सर्राफ असोसियेशन के प्रधान चुन्नीलाल बी० मेहता ने यह कहा था और रिजर्व

बैंक के गवर्नर ने सर जेम्स टेलर को अपने २४ सितम्बर, सन् १९३७ के एक पत्र में लिखा था कि यह बैंक अधिकांश देशी बैंकरों की सहायता नहीं करते। बल्कि इन्होंने उनसे प्रतियोगिता करके उनका व्यवसाय छीन लिया है; अतः, यह सुझाव उन्हें कदापि नहीं पसन्द आ सकता। प्रत्यक्ष सम्बन्ध के निम्न लाभ हैं:—

(१) प्रथम महायुद्ध के समय से संसार के इतिहास ने यह तो स्पष्ट ही कर दिया है कि यदि किसी देश को आर्थिक दृष्टि से दृढ़ और स्वतन्त्र रहना है तो उसके यहाँ की बैंकिङ्ग की प्रणाली ऐसी सम्बन्धित होनी चाहिये कि जिसमें देश के बैंकिङ्ग के मुख्य-मुख्य काम पूर्णरूप से सम्मिलित हों और वह अपने केन्द्रीय बैंक के निरीक्षण तथा नियन्त्रण में भली-भाँति संगठित हों। हम जानते कि देशी बैंकर भी बैंकिंग का एक मुख्य काम करते हैं और छोटे-छोटे कस्बों था गाँवो में-तो केवल यही है ही; सम्मिलित पूंजी के बैंक या तो हैं ही नहीं अथवा इनकी तुलना में कुछ भी काम नहीं करते। बड़े-बड़े शहरों और बन्दरगाहों में भी, जहाँ ये बहुत महत्वशाली , यह अवश्य पाये जाते हैं। अतः, यह आवश्यक है कि वे भी रिजर्व बैंक से उसी भाँति सम्बन्धित हों जिस भाँति आधुनिक बैंक हैं। इससे देश में जो द्रव्य के देशी बाजार और आधुनिक बाजार हैं उनके कार्यों का पारस्परिक संगठन हो जायगा। साथ ही इससे देशी बैंकरो का स्तर तथा उनके कार्य करने का ढङ्ग भी ऊँचा उठ जायगा।

(२) देशी बैंकरों के पास पहिले जो जमा थे वह भी इधर निकल गये हैं। इसके कई कारण हैं, किन्तु जैसा कि चुन्नीलाल बी० मेहता ने अपने उस पत्र में कहा था जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है, इसका एक मुख्य कारण आधुनिक बैंकों और सरकार का अपने ब्याज की दर ऊँची कर देना भी था। प्राचीन प्रणाली के इधर निर्बल हो जाने के चाहे जो कारण रहे हों; किन्तु यह निश्चित है कि यदि यह रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हो जायँ तो इनके पास अवश्य जमा आने लगेगी। अतः, यह स्पष्ट है कि जमा की प्राप्ति की शर्त सम्बन्धित होने के पहिले नहीं लगानी चाहिये बल्कि यह उसके फल-स्वरूप अपने आप पूरी हो जायगी।

(३) ऐसी आशा की जाती है कि सम्बन्धित हो जाने के फलस्वरूप उनका बैंकिंग का व्यवसाय बढ़ जायगा। अतः, वह गैर बैंकिंग के व्यवसाय छोड़

सकेंगे। इससे यह कहा जा सकता है कि यह भी सम्बन्धित हो जाने के फल-स्वरूप होगा; पहिले से इसे पूरा करने की शर्त एक प्रकार से व्यर्थ सी है।

(४) सम्बन्धित हो जाने का एक अन्य लाभ यह होगा कि देशी बैंकर रिजर्व बैंक से सीधे ऋण ले सकेंगे और अपनी हुण्डियाँ भुना सकेंगे। अब, यदि इसके सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध लगाया जायगा, जैसे केवल विशेष आवश्यकता पड़ने पर ही ऋण मिल सके तो प्रत्यक्ष सम्बन्ध का कोई लाभ नहीं होगा। हाँ, जैसे-जैसे देशी बैंकरों की स्थिति सुधरती जाय, और यह उनके रिजर्व बैंक से सम्बन्धित होने के फलस्वरूप अवश्य होगा, वैसे-वैसे ही इस सम्बन्ध में कड़ाई की जा सकती है।

(५) यद्यपि देशी बैंकर अपने हिसाब की विज्ञप्ति के विरुद्ध हैं, किन्तु वह रिजर्व बैंक को उसकी इच्छित सूचनायें देने के लिये तैयार हैं। ये सब एकत्र करके इनकी विज्ञप्ति की जा सकती है और उससे देश की आर्थिक स्थिति का बराबर ज्ञान हो सकता है।

(६) जब इनका बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जायगा तब इन्हें द्रव्य स्थानान्तरण की सुविधायें भी मिल जायँगी। आजकल भी कुछ देशी बैंकरों को जिन्होंने निश्चित शर्तें पूरी कर दी हैं और जो बैंक की स्वीकृत तालिका में सम्मिलित हो गये हैं उन्हें यह सुविधायें मिली हुई हैं।

देशी बैंकरों का व्यापारिक बैंकों से सम्बन्ध

देशी बैंकरों का व्यापारिक बैंकों से जो सम्बन्ध आजकल है वह बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता। व्यापारिक बैंक अपनी स्वीकृत तालिका में इनमें से जिसका नाम लिख लेते हैं उन्हीं से अपना सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु इन बैंक के व्यवस्थापकों की बराबर इस बात की शिकायतें होती रही हैं कि वे इनसे अच्छा व्यवहार नहीं करते। ऐसा शायद इसलिये भी होता था कि प्रायः यह व्यवस्थापक गैर भारतीय होते थे और इनकी भाषा भी नहीं समझ पाते थे। किन्तु भारतीय व्यवस्थापकों ने भी इनमें वह दिलचस्पी नहीं ली जो उन्हें लेनी चाहिये थी। इसका कारण भी स्पष्ट है। वे बराबर एक शाखा से दूसरी शाखा को बदल दिये जाते हैं जिससे उनमें अपने ग्राहकों के विषय में यह ज्ञान नहीं

प्राप्त हो पाता जो अत्यन्त ही आवश्यक है। यह भारतीय बैंकिंग का एक विशेष दोष है और इसी कारणवश इसके दो अङ्ग देशी और आधुनिक बराबर एक दूसरे से पृथक् चले आ रहे हैं।

जहाँ तक उन देशी बैंकरों का सम्बन्ध है जिनका नाम इनकी स्वीकृत तालिका में है, उन्हें ये लोग प्रण-पत्रों की प्रतिभूति पर जिन पर कम-से-कम दो धनियों के हस्ताक्षर होते हैं और जिनमें से एक व्यापारी होता है, नकद साख प्रणाली के अनुसार उधार दे देते हैं। इनकी हुंडियाँ भी इनके यहाँ भुन जाती हैं। इन्हें देशी बैंकर पहिले तो व्यापारियों से इनका नकद दाम देकर खरीद लेते हैं। प्रायः यह उन्हें अपने पास ही रखते हैं, अथवा परस्पर भुना लेते हैं। किन्तु कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर ये बैंकों से भी भुना ली जाती हैं। हाँ, यह उस राशि से अधिक की नहीं होती जो स्वीकृत तालिका में उनके नाम के आगे दी रहती हैं। वास्तव में यह राशि उनकी स्थिति के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने के पश्चात निर्धारित की जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि देशी बैंकरो को व्यापारिक बैंको की स्वीकृत तालिका में अपना नाम लिखवा लेने से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता। वे प्रायः साधारण ग्राहकों के समान ही समझे जाते हैं। इनके ऊपर जो चेकें काटी जाती हैं, अथवा इनके पक्ष में यदि रेखांकन किया जाता है तो वह चेक यह बैंक नहीं लेते।

उपसंहार में यह कहा जा सकता है कि स्थिति संतोषजनक नहीं है और सभी लोगों को सुधार करना चाहिये। इस सम्बन्ध में जर्मनी के कोमाण्डिट सिद्धान्त के अनुसार यह लोग परस्पर साझा बना सकते हैं। इसमें बैंक अपनी शाखायें न खोलकर निजू बैंको को अपना प्रतिनिधि बना देते हैं और उनकी बराबर मदद करते रहते हैं। इससे जो लाभ होता है उसका दोनों में बँटवारा हो जाता है। निजू बैंकर का ऋण सम्बन्धी दायित्व स्थानीय परिस्थितियाँ अधिक समझ सकने के कारण अधिक रहता है। उसके अधिकार भी सीमित रहते हैं। किन्तु यह सब यहाँ पर तभी हो सकता है जब देशी बैंकर अपने ढङ्ग का सुधार करें और परस्पर संगठित होकर अपने अधिकार प्राप्त करने के लिये आवाज लगावें। इसी तरह से वह अपने प्रति जनता की, राष्ट्र की, रिजर्व बैंक की और व्यापारिक बैंकों की सहानुभूति आकर्षित कर सकें।

प्रश्न

(१) देशी बैंकिंग और देशी बैंकर्स से आप क्या समझते हैं? क्या आप ऋणदाता और देशी बैंकर के बीच में भेद बता सकते हैं? देशी बैंकर की एक उपयुक्त, परिभाषा दीजिये।

(२) ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के ऋण देने वाले पाये जाते हैं उनका एक संक्षिप्त विवरण दीजिये। उनमें से कौन-कौन ऋण देने के अतिरिक्त अन्य बैंकिंग व्यवसाय करते हैं?

(३) देशी बैंकरों के काम करने के तरीकों, ऋण देने की प्रणाली और खर्चों के विषय में आप जो कुछ जानते हों उसे और इनके सम्बन्ध में जो पद प्रयोग में आते हैं उनके विषय में समझाते हुये लिखिये।

(४) देशी बैंकरों के जो काम हैं उनका एक संक्षिप्त विवरण देते हुये जनता के लिये उनकी आवश्यकता दिखाइये।

(५) देशी बैंकरों में क्या दोष हैं? इन्हें स्पष्ट तौर पर समझाइये।

(६) ऋणदाताओं को प्रमाण-पत्र देने के विषय में बैंकिङ्ग सम्बन्धी अनुसन्धान करनेवाली भिन्न-भिन्न कमेटियों की क्या सम्मति थी? भिन्न-भिन्न सम्मतियों पर प्रकाश डालिये।

(७) भिन्न-भिन्न राज्यों में ऋणदाताओं के व्यवसाय का नियन्त्रण करने के लिये जो कानून पास किये गये हैं उनका विवरण देते हुये यह बताइये कि इस विषय में क्या विचारधारा है।

(८) देशी बैंकरों का व्यवसाय सुधारने के लिये अपने सुझाव दीजिये। रिजर्व बैंक से सम्बन्धित हो जाने पर कौन-कौन से लाभ होंगे, यह बताइये।

(९) रिजर्व बैंक ने देशी बैङ्करों को अपने से सम्बन्धित करने के लिये जो नीति बरती है उस पर आपके क्या विचार हैं?

(१०) देशी बैङ्करों का व्यापारिक बैङ्कों से क्या सम्बन्ध है? उसके सुधार के सम्बन्ध में अपने सुझाव रखिये।

अध्याय १४

कृषि सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था

कृषि सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था पर हमें न केवल इसलिए विशेष ध्यान देना चाहिये कि इस देश में इस धन्धे का एक विशेष स्थान है बल्कि इसलिये भी कि इसे कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं। वास्तव में कृषि तथा अन्य धधों के बीच में कुछ अन्तर है और सत्य तो यह है कि यही कृषि सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था के मूल में है। प्रथम तो कृषि की उपज की इकाई का सङ्गठन प्रायः एक ही व्यक्ति के हाथ में होने से उसे जो साख प्राप्त हो सकती है वह बहुत सङ्कुचित है। इसे साख पाने का आधुनिक तरीका अर्थात् संयुक्त प्रणाली उपलब्ध नहीं है। हम जानते हैं कि अन्य धधे वाले भविष्य को पूञ्जी के रूप में परिवर्तित कर लेते हैं अथवा यों कहिये कि अपनी कल्पित आय की शक्ति के आधार पर द्रव्य एकत्रित कर लेते हैं। किन्तु कृषक ऐसा नहीं कर सकता। उसकी कल्पना की वास्तविकता का साधारण लोगों की दृष्टि में कोई व्यापारिक मूल्य नहीं है। अतः, उसके पास साख लेने के लिये केवल अपना व्यक्तित्व ही है। दूसरे, व्यापारिक बैङ्को का सङ्गठन भी उसके लिये उपलब्ध नहीं है। उसकी मुख्य आवश्यकता तो स्थायी पूञ्जी की है जिससे वह अपने खेत का विस्तार अथवा उसमें किसी प्रकार का सुधार कर ले और यह हुआ एक दीर्घकालीन ऋण जिसका भुगतान वह एक फसल अथवा कुछ फसलों की सहायता से नहीं कर सकता। फिर, भूमि तथा अन्य प्रकार की जो चीजें वह जमानत के तौर पर दे सकता है उन्हें कोई व्यापारिक बैङ्क पसन्द भी नहीं करता। हम जानते हैं कि उन्हें तो अपने को द्रवित अवस्था में रखना है जो इस प्रकार की लागतों में फँसा देने से नहीं रह सकती। अन्तिम यह है कि यहाँ पर कृषि का उद्यम आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद है ही नहीं। कृषि पर जो शाही कमीशन बैठा था उसके कथनानुसार यहाँ पर यह एक लाभप्रद व्यवसाय न होकर केवल एक जीवन निर्वाह का

ढङ्ग है। इससे कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं और ऋण की अदायगी असम्भव सी हो जाती है। शाही कमीशन के शब्दों में कृषक ऋण में पैदा होते हैं, ऋण में रहते हैं और अपना बोझ अपने उत्तराधिकारियों को देते हुये ऋण में ही मर जाते हैं। अतः, इसके भुगतान का भी प्रश्न है। संक्षेप में कृषकों की आवश्यकतायें तीन प्रकार की होती हैं :—(अ) अल्पकालीन (Short-term), (ब) मध्यकालीन (Intermediate), और (स) दीर्घकालीन (Long-term)। अब, हम इनकी समस्याओं और उनके हल की ओर ध्यान देंगे।

(अ) अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता

भारत में कृषकों की अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता उनके कृषि सम्बन्धी दैनिक व्यय के लिये उदाहरणार्थ, बीज के दाम के लिये, श्रम के भुगतान के लिये और जब वह कृषि का काम करते हैं अथवा अपनी उपज बाजारों में ले जाते हैं तब वे उनके और उनके कुटुम्ब के व्यय के लिये और उनके अन्य चालू खर्चों के लिये जैसे लगान तथा ब्याज के भुगतान के लिये हैं। यदि किसी के पास आर्थिक दृष्टि से उचित भूमि है तो साधारणतः उसे यह सब अपनी एक वर्ष की उपज बेच कर दे देना चाहिये। अतः, इनमें नौ महीने लग जाते हैं। कुछ लेखक इसमें विक्रय और चलानी के व्यय भी सम्मिलित कर लेते हैं। किंतु कृषकों का अधिक लाभ तभी हो सकता है जब यह कुछ अधिक समय तक के लिये अर्थात् तीन वर्ष तक के लिये मिल जाय। ऐसी स्थिति में यह मध्यकालीन ऋण के अन्तर्गत आ जाता है। यहाँ पर अधिकतर तो उपज गाँवों में ही बिक जाती है। अधिकांश में कृषकों को अपनी गरीबी के कारण अपनी उपज को अच्छा मूल्य पाने के समय तक रोक रखने की शक्ति न होने के कारण उसे फौरन ही कम मूल्य पर बेच देना पड़ता है। यदि उसे उचित आर्थिक सहायता मिल जाय तो वह अपनी सब उपज एक साथ न बेचकर धीरे-धीरे बेचे जिससे उसका उचित मूल्य भी प्राप्त हो सके।

हमें यह देखना चाहिये कि उधार देने वाले वर्तमान संगठन किस तरह से कृषकों की यह अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता पूरी करते हैं। इस सम्बन्ध में

यह कहा जा सकता है कि जो सङ्गठन ऐसा कर रहे हैं वह प्रायः भिन्न-भिन्न प्रकार की ऋण की आवश्यकताओं में कोई भेद नहीं करते। हाँ, कुछ अपवाद अवश्य हैं जिनका अध्ययन हम उचित स्थान पर करेंगे।

(१) रिजर्व बैंक आफ इन्डिया

प्रथम तो सन् १६३५ से रिजर्व बैङ्क आफ इन्डिया है। यह कृषि की प्रत्यक्ष रूप से तो सहायता नहीं करता किन्तु राज्य सहकारी बैङ्कों तथा अन्य ऐसी संस्थाओं को सहायता देता है। इसका एक कृषि साख विभाग है।

कृषि साख विभाग के कार्य

(१) ग्रामीण अर्थ की ओर विशेषतः सहकारिता की समस्यायो का अध्ययन करना और ग्रामीण ऋण से मुक्ति दिलवाने के सम्बन्ध में कानून बनवाना।

(२) अपने कर्मचारियों द्वारा सहकारिता के आन्दोलन से निकटतम संबंध रखना—इसके लिये यह सारे देश में और बाहर भी अध्ययन करते हैं और उनके सुझाव बराबर छपते रहते हैं ;

(३) अपनी सेवायें उन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और सहकारी तथा अन्य बैङ्कों को देना जो कृषि साख सम्बन्धी समस्याओं पर इसकी राय लेना चाहते हैं।

रिजर्व बैङ्क पर उसके विधान की ५५ (१) धारा के अनुसार जो दायित्व रक्खा गया था उसके सम्बन्ध में इसने जो प्रारम्भिक और वैधानिक रिपोर्टें निकाली थीं उनका उल्लेख तो पहले ही किया जा चुका है।

देशी बैङ्करों को रिजर्व बैङ्क से सम्बन्धित करने के लिये जो योजनायें तैयार की गई थीं उनका श्रेय भी इसी को है।

समय-समय पर यह अन्न रिपोर्टें भी निकालता रहता है।

भिन्न-भिन्न राज्यों में ऋण सम्बन्धी जो विधान बने हैं वह इसी के सुझावों के आधार पर बने हैं।

राशि स्थानान्तरण योजना—सन् १६४० में राशि स्थानान्तरण के लिये जो रियायती दरों की योजना बनाई गई थी वह भी इसी के सुझाव के अनुसार

थी। फिर १९५१ में जो इसमें और रियायत की गई वह भी इसी ने करवाई थी।

१९५१ में ही कृषि साख विशेषज्ञों का एक सम्मेलन बुलाया गया था। इसके अनुसार अब एक स्थायी समिति बन गई है जो कृषि साख सम्बन्धी सुझाव निरन्तर देती रहती है। कृषि साख की सुविधा के लिये इम्पीरियल बैङ्क जो स्टेट बैङ्क बना दिया गया है उसके सुझाव में भी इसी का राय था। इसी ने नवम्बर १९५१ में रिजर्व बैङ्क विधान में कुछ संशोधन कराये थे जिससे रिजर्व बैङ्क का बैङ्किङ्ग विभाग व्यापारिक बैङ्कों, सहकारी बैङ्कों और भूमि बन्धक बैङ्कों को कृषि साख सम्बन्धी जो सुविधायें देता था उसका क्षेत्र अब कुछ अधिक विस्तृत कर दिया गया है जो निम्नाङ्कित है :—

कृषि साख सम्बन्धी सुविधाओं के क्षेत्र का विस्तार—(१) सर्व प्रथम तो बिलों के आहरण, क्रय-विक्रय और डिस्काउण्ट के ये सब अधिकार जो पहले केवल सदस्य बैङ्कों को ही थे अब सहकारी और भूमि बन्धक बैङ्कों को भी दे दिये गये हैं। (२) द्वितीय सहकारी बैङ्कों को कृषि कार्यों के लिये दिये जाने वाले ऋणों की अवधि अब ९ महीनों से बढ़ा कर १५ महीनों की कर दी गई है, यद्यपि प्रयोग में यह केवल १२ माह की ही है। वास्तव में कृषि की उपज और उसके विक्रय के लिये कम से कम १२ माह का समय तो चाहिये ही (गन्ने के लिये यह १५ माह का चाहिये। अतः, इस सम्बन्ध में लिया ऋण इस अवधि के पहिले नहीं वापस किया जा सकता तीसरे, यह राज्य सहकारी बैंकों द्वारा मौसमी कृषि कार्यों के लिये आर्थिक सहायता अब कोई प्रतिभूति लिये बिना भी दे सकता है। इसके अतिरिक्त इन्हें तथा भूमि बन्धक बैंकों को सरकारी साखपत्रों तथा अन्य स्वीकृत ऋणपत्रों के आधार पर भी ऋण दिये जाते हैं।

बिल बाजार विकास योजना—यह योजना भी कृषि साख विभाग की ही है। बिलों के आहरण, क्रय-विक्रय और डिस्काउण्ट के जो अधिकार बैंकों को दिये गये हैं, उनमें १९५१ से एक तो डिस्काउण्ट की दर से भी आधा प्रतिशत कम रक्खी गई है। दूसरे, इन पर एक आना प्रति सदस्य से अधिक जो मुद्रांक लगता है वह रिजर्व बैंक सहन करता है। वास्तव में देश में बिल बाजार विकसित करने के लिये इनकी बहुत आवश्यकता थी। इन सुविधाओं से

सबसे अधिक लाभ अभी तक मद्रास और बम्बई के राज्य सहकारी बैंकों ने उठाया है। अन्य राज्यों के बैंकों को भी चाहिये कि वे ऐसा करें। कुछ लोगों का कहना है कि रिजर्व बैंक को यह सब-सुविधायें केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा सहकारी समितियों को भी देनी चाहिये। किन्तु जब तक उनकी स्थिति अधिक ठोस नहीं हो जाती तब तक रिजर्व बैंक ऐसा नहीं कर सकता है। हाँ, उन केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको को तो यह सब सुविधायें देता ही है जो राज्य सहकारी बैंकों के समकक्ष घोषित कर दिये गये हैं। जिन राज्यों में राज्य सहकारी बैंक नहीं हैं उनमें उनकी स्थापना होनी चाहिये जिससे उन्हें रिजर्व बैंक द्वारा दी सुविधायें प्राप्त हो सकें।

भूमि बन्धक बैंको के ऋणपत्रों में हाथ बटाना—बैंक ने मद्रास और बम्बई के सहकारी भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्रों में भी अपना भाग २०% तक कर लिया है, जिससे कृषकों को दीर्घ कालीन ऋण मिलने में भी अधिक सुविधा प्राप्त हो गई है। अन्य राज्यों में भी भूमि बन्धक बैंकों की इसी उद्देश्य से स्थापना होनी चाहिये।

इस क्षेत्र में रिजर्व बैंक और अधिक सहायता कर सके इस ध्येय से कुछ लोगों के निम्न सुझाव और हैं—(१) बैंक के कृषि साख विभाग के पास आस्ट्रेलिया के केन्द्रीय बैंक की भाँति एक कोष भी रक्खा जाय जिससे वह कृषकों तक रुपया पहुँचा सके; (२) देश में प्रमाणित जो दाम स्थापित किये जायें। इनके आधार पर लिखे बिल आसानी से भुन सकेंगे। वास्तव में प्रमाणित जो दामों की स्थापना पर रिजर्व बैंक कई बार बल दे चुका है।

उपज बेचने में आर्थिक सुविधा—सन १९३८ में इसने कृषकों को कृषि उपज बेचने में महाजनों द्वारा आर्थिक सुविधायें पहुँचाने की एक योजना निकाली थी किन्तु जिन लोगों से वह सम्बन्धित थी उनका विरोध होने के कारण इसे उसे बन्द करना पड़ा। इसके अनुसार स्वीकृत महाजनों द्वारा कृषकों पर उनकी कृषि उपज की साख पर कृषि बिल आहरण करके उन्हें कम दर पर रुपया उधार देने की बात थी। यह बिल महाजन सदस्य बैंकों से भुनाते और सदस्य बैंक रिजर्व बैंक से भुनाते। किन्तु सदस्य बैंकों ने यह कहा कि एक तो इससे उनमें

परस्पर होड़ होगी और दूसरा इसका कोई निश्चय नहीं था कि महाजन कृषकों को कम दर पर ही उधार देंगे।

सन् १९४२ में रिजर्व बैंक ने एक दूसरी योजना सहकारी बैंकों से सम्बन्धित निकाली किन्तु वह भी उनके असहयोग के कारण बन्द करनी पड़ी। इसके अनुसार बैंक ने कृषि उत्पत्ति के विक्रय के लिये अपनी डिस्काउण्ट दर से १% कम पर सहकारी बैंकों को सहायता देना निश्चय किया जिससे वे कृषकों को कम ब्याज पर उधार दे सकें। इससे केवल एक राज्य सहकारी बैंक ने लाभ उठाया, और उसने भी बैंक से २% पर ऋण ले कर गरीब कृषकों को उसे ५% पर दिया। १९४४ तथा ४६ में यह योजना और आकर्षक बनाई गई, किन्तु तो भी असफल ही रही।

(२) स्टेट बैंक आफ इण्डिया और अन्य व्यापारिक बैङ्क—रिजर्व बैंक के बाद स्टेट बैंक आफ इण्डिया तथा अन्य व्यापारिक बैंक हैं। स्टेट बैंक आफ इण्डिया राज्य सहकारी बैंको को और केन्द्रीय सहकारी बैंको को क्रमशः केन्द्रीय सहकारी बैंकों के तथा प्रारम्भिक सहकारी समितियों के ऋणपत्रों के आधार पर नकद साख तथा बिल डिस्काउण्ट कर सकता है। किन्तु ऋणपत्रों की आधार प्रायः भूमि होती है और बिलों का आधार प्रमाणित गोदाम होने से निश्चित नहीं हो पाता है, अतः, इनका क्षेत्र बहुत ही सीमित है। यही स्थिति अन्य बैंको की भी है। हाँ, ये व्यापारियो को उनके व्यापारिक माल के आधार पर नकद साख प्रणाली के अनुसार आर्थिक सहायता देते हैं और क्योंकि व्यापारिक माल में कृषि उपज भी होती है, अतः, यह सहायता परोक्ष रूप में कृषकों को भी हुई। कृषक अपनी उपज मण्डियों में बेच जाते हैं और मण्डियों के व्यापारी उनके आधार पर नकद साख प्राप्त कर लेते हैं। इस साख से वह किसानों की भी मदद करते हैं। देशी बैंकर अपनी हुण्डियाँ भी व्यापारिक बैंकों से भुनवाते हैं।

(३) साख सहकारी समितियाँ
(Credit Co-operative Societies)

अब हम साख सहकारी समितियों की ओर आते हैं। ये इस आधुनिक रूप में पहले-पहल सन् १८४६ में जर्मनी में खोली गई थीं। आजकल सहकारी

समितियो की जो दो प्रणालियाँ हैं उनके चलानेवाले दो व्यक्ति थे जिनके नाम क्रमशः एफ० डब्ल्यू० रैफिसेन (F. W. Raiffeisen) और फ्रिज हरमन शुल्ज डेलिश (Fritz Hermann Schulze Delitzsch) है। ये प्रणालियाँ क्रमशः रैफिसेन और शुल्ज डेलिश प्रणालियाँ कहलाती हैं। प्रथम में एक ही पडोस के अथवा स्थान के रहनेवाले बहुत से किसान अपनी इच्छा से मिल जाते हैं और पारस्परिक सहायता के लिये एक समिति बना लेते हैं। प्रत्येक सदस्य का दायित्व असीमित रहता है। समिति को जमा से, प्रवेश शुल्क से और कभी-कभी सदस्यो के पूँजी देने से और उधार के रूप में द्रव्य मिलता है और उसे वह अपने सदस्यों को उनकी आवश्यकतानुसार उधार दे देती है। प्रबन्ध प्रायः निःशुल्क होता है; केवल लेखकों को वेतन मिलता है। सब की राय से उनमें जो बहुत ही बुद्धिवान् होता है वही मुख्य कार्य संचालन और देख-रेख करता है। द्वितीय में एक ही शहर में रहनेवाले बहुत से कारीगर जो स्वयं अपने लिये काम करते हैं मिलकर एक समिति बना लेते हैं इसमें हर सदस्य को एक जमानती हिस्सा लेना पड़ता है जो काफी ऊँची रकम का होता है। यह कई किस्तो में वसूल की जाती है जिससे वह मितव्ययता सीखते हैं। यह समिति भी जमा और ऋण के रूप में रकम प्राप्त करती है और यह ऋण की रकम उतनी ही अधिक होती है जितनी जमानती पूँजी होती है। सदस्यो का दायित्व प्रायः असीमित होता है किन्तु यह सीमित भी हो सकता है। सीमित का द्रव्य सदस्यो मे ऋण के रूप में बाँट दिया जाता है। प्रबन्धक को प्रतिफल के रूप मे उचित रकम भी दी जाती है और लाभ की बँटनी भी होती है तथा उसका एक सुरक्षित कोष भी बनता है। दोनो प्रकार की समितियो की मुख्य-मुख्य बातें संक्षेप में तुलनात्मक रूप में दी जा सकती हैं :—

रैफिसेन समिति	शुल्ज डेलिश
(१) काम करने का क्षेत्र सीमित रहता है।	(१) काम करने का क्षेत्र विस्तृत रहता है।
(२) पूँजी प्रायः नहीं होती। यदि वह होती भी है तो बहुत कम होती है।	(२) पूँजी प्रायः होती है।

(३) सदस्यों का दायित्व असीमित होता है।	(३) सदस्यों का दायित्व कभी-कभी सीमित होता है।
(४) गैर सदस्यों को ऋण नहीं दिया जाता।	(४) गैर सदस्यों को भी ऋण दिया जा सकता है।
(५) ऋण प्रायः उत्पत्ति के कामों के लिये दिया जाता है।	(५) ऋण उपभोग के लिये भी दिया जा सकता है।
(६) लाभ की बँटनी नहीं होती।	(६) लाभ की बँटनी होती है।
(७) प्रबन्ध निःशुल्क होता है।	(७) प्रबन्ध के लिये प्रतिफल दिया जाता है।

भारतवर्ष में सहकारिता का विकास

यद्यपि भारतवर्ष में सहकारिता प्रारम्भ करने के लिये पहले भी प्रयत्न किये गये थे किन्तु सरकारी तौर पर यह यहाँ पर सन् १९०४ ही में प्रारम्भ हुआ। इसके सम्बन्ध के पहले वाले सुझाव सर विलियम वैडरबर्न और जस्टिस रान्डे के थे, किन्तु उनके भारत सरकार की स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर भी भारत सचिव ने उन्हें स्थगित कर दिया। फिर, सर फ्रेड्रिक निकल्सन ने सन् १८९२ में भारत सरकार को भूमि और कृषक बैंकों सम्बन्धी अपनी रपोर्ट पेश की और रैफिसेन प्रणाली की समितियों की संस्थापना का सुझाव रक्खा। किन्तु यह भी कार्यरूप में नहीं लाया गया। तत्पश्चात् उत्तर प्रदेश सिविल सरविस के श्री० डुपरनैक्स ने प्रयत्न किया और वह कुछ सफल भी हुये क्योंकि उत्तर प्रदेश, बङ्गाल और पञ्जाब में कुछ समितियाँ स्थापित हुईं। अन्त में सन् १९०१ में लार्ड कर्जन की सरकार ने एक कमेटी बनाई जिसकी सिफारिशों के फलस्वरूप सन् १९०४ का सहकारी साख समिति विधान बना।

इस विधान में केवल साख सम्बन्धी समितियों के खुलने का ही प्रबन्ध था, और ग्रामीण समितियों पर नागरिक समितियों की अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया था। इसके अनुसार एक ही गाँव के अथवा शहर के अथवा वर्ग के अथवा जाति के कोई दस व्यक्ति अपने को एक समिति के रूप में संगठित करने के लिये

आवेदन-पत्र भेज सकते थे। यदि सब सदस्यों के कम से कम ⅘ ग्रामीण होते थे तो वह समिति ग्रामीण साख समिति कहलाती थी, अन्यथा नागरिक कही जाती थी। प्रथम तो रैफिसेन वर्ग की थी और द्वितीय शुल्ज डेलिश वर्ग की। इनके निरीक्षण, आडिट और भङ्ग करने का अधिकार सरकार को दे दिया गया था।

इस आन्दोलन ने खूब ही उन्नति की और सन् १९०४ का विधान अपर्याप्त प्रतीत होने लगा। अतः, सन् १९१२ में एक दूसरा विधान बना। इसने सन् १९०४ के विधान के दोष दूर किये और साख के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों से स्थापित समितियों की संस्थापना के लिये भी नियम रक्खा। इसमें अभी तक समितियों का जो विभाजन था, अर्थात् ग्रामीण तथा नागरिक उसके स्थान पर एक अन्य अधिक वैज्ञानिक विभाजन का नियम बनाया जिसके अनुसार यह क्रमशः अपरिमित दायित्व वाली तथा परिमित दायित्व वाली कहलाई जाने लगीं। अंतिम बात यह थी कि इसने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों की भी योजना की और इस तरह से इसका नीचे से ऊपर तक एक मजबूत सङ्गठन बना दिया। किन्तु साख के अतिरिक्त अन्य कामों के लिये समितियाँ बनाने पर जो पहले बन्धन था उसे सन् १९१२ के विधान द्वारा दूर कर देने पर भी आज तक अधिकांश समितियाँ साख समितियाँ ही हैं।

सन् १९१४ में सहकारिता के सम्बन्ध में मैकलेगन कमेटी नियुक्त हुई। उसने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करने के लिये एक वर्ष लिया। उससे समितियों का पुनर्सङ्गठन हुआ और उसके प्रबन्ध में बहुत-सा परिवर्तन हो गया। जो अयोग्य थीं वह बन्द भी कर दी गईं। ऋण की वापसी के लिये समय पालन पर जोर दिया जाने लगा और इनके चलाने में जनता का हाथ बढ़ा दिया गया।

सन् १९१९ के सुधारो ने सहकारिता को एक हस्तान्तरित विषय बना दिया अतः, इसके मन्त्रियो (Ministers) ने बड़ी दिलचस्पी दिखलाई और शीघ्र ही बहुत-सी समितियाँ स्थापित हो गईं। तब से लगभग प्रत्येक प्रान्त में इसके सुधार के लिये कमेटियाँ भी बनीं जिन्होंने अच्छे-अच्छे सुझाव रक्खे। रिजर्व बैङ्क की वैधानिक रिपोर्ट में भी इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला गया और पुनर्सङ्गठन के लिये अच्छे सुझाव रक्खे गये।

देश में साख सम्बन्धी सहकारिता के आन्दोलन की वर्तमान स्थिति—भारतवर्ष में साख सम्बन्धी सहकारिता के आन्दोलन में (१) प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ, (२) केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा (३) राज्य सहकारी बैंक हैं। एक अखिल-भारतवर्षीय सहकारी बैंक की भी आवश्यकता है किन्तु वह अभी तक नहीं बना है।

प्रारम्भिक साख सहकारी समितियाँ ग्रामीण तथा नागरिक दोनों प्रकार की हैं। १९१२ के विधान के अनुसार इन्हें क्रमशः अपरिमित दायित्व तथा परिमित दायित्व की करना चाहिये। इनकी संख्या क्रमशः लगभग ११२०५९ तथा ७०२६ (१९४६ में) है। ग्रामीण सहकारी समितियों की पूञ्जी प्रवेश शुल्क से, हिस्सों (Shares) से, गैर सदस्यों की जमा अथवा ऋण से, केन्द्रीय और राज्य सहकारी बैंकों और सरकार के ऋण से तथा अपनी समिति से प्राप्त होती है। सब पूञ्जी काफी बड़ी है। सन् १९४८-४९ के अन्त में यह लगभग ४५४०७४ सहस्र रुपया थी। यह किस प्रकार प्राप्त हुई थी यह भी जानने योग्य है—

हिस्सों से प्राप्त पूँजी	रु० ६७२०४ सहस्र
सुरक्षित तथा अन्य कोष	रु० ६६४५४ सहस्र
जमा से प्राप्त पूँजी तथा ऋण	रु० २६०४१६ सहस्र

केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रायः जिले के मुख्य शहर में स्थित हैं। इनकी संख्या लगभग ४८४ (१९४६ में) है। इनका काम न केवल प्रारम्भिक समितियो को आर्थिक सहायता देना है बल्कि जिनके पास फालतू राशि है उनकी राशि जिनके पास उनकी कमी है उन्हें देना है और सब का पथ-प्रदर्शन और निरीक्षण करना भी है। इन्हें प्रारम्भिक समितियाँ तथा बाहरी लोग दोनों मिल कर बनाते हैं और इनकी पूँजी इनके हिस्सों से, सुरक्षित कोष से, जमा से और ऋण से प्राप्त होती है।

राज्य सहकारी बैंक इस समय (१९४६ में) १२ राज्यों में हैं। अधिकांश में इनका सङ्गठन मिश्रित रूप से हुआ है, अर्थात् सदस्यता और सञ्चालक मंडल दोनों में जन-साधारण तथा सहकारी समितियो और केन्द्रीय सहकारी बैंकों के प्रतिनिधि हैं। इनकी कार्यशील पूँजी हिस्सों से सुरक्षित तथा अन्य कोषों से,

जनता से, समितियों से, राज और केन्द्रीय बैंकों से रिजर्व बैंक से और सरकारी ऋण से प्राप्त होती है।

इसकी उन्नति सभी राज्यों में एक सी नहीं हुई है। उत्तर प्रदेश सबसे आगे है। फिर, हैदराबाद और मद्रास। सन् १९४९ में प्रारम्भिक समितियों के सदस्यों की संख्या लगभग १ करोड़ थी। यदि हम एक परिवार औसतन ५ व्यक्तियों का मान लें तो यह स्पष्ट है कि यहाँ पर इनसे ५ करोड़ लोगों को फायदा होता है। वास्तव में और कोई ऐसी संस्था हमारे यहाँ नहीं है जिससे इतने अधिक लोगों का सम्बन्ध हो।

इस आन्दोलन के मुख्य दोष—(१) किसी भी सहकारी समिति की सफलता उसके सदस्यों के अपना ऋण समय पर वापस करने पर निर्भर रहती है। यह ऋण अल्पकालीन होते हैं। अतः, इनका भुगतान उपज के विक्रय के साथ-साथ हो जाना चाहिये। किन्तु यहाँ पर ऐसा नहीं हो पाता। यहाँ कृषक समितियों का सन् १९४६-४७ में ४६७ लाख रु० बाकी था जो कभी का वसूल हो जाना चाहिये था। यदि हम इसकी तुलना पूरी कार्यशील पूँजी से करें तो यह १० प्रतिशत होगा। लोगों को जो ऋण दिया गया था और जो २३६५ लाख रु० था उसका यह १९ प्रतिशत है। युद्धकाल में उपज का मूल्य बढ़ जाने से यह इतना हो गया था पहले यह बहुत अधिक था। इसकी जाँच करके जो वसूल न हो सके उसे समाप्त करके समितियों का पुनर्निर्माण करना चाहिये।

(२) समितियों के अधिकांश सदस्य उनके उद्देश्य नहीं समझ पाते। इनकी सहायता से उन्हें जो अधिकार प्राप्त है और उनके जो दायित्व हैं उन्हें वे नहीं समझते। उन्होंने इनसे मितव्ययता और दूरदर्शिता का पाठ भी नहीं सीखा। फिर, सहकारी समितियों को अर्थ के अतिरिक्त अन्य बातों का भी सुधार करना चाहिये। उदाहरणार्थ अच्छी प्रकार रहने का, कृषि करने का, विक्रय का, शिक्षा का, इत्यादि, इत्यादि।

(३) केन्द्रीय और राज्य बैंकों के कार्यों में भी कुछ दोष हैं। इधर केन्द्रीय बैंकों से सम्बन्धित समितियों की संख्या बढ़ती जा रही है। रिजर्व बैंक की वैधानिक रिपोर्ट में एक ऐसे बैंक का नाम है जिससे ६८० समितियाँ सम्बन्धित थीं।

जहाँ पर इतना काम बढ़ गया है वहाँ अच्छी देख-माल नहीं हो सकती। न तो राज्य बैंकों ने और न केन्द्रीय बैंकों ही ने प्रारम्भिक समितियों के प्रति अपना कर्तव्य पालन किया है। उन्होने अभी तक अपना ध्यान केवल इन्हें आर्थिक सहायता पहुँचाने की ओर ही रखा है। उन्हें तो इनके उन सभी कामों की ओर ध्यान देना चाहिये जिससे इनका स्तर ऊँचा हो और आन्दोलन दृढ़ होकर बढ़ सके।

(४) इनकी स्थिति भी बहुत ठीक नहीं है। प्रायः इनके साधन उतने द्रवित अवस्था में नहीं हैं जितने होने चाहिये।

(५) वह अपने उधार लेने और देने के ब्याज की दर में इतना भी अन्तर नहीं रखते कि वह अपना खर्च पूरा करने के बाद कुछ सुरक्षित कोष में भी डाल लें।

सुधार के लिये सुझाव

(१) साख सहकारी समितियों को केवल अल्पकालीन साख का ही प्रबन्ध करना चाहिये। अधिक से अधिक वह मध्यकालीन साख का भी प्रबन्ध कर सकती हैं। दीर्घकालीन साख का तो प्रबन्ध उन्हें किसी अवस्था में भी नहीं करना चाहिये। जब कभी ऋण के लिये प्रार्थना-पत्र आवे, सदस्यों को इस बात का पता लगा लेनी चाहिये कि वह किस काम के लिये चाहिये। सहकारी समितियों को यदि अपना उद्देश्य पूरा करना है और केवल महाजनों का स्थान नहीं लेना है तो उन्हें यह देखना चाहिये कि उनके सदस्य केवल उत्पत्ति के लिये उधार लेते हैं। इसके यह अर्थ नहीं हैं कि उपभोग के लिये ऋण दिया ही न जाय, किन्तु ऐसी आवश्यकता ही कम से कम कर देनी चाहिये। इसके लिये जो १०० रु० की सीमा रक्खी गई है वह उचित ही है। दूसरी बात जो देखने की है वह यह है कि ऋण लेने वाले में उसे वापस करने की क्षमता है अथवा नहीं। साख सहकारी समितियों को यह भी देखना चाहिये कि उनके सदस्य अपनी आय से अधिक व्यय नहीं करते। सत्य तो यह है कि उन्होने अभी तक इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया और इसी से उनके ऋण की वसूली नहीं हो पाती। वास्तव में ऋण का उद्देश्य उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि ऋण देने वाला उसे

फसल बिकने के बाद और कुछ परिस्थितियों में अधिक से अधिक तीन वर्षों के अन्दर ही वापस करने के क्षमता रखता हो।

(२) जैसा कि रिजर्व बैंक की प्रारम्भिक तथा वैधानिक रिपोर्टों में कहा गया है, जो ऋण वसूल नहीं हो रहे हैं उनका प्रश्न भी लेना चाहिये। चीजें टालने से और बार-बार समय बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होता। जहाँ पर ऋण पुराने हो गये हैं सहकारिता का आन्दोलन काम नहीं कर रहा है और सदस्य महाजनों से फिर से ऋण लेने लग गये हैं। ऋण की वसूली न होने से साख की सरिता का बहाव रुक जाता है। अतः, इस समस्या को शीघ्र ही क्रियात्मक रूप से सुलझाना चाहिये। इन्हें इतना घटा देना चाहिये कि वह आसानी से दिया जा सके और फिर इनका प्रबंध भूमि बन्धक बैंकों द्वारा करवा देना चाहिये जो दीर्घकालीन साख का प्रबन्ध करने के लिये बने हैं। इनका अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे। इससे जो हानि होगी उसे यह समितियाँ न छोड़ सकें तो उसका भी प्रबन्ध करना चाहिये। इन समस्याओं को साहस के साथ सुलझाने से ही कामचलता है। जो बातें स्पष्ट हैं उनका सामना तो करना ही चाहिये।

(३) इन समितियों को भविष्य में अपने ऋण लेने और देने के ब्याज की दर के बीच में काफी अन्तर रखना चाहिये जिससे इनके पास अच्छे कोष संचित हो जायँ। जो ऋण आज-कल वसूल नहीं हो रहे हैं उन्हें बट्टेखाते छोड़ने में यही कठिनाई है कि समितियों के पास काफी सुरक्षित कोष नहीं हैं। बात यह थी कि जैसा पहले भी कहा जा चुका है उन्होंने अभी तक ऋण लेने और देने के ब्याज की दर के बीच में काफी अन्तर रक्खा ही नहीं। इसके यह अर्थ नहीं हैं कि भविष्य मे हम ऐसे ऋण देंगे जो वसूल न होंगे और फिर उन्हें सुरक्षित कोष के सहारे बट्टेखाते में डाल देंगे। यह केवल उदाहरण के लिये है। सुरक्षित कोष अनेक कामों में खर्च किया जा सकता है। समितियों की स्थिति सुदृढ़ बनाने का यह एक ढङ्ग है।

(४) सहकारी समिति का उद्देश्य है कि उसके सदस्यों की हर तरह से उन्नति हो। उसे कृषकों के सम्पूर्ण जीवन का ध्यान रखना चाहिये। वास्तव में सदस्यों को सहकारिता का सच्चा महत्व समझाना चाहिये। उसका उद्देश्य केवल ऋण देना ही नहीं है वरन् हर प्रकार से कृषकों का जीवन सुधारना है। उनकी

आय बढ़नी चाहिये, कृषि आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो जानी चाहिये। सच तो यह है कि ग्रामीण अर्थ की समस्या उसके बिना सुलझ ही नहीं सकती। जैसा कि एक लेखक ने कहा है कि जब तक हम कृषि की उत्पत्ति इस प्रकार नहीं बढ़ा पाते कि एक औसत दर्जे के कृषक को उसके वर्ष भर के परिश्रम के बाद उसने जो कुछ व्यय किया है उससे अधिक मिल जाय तब तक हम ग्रामीण अर्थ का प्रश्न सुलझा ही नहीं पाते।

(५) केन्द्रीय और राज्य बैंकों के भी सुधार की आवश्यकता है। जिन स्थानों में एक केन्द्रीय बैंक से बहुत ही अधिक समितियाँ सम्बन्धित हैं, वहाँ पर उन्हें तहसीलों की इकाई के अन्तर्गत लाना चाहिये। इससे निरीक्षण और नियंत्रण में सुविधा होगी। फिर, केन्द्रीय बैंकों और राज्य बैंकों दोनों को बैङ्किग के नियमों के अनुसार सुसंगठित होना चाहिये। उन्हें अपनी सम्पत्ति और पाउने द्रवित अवस्था में रखने चाहिये। जैसा प्रारम्भिक समितियों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है उसी प्रकार इन्हें भी अपने उधार लेने और देने के ब्याज की दर में काफी अन्तर रखना चाहिये। आजकल जो एक वर्ष से दूसरे वर्ष में बट्टे की रकम ले जाने की चाल है उसे आय बढ़ाने से ही बन्द किया जा सकता है।

(६) अन्तिम बात यह है कि केन्द्रीय सहकारी बैंकों और व्यापारिक बैंको के बीच में सम्बन्ध बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। केन्द्रीय सहकारी बैङ्क व्यापारिक बैङ्कों का प्रयोग उनमें अपने बचे हुये द्रव्य लगाने के लिये और सरकारी साख-पत्रों के आधार पर ऋण लेने के लिये कर सकते हैं। इसके विपरीत व्यापारिक बैङ्क केन्द्रीय सहकारी बैङ्कों का प्रयोग उन स्थानों पर अपने बिलो की वसूली करने के लिए कर सकते हैं जिनमें उनके स्वयं के दफ्तर नहीं हैं। इस प्रकार की पारस्परिक सहायता से दोनों लाभ उठा सकते हैं।

सहकारी बैंक और व्यापारिक बैंक

वैसे तो सहकारी बैङ्क व्यापारिक बैङ्कों से भिन्न होते हैं, किन्तु तो भी भारत-वर्ष में व्यापारिक बैङ्क सहकारी बैङ्कों की प्रतिद्वन्द्विता की शिकायत करते हैं। यहाँ पर सहकारी बैङ्कों के अंश प्राय: ऐसे लोग खरीदते हैं, जो लाभ कमाना चाहते हैं और उससे ऋण नहीं लेना चाहते। ऋण लेने वाले तो कृषक ग्रामीण होते

हैं, और अंशधारी नागरिक होते हैं। कुछ अंश अवश्य सहकारी साख समितियों को लेने पड़ते हैं। स्वभावतः संचालक मण्डलों में भी प्रायः यही नागरिक रहते हैं। अतः, इनके और व्यापारिक बैंकों के संगठन में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। फिर यह हर व्यक्ति से जमा भी प्राप्त करते हैं। अतः, यह व्यापारिक बैंकों के प्रतियोगी बन जाते हैं। किन्तु इन पर व्यापारिक बैंकों की भाँति निर्बन्ध नहीं हैं जिससे उनकी शिकायत उचित ही है।

१. विशुद्ध सहकारी बैंको के अंश उन्हीं के पास होने चाहिये जो उनसे ऋण लेते हैं, जैसे केन्द्रीय बैंकों के अंश प्रारम्भिक साख समितियों के पास और राज्य बैंकों के केन्द्रीय बैंकों के पास। किन्तु भारतवर्ष में सहकारी बैंक प्रायः अर्ध सहकारी हैं। ग्रामीण जनता के पास न पूँजी है और न प्रबन्ध करने की योग्यता। अतः, कुछ अन्य लोग ही सहकारी बैंकों का निर्माण करते हैं, उनके अंश खरीदते हैं, और उनका संचालक मण्डल बनाते हैं। फिर यदि केन्द्रीय बैंक होता है तो उसके कुछ न कुछ अंश प्रत्येक प्रारम्भिक समिति को और यदि राज्य बैंक होता है तो केन्द्रीय बैंकों को लेने पड़ते हैं। हाँ, जब केन्द्रीय बैंकों का गठन सहकारी समितियों द्वारा और राज्य बैंकों का गठन केन्द्रीय बैंकों द्वारा किया जाता है तब अन्य लोग उनके साथ-साथ ही अंश खरीदते हैं। अन्य लोगों का अंश खरीदना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि पहली स्थिति में सहकारी समितियों और दूसरी स्थिति में केन्द्रीय बैंकों के पास इनके सब अंश खरीदने के लिये पर्याप्त पूँजी नहीं होती।

२. हाँ, जब कि व्यापारिक बैंकों का संगठन कम्पनी विधान तथा बैंकिंग विधान के अनुसार होता है, सहकारी बैंकों का संगठन सहकारिता विधान के अनुसार होता है। सहकारी बैंकों पर वह निर्बन्ध नहीं हैं जो व्यापारिक बैंकों पर हैं, और यही व्यापारिक बैंकों को शिकायत है।

३. सहकारी बैंक व्यापारिक बैंकों की ही भाँति व्यक्तिगत जमा भी प्राप्त करते हैं, और क्योंकि वे ऊँची ब्याज दर भी देते हैं। हाँ, केन्द्रीय बैंकों के पास प्रारम्भिक समितियों तथा राज्य बैंकों के पास केन्द्रीय बैंकों की भी जमा रहती हैं।

४. सहकारी बैंक व्यक्तिगत ऋण नहीं देते। केन्द्रीय बैंकों का काम

प्रारम्भिक समितियों को तथा राज्य बैंकों का काम केन्द्रीय बैंकों की आर्थिक सहायता करना है।

५. सरकारी बैंको की आर्थिक सहायता सरकार भी करती है।

आवश्यकता इस बात की है कि व्यापारिक बैंकों को सहकारी बैङ्कों से जो शिकायतें हैं वह दूर हो जानी चाहिये। जमा राशि प्राप्त करने में इनमें प्रतियोगिता नहीं होनी चाहिये। हाँ, हमारे बैङ्कों के पास अतिरिक्त धन रहता है। उन्हें इन्हें जी खोल कर ऋण के रूप में देना चाहिये। अब भी कुछ व्यापारिक बैंक इस कार्य में दिलचस्पी लेते हैं। वैसे सहकारी बैंको को रिजर्व बैङ्क से ऋण की डिस्काउण्टिंग की और राशि स्थानान्तरण की सही सब सुविधायें प्राप्त हैं जो व्यापारिक बैङ्को को हैं। इनसे भी ५००० रु० तक के स्थानान्तरण के लिये $\frac{1}{32}$% और इससे ऊपर के स्थानान्तरण के लिये $\frac{1}{16}$% का कमीशन लिया जाता है।

(४) देशी बैंकर

देशी बैङ्कर कृषि की जिस प्रकार आर्थिक सहायता करते हैं उसका अध्ययन हम कर ही चुके हैं। उनके काम करने के ढंग की सादगी और ऋण लेने वालों से उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध, उनके स्थानीय ज्ञान तथा अनुभव के कारण ऐसा भविष्य में भी बराबर होता रहेगा। निसन्देह सन् १६२७ के बाद की मंदी, कृषक ऋण लेने वालों की वैधानिक रक्षा, सहकारी संस्थाओं के विकास, डिक्री देने में विलम्ब तथा देशी बैंकरों को सन्देह की दृष्टि से देखने के कारण इधर इनकी दशा बहुत बिगड़ गई है। तो भी इधर इनका सुधार करने का प्रयत्न किया गया है और आशा है कि वह भविष्य में अधिक लाभप्रद साबित होंगे। कृषि की आर्थिक सहायता की, किसी समस्या के हल की तथा उनके सुधार की कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि कृषकों के इस समय के ऋण का निपटारा और उनका भुगतान न हो जाय। आसाम, बंगाल, मध्यप्रांत और पञ्जाब में ऋण के निपटारे के सम्बन्ध में विधान बन चुके हैं। इनके अनुसार वहाँ की राज्य सरकारें इसके लिये बोर्ड बना सकती हैं। उनका उद्देश्य ऋणियों और महाजनों के बीच समझौता कराकर ऋण का निपटारा करने का

है। कोई भी ऋणी अथवा महाजन उनके यहाँ इसके लिये प्रार्थना-पत्र भेज सकता है। ऐसा होने पर वह महाजन और ऋणियों से क्रमशः उनके ऋण, सम्पत्ति तथा पाउने, इत्यादि की सूचना माँगते हैं। ऋण के सम्बन्ध में उन्हें प्रमाण भी देने पड़ते हैं। जब सूचना मिल जाती है तब बोर्ड ऋणी का महाजन से समझौता कराने का प्रयत्न करता है। यदि इसमें सफलता मिल जाती है तो समझौते की रकम २०, २५ किस्तों में देने की योजना बना दी जाती है। महाजनों के बोर्ड द्वारा किया हुआ कोई निपटारा न मानने पर उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में बोर्ड ऋणी को एक प्रमाण-पत्र दे देता है और महाजन के अदालत में जाने पर उसे न तो उसका खर्च और न ६ प्रतिशत से अधिक ब्याज मिलता है। जो महाजन निपटारा स्वीकार कर लेते हैं उनके ऋण की अदायगी का पहले प्रबन्ध कर दिया जाता है। निपटारे के स्वीकृति के जो लाभ और अस्वीकृति की जो हानियाँ है वह सब राज्यों में एक सी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं तो जैसे पंजाब में बोर्डों के सामने वकील आ सकते हैं, और कहीं-कहीं जैसे मध्य प्रान्त, आसाम, मद्रास और बंगाल में ऐसा नहीं हो सकता। इसी तरह से मध्य प्रान्त, आसाम और बंगाल में यह है कि यदि ऋणी कोई किस्त नहीं देता तो वह लगान वसूल करने वाले विभाग के द्वारा वसूल कराई जा सकती हैं। ऋण के निपटारे की योजना उसका उसी समय भुगतान का प्रबन्ध कर देने पर और भी सफल हो सकती है। ऐसा जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे भूमि बन्धक बैंकों द्वारा ही सम्भव है। तब भी भिन्न-भिन्न राज्यों में ऋण के निपटारे के जो अंक हैं उनसे इनकी लोकप्रियता का पता लग जाता है।

कहीं कहीं तो कृषि की उपज की कीमतों में जो कमी हो गई थी उसी के फलस्वरूप कृषि सम्बन्धी ऋणों के छुटकारे के लिये जो विधान बने थे उनके अनुसार कृषकों के ऋण बहुत कम कर दिये गये थे। फिर, इधर युद्ध और युद्धोत्तर काल में कृषकों ने जो लाभ कमाये उससे उन्होंने स्वयम् ही अपने बहुत से ऋण चुका दिये। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि बड़े किसान ही प्रायः ऐसा कर पाये हैं। छोटे किसानों को अपनी उपज बेचने पर प्रायः जो लाभ हुआ, वह उन्होंने अन्य वस्तु के क्रय में व्यय कर दिया। उनके पास बचत नहीं

रही। अतः, ग्रामीण दिवाले का जो विधान है उसे उन ऋणियों के सम्बन्ध में अवश्य लगाना चाहिये। जिनके पास खर्च भर पैदा करने के लिये भी भूमि नहीं है और जिनकी सम्पत्ति और ऋण शोधन क्षमता इतनी भी नहीं है कि वह ऋण बहुत अधिक घटा देने पर भी अदा कर सकें।

आजकल ऋणदाताओं और महाजनों का कृषकों के ऊपर जितना ऋण है उसका निपटारा करने और उसमें कमी करने पर तथा उसका भुगतान करने और जहाँ आवश्यकता हो उसे समाप्त कर देने के बाद और काम करने के ढंग सुधार देने पर वे बड़े लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। हाँ, वे अल्पकालीन, मध्य-कालीन और दीर्घकालीन तीनों प्रकार के ऋण देने का प्रबन्ध नहीं कर सकते। अधिक-से-अधिक जो वह कर सकते हैं वह यह है कि वह प्रथम और दूसरे ऋण देने का प्रबन्ध कर दें। फिर, इस बात का भी प्रबन्ध करना होगा कि कृषक फिर ऋणग्रस्त न हो जायँ; और यह तभी हो सकता है जब उन्हें इनसे असीमित ऋण लेने से रोक दिया जाय। उत्तर प्रदेश के एक विधान (Money Lender's Bill, 1939) में यह दिया हुआ है कि कोई महाजन एक वर्ष में किसी कृषक की उपज का एक-चौथाई से अधिक अपने ऋण की अदायगी में नहीं पा सकता और न ही वह ऐसा बराबर चार वर्षों से अधिक कर सकता है। इसके यह अर्थ हुये कि महाजन केवल उपज की कीमत तक ही ऋण दे सकता है। कैलवर्ट कमेटी के सुझाव के अनुसार स्वीकृत ऋणदाताओं और महाजनों के उपज के आधार पर दिये हुये ऋणों के लिये उपज से ऋण वसूल करने का प्रथम अधिकार देना चाहिये।

(ब) मध्यकालीन ऋण की आवश्यकता

कृषि के धन्धे के सम्बन्ध के जो व्यय हैं उनके लिये ऋण की जो आव-श्यकता पड़ती है उसके अतिरिक्त कृषकों को मवेशी खरीदने के लिये और खेती में बराबर किये जानेवाले सुधार करने के लिए मध्यकालीन ऋण की आवश्यकता पड़ती है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इसमें फसल को लाभ पर बेचने के लिए भी जिसे सहायता की आवश्यकता पड़ती है उसे भी सम्मिलित किया जा सकता है। इन कामों के लिए जो ऋण लिया जाता है उसका भुगतान एक वर्ष के अन्दर नहीं किया जा सकता। अतः, उसके लिए एक लम्बी अवधि

चाहिए जो तीन वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक की हो सकती है। इसके लिए कृषक जो जमानत दे सकता है, वह उसकी चल सम्पत्ति की हो सकती है; जैसे जेवरात अथवा मवेशी अथवा फसल।

मध्यकालीन ऋण देने के लिये वर्तमान संगठन और उनके सुधार के लिये सुझाव

अल्पकालीन ऋण के लिए जो संगठन है वही प्रायः मध्यकालीन ऋण भी देते हैं। यदि हमें फसल बेचने के लिए जो सहायता चाहिये उसे हम लें तो यह वहाँ से प्रारम्भ होती है जब वह खलिहान में तैयार हो जाती है। कभी-कभी तो यह उससे पहले भी प्रारम्भ हो जाती है; अर्थात्, उसी समय से जिस समय से कृषक इस शर्त पर ऋण लेता है कि वह उपज तैयार होने पर उसे ऋणदाता के हाथ पहले निश्चित मूल्य पर बेच देगा। वस्तुतः, न तो कृषक ही और न यह ऋणदाता ही यह उपज बहुत दिनों तक अपने पास रख सकते है; अतः, वह बड़े-बड़े महाजनों के पास पहुँच जाती है। यह प्रायः अढ़तिये होते हैं, और अन्त में आर्थिक सहायता का बोझ इन्हीं के ऊपर पड़ता है। यदि इन्होंने जिससे माल पाया है उसे पहले से ही ऋण दे रक्खा था तो यह केवल किताबी जमा खर्च कर लेते हैं। अन्य स्थितियों में इन्हें नकदी देनी पड़ती है। हाँ, यदि यह इन्हें आढ़त पर रखते हैं,तो इन्हें उसका कुछ प्रतिशत व्यापारी से मिल जाता है। इन्हें भी आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ती है जो निम्न संगठनों से प्राप्त होती है—

(१) दूसरे महाजनों से अथवा स्टेट बैङ्क और सम्मिलित पूँजी के बैङ्कों से—जिस शर्त पर और जितनी राशि के ऋण इनसे मिल सकते हैं वह उनकी साख पर निर्भर है। कभी-कभी तो उसे ऋण-पत्र लिखना पड़ता है, कभी-कभी हुण्डी से काम चल जाता है और कभी-कभी उसके पक्ष में एक चालू खाता खोल दिया जाता है। जब ऋण मुद्दती हुंडी के आधार पर किसी अन्य महाजन से प्राप्त हो जाता है तब कभी-कभी वह हुंडी फिर किसी व्यापारिक बैङ्क से भुना ली जाती है।

(२) माल भरती पर ऋण—माल गोदाम में भरा रहता है; अतः,

उस पर भी ऋण मिल जाता है। यदि ऋणदाता कोई महाजन ही होता है तो वह उसके ऊपर ऐसे ही ऋण दे देता है। हाँ, यदि वह इम्पीरियल बैङ्क अथवा कोई अन्य सम्मिलित पूँजीवाला बैङ्क होता है तो वह गोदाम में अपना ताला और अपने नाम की तख्ती भी लगाता है।

(३) माल की चलानी पर ऋण—यदि माल वहीं का वहीं बिक जाता है तो उसका मूल्य नकद अथवा बाजार चलन के अनुसार एक उचित अवधि के अन्दर मिल जाता है; और यदि वह बाहर जाता है तो भी मूल्य या तो सीधे ही प्राप्त हो जाता है या उसके लिये दर्शनी हुण्डी कर ली जाती है जो खाली हो सकती है अथवा जिसके साथ बिल्टी भी हो सकती है। खाली हुंडी होने पर बिल्टी माल खरीदार के नाम करके वैसे ही उसके पास भेज दी जाती है और जब उसके साथ बिल्टी भी होती है तब वह बैङ्क को दे दी जाती है, जो अपनी शाखा द्वारा अथवा अपने किसी अन्य अढ़तिये बैङ्क द्वारा इसकी वसूली करवा लेता है।

उपर्युक्त से वह स्पष्ट है कि आजकल का जो ढङ्ग है उसमें बड़ी अड़चनें हैं जिन्हें दूर करना चाहिये।

(१) प्रथम तो कृषक अपनी उपज अधिक दिनों तक अपने पास नहीं रख सकता जिससे उसे ऊँची कीमत नहीं मिल पाती। सहकारी समितियाँ उसका माल लेकर उसे ऋण दे सकती है और फिर माल अच्छी कीमत पर बेच सकती हैं। इसमें कृषक को न केवल ऊँचे दाम ही मिल जायँगे वरन् उसकी माल बेचने की बहुत सी मुसीबतें भी दूर हो जायेंगी।

(२) दूसरे, माल भरने की कठिनाइयाँ हैं। कृषक अपना माल मटकों में, बोरों में, चटाई के घेरों में, मिट्टी और डालियों के घेरों में, अथवा जमीन के अन्दर की खत्तियों में रखते हैं। बाजार में भी यही सब चीजें हैं। हाँ, वह कुछ बड़ी अवश्य होती है। अतः, चूहों और घुन से अथवा भूमि के अन्दर की नमी से बड़ी हानि होती है। प्रारम्भ के व्यय अधिक होने के कारण अच्छे तरीकों का प्रयोग तो नहीं हो सकता। हाँ, लाइसेन्स प्राप्त गोदाम अवश्य स्थापित किये जा सकते हैं। विधानतः इन्हें हवा सम्बन्धी, मिलावट करने के विरुद्ध, माल के वर्गीकरण की और प्रबन्ध की शर्तों का पालन करना पड़ता है। इन

इन पर सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण भी रहता है। गोदामों की रसीद अच्छे अधिकार-पत्र का काम देती हैं, और इसी से ऋण के लिए जमानत अथवा हुण्डियों के आधार स्वरूप काम देती हैं।

(३) तीसरे, अधिकांश व्यापार नकदी का होता है, जहाँ उधार होता भी है वहाँ भी केवल जमा खर्च कर लिया जाता है, साख-पत्र प्रयोग में नहीं लाये जाते। मुद्दती हुण्डियों का चलन बढ़ाने की आवश्यकता है। यह विनिमय साध्य होने के कारण सब जगह स्वीकृत हो जाती हैं और यह साख बुनियाद का काम करती हैं।

(४) चौथे, दर्शनी हुण्डियों के आधार-स्वरूप बिल्टियाँ बहुत कम होती हैं।

अतः, उपर्युक्त सुधार होने से बैंक हुण्डियों का व्यवसाय अधिक मात्रा में करेंगे।

कुछ राज्यों में वहाँ की सरकारें रुपया उधार देकर गोदामों के बनने में बड़ी सहायता कर रही हैं। तो भी यह काम रिजर्व बैंक बड़ी अच्छी तरह से अपने हाथ में ले सकता है और उसमें कृषि सम्बन्धी अन्वेषण करने के लिये जो इम्पीरियल काउन्सिल है वह भी इस संबंध की माल छाँटने और रखने की जो समस्यायें हैं उन्हें हल करने में बड़ी सहायता दे सकती है। नोटों से जो लाभ होता है वह इस काम में लगाया जा सकता है। गोदामों का प्रबन्ध भी इसकी देख-रेख में हो सकता है। इससे उनकी रसीदें सर्वोच्च साख-पत्र का काम दे सकती हैं।

अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति ऋणदाता और महाजन लोग कर सकते है। वे अल्पकालीन ऋण के साथ-साथ मध्यकालीन ऋण भी आसानी से दे सकते हैं।

(स) दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकतायें

भारतीय कृषक बहुत से कामों के लिये दीर्घकालीन ऋण लेते हैं। इनकी अवधि २० वर्ष से ३० वर्ष तक हो सकती है। इनके उद्देश्य सहकारी समितियों और महाजनों के पुराने ऋण का भुगतान करना, ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाना, खेतों का सुधार करना, मकान बनवाना, कुयें खुदवाना, सिंचाई की

नालियाँ बनाना और मशीन, इत्यादि खरीदना हो सकते हैं। सहकारी समितियाँ और महाजनों के ऋणों का भुगतान करने की आवश्यकता के विषय में पहले ही काफी कहा जा चुका है। बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने और खेतों के सुधार करने की भी बड़ी आवश्यकता है। कहीं-कहीं पर जहाँ सिंचाई का प्रबन्ध नहीं है वहाँ कुयें खुदवाना भी बहुत आवश्यक हो गया है। कृषकों के लिए अच्छे मकान बनाने की भी बड़ी आवश्यकता है। फिर, कुछ खेत तो बहुत ही छोटे हैं। अतः, बगल की जमीन खरीदने की बहुत आवश्यकता है। कभी-कभी अपने परिवार के ही उन लोगों की जमीन खरीदने की आवश्यकता पड़ जाती है जो कृषि का उद्यम नहीं करना चाहते। इन्हें खरीद लेने से अपने खेत बड़े हो जाते हैं, अथवा छोटे होने से रुक जाते हैं, और दूसरे लोगों के उन्हें खरीद लेने से जो झगड़े का डर हो जाता है वह नहीं रहता। अंतिम बात यह है कि खेतो के एकीकरण और सुधार के फलस्वरूप मशीन, इत्यादि के प्रयोग की भी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। इन सब कामों के लिये जो ऋण लिये जाते हैं उनका भुगतान जल्दी नहीं हो सकता। सच तो यह है कि इनसे उत्पन्न लाभ बहुत दिनों तक चलते हैं अथवा इनका भुगतान भी उसी अवधि के अन्दर होना चाहिये।

भूमि-बन्धक बैंक

दीर्घकालीन ऋण की प्राप्ति के लिए कोई संगठन न होने के कारण कृषकों को अपनी इस माँग की पूर्ति के लिए महाजनों का दर्वाजा खटखटाना पड़ता है तथा अन्य कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है जिससे उनके ऊपर एक बड़ा भारी बोझ लदता चला जा रहा है। यह सुझाव तो पहले ही रक्खा जा चुका है कि पुराने ऋणों का निपटारा हो जाना चाहिये और उन्हें काफी घटाकर उनका भुगतान हो जाना चाहिये। महाजन कृषकों की सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। उन्हें केवल अल्पकालीन तथा मध्यकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये। दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न देशों में वहाँ की सरकारो ने भूमि संस्थाये स्थापित कर रक्खी हैं। इधर हमारे देश में भी कुछ भूमि-बन्धक समितियाँ और बैंक स्थापित कर दिये गये

हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। सन् १६४८-४६ में यह क्रमशः २६३ और ५ थी। इसी वर्ष इनकी कुल कार्यशील पूँजी क्रमशः लगभग ५ और ६ करोड़ रु० की थी। समितियो ने लगभग ४$\frac{3}{4}$ करोड़ रु० का ऋण दे रक्खा था। देश का विस्तार देखते हुए यह स्थिति बहुत ही असन्तोषप्रद थी।

ये समितियाँ मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं :—

(अ) नितान्त सहकारी, (ब) व्यापारिक और (स) अर्ध सहकारी (Quasi co-operative)। नितान्त सहकारी भूमि बन्धक समितियाँ ऋण लेने वालों के ऐसे संगठन हैं जो व्याजू देखनहार रेहन-पत्रों के आधार पर द्रव्य एकत्रित करती हैं। व्यापारिक भूमि बन्धक समितियो के हिस्सों की पूँजी होती हैं और वह लाभ के लिए काम करती हैं तथा लाभ की बँटनी करती हैं। अर्ध सहकारी बैंक के ऋण लेने वाले तथा ऋण न लेने वाले दोनों प्रकार के सदस्य होते हैं और वे एक बहुत बड़े क्षेत्र में काम करते हैं। इनकी हिस्सों की पूँजी होती है और दायित्व सीमित होता है।

भारतवर्ष में अधिकांश बैंक अर्ध सहकारी हैं। बात यह है कि वे कुछ ऋण न लेने वाले व्यक्तियों को भी प्रारम्भिक पूँजी प्राप्त करने और उनके व्यापारिक गुणों का सङ्गठन करने और प्रबन्ध करने की शक्ति पाने के उद्देश्य से अपने सदस्य बना लेते हैं।

मद्रास में सहकारी भूमि बन्धक बैंक सबसे अधिक हैं। सन् १६२५ के लगभग, सीमित दायित्व के आधार पर हिस्सों की पूँजी वाले प्राप्त पूँजी से अठ-गुना और दसगुना ऋण देने की शक्ति रखने वाले दस बैंक वहाँ पर स्थापित किये गये थे। ऋण देने पर उनके पास जो भूमि रेहन के रूप में प्राप्त हो जाती थी उसी के आधार पर उन्हें ऋण-पत्र निकालने का अधिकार दे दिया गया था। सरकार ने भी कम-से-कम जनता द्वारा क्रय किये गये ऋण-पत्रों के बराबर और एक बैंक के अधिक-से-अधिक ५०,००० रु० के ऋण-पत्र तथा सारे राज्य के अधिक-से-अधिक २$\frac{1}{2}$ लाख के ऋण-पत्र खरीदने का वचन दिया था। किंतु अधिकांश बैंक जनता में ऋण-पत्र बेचने में काफी सफल नहीं हुए। अतः, टाउन्सेण्ड कमेटी की सिफारिश के अनुसार एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक की

संस्थापना की गई जो सब बैंकों को आर्थिक सहायता देने के लिये और एक की बचत दूसरे को देने के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। ऋण-पत्र निकालने का काम यही करने लगा और इसमें इसे सफलता भी प्राप्त हुई। राज्य सरकार ने इन पर सूद देने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। उसने १५००० की मुक्त पूँजी भी दी। साथ ही उसके अनुभवी काम करने वाले भी इसे दिये गये। प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक अपने रेहन इसे दे देते हैं और यह उनके आधार पर ऋण-पत्र निकालता है। अब रिजर्व बैंक भी इनकी सहायता करता है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि इनके २०% ऋण-पत्र यह ले लेता है। इसके अतिरिक्त यह इन्हें अन्य प्रकार से भी आर्थिक सहायता पहुँचाता है। इन्हें उससे सलाह, इत्यादि भी मिलती है।

अन्य राज्यों में भी भूमि बंधक बैंक हैं। सन् १६४०–४१ में पञ्जाब में १०, बम्बई में १८, बङ्गाल में १० और आसाम में ४ भूमि बन्धक बैंक थे। पञ्जाब के दो बैङ्क तो सारे जिले भर में काम करते थे और शेष केवल एक तहसील ही में काम करते थे। मद्रास को छोड़कर अन्य राज्यों में केन्द्रीय बैङ्क नहीं हैं। अतः, वहाँ प्रारम्भिक बैङ्क ही अपने ऋण-पत्र निकालते हैं। वस्तुतः, एक केन्द्रीय संगठन की तो सभी जगह आवश्यकता है इन सहकारी भूमि बन्धक बैङ्कों के ढंग भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न हैं। साधारणतया तो उनके यहाँ की सरकारों ने ऋण-पत्रों के ब्याज अथवा उनकी पूँजी अथवा दोनों का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है और कहीं कहीं तो कुछ को खरीदा भी है। रिजर्व बैङ्क भी अब इनकी सहायता करता है।

भूमि बन्धक बैङ्क और भी उपयोगी बनाये जा सकते हैं।

(१) प्रथम तो उनमें काम करने का ढंग एक सा किया जा सकता है।

(२) दूसरे, हर प्रान्त में एक केन्द्रीय बैङ्क होना आवश्यक है। जहाँ वह नहीं खुल सकते वहाँ राज्य सहकारी बैंकों ही को ऋण-पत्र निकालने का और प्रारम्भिक बैङ्कों की सहायता करने का काम दिया जा सकता है।

(३) तीसरे, जहाँ-जहाँ कृषकों के भूमि की बिक्री पर रोक है, वहाँ-वहाँ पर उसके कानून इस प्रकार बदलने पड़ेंगे कि उन्हें भूमि बन्धक बैङ्कों को आसानी से हस्तान्तरित किया जा सके।

(४) चौथे, प्रारम्भ में उनकी सफलता के लिए सरकारी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी, अतः, वह प्राप्त होनी ही चाहिये।

कृषि-साख और सरकार

कृषि को साख देने के लिये सरकार कृषि ऋण विधान और सुधार ऋण विधान के अन्तर्गत काम करती है। यह जो ऋण देती है वह प्रचलित भाषा में तकावी के नाम से विख्यात है। ये साधारणतया तो हर साल प्रत्येक राज्य में कुछ ही लाख रुपये बाँटे जाते हैं। हाँ, मुसीबत के समय यह करोड़ दो करोड़ तक पहुँच जाते हैं। तकावी अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनो होती है। अल्पकालीन तकावी प्रायः बीज और मवेशियों के क्रय के लिये काम में आती है और उसी वर्ष की उपज से वसूल कर ली जाती है जिस वर्ष की उपज के लिये वह प्रयोग में लाई जाती है। इसके विपरीत दीर्घकालीन तकावी स्थायी सुधारों के लिये काम में लाई जाती है और कई वर्षों में किस्त से वापस की जाती है। साधारणतया दीर्घकालीन तकावी नहीं बाँटी जाती। अल्पकालीन तकावी में कभी-कभी बीज दिये जाते हैं। जब मुसीबत पड़ती है तब तकावी बहुत अच्छी समझी जाती है किन्तु साधारणतया तो कृषक ऊँचा ब्याज होने पर भी सरकार की अपेक्षा महाजनों से ऋण लेना अधिक अच्छा समझते हैं। निश्चय ही इसका एकमात्र कारण यह है कि तकावी के वितरण में अनेक दोष भरे पड़े हैं।

(१) तकावी देने के पहले बहुत सी पूछ-ताछ की जाती है जिसके लिये पटवारी और कानूनगो काम में लाये जाते हैं। उनकी सिफारिशें प्रायः, सत्य नहीं होतीं। अतः, तकावी अपेक्षित लोगों को न मिलकर उन्हें प्राप्त हो जाती है जो इन्हें खुश कर पाते हैं।

(२) इन्हें बाँटने के केन्द्र बहुत कम होने के कारण कृषकों को बहुत समय तो राह चलने में ही खराब करना पड़ता है। उन्हें वहाँ पर पहुँचकर भी कई दिनों तक पड़ा रहना पड़ता है। इसमें सब में खर्च पड़ता है।

(३) यह समय पर बहुत कम मिल पाती है।

(४) प्रत्येक व्यक्ति को जो रकम मिलती है वह उसकी आवश्यकता से बहुत कम होती है।

(५) इसे वसूल करने के तरीके भी बहुत सख्त होते हैं।

अतः, यह सब बुराइयाँ इन्हें सहकारी समितियों द्वारा वितरण कराने से दूर की जा सकती हैं। वास्तव में सरकार यह काम बहुत अच्छी तरह से नहीं कर सकती।

प्रश्न

(१) कृषि सम्बन्धी अर्थ में क्या विशेष कठिनाइयाँ पड़ती हैं? कृषकों की माँग का वर्गीकरण कीजिये और प्रत्येक वर्ग को स्पष्ट तौर पर समझाइये।

(२) रिजर्व बैंक कृषि साख विभाग ने अब तक क्या कार्य किये हैं? उन्हें बताइये।

(३) रिजर्व बैंक की निम्न योजनाओं पर टिप्पणियाँ लिखिये :—
(१) राशि स्थानान्तरण योजना, (२) कृषि साख सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार की योजना, (३) बिल बाजार विकास योजना, (४) भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्रों में हाथ बटाने की योजना, (५) उपज विक्रय में सुविधा देने की योजना।

(४) रिजर्व बैङ्क कृषि साख को क्या सुविधायें देता है?

(५) सम्मिलित पूँजी के बैङ्क कृषि को कैसे सहायता करते हैं? इसे समझाइये।

(६) सहकारी साख समिति से आप क्या समझते हैं? दो तरह की जो समितियाँ होती हैं उनके भेद बताइये।

(७) इस देश में सहाकारिता के विकास का इतिहास बताइये। इस समय उसकी क्या स्थिति है?

(८) सहकारी साख समितियों और बैङ्कों को उनकी पूँजी कहाँ से प्राप्त होती है? वे उसका किस प्रकार उपयोग करते हैं?

(९) इस देश में आजकल के सहकारिता आन्दोलन में कौन-कौन से दोष हैं? उन्हें दूर करने के लिये सुझाव रखिये।

(१०) एक ऐसी योजना बताइये कि जिससे महाजन और अच्छी तरह

से कृषि की सहायता कर सकें। इस सम्बन्ध में निपटारे की कार्यप्रणाली और उनके लाभ के विषय में बताइये।

(११) भारतवर्ष में कृषि की बिक्री को किस प्रकार आर्थिक सहायता मिलती है ? उसे सुधारने के लिये अपने सुझाव रखिये।

(१२) समस्त भारतवर्ष में भूमि बन्धक बैंकों की संस्थापना की आवश्यकता के विषय में अपनी सम्मति दीजिये। वे किस तरह से और अधिक उपयोगी बनाये जा सकते हैं ?

(१३) तकावी से आप क्या समझते हैं ? इसके वितरण में कौन-कौन से दोष हैं ? क्या इसे किसी तरह से सुधारा जा सकता है ?

अध्याय १५

उद्योग सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था

उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये आर्थिक व्यवस्था का उतना ही महत्व है जितना किसी अन्य वस्तु का हो सकता है। अतः, देश के औद्योगीकरण के लिये एक सुव्यवस्थित आर्थिक सङ्गठन की आवश्यकता है। अँग्रेजों के समय में तो उनकी नीति ही यह रही थी कि देश में उद्योग-धन्धों की उन्नति न हो। हाँ, दोनों युद्ध काल में अवश्य यह बात बहुत अखरी, अतः, जो कुछ भी किया गया इन्हीं दोनों काल में किया गया। कांग्रेस का भी इस विषय में पहले कोई अधिक अच्छा रुख नहीं था। युद्ध के पहले कुछ समय तक इसने जब प्रान्तों में शक्ति ग्रहण की थी तब जो कुछ भी किया था, वह कृषि की आर्थिक व्यवस्था ही के लिये किया था। फिर, हमारे नेतागण जब कभी भी धन्धों की बातचीत करते थे केवल घरेलू धन्धों की ही बातचीत करते थे, फेक्टरी के धन्धों की नहीं। इधर स्वतन्त्रता प्राप्त के बाद अवश्य उनकी नीति बदली है।

उद्योग-धन्धों की आर्थिक आवश्यकताएँ

प्रायः उद्योग-धन्धों की भी वही आर्थिक आवश्यकताएँ हैं जो कृषि की हैं, अर्थात् अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन। अल्पकालीन आवश्य-

कताएँ कच्चे माल और स्टोर्स के क्रय के सम्बन्ध की, उपज के विक्रय के सम्बन्ध की और मजदूरी देने तथा दैनिक व्यय पूरा करने के सम्बन्ध की हैं। मध्यकालीन आवश्यकताएँ भी उपर्युक्त के सम्बन्ध की ही हो सकती हैं और उनके लिये हुये ऋण का भुगतान एक वर्ष से पाँच वर्ष के अन्दर तक हो सकता है। दीर्घकालीन ऋण प्रारम्भ में तो जमीन को क्रय के लिये कारखाने की इमारत बनाने के लिये और मशीन, इत्यादि लगाने के लिये, तथा बाद में विस्तार सङ्गठन के लिये लिया जाता है। इसे अँग्रेजी में ब्लाक कैपिटल भी कहते हैं। हिन्दी में यह घिरी हुई पूँजी कही जा सकती है। दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन आवश्यकताओं अथवा घिरी हुई और कार्यशील पूँजी के बीच का अनुपात धन्धों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। उत्पादन जितना ही पेचीदा होता है उतनी अधिक दीर्घकालीन आवश्यकताएँ अथवा घिरी हुई पूँजी की जरूरत पड़ती है। पाट, रुई, लोहे और स्टील, बिजली और खदान जैसे सङ्गठित धन्धों में घिरी हुई पूँजी बहुत लगती है। औषधियाँ, प्लास्टिक, शीशे, चद्दरों और विशेषतः घरेलू धन्धो में इसका उल्टा है। संक्षेप में यह उपज के मूल्य पर और उसके लिये जो समय लगता है उस पर निर्भर है। इनके अलावा और भी कारण हो सकते हैं, जैसे कच्चा माल खरीदने और बना हुआ माल बेचने के तरीके, मूल्य भुगतान के तरीके, इत्यादि। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे जितनी ही अधिक घिरी हुई पूँजी की आवश्यकता पड़ती है उतनी ही अधिक अर्थ की दिक्कत होती है।

भारतवर्ष में वर्तमान स्थिति

भारतवर्ष में वर्तमान स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। अँग्रेजी व्यापारिक बैङ्कों का तो यह चलन है कि वे दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करते ही नहीं। उनके यहाँ इसके लिये अलग संस्थायें हैं जैसे सिक्योरिटियों की व्यवस्था करने वाले ट्रस्ट और बैङ्कों के औद्योगिक विभाग की कम्पनियाँ। हमारे यहाँ पर अँग्रेजी चलन के ही अनुसार औद्योगिक बैङ्को की संस्थापना पर जोर दिया जा रहा है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है इस सम्बन्ध में पहला प्रयत्न टाटा औद्योगिक बैंक की संस्थापना से हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि वह बहुत दिनों तक नहीं चल सका, किन्तु उसी तरह के कुछ अन्य बैंक भी चलाये गये

थे जिनमें से, इन्डस्ट्रियल बैंक आफ वेस्टर्न इण्डिया, कारनानी इन्डस्ट्रियल बैंक रायकुट इन्डस्ट्रियल बैंक, शिमरा बैंकिंग ऐण्ड इन्डस्ट्रियल कम्पनी, लक्ष्मी इंडस्ट्रियल बैंक, इत्यादि बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। किन्तु इनमें विदेशी बैंकों की-सी प्रभावोत्पादन संस्थापन शक्ति, ज्ञान की दृढ़ता और सङ्गठन करने की योग्यता नहीं है। देश के विस्तृत क्षेत्र का ध्यान रखते हुये इनकी संख्या भी बहुत कम है। सन् १९१८ के औद्योगिक कमीशन ने भी सरकारी सहायता प्राप्त और एक निश्चित ढङ्ग पर काम करने वाले औद्योगिक बैंको की संस्थापना की सिफारिश की थी। किन्तु केवल सन् १९३६ ही में पहले-पहल संयुक्त प्रान्त की सरकार ने औद्योगिक अर्थ कमेटी की वे सिफारिशें मान कर जिनमें उसने बड़े और छोटे धन्धों को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण देने के लिये एक इन्डस्ट्रियल क्रेडिट बैंक की संस्थापना करने के लिये सुझाव रक्खे थे इस तरह का एक बैंक स्थापित किया। इस बैंक ने सरकार से एक समझौता कर लिया था जिसके अनुसार १५ वर्ष तक सरकार ने इसे इसकी प्राप्त पूँजी का ४ प्रतिशत और अधिक से अधिक ६०,००० रु० वार्षिक इसलिये देने का वायदा किया था कि यह प्रति वर्ष ४ प्रतिशत लाभ की बँटनी कर सके। किन्तु इसका कार्य बहुत प्रसंशनीय नहीं रहा और इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं क्योंकि सरकार की इतनी कम मदद के साथ कोई बैंक कुछ अधिक कर ही नहीं सकता। सन् १९३७ में बङ्गाल की सरकार ने वहाँ के छोटे-छोटे धन्धों की सहायता करने के लिये एक इन्डस्ट्रियल क्रेडिट कारपोरेशन की संस्थापना में हाथ बटाया था। सन् १९४० में यही बम्बई इकानमिक बोर्ड ने भी किया था। किन्तु इन्होंने भी कोई प्रसंशात्मक कार्य नहीं किया। अन्त में सन् १९४६ में एक अखिल भारतीय इन्डस्ट्रियल फिनान्स कारपोरेशन की स्थापना के सम्बन्ध में एक बिल पेश हुआ था जो बाद में विधान बन गया। यह कारपोरेशन इस समय काम कर रहा है, और इसने बहुत से उद्योग। धन्धो को सहायता भी दी है। किन्तु यह सहायता आवश्यकता से बहुत कम है। सन् १९५१ में एक और विधान पास हुआ जिसके अनुसार कुछ राज्यों में ये खुल गये हैं और कुछ में खुल रहे हैं। ये भी अच्छा काम कर रहे है। किन्तु आवश्यकता की पूर्ति अभी तक नहीं हो पाई है। जहाँ तक व्यापारिक बैङ्कों का सम्बन्ध है, वे दीर्घकालीन ऋण नहीं देते। वे जो कुछ सहायता करते हैं वह केवल मध्यकालीन तथा अल्पकालीन आवश्यक-

ताओं की पूर्ति के लिये ही होती हैं, और इनका अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे।

उपर्युक्त स्थितियों में यहाँ पर दीर्घकालीन पूँजी के लिये केवल तीन ही साधन बच रहते हैं। इनमें से प्रथम तो जो यहाँ के धन्धों के प्रारम्भ करने में भी बड़ा सहायक हुआ है, व्यक्तिगत है। इसमें एक परिवार के लोग अथवा उसके कुछ मित्र ही उसकी सहायता करते हैं। इसी से मैनेजिङ्ग एजेन्सी प्रणाली का सूत्रपात हुआ, अथवा यह कहिये कि वह यही है। दूसरे, कुछ स्थानों में इन्हें जमा प्राप्त हो जाती है जो एक तरह से स्थायी ही है। अंतिम में योजना-पत्र निकालकर जनता में हिस्से और ऋण-पत्र बेचे जाते हैं।

(१) मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली

यदि हम प्रथम को लें तो कुछ ऐसे व्यक्ति अथवा फर्म हैं जिनके पास अच्छी पूँजी है और जो कोई काम चलाने के लिये प्रारम्भिक काम करते हैं, उनकी संस्थापना करते हैं, उसे आर्थिक सहायता देते हैं अथवा उसका दायित्व ले लेते हैं और प्रायः उसकी व्यवस्था करते हैं। इनके जिन्हें मैनेजिंग एजेन्ट कहते हैं, मुख्य काम नीचे दिए हुये हैं :—

(१) ये कंपनी संस्थापक का काम करते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि एक बात जिस पर किसी औद्योगिक इकाई की सफलता निर्भर है यह है कि उसके सम्बन्ध की योजना बहुत अच्छी बनी हो और वह अच्छी अवस्था में आरम्भ की गई हो। इसके लिये सङ्गठनकर्ता में एक बड़ी रचनात्मक योग्यता होनी चाहिये। भारतवर्ष में आधुनिक धंधे, प्रारम्भ करने का श्रेय केवल दो ही वर्गों के लोगों को है। एक तो अँग्रेज व्यापारी जो अँग्रेज व्यापारिक कोठियों का प्रतिनिधित्व करने के लिये आये थे और दूसरे बम्बई के और फिर अहमदाबाद तथा अन्य स्थानों के रुई के व्यापारी। जो कुछ भी उन्नति हुई है उसमें से अधिकांश श्रेय प्रत्यक्ष रूप में अथवा अप्रत्यक्ष रूप में इन्हीं को है। इस सम्बन्ध में सर्वश्री टाटा सन्स ऐण्ड कम्पनी, एण्ड्रयु यूल ऐण्ड कम्पनी, कैटिलवेल बलेन एण्ड कम्पनी, करीम भाई इब्राहीम ऐण्ड सन्स लिमिटेड, बिरला ब्रदर्स लिमिटेड, शा वालेस ऐण्ड कम्पनी, नौरोजी वाडिया ऐण्ड

सन्स, सी० एन० वाडिया ऐण्ड कम्पनी, बर्ड ऐण्ड कम्पनी, मार्टिन एन्ड कम्पनी, इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ ने तो दर्जनों धंधे स्थापित कर दिखाये हैं।

(२) ये नये धंधों के हिस्सों की बिक्री का बीमा भी कर देते हैं। विदेशों में यह काम एक विशेष प्रकार के बीमा करने वाले अथवा औद्योगिक और व्यापारिक बैङ्क करते हैं। इनकी अनुपस्थिति में यहाँ पर वह काम मैनेजिंग एजेण्ट करते हैं। हमारे यहाँ यदि इन लोगों ने बहुत-सी कम्पनियों के हिस्से बेचने की जमानत अपने ऊपर न ली होती तो शायद वह काम आरम्भ ही नहीं कर सकती थीं। जब किसी नई कम्पनी के हिस्से निकाले जाते है और उनके बिकने की जमानत के किसी मैनेजिङ्ग एजेण्ट की कोठी के ले लेने की बात जनता के सामने आती है तो लोगों का उस पर विश्वास हो जाता है और यदि इतने पर भी लोग सब हिस्से नहीं ले लेते तो मैनेजिङ्ग एजेण्ट स्वयं वह सब हिस्से ले लेते हैं।

(३) ये इस संस्था के व्यवस्थापक का काम भी करते हैं और प्रायः इनके विस्तृत अनुभव से लाभ भी हुआ है। किन्तु अयोग्य व्यवस्था के भी उदाहरण मिलते हैं। पहले इनके अधिकार पिता से पुत्र को मिल जाते थे, अतः, कुछ दिनों में यह अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में पड़ जाते थे। यह बेचे अथवा हस्तान्तरित भी किये जा सकते थे। अब, यह दोनों बातें सन् १९३६ के कंपनी संशोधन विधान के अनुसार मना कर दी गई हैं। जब कम्पनी की स्थायी पूँजी में इनकी कोई दिलचस्पी नहीं होती तब इनके हिस्सेदारों की हानि कर देने का डर रहता है। अंतिम बात यह है कि यह अपने मित्रों और सम्बंधियों को नौकर रख लेते हैं और यदि वह कार्य कुशल नहीं होते तो कम्पनी की बड़ी हानि होती है।

(४) बैंकिंग और कारबार के बीच में ये एक प्रकार का सम्बन्ध भी स्थापित कर देते हैं। बात यह है कि सन् १९२० के इम्पीरियल बैङ्क विधान के अनुसार बैङ्क को किसी व्यक्ति अथवा साझे की फर्म की किसी हुण्डी पुर्जे पर ऋण देने के लिये उस समय तक मनाही थी जिस समय तक कि उस पर कम से कम दो ऐसे व्यक्तियों अथवा फर्म के हस्ताक्षर न हों जिनके बीच में कोई साझा न हो। अतः-

कम्पनी की ओर से जिस डायरेक्टर के हस्ताक्षर होते हैं उसके अतिरिक्त मैनेजिङ्ग एजेण्ट के भी हस्ताक्षर लेने की प्रथा चल पड़ी है। इससे कम्पनी के ऊपर तो उसके डायरेक्टर के हस्ताक्षर के कारण दायित्व रहता ही है किन्तु मैनेजिंग एजेण्ट के ऊपर भी अलग से दायित्व हो जाता है। यद्यपि दूसरे बैंकों के लिये कोई ऐसा विधान नहीं है किंतु वे भी इस बात में इम्पीरियल बैङ्क का ही अनुसरण करते थे। अतः, मैनेजिंग एजेण्ट को हर हालत में हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। जब माल के ऊपर ऋण लिया जाता है तब भी मैनेजिंग एजेण्ट की प्रतिभूति के लिये जोर दिया जाता है।

(५) ये औद्योगिक संस्थाओं को अर्थ सम्बन्धी सहायता भी देते हैं। यहाँ पर हिस्से बहुत अधिक प्रचलित न होने के कारण प्रायः धंधों की पूँजी कम रहती है और उन्हें ऋण के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि बैङ्कों से ऋण लेने के लिये मैनेजिंग एजेन्टों को अपने हस्ताक्षर देने पड़ते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त वे स्वयं भी ऋण देते हैं।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि कभी-कभी इनकी व्यवस्था खराब हो जाती है। किन्तु सन् १९३६ के कम्पनी संशोधन विधान के अनुसार मैनेजिंग एजेन्टों के उत्तराधिकार और उनके अधिकारों के विक्रय तथा हस्तान्तरित होने की मनाही हो जाने के कारण अब ऐसा नहीं हो सकता। हाँ, इसमें एक अन्य दोष है। इसके कारण बैङ्कों और धंधों में सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह प्रणाली होने से अर्थ के दोहरे प्रबन्ध के कारण औद्योगिक उन्नति रुक गई है। एजेन्ट बैङ्कों के ऊपर निर्भर रहते हैं, कारबार के विषय में उनका विचार पुराना है और वह औद्योगिक योजनाओं की ओर यथेष्ठ ध्यान नहीं देते। धंधे स्थापित करने के लिये उनमें पारस्परिक सङ्गठन भी नहीं है, और इसी कारण उन्हें लाक्षणिक तथा आर्थिक अनुभवी नहीं प्राप्त हो पाते। धन्धे का ठोसपन उसके कार्यान्वित तथा लाभप्रद होने की सम्भावना, इत्यादि का निश्चय इन्हीं द्वारा हो सकता है। फिर इनके आर्थिक साधन सीमित रहने के कारण निश्चयात्मकरूप से लाभप्रद धंधे निरन्तर नहीं खोले जा सकते। सत्य तो यह है कि इनका लागत लगाने वाली जनता से उतना सम्बन्ध नहीं हो सकता जितना बैङ्कों का होता है। अतः, ये एक के बाद दूसरी कम्पनी के हिस्से न तो बेच ही सकते हैं और न ऐसा

करने की जिम्मेवारी ही ले सकते हैं। यह प्रणाली तेजी में तो सफलता प्राप्त कर लेती है, किन्तु मंदी में ऐसा नहीं होता। उस अवस्था में जब मैनेजिंग एजेन्टों को अपना कारबार सुदृढ़ बनाने के लिये द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है तब उन्हें द्रव्य नहीं प्राप्त हो पाता। जैसा प्रायः होता है यदि किसी मैनेजिंग एजेन्ट का कोई एक कारबार बुरी अवस्था में पड़ जाता है तब उसके अन्य कारबारों में भी दिक्कत हो जाती है। सन् १६३६ के कम्पनी संशोधन विधान में इस सम्बन्ध की कुछ बचत कर दी गई है। उसके अनुसार किसी कंपनी के रुपये किसी ऐसी दूसरी कम्पनी के हिस्से लेने में अथवा उसे ऋण देने में नहीं प्रयोग मे लाये जा सकते जो एक ही मैनेजिंग एजेण्ट के प्रबन्ध में है। हाँ, यदि कम्पनी लागत लगाने वाली कम्पनी है तो यह रुकावट नहीं है। फिर, यदि खरीदने वाली कंपनी के सब डाइरेक्टर निर्विरोध ऐसा करने के लिये निश्चित कर देते हैं तब भी ऐसा हो सकता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि एक कम्पनी की कमजोरी का दूसरे पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। अंतिम दोष यह है कि बम्बई में सूती मिलों के हिस्सों में मैनेजिंग एजेण्टों के कारण सट्टेबाजी होती है। प्रायः ऐसा होता है कि मैनेजिंग एजेण्ट जिस कम्पनी को अपने हाथ में लेते हैं प्रारंभ में उसके अधिकांश हिस्से स्वय खरीद लेते हैं। किन्तु कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो कम्पनी अपने हाथ में लेना चाहते हैं। अतः, जब वे यह देखते हैं कि मैनेजिंग एजेण्ट की आर्थिक-अवस्था कमजोर है तब वह हिस्सो की कीमत बढ़ा कर उन्हें स्वय खरीद लेते हैं। संक्षेप में यह है कि वे तनिक सी कमजोरी देखने के साथ ही उसका लाभ उठाने के लिये तैयार रहते हैं और इससे बम्बई की सूती मिलों के हिस्सों में बड़ी सट्टेबाजी होती है। यदि मिलें द्रव्य के लिये मैनेजिंग एजेन्टों पर इतना निर्भर न होतीं तो उनके हिस्सो में इतनी सट्टेबाजी न होती और जनता की जो उससे हानि होती है वह रुक जाती।

सन् १६३६ के भारतीय कम्पनी संशोधन विधान में मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली के दोष दूर करने के लिये जो व्यवस्था कर दी गई है उसका थोड़ा-सा अध्ययन तो हम कर ही चुके हैं। इस सम्बन्ध की जो अन्य धारायें हैं वह निम्न-आशय की हैं :—

(१) विधान प्रारम्भ होने के बाद से कोई भी मैनेजिंग एजेन्ट २० वर्ष से अधिक के लिये यह पद नहीं पा सकता।

(२) नियमावली में चाहे जो कुछ लिखा हो अथवा परस्पर चाहे जो कुछ तै हुआ है किन्तु यह विधान पास होने के पहले भी यदि कोई मैनेजिंग एजेण्ट २० वर्ष से अधिक के लिये नियुक्त हुआ है तो यह विधान पास होने के बीस वर्ष के बाद वह मैनेजिंग एजेन्ट नहीं रह सकता। हाँ, उसकी फिर से नियुक्ति हो सकती है। जब किसी मैनेजिंग एजेंट का समय समाप्त होने को हो तो वह कम्पनी से वह सब खर्च ले सकता है जो उसने उसके लिये किये हों।

(३) यदि किसी मैनेजिंग एजेन्ट ने कंपनी के सम्बन्ध में किसी ऐसे अपराध के लिये सजा पाई है जो भारतीय पिनल कोर्ड के अनुसार दंडनीय है और जिसकी जमानत नहीं है तो कम्पनी उसे निकाल सकती है। यदि मैनेजिंग एजेन्ट कोई फर्म अथवा कम्पनी है तो यदि उसके किसी साझी अथवा डाइरेक्टर ने उपर्युक्त अपराध किया है और वह ऐसा अपराध करने के ३० दिन के अन्दर नहीं निकाला जाता है तो वह अपराध उस फर्म अथवा कम्पनी का समझा जायगा।

(४) यदि कोई मैनेजिंग एजेन्ट दिवालिया घोषित कर दिया जाता है तो वह भी अपने पद से च्युत कर दिया जायगा।

(५) कोई मैनेजिंग एजेन्ट उस समय तक अपना अधिकार हस्तान्तरित नहीं कर सकता जब तक कम्पनी की साधारण सभा में वह पास न हो जाय।

(६) यदि मैनेजिंग एजेन्ट ने अपना प्रतिफल अथवा उसका कोई अंश किसी को हस्तांतरित कर दिया है तो उसके सम्बन्ध का दायित्व कम्पनी के ऊपर नहीं पड सकता।

(७) किसी कम्पनी की इतिक्रिया होने पर मैनेजिंग एजेन्ट का प्रतिफल, इत्यादि वैसे तो कम्पनी से वसूल किया जा सकता है। किन्तु यदि यह इतिक्रिया मैनेजिंग एजेन्ट की भूल से हुई है तो ऐसा नहीं किया जा सकता।

(८) यह विधान प्रारंभ होने के बाद किसी मैनेजिंग एजेन्ट की नियुक्ति अथवा पदच्युति अथवा उसके विषय की अन्य कोई बात तब तक नहीं मानी जा सकती जब तक वह साधारण सभा में न तै हो जाय।

(६) यह विधान प्रारंभ होने के बाद से मैनेजिंग एजेन्ट का प्रतिफल कम्पनी के नेट वार्षिक लाभ का ही एक अंश हो सकता है। हाँ, लाभ कम होने पर कुछ न्यूनतम प्रतिफल भी दिया जा सकता है। साथ ही कुछ निश्चित आफिस अलाउन्स भी दिया जा सकता है। इसके लिये नेट वार्षिक लाभ का अर्थ कंपनी के उस लाभ से है जो सब खर्चे, ऋण पर का ब्याज, मरम्मत, ह्रास और सरकार से अथवा किसी अन्य संस्था से जो छूट मिली हो, उसे हिस्से बेचने पर अथवा कम्पनी की कुछ या सब सम्पत्ति बेचने पर जो लाभ मिला हो वह सब काटकर और आय कर, अतिरिक्त कर, अथवा लाभ पर अन्य कोई कर हो अथवा ऋण-पत्रों पर ब्याज, अथवा सम्पत्ति पर किये गये खर्च अथवा अन्य कोई ऐसी रकम लाभ में से सुरक्षित कोष अथवा अन्य किसी कोष में ले जाई गई हो उसे काटे बिना बचती है।

(१०) कोई कम्पनी न तो अपने मैनेजिंग एजेन्ट को ऋण दे सकती है और न उसे दिये हुए किसी ऋण की वापसी का दायित्व ले सकती है।

(११) कम्पनी के कम से-कम तीन-चौथाई डाइरेक्टरों की राय के बिना कोई मैनेजिंग एजेन्ट कम्पनी के साथ उसके माल की बिक्री अथवा खरीद अथवा पूर्ति के लिये कोई समझौता नहीं कर सकता।

(१२) जिस कम्पनी में कोई मैनेजिंग एजेन्ट है वह किसी दूसरी ऐसी कम्पनी को जिसका वही मैनेजिंग एजेन्ट है न तो कुछ ऋण दे सकती है, न उसे दिये हुये किसी ऋण का दायित्व ले सकती है, न उसके हिस्से अथवा ऋण पत्र खरीद सकती है। हाँ, यदि कोई कम्पनी लागत लगाने वाली कंपनी है तो यह नियम नहीं लागू होगा। इसके अतिरिक्त क्रय उस समय भी किया जा सकता है जब क्रय करने वाली कम्पनी के सब डाइरेक्टरों की राय से क्रय हुआ हो।

(१३) मैनेजिंग एजेन्ट न तो कम्पनी के ऋण-पत्र निकाल सकता है और न डाइरेक्टरों द्वारा निश्चित सीमा से अधिक लागत लगा सकता है।

(१४) मैनेजिंग एजेन्ट स्वयं का कोई ऐसा व्यवसाय नहीं कर सकता जो उस कम्पनी के व्यवसाय की तरह हो जिसका वह मैनेजिंग एजेन्ट है। इसी तरह से वह उस कम्पनी की सहायक कम्पनी के व्यवसाय की तरह का भी कोई व्यवसाय नहीं कर सकता।

(१५) यदि किसी सार्वजनिक कम्पनी के मैनेजिङ्ग एजेन्ट को उसमें कुछ डाइरेक्टर नियुक्त करने का अधिकार है तो ऐसे डाइरेक्टरों की संख्या सब डाइरेक्टरों की एक-तिहाई से अधिक नहीं हो सकती।

(१६) जिस कंपनी में कोई मैनेजिङ्ग एजेन्ट है उसमें मैनेजिङ्ग एजेन्ट सम्बन्धी जितनी शर्तें हैं उन सबका उल्लेख एक रजिस्टर में होना चाहिये। कम्पनी के हिस्सेदार जब चाहें तब इसे देख सकते हैं।

(२) जमा प्राप्त करना

कुछ जगहों पर मिलों में जो जमा प्राप्त होती है वह वहाँ पर पुराने समय में महाजनों के यहाँ जो जमा प्राप्त होती थी उसी का अवशेष है। बम्बई में और अहमदाबाद में जिन्होंने सर्वप्रथम मिलें खोली थीं वह महाजन वर्ग के ही लोग थे और उन पर जनता का विश्वास था। अतः, उसने उसके पास अपनी जमा छोड़ दी। इस तरह से वहाँ पर रुई की मिलों में जो पूँजी लगी थी वह बहुत काफी थी और अहमदाबाद में तो यह इसलिये विशेष तौर पर था कि वहाँ के बैङ्क वहाँ की मिलों की अधिक सहायता नहीं करते थे। बम्बई में यह जमा छः महीने से लेकर वर्ष भर की होती थी। अतः इसे अल्पकालीन जमा कह सकते हैं और यह बहुत कम ब्याज पर मिल जाती थी। मिल-मालिकों को यह बहुत ही पसन्द थी क्योंकि वह इसे रुई खरीदने के समय तो ले लेते थे और बाद में जब आवश्यकता नहीं रहती थी, नहीं लेते थे। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद की तेजी के बाद जब मन्दी आई तब यह कम होने लगी और आजकल इसका कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है। अब तो बैङ्क अधिक मदद करते हैं और मिलें उन्हीं पर निर्भर हैं। हाँ, अहमदाबाद में आज भी यह विशेष महत्व की है और शायद भविष्य में भी रहेगी। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। प्रथम तो अहमदाबाद की जमा सप्तवर्षीय जमा हो गई है जिसके अर्थ दीर्घकालीन जमा है। अतः, वे इस बात में तो ऋण-पत्रों की तरह के हैं, किन्तु उनमें यह अन्तर है कि इनका कम्पनी की सम्पत्ति पर वह स्वत्व नहीं है जो ऋण-पत्रों का रहता है। दूसरे, वह मिलों के लाभ के जमा हैं। प्रायः एक मिल का कोष दूसरे मिल में जमा रहता है। इस तरह से अहमदाबाद की मिलों ने एक ऐसी प्रणाली

निकाल ली है जिससे उनका काम उन्हीं के लाभ से चल जाता है। किन्तु अब भी अहमदाबाद में कुछ अल्पकालीन जमा हैं जो बम्बई की अल्पकालीन जमा के सदृश्य कभी भी निकाली जा सकती हैं और इस तरह से मिलों को कठिनता पड़ सकती है। फिर, जमा को मिलो के लिये पूँजी के सदृश्य प्रयोग में लाने में एक और दोष है और वह यह है कि इससे हिस्सों और ऋण-पत्रों का जो लागत के अच्छे रूप हैं अधिक प्रचार नहीं हो पाता। तीसरे, मिलें जमा प्राप्त करके एक ऐसा काम कर रही हैं जो उनके योग्य नहीं है और यदि वह कभी इन्हें माँग पर न दे सकेंगी तो उससे जनता का विश्वास हट जायगा और वह न तो हिस्से ही खरीदेगी और न बैंकों ही में जमा करेगी। चौथे, यह प्रणाली पुरानी है। आजकल आधुनिक बैंक हैं जमा उन्हीं में होनी चाहिये। अंतिम बात यह है कि बैंकों के अधिक लोकप्रिय हो जाने पर शायद यह जमा बैंकों में चली जाय, अतः, इस पर मिलों को निर्भर नहीं रहना चाहिये।

(३) हिस्से और ऋण-पत्र निकालना

अब हम हिस्से और ऋण-पत्र ले सकते हैं। सारी पूँजी एक ही ढङ्ग से नहीं प्राप्त हो सकती। मिलों और लागत लगानेवाली जनता दोनों की दृष्टि से यह अच्छा है कि इसके लिये कई ढङ्ग अपनाये जायँ। यह सब ढङ्ग ऐसे होने चाहिये कि जो भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों को पसन्द हों। प्रथम तो सपक्ष हिस्से (Preference shares) होते हैं, दूसरे साधारण हिस्से (Ordinary shares) और तीसरे संस्थापकों के हिस्से (Founders or Deferred shares) होते हैं। सपक्ष हिस्से साझे के सपक्ष हिस्से (Participating Preference shares) अथवा वर्धमान सपक्ष हिस्से (Cumulative Preference shares) अथवा साधारण सपक्ष हिस्से (Noncumulative Preference shares) हो सकते हैं। कभी-कभी स्थायी पूँजी का कुछ अंश ऋण-पत्र निकालकर भी इकट्ठा किया जाता है। इससे एक तरफ तो लागत लगाने वालों को ब्याज मिलता रहता है और दूसरी तरफ हिस्सेदारों को इन्हें अपने लाभ में से बहुत अधिक नहीं देना पड़ता। हिस्से और ऋण-पत्र निकालकर जनता से प्रत्यक्ष तौर पर पूँजी आने के इस तरीके में हमारे यहाँ तथा

अन्य देशों में भी यह दोष है कि कभी तो लोग अच्छी आशा होने के कारण इन्हें आसानी से ले लेते हैं और कभी इसके विपरीत स्थिति के कारण इन्हें नहीं लेते। इधर के इतिहास में सन् १९२०-२१, सन् १९३५-३७ और युद्धकाल के वर्ष पहली तरह के और अन्य वर्ष दूसरी तरह के थे। युद्धोत्तर काल भी अच्छा नहीं रहा। ध्यान तो यह था कि राष्ट्रीय सरकार आ जाने से स्थिति सुधरेगी किन्तु ऐसा हुआ नहीं। वैसे तो प्रधान मंत्री और उद्योग मंत्री बराबर देश के पूँजीपतियों में विश्वास उत्पन्न कराने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु मजदूरी की स्थिति इतनी बिगड़ गई है और साम्यवाद का भूत इतना परेशान कर रहा है कि यह विश्वास उत्पन्न हो ही नहीं पाता। इसके अतिरिक्त उद्योग-धन्धों को अन्य कठिनाइयाँ भी नजर आ रही हैं, जिनमें नये-नये कर, रेल की कठिनाइयाँ, सर्वत्र फैली हुई घूसखोरी मुख्य हैं। फिर यहाँ पर ऐसे होशियार लागत लगानेवालों की भी कमी है, जो अच्छी और बुरी योजनायें समझ सकें। पश्चिमी देशों में भी लोगों को इस सम्बन्ध की उचित सलाह देने के लिये कुछ संस्थायें हैं। अतः, भारतवर्ष में तो जहाँ शिक्षा की बहुत कमी है इनका होना बहुत ही आवश्यक है।

(४) व्यापारिक बैंकों द्वारा उद्योग-धन्धों की आर्थिक सहायता

हमें यह तो ज्ञात हो ही गया है कि भारतवर्ष में आधुनिक उद्योग-धन्धों की संस्थापना मैनेजिङ्ग एजेन्टों के कारण ही हुई है। बहुत दिनों तक तो केवल यही इन्हें आर्थिक सहायता भी देते रहे। उनकी स्वयं की अच्छी आर्थिक स्थिति और साथ ही उनके मित्रों की सहायता के कारण वे बैंकों की सहायता बिना यह काम करते रहे। किन्तु धीरे-धीरे और विशेषकर जब प्रथम युद्ध के बाद मन्दी आई तब जनता का उन पर से विश्वास उठ गया और उन्हें अपने मित्रों की सहायता मिलनी बन्द हो गई। अतः, उन्हें बैंको से सहायता लेने की आवश्यकता पड़ी। किन्तु इनके दायित्व ऐसे थे कि ये उन्हें दीर्घकालीन पूँजी नहीं दे सकते थे। हाँ, ये उनकी अल्पकालीन आवश्यकतायें अवश्य पूरी कर सकते थे, किन्तु वह भी सब नहीं। अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिये भी कुछ ऐसी पूँजी होती है जो हमेशा चाहती है। अतः, वह स्थायी पूँजी का ही

स्त्र धारण कर लेती है। कच्चे माल का, तैयार और अर्ध तैयार माल का स्टाक एक न्यूनतम सीमा से कम रह ही नहीं सकता। अतः; इन्हें रखने के लिये जितनी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है वह स्थायी ही के सदृश्य होती है। अतः, घिरी हुई पूँजी के साथ-साथ इसका भी प्रबन्ध करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो बड़ी जोखिम का सामना करना पड़ता है। सच तो यह है कि इस देश में बहुत से लोग यह सोच लेते हैं कि उनकी सारी कार्यशील पूँजी उन्हें अल्पकालीन ऋण के रूप में मिल जाने से उनका काम चल जायगा और इसी से वे सफल नहीं होते। बैङ्क यदि इसके लिये तैयार नहीं होते तो हमें उन्हें दोष न देना चाहिये। हमें तो यह देखना चाहिये कि वे कार्यशील पूँजी का वह भाग देने के लिये तैयार हैं अथवा नहीं जो बराबर आती जाती है और इस तरह से समय-समय पर बैङ्क को वापस की जा सकती है। किन्तु ध्यान से देखने पर यह पता लगता है कि बैङ्क यह भी भली प्रकार से और कम व्याज पर नहीं देते। व्यापारिक बैङ्क या तो (अ) उनके पास वास्तविक और बिक्री योग्य प्रतिभूति गिरवीं के तौर पर रखने से या (ब) ऋण लेनेवाले के ऐसे प्रण-पत्र जिसके ऊपर किसी अन्य धनी के भी हस्ताक्षर हो लेकर ऋण देने के लिये तैयार रहते हैं। किन्तु अधिकांश मिल-मालिक ऋण नहीं लेते। बात यह है कि उनका अपना माल बैङ्क में गिरवीं रखने से तो उनकी साख मारी जाती है। अतः, वे इसे पसन्द नहीं करते। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि वे विशेषतः अहमदाबाद में जनता से जमा प्राप्त करते हैं। अतः, उनकी साख मारी जाने से इस पर बुरा प्रभाव पड सकता है। फिर बैङ्कों ने प्रण-पत्रों पर जो दो धनियों के हस्ताक्षर लेने की प्रथा चला रक्खी है इससे मैनेजिङ्ग एजेन्टो का रहना बहुत जरूरी हो गया है। बैङ्क जो ऋण देते हैं उनका रूप या तो नकद साख का या अधिविकर्ष का होता है। बैङ्क और ऋण लेनेवाले दोनों यही पसंद करते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि ऋण लेनेवालों को उनके दैनिक ऋण पर व्याज देना पड़ता है। हाँ, हर हालत में एक न्यूनतम राशि अवश्य देनी पड़ती है। दूसरे, बैङ्क जब चाहे तब यह सुविधा बन्द कर सकता है। किन्तु बिल डिस्काउण्टिङ्ग पर अधिक जोर देना चाहिये। हाँ, इसके लिये एक तो यहाँ पर लाइसेन्स प्राप्त गोदाम होने चाहिये और दूसरे बिलों के प्रयोग की आदत बढ़नी

चाहिये। कहना न होगा कि रिजर्व बैंक की १६५१ की बिल बाजार विकसित करने की योजना से अब स्थिति बदल रही है। फिर, बैंक ऋण देते समय ऋण लेनेवाले की वैयक्तिक प्रतिभूति का जरा भी ख्याल नहीं करते और अतिरिक्त प्रतिभूति अवश्य माँगते हैं। वे ऐसा न करें यह तभी हो सकता है जब बैंक मिलवालों की अधिक जानकारी प्राप्त करें। अन्तिम, ब्याज की दर भी बहुत ऊँची रहती है। छोटे-छोटे बैंक तो १२ से १८ प्रतिशत तक लेते हैं। इन सब बातों के होते हुये भी अब बैंकों के ऋण का एक बड़ा भाग (३५%) इन्हें प्राप्त है।

बैंकों के उद्योग-धन्धों की अधिकाधिक सहायता करने के लिये सुझाव—व्यापारिक बैंक, विशेषतः वह जिनकी स्थिति काफी अच्छी है, निम्न ढङ्ग से उद्योग-धन्धों की अधिकाधिक सहायता कर सकते हैं :

(१) उन्हें पुरानी और नई दोनों प्रकार की कम्पनियों के निकाले हुये हिस्सों का बीमा कर देना चाहिये। इसके लिये उनके यहाँ ऐसे अनुभवी कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ेगी जो प्रत्येक धन्धे के विषय में, जानते हों और उसके सम्बन्ध में अपनी सम्मति दे सकें। इससे, ऐसी कम्पनियाँ कम खुलेंगी जिनका भविष्य अच्छा नहीं होगा। हमारे यहाँ जो बहुत-सी कम्पनियाँ असफल हो गई हैं वह उपर्युक्त व्यवस्था होने पर शायद खुलती ही नहीं और इस तरह से उनमें लागत लगानेवालों की जो हानि हुई है वह भी अवश्य बच जाती है।

(२) बैंक जिन हिस्सों का बीमा कर देंगे प्रायः उन सबको जनता ले ही लेगी। इससे उसका उन पर विश्वास जम जायगा। किन्तु यदि कुछ हिस्से बच रहेंगे तो बैंकों को उन्हें लेना पड़ेगा। किन्तु वह बहुत दिनों तक उनके पास नहीं रहेंगे, क्योंकि कम्पनियों की उन्नति के साथ-साथ वह बिक जायँगे।

(३) बैंकों के प्रतिनिधि संचालक मंडलों में रहकर उन्हें बराबर सावधानी से काम करने के लिये कहते जायँगे।

(४) उन्हें वैयक्तिक प्रतिभूतियों पर अल्पकालीन ऋण देने चाहिये।

(५) लाइसेन्स प्राप्त गोदाम अवश्य स्थापित किए जाने चाहिये। इससे तैयार माल उनके यहाँ रखने की परिपाटी चल जायगी और उनके यहाँ की रसीदों के आधार पर बैंक ऋण दे सकेंगे।

(६) बिल भुनाने की प्रथा को प्रोत्साहित करने से बैंकों को वह लागत मिल जायगी जो उनके लिये बड़ी लाभप्रद है। उनके अधिक मात्रा में न होने के कारण इस समय वे अपनी लागत सरकारी साख-पत्रों में लगाते हैं। उनका यह काम नहीं है। उन्हें पहिले उद्योग-धन्धो और व्यापार की सहायता करनी चाहिए और फिर सरकार के साख-पत्र खरीदने चाहिए। हाँ, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इधर वे ऐसा ही कर रहे हैं। यदि यह बात होती रहे तो बहुत ही अच्छा है।

(५) सरकारी औद्योगिक वित्त कारपोरेशन

कुछ लोगो का यह कहना है कि भारतवर्ष में व्यापारिक बैंको की इस समय जो स्थिति है उसमें उन्हें उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋण बिल्कुल ही नहीं देना चाहिये। उनका कहना है कि उनके स्थान पर सरकार को आगे आना चाहिये। इस सुझाव को समाजवाद के प्रचार से बड़ा प्रोत्साहन मिला है। अतः, सरकार ने सन् १६४८ में एक अखिल भारतवर्षीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन की स्थापना की और फिर सन् १६५१ में राज्यों में भी राज्य औद्योगिक वित्त कारपोरेशनो की स्थापना के लिये एक बिल पास किया।

अखिल भारतवर्षीय वित्त कारपोरेशन

उपर्युक्त कारपोरेशन संयुक्त राज्य (U. K.) के एक ऐसे ही कारपोरेशन के सदृश्य हैं। इसका मुख्य ध्येय नये धन्धों को घिसी हुई पूँजी देना है। इसकी स्वयं की पूँजी पाँच करोड़ है जो प्रत्येक ५,००० रुपयों के १०००० हिस्सो में विभाजित है जो पूर्णरूप से प्राप्त है। आगे चलकर यह पूँजी १० करोड रु० हो सकती है। वैसे तो केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक को दो-दो हजार हिस्से और (१) स्वीकृत बैंको तथा (२) बीमा कम्पनियो और स्वीकृत इन्वैस्टमैन्ट ट्रस्ट्स को ढाई-ढाई हजार हिस्से और सहकारी बैंको को एक हजार हिस्से लेनेदेने के ऋण

वास्तविक हिस्से कुछ भिन्न संख्या में लिये गये हैं यद्यपि वे इसी के लगभग हैं। सरकार ने पूँजी वापस करने और २½ प्रतिशत वार्षिक प्रतिफल (आय कर सुना) देने का दायित्व लिया है। लाभ की बँटनी अधिक से अधिक ५ प्रतिशत हो सकती है और वह भी पाँच करोड़ का सुरक्षित कोष बन जाने और सरकार ने जो धन लाभांश बाँटने के लिये दिया हो उसके चुक जाने के बाद होगी। कारपोरेशन के लाभ पर न तो आय कर लगता है और न अतिरिक्त कर। कारपोरेशन के बारह संचालकों में से तीन केन्द्रीय सरकार द्वारा, दो रिजर्व बैंक द्वारा, दो स्वीकृत बैंकों द्वारा, दो बीमा कम्पनियों और इन्वेस्टमेन्ट ट्रस्ट्स द्वारा, दो सहकारी बैंकों द्वारा तथा एक प्रबन्ध संचालक द्वारा नियुक्त होते हैं। कारपोरेशन के चार दफ्तर हैं, एक बम्बई में, दूसरा कलकत्ते में, तीसरा दिल्ली में और चौथा मद्रास में। कारपोरेशन पूँजी जमा प्राप्त करके और बाण्ड तथा ऋण-पत्र निकाल करके भी बढ़ा सकता है। आकस्मिक दायित्व (Contingent Liabilities) मिलाकर सारे ऋण की रकम उसकी प्राप्त पूँजी के चतुर्गुण से अधिक नहीं हो सकती। दस वर्ष के पहले जो जमा की रकम देय न होगी वह दस करोड़ रुपये से अधिक की नहीं हो सकती।

कारपोरेशन उद्योग-धन्धों को अधिक से अधिक २५ वर्षों के अन्दर वापस होने वाले दीर्घकालीन ऋण देता है। यह कम्पनियों के हिस्से और ऋण-पत्र निकालने का बीमा भी कर सकता है, किन्तु इसने अभी तक ऐसा किया नहीं है। ऐसा करने पर अंश तथा ऋण-पत्र इसे अधिक से अधिक सात वर्षों में जनता के हाथ बेच देना होगा। यदि कोई कम्पनी बाजार में ऋण लेना चाहती है तो यह कुछ निश्चित कमीशन लेकर उसकी जमानत भी कर सकता है। यदि किसी कम्पनी को विदेशी करन्सी चाहिये तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय बैङ्क (International Bank of Reconstruction and Development) से ऋण लेने का भी अधिकार दे दिया गया है।

यह स्पष्ट है कि भारत सरकार ने जो कुछ भी यहाँ के औद्योगीकरण के लिए किया है उसमें इस कारपोरेशन की संस्थापना सबसे प्रधान है। ३१ मार्च .... इसकी निम्न स्थिति थी :—

(४) उन्ह

देने		सम्पत्ति/पावने	लाख रु० में
पूँजी	५००·००	नकदी/बैङ्क	५·४५
संचित	१०·०६	सरकारी साख-पत्र	२००·३८
कर के लिये	१८·०१	ऋण	१११६·५८
ऋण-पत्र, इत्यादि	७८०·५०	ऋणपत्र	—
रिजर्व बैङ्क के देने	२६·५०	—	—
स्थायी जमा	—	बीमा सम्बन्धी	—
बीमा सम्बन्धी	—	अन्य पावने	५८·६०
सम्भाव्य देने	—	—	—
अन्य देनें	४६·२४		
योग	१३८४·३१	योग	१३८४·३१

पूँजी पर लाभांश २½ %ही दिया जा रहा है। पहले तो इसके लाभ इस योग्य भी नहीं थे। अतः, सरकार ने यह लाभांश दिया। अब यह सरकार को वापस कर दिया गया है। किन्तु संचित जब तक पूँजी के बराबर न हो जाय तब तक लाभांश यही रहेगा। बाद में यह ५% तक हो सकता है। इसके पश्चात् लाभ सरकार का होगा। इसे अपने ऋणपत्र बेचने का जो अधिकार है वह इसने ७८०·५० करोड़ रु० तक इस्तेमाल किया है। इसे दीर्घकालीन जमा प्राप्त करने का भी अधिकार है, किन्तु इसने अभी तक इसे प्राप्त नहीं किया है। दीर्घकालीन जमा ५ वर्ष से कम के लिए नहीं हो सकती। यह औद्योगिकों द्वारा निकाले अंशों और ऋणपत्रों का बीमा भी कर सकता है, किन्तु अभी तक इसने ऐसा नहीं किया है। यह एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य है जो इसे करना चाहिये। चूँकि उनके जनता के न लेने पर उनका दाम इसे देना पड़ेगा, अतः, यह उसके सम्भाव्य देने होंगे, और चूँकि इन्हें बेच कर रुपया वसूल हो जायगा, अतः, यह उसमें पावने भी होंगे। इसने अपना रुपया सरकारी साखपत्रों में लगा रक्खा है जिससे स्पष्ट है कि यह उसे औद्योगिकों को दे सकता है। इसने १११६·५८ करोड़ के ऋण दे रक्खे थे। अब यह ऋण पर ६½% का ब्याज लेता है जो अत्यधिक है, किन्तु जब ब्याज की दरें बढ़ रही हैं, और इसके लाभ भी अधिक नहीं होते यह ठीक ही है। वैसे कारपोरेशन ने अधिक के ऋण

स्वीकृत किये हैं किन्तु बहुत सी कम्पनियों ने पूरे स्वीकृत ऋण लिए नहीं। इसका एक कारण तो यह है कि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी और दूसरा यह कि उन्होंने ऋण की शर्तें पूरी नहीं कीं। इससे कारपोरेशन की हानि होती है। उसे तो स्वीकृत ऋण की धनराशि तरल स्थिति में रखनी पड़ती है। कारपोरेशन के ऋण विभिन्न उद्योग-धन्धों और विभिन्न राज्यों तथा कम्पनियों में हैं। पहले यह किसी एक कम्पनी को ५० लाख से अधिक का और अब १ करोड़ रु० से अधिक का ऋण नहीं दे सकता। ऋणी कम्पनियों की सञ्चालक सभाओं में इसके प्रतिनिधि रहते हैं जो ये देखते हैं कि वे इसके रुपये का दुरुपयोग तो नहीं कर रहे हैं। जब तक कोई कम्पनी इसके ऋण का भुगतान नहीं कर देती तब तक उसे ६% के अधिक का लाभांश बाँटने का अधिकार नहीं है। इसके ऋण का भुगतान सर्वप्रथम होता है।

इसकी कठिनाइयाँ—इसके पास जो आवेदन-पत्र आते हैं उनमें ऋण के उद्देश्य का पूरा विवरण नहीं रहता। अतः, उनके पक्ष में निश्चय नहीं हो पाता। अनेक ऐसी कम्पनियाँ ऋणों के लिए आवेदन-पत्र भेजती हैं जिनके पास न पर्याप्त साधन होते हैं और न पर्याप्त मात्रा में कार्यशील पूँजी। अतः, उन्हें ऋण नहीं दिया सकता, और यदि दिया भी जाय तो वह उसका उचित प्रयोग नहीं कर पायेंगी। ऐसी कम्पनियाँ भी ऋण के लिए आवेदनपत्र भेजती हैं जिनकी भूमि गृहादि तथा यन्त्रादि का स्वामित्व निर्धारित नहीं हो पाता, जैसे यदि भूमि मनेजिंग एजेण्ट की है तो उस पर का भवन कम्पनी का है। अतः, उन पर ऋण नहीं दिया जा सकता। कुछ कम्पनियों ने ऋण लेने के बाद उसका ठीक हिसाब किताब नहीं रक्खा, कुछ ने वैधानिक कार्यवाहियाँ पूरी नहीं कीं और कुछ ने तो ऋण की पूरी राशि नहीं उठाई। इससे यह कठिनाई में पड़ जाता है।

(६) राज्य औद्योगिक वित्त कारपोरेशन

भारत सरकार ने १९५१ में राज्य औद्योगिक वित्त कारपोरेशन विधान भी पास किया। इसके अन्तर्गत राज्यों में भी वित्त कारपोरेशन खुल सकते हैं। ... तक बहुत से राज्यों में ऐसे कारपोरेशन खुल चुके हैं, जैसे मद्रास, बङ्गाल,

बम्बई, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, हैदराबाद, मैसूर, ट्रावनकोर-कोचिन, सौराष्ट्र, इत्यादि में और बहुतों में इनके खुलने की योजनायें हैं। इनका उद्देश्य अपने-अपने राज्य में मध्यम श्रेणी और निम्न श्रेणी की उद्योग संस्थाओं तथा कुटीर उद्योगों को प्रत्यक्ष रूप से अर्थ सहायता करना है। विधान के अन्तर्गत इन्हें निम्न कार्य करने का अधिकार दिया गया है :—(१) औद्योगिक कम्पनियों को बीस वर्ष की अवधि के लिये ऋण देना तथा उनके ऋणपत्र खरीदना; (२) उनके द्वारा अन्य स्रोतों से २० वर्षों के लिए ऋणों का बीमा करना; (३) उनके द्वारा निकाले अंशों और ऋण पत्रों का बीमा करना; और यदि यह इन्हें लेना पड़े तो अधिक से अधिक सात वर्ष तक रखना। ये सरकारी साखपत्रों सोने चाँदी अथवा अन्य किसी प्रकार की चल अथवा अचल प्रतिभूति लिए बिना ऋण नहीं दे सकते। एक कम्पनी को अपनी प्राप्त पूँजी के १०% से अथवा १० लाख रुपये से जो भी कम हो अधिक का ऋण नहीं दिया जा सकता। कारपोरेशन की पूँजी राज्य सरकारें निश्चित करती हैं, किन्तु यह पचास लाख से कम और ५ करोड़ रुपये से अधिक की नहीं हो सकती। राज्य औद्योगिक वित्त कारपोरेशनों की अधिकृत पूँजी प्रायः दो करोड़ और निर्गमित पूँजी एक करोड़ रुपये रक्खी गई है। पूँजी का २५% भाग अंश बेच कर जनता से प्राप्त किया जा सकता है। शेष पूँजी राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, सदस्य बैंकों बीमा कम्पनियों, सहकारी समितियों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त करना अनिवार्य है। राज्य सरकार को कारपोरेशन की पूँजी तथा लाभांश की निश्चित दर का आगोपन करना अनिवार्य है। लाभांश की दर भारत सरकार की सलाह से निश्चित करनी पड़ती है और यह पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। आगोपित लाभांश से अधिक लाभांश उस समय तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि सञ्चित पूँजी के बराबर न हो जाय। अधिकतम लाभांश देने के बाद शेष लाभ राज्य सरकार को मिलेगा। ये कारपोरेशन पूँजी और सञ्चित के पँचगुने तक के ऋणपत्र भी बेच सकते हैं। इनकी वापसी और इन पर के ब्याज देने का आगोपन भी सरकार ही को करना पड़ता है। पाँच वर्षों की जमा भी ली जा सकती है किन्तु वह पूँजी से अधिक की नहीं हो सकती।

सञ्चालक समितियों में दस सदस्यों की व्यवस्था है, जिनमें तीन राज्य

सरकार द्वारा, एक रिज़र्व बैङ्क के केन्द्रीय मण्डल द्वारा, एक अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन द्वारा, एक प्रबन्ध सञ्चालक राज्य सरकार द्वारा तथा चार अन्य सञ्चालक अन्य अंशधारी संस्थाओं द्वारा नियुक्त हो सकते हैं। सञ्चालक समिति की सहायता के लिए प्रबन्ध सञ्चालक तथा अन्य तीन सञ्चालकों की एक प्रबन्ध समिति की भी व्यवस्था है। सञ्चालक समिति के ठीक काम न करने पर राज्य सरकार उसे भंग करके सारा प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकती है। जो कारपोरेशन काम कर रहे हैं, उनके कार्य के सम्बन्ध में अभी कोई विशेष जानकारी नहीं है।

(७) इण्डस्ट्रियल क्रेडिट एण्ड इन्वेस्टमेंट कारपोरेशन

अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन अकेले ही देश की सम्पूर्ण माँग नहीं पूरा कर सकता। इससे सन् १९५५ में इण्डस्ट्रियल क्रेडिट एण्ड इन्वेस्टमेंट कारपोरेशन की स्थापना की गई। इसकी अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपये है और इसका उद्देश्य निजी उद्योगों की सहायता पहुँचाना है। कारपोरेशन की कार्य पूँजी पाँच करोड़ रुपये है जिसमें से लगभग २ करोड़ रु० भारतीय बैंकों और बीमा कम्पनियों, १ करोड़ रु० ब्रिटिश कम्पनियों, ५० लाख रु० अमरीकी कम्पनियों और डेढ़ करोड़ रु० जनता को अंश देकर प्राप्त किये गये हैं। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने साढ़े सात करोड़ रु० का ऋण बिना ब्याज दिया है। यह पहला अवसर है जब विभिन्न देशों की सरकारों ने भारतीय धन्धों को आर्थिक सहायता देने में सहयोग देना प्रारम्भ किया है।

औद्योगिक कम्पनियों के अंशों और ऋणपत्रों को जनता में प्रचलित करने के लिये सुझाव

तो भी कारपोरेशन औद्योगियों की सदा के लिए तो सहायता नहीं कर सकता। यह भार तो जनता ही को उठाना होगा। कारपोरेशन भी अन्त में तो उनके अंश, इत्यादि जनता ही को देगा। अतः, इन्हें जनता में ही लोकप्रिय बनाना चाहिये। इसके लिये निम्न सुझाव हैं :—

(१) भारतवर्ष में बहुत सी औद्योगिक कम्पनियाँ असफल होती रही हैं।

साथ ही में इधर लोगों का यह विचार हो गया है कि निजी पूँजी के उद्योग धन्धों का किसी समय भी राष्ट्रीयकरण हो सकता है, अथवा सरकार की नियन्त्रण की नीति से उनकी सफलता में बाधा पड़ सकती है, अथवा सरकार वैसे ही धन्धे स्थापित करके उनसे प्रतियोगिता कर सकती है। अतः, वह ऐसी कम्पनियों के अंश इत्यादि खरीदने के लिये तैयार नहीं हैं। इधर हमारे प्रधान मंत्री तथा उद्योग मन्त्रियों ने यह आशकायें दूर करने का भी प्रयत्न किया है किन्तु इसमें उन्हें अभी तक तो बहुत सफलता नहीं मिली है। तो भी निजू धन्धों के प्रोत्साहन के लिये जो इण्डस्ट्रियल क्रेडिट एण्ड इन्वेस्टमेंट कारपोरेशन बनाया गया है और शाफ कमेटी की सिफारिशों के अनुसार कार्य हो रहा है उससे स्थिति सँभलने की आशा है।

(२) कारपोरेशनों द्वारा अभिगोपित अंश भी जनता में अवश्य लोकप्रिय हो जायेंगे। अतः, इन्हें अभिगोपन कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिये।

(३) हमारे यहाँ ऐसी संस्थायें भी नहीं के बराबर हैं जो यहा के लोगों को और विशेषकर ग्रामीण लोगों को इस प्रकार के लागत से अवगत करें। वास्तव में इस सम्बन्ध के विज्ञापन की यहाँ पर बड़ी आवश्यकता है।

(४) प्रायः लोग पढ़-लिखे नहीं हैं और पूँजी एकत्रित करने के आधुनिक तरीके नहीं जानते। इनके विषय की शिक्षा देने की यहाँ पर बहुत ही आवश्यकता है।

(५) साख पत्रों के क्रय और विक्रय में सुविधा देने के लिये यहाँ पर कोई भी संस्था नहीं है और यदि है तो वह शहरों में ही है। अतः, इनके विश्वास-पात्र दलालों की बड़ी आवश्यकता है।

(६) कुछ साख-पत्रों के हस्तातर करने में बड़ा ऊँचा स्टाम्प लगाना पड़ता है। इसे भी घटा देना चाहिये।

(७) जिन लोगों के पास थोड़ी संख्या के हिस्से होते हैं उन्हें कभी-कभी उनके बेचने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। अतः, थोड़ी संख्या में भी हिस्से बेचने का प्रबन्ध होना चाहिये।

(८) हमारे यहाँ औद्योगिक कंपनियों के साख-पत्रों की जमानत पर ऋण

देने के लिए कोई भी संस्था तैयार नहीं होती। हमारे बैंक भी सरकारी साख-पत्र ही पसन्द करते हैं। हाँ, उनमें इधर कुछ परिवर्तन हो रहा है।

(६) जैसा अन्य देशों में है उसी प्रकार हमारे यहाँ भी हमारी सरकार सन् १६२० से यहाँ के बाजारों में से बहुत रुपया लेती है। अतः, इससे उद्योग-धन्धों को पूँजी नहीं मिलती। सरकार को हमेशा कम ब्याज पर ऋण लेना चाहिये।

घरेलू धन्धों की आर्थिक सहायता देने के सम्बन्ध में सुझाव

घरेलू धंधों को भी आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ती है; और अब तक वह महाजनों के ऊपर ही निर्भर रहते हैं। वास्तव में उनकी लघुता और उनकी तितर बितर होने की अवस्था के कारण बैंकों का तथा अन्य बड़े-बड़े अर्थ की व्यवस्था करने वाले लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो ही नहीं सकता। किन्तु इन्हीं कारणों से यह सहकारिता के लिये बहुत ही उपयुक्त हैं। भिन्न-भिन्न कमेटियों ने यही राय भी दी है। ऐसे धंधे जर्मनी और जापान में सहकारिता की सहायता से ही फल-फूल रहे हैं। अतः, कोई कारण नहीं कि भारतवर्ष में ऐसा न हो सके। किंतु इसके लिये सहकारिता का सिद्धांत केवल साख के लिये ही नहीं सीमित रखना चाहिये। जैसे कृषि में वैसे ही यहाँ पर भी उसे दूसरे कामों के लिये भी प्रयोग में लाना चाहिये। हाथ से काम करने वालों और दूसरे छोटे पैमाने पर काम करने वालों को बड़े पैमाने पर काम करने वालों की प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिये सहकारिता की जो आवश्यकता है यह स्वयं सिद्ध है।

यद्यपि सन् १६०४ के सहकारिता विधान में ही नागरिक समितियों की संस्थापना की व्यवस्था कर दी गई थी तो भी ये बहुत दिनों तक नहीं खुलीं। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है यह अपनी रचना और कार्य-प्रणाली में कृषक समितियों से बहुत ही भिन्न हैं। नागरिक सहकारी समितियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं; उदाहरण के लिये कर्मचारियों की समितियाँ, उपभोक्ताओं के सहकारी स्टोर, हाथ से काम करने वाले तथा जुलाहों की समितियाँ, दुग्ध इकाइयाँ और समितियाँ, बीमा समितियाँ, विद्यार्थी स्टोर्स इत्यादि। किन्तु यहाँ पर हमारा विशेष प्रयोजन तो हाथ से काम करने वालों और जुलाहों की

समितियों से ही है। जुलाहों पर इसलिये विशेष जोर दिया गया है कि यहाँ पर कपड़े का काम बहुत महत्वपूर्ण है। इधर युद्धकाल में घरेलू धन्धों को जो प्रोत्साहन मिला था उसके कारण भी अब इनकी संख्या बढ़ गई है। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल की समितियाँ केवल साख की ही व्यवस्था करती हैं; किन्तु वे कच्चे माल के क्रय में और तैयार माल के विक्रय में तथा औजारों इत्यादि के रखने में बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती हैं। इस समय महाजन लोग यह सब काम करते हैं। प्रायः सभी शहरों में कुछ घरेलू धन्धे हैं और कुछ महाजन व्यापारी जो ऊँचे दामों पर कच्चे माल देते हैं और नीचे दामों पर तैयार माल लेते हैं। यदि यह काम सहकारी समितियाँ अपने हाथ में ले लें तो अवश्य ही इन कारीगरों की दशा बहुत कुछ सुधर जाय। अतः, जितनी ही जल्दी यह किया जाय उतना ही अच्छा है।

उद्योग राज्य का विषय है। अतः, प्रत्येक राज्य सरकार अपने सीमित क्षेत्र में इसकी उन्नति के लिये जो कुछ कर सकती थी वह करती आ रही है। इनमें से कुछ तो भिन्न-भिन्न धन्धों की आर्थिक सहायता करती हैं और इनमें छोटे पैमाने के धन्धे विशेष तौर पर महत्वपूर्ण हैं। यह सहायता थोड़े ब्याज पर ऋण देने के रूप में अथवा किराये और खरीद पर मशीनरी की पूर्ति के रूप में अथवा भूमि अथवा अन्य कोई सरकारी सम्पत्ति देने के रूप में होती है। ये प्रोपेगेण्डा करती हैं, धन्धों का क्रय क्रियात्मक रूप में दिखाती हैं और उनके सम्बन्ध की मन्त्रणा देती हैं, किन्तु जो रिपोर्टें निकली हैं उनसे स्पष्ट है कि इन्हें अभी कोई विशेष सफलता नहीं मिली है। ये जो आर्थिक सहायता देती हैं वे बहुत कम होती हैं और प्रायः वास्तविक काम करने वालों को नहीं मिलतीं। शायद यही कारण है कि उसमें से बहुत-सा बट्टे खाते डालना पड़ता है। सत्य तो यह है कि सरकार यह काम कर ही नहीं सकती। यदि इसे यह काम करना है तो इसे यह सरकारी समितियाँ अथवा राज्य सहकारी बैंकों द्वारा करना चाहिये। राज्य सहकारी बैङ्क घरेलू धन्धे के लिये बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं। फिर सरकार यदि धन्धों की सहायता ही करनी चाहती है तो वह चाहे बड़े पैमाने के हों अथवा छोटे के, अन्य तरीकों से सहायता कर सकती है। उसकी क्रय नीति भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कर सकती है।

उपसंहार

वास्तव में औद्योगिक अर्थ के विषय में कोई बात निश्चित रूप से कही ही नहीं जा सकती, देश में चतुर्मुखी उन्नति की आवश्यकता है। शुद्ध औद्योगिक बैंकों के और खुलने की जरूरत है। उन्हें जैसे सुझाव अब तक अनुभव प्राप्त करके दिए गये हैं उन्ही के अनुसार काम करना चाहिये। इम्पीरियल बैंक और दूसरे बड़े बैंकों को उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता देनी ही चाहिये। फिर, यदि आवश्यकता हो तो जनता के लिए जो उपयोगी धन्धे हैं उनकी करने वाली संस्थाओं की आर्थिक सहायता करने के लिए अधिकाधिक राज्य कारपोरेशन भी खुलने चाहिये। जहाँ तक सरकार के उद्योग-धन्धों के प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता देने का प्रश्न है, वहाँ तक यदि यह सहायता अन्य तरह ही की हो तो भी यथेष्ठ हैं। औद्योगिक बैंक, व्यापारिक बैंक तथा राज्य कारपोरेशन किसी उद्योग-धन्धे को केवल उसके प्रारम्भ से उसके एक स्तर तक पहुँच जाने के काल में ही सहायक हो सकते हैं। अन्त में तो इसका बोझ जनता को ही उठाना पड़ेगा। अतः, इसके लिए हिस्से और ऋण-पत्र अधिक प्रचलित करने चाहिए। हाँ, इम्पीरियल बैंक और दूसरे व्यापारिक बैंकों को इनकी अल्पकालीन आवश्यकताओं की तो अवश्य ही पूर्ति करनी पड़ेगी। घरेलू धन्धों की सहायता के लिये तो सहकारी समितियों को ही प्रोत्साहन देना पड़ेगा। यथार्थ में उनकी मुक्ति तो इन्हीं के हाथ में है।

प्रश्न

(१) उद्योग-धन्धों की किस प्रकार की आर्थिक आवश्यकतायें होती हैं ? प्रत्येक का तुलनात्मक महत्व बताइये और यह भी स्पष्ट कीजिये कि उनका पारस्परिक अनुपात किन बातों पर निर्भर रहता है ?

(२) इस देश में उद्योग-धन्धों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की कौन पूर्ति करता है ? उनके गुण और दोष बताइये। भारतीय औद्योगिक बैङ्किंग ने अब तक इस सम्बन्ध में क्या किया है ?

(३) व्यापारिक बैङ्क किस तरह से यहाँ के उद्योग-धन्धों की आर्थिक

सहायता करते हैं? इन्हें और अधिक उपयोगी बनाने के लिये अपने सुझाव रखिये।

(४) राज्य औद्योगिक कारपोरेशनों की संस्थापना के संबन्ध में जो विधान बना है उस पर प्रकाश डालिये।

(५) औद्योगिक कम्पनियों के हिस्से और ऋण-पत्र जनता में अधिक चालू करने के लिये क्या करना चाहिये? अभी तक वे यहाँ पर क्यों अधिक प्रिय नहीं हो सके हैं।

(६) आपकी राय में यहाँ के औद्योगिक बैङ्कों को किस प्रकार काम करना चाहिये? क्या आप उनकी संस्थापना के पक्ष में हैं?

(७) मैनेजिङ्ग एजेण्टों की शक्ति सीमित करने के सम्बन्ध में सन् १६३६ के भारतीय कम्पनी विधान में क्या-क्या बातें रक्खी गई हैं? आपकी राय में क्या उनकी यहाँ पर अब भी आवश्यकता है?

(८) घरेलू धन्धों को आर्थिक सहायता देने की यहाँ पर जो व्यवस्था है उसमें क्या दोष हैं? उसे सुधारने के लिये अपने सुझाव रखिये।

(९) भिन्न-भिन्न राज्य सरकारें अपने यहाँ के उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता देने के लिये क्या करती हैं? आपकी सम्मति में वे उनके लिये और किस प्रकार अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं?

(१०) भारतीय उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिये एक अच्छी योजना रखिये। इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ किया गया है उसका भी वर्णन कीजिये।

अध्याय १६

व्यापारिक बैंक

वैसे तो इस शीर्षक में सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंक, इम्पीरियल बैंक तथा विदेशी बैंक सभी आ जाते हैं, क्योंकि वे सभी अन्य कामों के साथ-साथ व्यापारिक बैंकिंग के काम भी करते हैं, किन्तु सुविधा के लिये हम यहाँ पर

केवल सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंक ही लेंगे। इम्पीरियल बैंक तथा विदेशी बैंकों के विषय में हम अगले दो अध्यायों में पृथक्-पृथक् अध्ययन करेंगे। हाँ, इसमें वर्तमान औद्योगिक बैंक भी आ जायँगे। सच तो यह है कि वह जो कुछ औद्योगिक बैंकिंग के काम करते हैं, उनके साथ-साथ व्यापारिक बैंकिंग के कार्य भी करते हैं। फिर, उनकी रचना भी अन्य व्यापारिक बैंकों की ही तरह भारतीय कम्पनी विधान के अन्तर्गत ही हुई है। अब, क्योंकि व्यापारिक बैंकों के क्रमिक विकास का तो अध्ययन हम बारहवें अध्याय ही में कर चुके हैं, अतः यहाँ पर हम केवल वर्तमान स्थिति का ही दिग्दर्शन करेंगे।

वर्गीकरण

व्यापारिक बैंक चार वर्गों में बाँटे जा सकते हैं :—(१) जिनकी पूँजी उनका सुरक्षित कोष मिलाकर पाँच लाख रुपये अथवा उससे अधिक है। (२) जिनकी पूँजी उनका सुरक्षित कोष मिलाकर एक लाख और पाँच लाख रुपये के बीच में है। (३) जिनकी पूँजी उनका सुरक्षित कोष मिलाकर ५०,००० और १ लाख रु० के बीच में है, और (४) जिनकी पूँजी और सुरक्षित कोष ५०,००० रु० से कम है।

पहले वर्ग में (अ) सदस्य और (ब) गैरसदस्य बैंक हैं। सदस्य बैंकों की संख्या सन् १९५४ के मार्च में ८९ थी। इसमें इम्पीरियल बैंक और विदेशी बैंक भी सम्मिलित हैं। रिजर्व बैंक विधान की ४२ (६) धारा में यह दिया हुआ है कि केन्द्रीय सरकार गजट में निकलवा करके किसी भी ऐसे बैंक का नाम रिजर्व बैंक की दूसरी तालिका में सम्मिलित करवा सकती है जिसका नाम उसमें सम्मिलित न हो जो भारत में व्यवसाय करता हो और (अ) जिसकी पूँजी उसका सुरक्षित कोष मिलाकर पाँच लाख रु० से कम न हो और (ब) भारतीय बैंकिंग विधान में दी हुई परिभाषा के अनुसार बैंक अथवा भारत के बाहर के किसी विधान के अनुसार गठित कम्पनी अथवा कारपोरेशन हो और ऐसे ही उक्त तालिका में सम्मिलित बैंक को उसमें से उसकी पूँजी और सुरक्षित कोष पाँच लाख रुपये से कम हो जाने पर अथवा उसके दिवालिया हो जाने पर अथवा किसी अन्य कारण से बैंकिंग व्यवसाय बन्द कर देने पर हटा भी सकती है। सन्

१९४० के पहले यदि किसी बैंक की आडिट की हुई बैलन्स शीट से उसकी पूँजी उसका सम्मिलित कोष मिला करके पाँच लाख मालूम पड़ती थी तो वह बैंक उपर्युक्त तालिका में सम्मिलित कर लिया जाता था। किन्तु इस सम्बन्ध में सरकार को कुछ कठिनाइयाँ पड़ीं। अतः, उसने यह निश्चय कर दिया कि इस पूँजी और कोष का अर्थ वास्तविक पूँजी और कोष से है न कि उस पूँजी और कोष से है जो बैलन्स शीट में दिखाई गई है। अतः, रिजर्व बैंक ने सरकार को इस बात का पता लगाने में सहायता देने का वचन दिया है और यदि आवश्यकता पड़ती है तो वह प्रार्थी बैंक की किताबों का निरीक्षण भी कर सकता है। इस (अ) में यही बैंक हैं। उन्हें कुछ दायित्व पूरे करने पड़ते हैं और उनके कुछ अधिकार भी हैं। (ब) में वह बैंक हैं जो किसी कारणवश इस तालिका में नहीं सम्मिलित हो पाये हैं। इनकी संख्या १९५१ में ५३ थी।

दूसरे, तीसरे और चौथे वर्गों में केवल गैरसदस्य बैंक ही हैं। इनकी संख्या १९५१ में क्रमशः १३९, ६३ तथा ४६ थी।

चौथे वर्ग के बैंक वही हैं जो सन् १९३६ के कम्पनी विधान के पास होने के पहले स्थापित हो चुके थे। तब से ५०,००० रु० से कम पूँजी के बैंक चालू किये ही नहीं जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कम्पनी तथा अन्य बैंकिंग विधान के अनुसार इनकी पूँजी इनका सुरक्षित कोष मिलाकर सुरक्षित कोष के बराबर बढ़ने के कारण बढ़ रही है। अतः, इनकी संख्या उत्तरोत्तर घट रही है। सन् १९३९ से सन् १९४२ तक इनकी संख्या क्रमशः ४००, ३३२, १४७ और १३३ थी। इसके बाद यह बढ़ी। किन्तु इसका कारण यही था कि १९४२ से उन सभी बैंकों को रिजर्व बैंक को अपनी रिपोर्ट देनी पड़ती थी जो 'बैंक' नाम से पुकारे जाते थे। सन् १९४३ से सन् १९४५ तक इनकी संख्या क्रमशः १९१, २३५ और २४४ थी। सन् १९५१ में जिन गैरसदस्य बैंकों ने रिजर्व बैंक को अपनी रिपोर्टें भेजी थीं उनकी संख्या ३०१ थीं।

द्वितीय युद्ध काल

द्वितीय महायुद्ध का इस देश की बैंकिंग पर काफी प्रभाव पड़ा। नई-नई संस्थायें खुलीं और पुरानी बढ़ गई। इसका यह कारण नहीं था कि युद्ध से बैंकों

को यहाँ के व्यापार और उद्योग-धन्धों को अधिक सहायता देने का अवसर मिला। बल्कि इसके विपरीत सरकार के उन व्यापार और धन्धों को स्वयं ही सहायता देने के कारण जो युद्ध सामग्री की पूर्ति में सहायता करते थे इनसे वह भी अवसर छिन गया जो इन्हें इसके पहले प्राप्त था। इसके अतिरिक्त उद्योग-धन्धों और व्यापार के उत्तरोत्तर बढ़ते हुये लाभ के कारण इनके स्वयं के पास इतनी पूँजी हो गई कि इन्हे बैंकों की सहायता लेने की आवश्यकता ही नहीं रह गई। फिर, सरकार ने भी ऐसे नियम बना दिये कि बैंक बहुत सी चीजों की गिरवीं पर ऋण नहीं दे सकते थे। किन्तु इनकी जमा बराबर बढ़ती गई। सत्य तो यह है कि भारतवर्ष में बैंकिंग की उन्नति सदा से इसी कारण ही हुई है। युद्ध की व्यवस्था के लिये इस देश को केन्द्र बनाने का महत्व इस बार युद्ध प्रारम्भ होते ही प्रतीत होने लगा था। इससे सरकार को अपनी और अन्य मित्र-राष्ट्रों की ओर से यहाँ पर काफी व्यय करना पड़ा। अतः, फल यह हुआ कि यहाँ की करन्सी विशेषतः नोट करन्सी बढ़ती गई और इसी कारण बैंको के जमा भी बढ़ते गये। निस्सन्देह कभी-कभी युद्ध के विपरीत परिस्थितियों के कारण जमा घटी भी; किन्तु उससे बैंक को केवल अपनी स्थिति दृढ़ करने में सहायता ही मिली।

जब से युद्ध प्रारम्भ हुआ अर्थात् सितम्बर १६३६ से, तब से सदस्य बैंकों की संख्या बढ़ती ही गई। सन् १६४७ के अन्त तक में कम से कम इस अवधि के बीच में ४२ नये सदस्य बैंक बन चुके थे। निस्सन्देह, इसमें से कुछ तो यहाँ पहले ही से काम कर रहे थे। किन्तु कुछ नये बैंक भी थे। इस बीच में कुछ गैरसदस्य बैंक भी स्थापित हुये।

सदस्य बैंकों और गैरसदस्य बैंकों की शाखायें भी बढ़ती गई। जब सन् १६३६ में सब सदस्य बैंकों के १२५० दफ्तर थे, मार्च, सन् १६४७ में यह २५७६ थे। उपर्युक्त में से यदि इम्पीरियल बैंक की ४४७ और विनिमय बैंकों की ८० संख्या घटा भी दें तो भी यह काफी थी। यह भी बहुत सन्तोष की बात है कि इनमें से कुछ दफ्तर तो उन स्थानों में खुले जिनमें पहले कोई बैंक था ही नहीं। दफ्तरों की संख्या में यह वृद्धि नये बैंकों की स्थापना और उनके तथा पहले से ही स्थापित बैंक के सदस्य बैंक बन जाने के कारण और पुराने सदस्य

बैंकों के अपने दफ्तरों की संख्या बढ़ा लेने के कारण हुई। नवम्बर, सन् १६४६ में एक ऐसा प्रतिबन्ध पास किया गया कि जिसके कारण रिजर्व बैंक की आज्ञा बिना नये दफ्तर खुलने बन्द हो गये।

इस अवधि के बीच में सदस्य तथा गैरसदस्य बैंकों की जमा भी बढ़ती गई। सदस्य बैंको की जमा सन् १६३६ के सितम्बर में २३६·६० करोड़ रु० थी और गैरसदस्य बैंकों की उसी दिसम्बर में १५·६६ करोड़ रु० थी। इसकी तुलना में इन दोनो की जमा क्रमशः १०८७·६१ (अप्रैल, १६४८ में) और ७८·४४ (सन् १६४६ के अन्त में) करोड़ रु० थी। निस्सन्देह, प्रथम में इम्पीरियल बैंक और विनिमय बैंकों की जमा भी सम्मिलित है। किन्तु यह किसी संकोच के बिना कहा जा सकता है कि जो भी वृद्धि हुई थी वह सभी के यहाँ हुई थी।

बैङ्कों ने अपनी पूँजी भी बढ़ा ली। बड़े बैङ्कों ने तो ऐसा जमा में पूँजी का अनुपात बढ़ाने की दृष्टि से किया। ऐसा करने में उन्होंने बाजार की आर्थिक स्थिति से लाभ उठाया और अपने हिस्से अधिक मूल्य पर बेचकर अपना सुरक्षित कोष भी बढ़ा लिया। छोटे बैङ्कों ने ऐसा सदस्य बैङ्क बनने के लिये किया। सन् १६३६ के विधान की (६) धारा के अनुसार उनका सुरक्षित कोष भी बढ़ता रहा। इस तरह से पूँजी बढ़ाने की इस प्रथा पर भी एतराज किये गये। जमा में पूँजी का जो अनुपात होना चाहिए उसके विषय में कोई निश्चित तो बात है नहीं। कम अनुपात होने से किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। अधिक पूँजी होने से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ता है। अतः, इससे अनुचित लागत लगाने का भी डर रहता है। नये बैङ्कों में भारत बैङ्क की पूँजी (२ करोड़ रु० से भी अधिक) पाँचों बड़े बैङ्कों की पूँजी से अधिक थी, हिन्दुस्तान कामर्शियल बैङ्क की (१½ करोड़ रु०) केवल सेन्ट्रल बैङ्क को छोड़कर अन्य सबसे बड़े बैङ्कों की पूँजी से अधिक और यूनाइटेड कामर्शियल बैङ्क की सेन्ट्रल बैङ्क और बैङ्क आफ इंडिया को छोड़कर अन्य सब बैङ्कों की पूँजी से अधिक थी।

इनका नकद कोष भी बढ़ता रहा। युद्ध के पहले यह प्रायः जमा का १० प्रतिशत रहता था, किन्तु युद्ध काल में यही प्रायः १५ प्रतिशत रहता था।

जहाँ तक स्थायी और अस्थायी जमा के अनुपात का प्रश्न था प्रथम का अनुपात युद्ध पूर्व काल में भी घटता जा रहा था। बस, यह युद्ध काल में भी घटता गया। सन् १६३६ से जब से इनका पता चलता है, ये क्रमशः निम्नाङ्कित हैं :—१६३६ में ४३·४ : ५४·६ : १६३८ में ४३·२ : ५४·८ : १६४० में ४२·६ : ५७·१ : १६४२ में २३·८ : ७६·२ : १६४४ में २७·०१ : ७२·६६ और १६४६ में २८·४ : ७१·६। १६४६ में युद्ध समाप्त हो चुका था, अतः, तब से यह कुछ बढ़ने लगा है, किन्तु भविष्य में यह पहले की तरह तो हो ही नहीं सकता। युद्ध काल में लोग माँग पर देय जमा इसलिए रखते थे कि जब चाहें तब उन्हें निकाल लें। साथ ही जैसे-जैसे स्थायी जमा पर ब्याज की दर घटती जाती है वैसे-वैसे ही उसका अनुपात भी घटता जाता है। यही कारण है कि भविष्य में भी उसके बढ़ने की विशेष सम्भावना नहीं है। बैङ्किंग की दृष्टि से यह अच्छा भी है।

युद्ध-काल में बैङ्कों की अधिकतर लागत सरकारी साखपत्रों में थी। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है उद्योग-धन्धों और व्यापार में लागत लगाने का अवसर तो कम ही होता जा रहा था। अतः, यह स्वाभाविक ही था।

इनके कार्य

ये बैङ्क प्रायः वह सभी काम करते हैं जो व्यापारिक बैङ्कों को करने चाहिये। ये स्थायी खातों में, चालू खातों में, बचत के खातों में, घरेलू बचत के खातों में, इत्यादि इत्यादि जमा प्राप्त करते हैं। साथ ही ये व्यापार और उद्योग-धन्धों को भी कुछ आर्थिक सहायता पहुँचाते रहते हैं, अर्थात् नकद साख एकाउण्ट खोलते हैं, बिल और हुण्डी डिस्काउण्ट करते हैं, द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थानों को पहुँचाने की सुविधा देते हैं और जनता की अन्य दूसरे प्रकार से सेवायें करते हैं। कृषि और उद्योग-धंधों को आर्थिक सहायता देने में इनका जो हाथ रहता है उसके विषय में तो हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। आगे के अध्याय में हम यह भी देखेंगे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को कहाँ तक आर्थिक सहायता देते हैं। हाँ, यहाँ पर यह कह देना भी शायद अनुचित न होगा कि यह इस सम्बन्ध में भी कोई संतोषजनक काम नहीं करते। इधर इनका जो कुछ भी हाथ है, वह माल को बन्दरगाहों से उसके उपभोक्ताओं तक और

मंडियों से बन्दरगाहों तक पहुँचाने के सम्बन्ध में है। इधर भी यह उतना काम नहीं करते जितना इन्हें करना चाहिये। बात यह है कि विदेशी बैङ्कों ने अपनी शाखायें देश के भीतरी शहरों में भी खोल रक्खी है अथवा कुछ भारतीय बैङ्कों के मार्फत अपना काम करवा लेते हैं। अतः, इन्हें पूरा काम नहीं मिलता। इसके फलस्वरूप इनकी अधिकांश लागत सरकारी साख-पत्रों ही में रहती है। वास्तव में सरकारी साख-पत्र यही खरीदते ही हैं। यह बात विशेषतः इम्पीरियल बैङ्क तथा बड़े-बड़े बैङ्कों के लिए तो बिल्कुल ही सत्य है। यह अच्छा नहीं है। इन्हें ऋण और बिल डिस्काउटिंङ्ग में अधिक लागत लगानी चाहिये।

जहाँ तक जमा पर ब्याज का प्रश्न है, सेन्ट्रल बैङ्क को छोड़कर अन्य किसी बैङ्क के इन ब्याज के दरो के विषय में कोई लेख नहीं मिलता। हाँ, प्रायः सभी बैङ्कों की स्थायी जमा एक साथ लेने पर उनके ब्याज की औसत दर का पता चल जाता है। जहाँ तक हो चालू खाते में ब्याज नहीं देना चाहिये और यही प्रथा अन्य देशों में है भी। लोग चालू खातों में तो जमा केवल अपनी सुविधा के विचार से करते हैं न कि वह उसे लाभप्रद लागत समझते हैं। अतः, ब्याज की दर का इन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। फिर, ब्याज देने का प्रभाव बैङ्कों के ऊपर भी अच्छा नहीं पड़ता। इससे उन्हें आय करने की आवश्यकता अनुभव होती है; अतः, वह मन्दी में लागत लगाने का प्रयत्न करते हैं जिसका फल अच्छा नहीं होता। इससे वे फेल भी हो जाते हैं। किन्तु यहाँ, विदेशी बैङ्क भी चालू खातों पर ब्याज देते हैं। इम्पीरियल बैङ्क अवश्य ऐसा नहीं करता। सम्मिलित पूँजी वाले बैङ्कों में से कुछ बड़े बैङ्कों को छोड़कर उन्होंने इधर ही ऐसा करना शुरू किया है अन्य सभी कुछ न कुछ ब्याज देते ही हैं। यह केवल इसलिये ही है कि वह जानते हैं कि वह इम्पीरियल बैङ्क और विदेशी बैङ्कों तथा बड़े-बड़े बैंकों के सामने ब्याज दिये बिना नहीं ठहर सकते। सन् १९३१ तक सेन्ट्रल बैङ्क माँग पर देय जमा पर औसतन २·०१ से २·५२ प्रतिशत तक ब्याज देता था। इधर उसने यह बन्द कर दिया है। किन्तु स्थायी खातों पर ब्याज देना एक दूसरी ही बात है। इस पर ब्याज की दर के अनुसार इनकी रकम भी घटती-बढ़ती रहती है। स्थायी और अस्थायी खातों के बीच में भी यह बात है कि स्थायी खातों पर बहुत थोड़ी दर से ब्याज मिलने पर लोग

स्थायी खातों में जमा न करके अस्थायी खातों में ही जमा रखना अधिक पसन्द करते हैं। इधर हमारे यहाँ यही हुआ है; स्थायी जमा अस्थायी हो गई है।

स्थायी और चालू खातों में दोनो में इधर जो व्याज की दर कम हो गई थी उससे कुछ लोग यह कह रहे थे कि कहीं लागत के स्रोत शुष्क न पड जायें। वास्तव में रिजर्व बैङ्क ने और फिर अन्य बैंकों ने १९५१ में इसी कारण अपनी व्याज की दरें बढ़ाई थीं। किन्तु व्यापारिक बैंकों को तो अधिकतर अस्थायी खाते ही रखने चाहिये। अतः, उन पर व्याज देने का प्रश्न तो नहीं उठता। उन्हें तो अपने ग्राहकों को अन्य सुविधायें देकर खींचना चाहिये। हाँ, स्थायी खातों की तो बात ही दूसरी है। उन पर व्याज देकर ही उन्हे खींचना चाहिये। जो हो, यह काम व्यापारिक बैङ्कों का नहीं है। अतः, यदि व्यापारिक बैङ्कों की स्थायी जमा कम होती जा रही है तो कोई बुरा नहीं है। इसके लिए तो अन्य संस्थायें होनी चाहिये। हमारे यहाँ डाकखाने, बीमा कम्पनियाँ, इत्यादि हैं। भूमि बन्धक बैङ्क भी इन्हें खींच सकते हैं। अंतिम, औद्योगिक बैङ्कों को इनसे लाभ उठाना चाहिये। इन्हें ऊँची व्याज दर देनी चाहिये और यह देते भी हैं।

जहाँ तक व्यापार की आर्थिक सहायता करने का प्रश्न है, वह कई रूप में की जाती है। दीर्घकालीन और अल्पकालीन ऋण में से चूँकि आजकल अल्प-कालीन ऋण पर व्याज की दर बहुत अच्छी है और व्यापारिक बैङ्क के दायित्व अल्पकालीन होते हैं, इसलिये वह अल्पकालीन ऋण देना पसन्द करते हैं। इनमें से यदि हम मुख्य ऋण (Loans & Advances) पहले लें; तो जैसा कि द्वितीय युद्धकाल शीर्षक में दी हुई तालिका से पता चलता है जमा की तुलना में वह इतने अधिक नहीं हैं जितने कुछ अन्य देशों में पाये जाते हैं। ऋण व्यापार, कृषि, उद्योग-धंधो इत्यादि सभी को दिये जाते हैं। किंतु व्यापार को सबसे अधिक दिये जाते हैं और कृषि तथा उद्योग धंधो को बहुत कम।

हमें इन ऋणो के रूप भी मालूम कर लेने चाहिये। देश में चैक का चलन बहुत कम है। अतः, इनमें से अधिकांश ऋण नकदी के रूप में दिये जाते हैं। इनके लिए जो जमानतें दी जाती हैं वह प्रायः जमीन, मकान, जेवर, सोना चाँदी तथा सरकारी साख-पत्रों की होती हैं। ऐसे ऋण देने के लिए अब बैङ्क

कम तैयार होते हैं। जहाँ तक सम्भव होता है, वह ऋण लेने वाले से अपने यहाँ एक चालू खाता खोल लेने को कहते हैं और उसमें अधिविकर्ष की आज्ञा दे देते हैं। प्राय: जमानत पर ३० प्रतिशत की गुञ्जाइश रक्खी जाती है। इन सब में नकद साख के रूप का ऋण बहुत ही महत्वपूर्ण है। वह बैंक और ग्राहक दोनों की दृष्टि से लाभप्रद है। बैंक तो जैसा कि हम जानते हैं, जब चाहें तब और ऋण देना बंद कर सकते हैं और ग्राहक उनके ऊपर जितनी दैनिक बाकी निकलती है उसी पर ब्याज देते हैं। इस ऋण की जमानत प्राय: व्यापार सम्बन्धी माल की ही होती है जो या तो व्यापारी के गोदाम में ही छोड़ दिया जाता है या बैंक के गोदाम में रख दिया जाता है। प्रथम स्थिति में तो बैंक उसमें अपना ताला लगा लेता है और उस पर अपने नाम की तख्ती भी टाँग देता है और द्वितीय स्थिति में वह गोदाम भाड़ा भी लेता है। दोनों स्थितियों में बीमा भी करवा लिया जाता है; अत:, उसका खर्च भी ऋण लेने वाले के ऊपर ही पड़ता है। वैयक्तिक जमानतों पर बहुत कम ऋण दिये जाते हैं और वह यदि दिये भी जाते हैं तो उनके लिये दो धनिकों के हस्ताक्षर के प्रण-पत्र लिखवा लिये जाते हैं।

यदि हम डिस्काउंटिङ्ग लें तो यह कहा जा सकता है कि पहले तो यह बहुत चालू नहीं था। किन्तु सन् १९५२ से जब से रिजर्व बैंक ने बिल बाजार के विकास की नई योजना चलाई है। यह लोक-प्रिय होता जा रहा है १९५०-५१ में जब कि इसकी औसत मात्रा ११·८७ करोड़ रु० थी। १९५३-५४ में यह ५१·४० करोड़ रु० थी। वैसे तो यह कुल जमा (८५५ करोड़) का बहुत कम अंश है किन्तु यह लोकप्रिय होता जा रहा है। नये बैंकों में से डिस्काउण्ट बैंक, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, इत्यादि यह व्यवसाय काफी करते हैं।

अन्त में हम सरकारी तथा अन्य प्रकार के साख-पत्रों में लगी हुई लागत ले सकते हैं। युद्ध काल के बाद इनमें लागत कम होती जा रही है। तो भी यह काफी जमा की ३५% के लगभग है। अधिकांश लागत सरकारी साखपत्रों में है अन्य लागत कम है। उद्योग-धन्धों के अंशों और ऋणपत्रों में लागत बढ़नी चाहिये।

सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंक रुपया एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजने में भी बहुत सहायता पहुँचाते हैं तथा अन्य प्रकार से भी लोगों की

सेवायें करते हैं। जहाँ तक रुपया एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजने का सम्बन्ध है, इसके लिए वे बड़ी ऊँची दर चार्ज करते हैं और विशेषतः उन स्थानों में जहाँ उनकी प्रतियोगिता करने वाले दूसरे बैंक नहीं हैं। अतः, उन्हें इसे कम करना चाहिये।

वर्तमान स्थिति

इन बैंकों की वर्तमान स्थिति बड़ी आशाप्रद है। देश में काम करने वाले सभी बैंकों को अब रिजर्व बैंक से एक अनुज्ञापत्र प्राप्त करना पड़ता है। अतः उसके लिये वह बैंकों का निरीक्षण करता है। यदि किसी बैंक में कोई कमी होती है तो उसे पूरा करने के लिये कहा जाता है। कुछ से बराबर विशेष रिपोर्ट माँगी जाती हैं। इन्हें इनके कार्य क्षेत्र के अनुसार न्यूनतम पूँजी रखनी पड़ती है। फिर विभिन्न प्रकार की जो अंश पूँजी होती है उसके अनुपात भी निर्धारित कर दिये गये हैं। अतः, अब यह सम्भव नहीं है कि अधिकृत पूँजी क्रीत पूँजी की अपेक्षाकृत अथवा क्रीत पूँजी प्राप्त पूँजी की अपेक्षाकृत बहुत अधिक हो। अंश भी अब केवल साधारण ही निकाले जा सकते हैं, अतः, कुछ अंशधारियों को कम रुपया देने पर भी अधिक अधिकार नहीं प्राप्त हो सकते। फिर, एक अंशधारी के उसके पास चाहे जितने अंश हों सब मतों के ५% से अधिक मत नहीं हो सकते। संचिति भी प्राप्त पूँजी के बराबर होनी चाहिये। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक लाभ का २०% लाभांश बाँटने के पहिले संचिति में ले जाना पड़ता है। एक बैंक के संचालक दूसरे बैंक में नहीं हो सकते जिससे उसका अहित करके दूसरों का लाभ नहीं किया जा सकता। किसी बैंक के निर्धारित स्तर से नीचे गिरने पर न केवल उसका अनुज्ञापत्र ही छीना जा सकता है वरन उसे कोई भी आदेश दिया जा सकता है। जमा कर्ताओं के हित में काम न करने पर अधिक जमा प्राप्त करने की मनाही की जा सकती है। प्रत्येक बैंक को अपने देनों का कम से कम २०% भारत में द्रव्य स्थिति में रखना पड़ता है। वैसे भी भारतीय बैंक यथेष्ट रखते हैं। अँग्रेजी और अमेरिकी बैंकों की अपेक्षाकृत इनका इसका जमा का प्रतिशत कहीं अधिक होता है। यदि किसी बैंक की भूत काल की स्थिति अच्छी रही है और वर्तमान में उस पर संकट है तो रिजर्व बैंक उसकी सहायता करता है। वह उसे उधार देता है।

आवश्यकता पड़ने पर सरकार से उसे भुगतान करने के लिये समय देने की प्रार्थना की जाती है।

वैसे तो युद्धकाल में भी बाद में नये बैंकों के खुलने पर नियन्त्रण लगा दिया गया था जिससे प्रायः अच्छे बैंक ही खुले हैं। किन्तु अब छोटे-छोटे बैंकों को मिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। कोमिल्ला बैङ्किंग कारपोरेशन लि० में १६४५ में न्यू स्टेण्डर्ड बैंक मिला दिया गया था। १६५० में कोमिल्ला बैंकिंग कारपोरेशन, कोमिल्ला यूनियन बैंक, हुगली बैंक तथा बंगाल सेण्ट्रल बैंक मिला करके यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया, लि० का निर्माण हुआ। १६५१ में भारत बैंक पंजाब नेशनल बैंक में मिल गया। अन्य बैंकों के एकीकरण की भी योजनायें हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक कमजोर बैंकों का शासकीय निस्तारक बनकर उनका निस्तारण भी कर सकता है।

बैंक अपनी नई शाखायें खोल और पुरानी शाखायें बन्द तभी कर सकते हैं जब रिजर्व बैंक से उन्हें इसकी अनुमति मिल जाती है। नई शाखायें खोलने की अनुमति देते समय रिजर्व बैंक अन्य बातों के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखता है कि वह वहीं खुलें जहाँ उनकी आवश्यकता हो।

कठिनाइयाँ और दोष

तो भी ये बैंक बहुत सी कठिनाइयों में काम कर रहे हैं और इनके स्वयम् के भी दोष हैं। यदि यह दूर हो जायँ तो भारतीय बैंकिंग और उन्नति करे।

(१) सर्व प्रथम इम्पीरियल बैंक को ही सरकार अधिक मानती है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व तो वह सरकार का बैंकर था, और फिर वह रिजर्व बैंक का एकमात्र एजण्ट बना दिया गया। हाँ, इधर अपनी सरकार ने हैदराबाद में स्टेट बैंक आफ हैदराबाद को और बड़ोदा में बैंक आफ बड़ोदा को भी उसका एजण्ट बनाया है। यदि सरकार समय-समय पर अन्य बैंकों को भी रिजर्व बैंक का एजण्ट बनाती रहे तो इम्पीरियल बैंक की इस स्थिति से उसे जो लाभ है वह उन्हें भी प्राप्त हो सकता है। फिर, सरकारी अधिकारी भी प्रायः अपना हिसाब इम्पीरियल बैंक ही में रखते हैं। यही नहीं अर्ध सरकारी दफ्तरों के हिसाब भी प्रायः इसी में हैं। इन्हें एक ही बैंक को संरक्षण न देकर अन्य बैंकों को भी संरक्षण देना चाहिये।

(२) भारतीय बैंकों को बड़े-बड़े शहरों में विदेशी बैंकों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे ये बैंक विनिमय बैंकिंग के काम में भारतीयों के संग भेद भाव का बर्ताव करते हैं। अब अपनी सरकार उनसे ऐसा करने की मनाही कर सकती है तथा जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे उन्हें भारतीय बैंकों के साथ भारत में तथा विदेशों में उनकी शाखाओं में साझा करने के लिये मजबूर कर सकती है। उनके ऐसा न करने पर उन्हें ऐसे काम करने से रोका जा सकता है जिनमें यह भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता करते हैं। तो भी अब इन पर लगभग वह सब प्रतिबन्ध लग गये हैं जो भारतीय बैंकों पर हैं। अतः, इन्हें कोई विशेष संरक्षण तो नहीं है। तो भी ये प्रतियोगिता तो कर ही सकते हैं।

(३) व्यापारी प्रायः विदेशी विनिमय बैंकों को अधिक पसन्द करते हैं। विदेशी व्यापारी ऐसा करते हैं यह तो स्वभावतः उचित ही है। किन्तु भारतीय व्यापारी ऐसा इसलिये करते हैं कि उन्हें इनसे अधिक सुविधा मिलती है। एक तो ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देनी चाहिये कि ये लोगों को अधिक सुविधा न दे सकें। दूसरे, उन्हें राष्ट्रीय विचार का भी होना चाहिये।

(४) भूत काल में भारतीय बैंक बारम्बार फेल होते रहे हैं। अतः, लोगों का इन पर कम विश्वास है। तो भी कुछ ऐसे बैंक हैं जिन्होंने विश्वास पैदा कर दिया है। इनमें पाँच बड़े तो ऐसे हैं ही।

(५) कुछ वैधानिक बन्धनों के कारण बैंकों को अपने ऋण की वसूली में बड़ी कठिनाई पड़ती है। इन्हें सरकार को दूर करना चाहिये।

(६) सादा रेहन कुछ ही शहरों में नियमित होने के कारण अन्य शहरों में रजिस्ट्री करा के रेहन कराना पड़ता है। अतः, ऐसा करने में बहुत सी कार्यवाही करनी पड़ती है और लोग इसे पसन्द भी नहीं करते हैं। अतः ऋण देने में कठिनाई पड़ती है।

(७) बिलों की कमी होने के कारण और उनके बैंकों द्वारा स्वीकृत किये जाने की प्रथा न होने के कारण बैंकों को अपनी धन राशि अधिकांश में सरकारी साख पत्रों में लगानी पड़ती है। यह बात अच्छी नहीं है। उनका होना तो तभी सार्थक हो सकता है जब वह व्यापार और उद्योग-धन्धों की सहायता

करें न कि सरकारी साख पत्रों में लगायें। कहना न होगा कि १६५३ से जब से रिजर्व बैंक ने मिल बाजार के विकास की योजना निकाली है। इनकी अधिकाधिक लागत मिलों में लग रही है। प्रति बन्धित गोदामो के स्थापित होने से यह और अधिक होने लगेगा।

(८) यहाँ पर एक व्यक्ति एक बैंक की प्रथा नहीं है। अतः, एक व्यक्ति के कभी-कभी कई बैंको में खाते होते हैं जिससे उसकी स्थिति की पूरी जानकारी किसी बैंक को नहीं हो पाती। इसका यह फल होता है कि उसे ऋण की सुविधा पूर्ण रूप से नहीं प्राप्त हो पाती।

(६) यहाँ बैंकों को अपने जमानत पर दिये हुये और जमानत के बिना दिये हुये ऋण बैलन्स शीट में पृथक-पृथक दिखाने पड़ते हैं। फिर, यहाँ पर इंगलिस्तान के सीड्स की तरह की और अमेरिका के डून्स और ब्रैंड स्ट्रीट्स की तरह की संस्थायें नहीं हैं जो ऋण माँगने वालों की आर्थिक स्थिति के विषय में बतला सकें। अतः, यहाँ के बैंक पश्चिमीय देशों के बैंकों की तरह वैयक्तिक जमानतों पर ऋण नहीं दे पाते हैं।

(१०) सभी बैंक अपना काम अंग्रेजी में करते हैं। सिर्फ कुछ ही यहाँ की भाषाओं में लिखी हुई चेक और हस्ताक्षर ठीक मानते हैं। अतः, देश में अँग्रेजी जानने वाले लोगों की संख्या कम होने के कारण बैंकिंग की प्रथा नहीं बढ़ पाती।

(११) भारतीय बैंक अँग्रेजी बैंकों की तरह पर बने हुये हैं। बहुतों के खर्च बहुत बढ़े हुये हैं। उन्होने अँग्रेजी बैंकों की कुशलता के साथ-साथ यहाँ के महाजनों की सादगी और मितव्ययता का मिश्रण नहीं किया है।

(१२) प्रायः भोली-भाली जनता को बेवकूफ बनाने की दृष्टि से बैंकों के संचालक मण्डलों में राजनैतिक और सामाजिक नेता रख लिये जाते हैं। किन्तु एक तो न ये बैंकिंग का व्यवसाय समझते हैं और दूसरे न इनके पास समय होता है। अतः, ऐसे बैंकों का कार्य सुचारु रूप से नहीं चलता। इधर एक बैंक के संचालक को जो दूसरे बैंक का संचालक बनने की मनाही हो गई है उससे यह बात कम हो जायगी।

(१३) कुछ दिनों पहले तक भारतीय बैंकों के अपने संगठन नहीं थे। इसका स्वभाविक फल यह था कि उनमें पारस्परिक ईर्ष्या रहती थी और सहयोग का लेशमात्र भी नाम नहीं मिलता था। १९४६ में भारतीय बैंकों का सगठन बन गया है।

(१४) कुछ विदेशी बैंकों के बड़े-बड़े कर्मचारी प्राय: भारतीय बैंको को बदनाम करते थे। इससे सेण्ट्रल बैंक की बडी हानि होती थी। किन्तु वह उन्नति करता ही गया।

(१५) बैंकिंग शास्त्र के विशेषज्ञों की कमी है। अतः, साधारण लोग ही इस काम के लिये रक्खे जाते हैं। द्वितीय युद्धकाल में बैंको में अनुभवी लोगों को रखने की काफी होड़ रही। जिससे बैंकों के कर्मचारी इधर से उधर चले गये।

(१६) बैंकों की और उनकी शाखाओं की संख्या युद्ध काल मे बहुत बढ़ी। अतः, उनके एकीकरण और सुदृढ़ होने की आवश्यकता है।

सम्मिलित पूँजी के मुख्य-मुख्य भारतीय बैंक

सेन्ट्रल बैङ्क आफ इण्डिया—सेन्ट्रल बैङ्क आफ इण्डिया की संस्थापना सन् १९११ में हुई थी। इसका श्रेय मुख्यतः सोरावजी धुचकनवाला को था। वह बड़े ही योग्य व्यक्ति थे और आजीवन कम्पनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर रहे। सन् १९३८ में उनकी मृत्यु हो जाने से भारतीय बैंकिंग को साधारणतः और सेन्ट्रल बैङ्क को मुख्यतः बड़ा धक्का लगा। यह बैङ्क प्रत्येक दृष्टि से, चाहे पूँजी और सुरक्षित कोष, जमा, शाखाओं की संख्या अथवा बैङ्किंग व्यवसाय का कोई काम ले लिया जाय, सम्मिलित पूँजी के सब भारतीय बैङ्कों में प्रमुख हैं। सन् १९२३ इसके लिये विशेष महत्व का था। उस वर्ष इसने टाटा इण्डस्ट्रियल बैङ्क को अपने में सम्मिलित कर लिया था जिससे इसकी पूँजी और इसका सुरक्षित कोष मिलाकर ८० लाख रु० से २६८ लाख रु० हो गया, जमा १४ करोड़ रु० से १८ करोड़ रु० हो गई और पूँजी और सुरक्षित कोष मिलकर जमा का ५.७ प्रतिशत से १७.१८ प्रतिशत हो गया। बैङ्क ने प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ-काल में अपनी पहली शाखा करांची में खोली थी। युद्ध समाप्त होते-होते इनकी संख्या

पाँच हो गई। सन् १६३४ में इसके दफ्तरों की संख्या ६८ थी, सन् १६३७ में यह ८६ हो गई। सन् १६३८ में यह २०१ थी, सन् १६४० में यह १३२ थी, सन् १६४३ में यह २१७ थी, सन् १६४५ में यह ३०८ और सन् १६५२ में यह ३१२ थी। किसी भी भारतीय बैंक ने इतनी कठिनाइयों का सामना नहीं किया जितनी इस बैंक को करनी पडी हैं। इसकी संस्थापना के प्रथम २० वर्षों के अन्दर ही इसके ऊपर नौ आक्रमण हुये थे जिसे इसने सफलतापूर्वक सँभाला।

यह बैंक इम्पीरियल बैंक की तरह सभी राज्यों में है। स्थाई और अस्थायी जमा पर वह जो व्याज देता है उसकी दर अन्य बैंकों की दरों की अपेक्षाकृत कम है। सन् १६२१ से यह चालू खातों और स्थायी खातों पर दिये गये व्याज की रकम पृथक्-पृथक् दिखलाता है। पहले तो स्थायी जमा पर चालू जमा से २-३ प्रतिशत व्याज अधिक दिया जाता था और फिर यह अंतर केवल १·३२ प्रतिशत का रह गया था। इस तरह से उपर्युक्त व्याज की दरों में कम अन्तर हो जाने से चालू खातों और बचत खातों में कुल जमा की तुलना में अधिक रकम जमा रहने लगी। अब यह विनिमय बैंकिंग का काम भी करने लगा है।

बैंक आफ इण्डिया

बैंक आफ इंडिया सन् १६०६ में संस्थापित हुआ था। तब से इसने बडी उन्नति की है। अपने साधनों की दृष्टि से इस समय इसका स्थान यहाँ के सम्मिलित पूँजी के बैंकों में दूसरा है। इस बैंक पर कभी भी आक्रमण नहीं हुये। इसने बढ़ने में भी बहुत सावधानी से काम लिया। इसकी संस्थापना से २० वर्षों तक इसकी कोई भी शाखा नहीं थी। सन् १६५२ में इसके दफ्तरों की संख्या ३५ थी जिनमें से भारत में ६ बम्बई में थे, ३ कलकत्ते में थे, ५ अहमदाबाद में थे, नागपुर और पूना में दो-दो थे और कोयम्बटूर, हैदराबाद (दक्षिण), कोम्भीकोह, शोलापुर, बरावल, जमशेदपुर, राजकोट, अमृतसर, भुज (कच्छ), जूनागढ़, मद्रास, पालनपुर और सूरत में एक एक थे। पाकिस्तान में एक (कराँची में) जापान में दो (टोकियो और ओसाका में) तथा इंगलैंड में एक (लंदन में) थीं। यह अपने जमा के दायित्व के अनुपात में काफी पूँजी और सुरक्षित कोष रखता है।

यह जमा प्राप्त करने के लिये ब्याज की दर ऊँची नहीं करता। इसकी लागत द्रवित और सुरक्षित है। इसने सन् १९०७ में ५ प्रतिशत लाभ की बँटनी की थी और इसे धीरे-धीरे २२ प्रतिशत कर दिया।

इलाहाबाद बैंक

सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंकों में से इलाहाबाद बैंक सबसे पुराना है। यह सन् १८६५ में इलाहाबाद में स्थापित किया गया था। सन् १९२२ ई० में पी० एण्ड ओ० बैंकिंग कोरपोरेशन ने इसे अपने में शोषण करने का प्रस्ताव रक्खा जिसे इसके हिस्सेदारों ने स्वीकार कर लिया। पी० एण्ड ओ० ने इसके १००-१०० रु० के हिस्सों के लिये जिनका पूरा मूल्य दिया जा चुका था, ४२६ रु० दिये। इसका स्वामित्व बदल जाने के साथ-साथ ही इसका प्रधान दफ्तर भी इलाहाबाद से कलकत्ते भेज दिया गया। सन् १९२७ में चार्टर्ड बैंक आफ इंडिया आस्ट्रेलिया एण्ड चायना ने पी० एण्ड ओ० से इसके अधिकांश हिस्से खरीद लिये जिससे फिर इसका स्वामित्व बदल गया।

इस बैंक ने भी बड़ी सावधानी से चलने की नीति बरती है। इसकी पहली शाखा कानपुर में सन् १८८८ में खुली थी। सन् १९१७ में इसके दफ्तरों की संख्या केवल १२ थी। इसके बाद की इसकी वृद्धि अवश्य कुछ तेज रही है। सन् १९५२ में इसके दफ्तरों की संख्या ७८ थी। नकद में जमा का अनुपात इसके यहाँ काफी रहता है। इसके अतिरिक्त इसकी लागत भी बहुत द्रवित रूप में रहती है। अधिकांश रुपया सरकारी साख-पत्रों में लगा रहता है। रक्षा के विचार से तो यह नीति अवश्य अच्छी है किन्तु देश के व्यापार, उद्योग-धन्धों और व्यवसाय को प्रोत्साहन देने के विचार से यह नीति अच्छी नहीं है।

अपने साधनों की दृष्टि से इसका स्थान यहाँ के सम्मिलत पूँजी के बैंकों में तीसरा है। यह अधिकतर उत्तर प्रदेश और पञ्जाब में काम करता है। इसके लाभ की बँटनी इधर २६ प्रतिशत के हिसाब से होती रही है।

पञ्जाब नेशनल बैंक

पञ्जाब नेशनल बैंक की रजिस्ट्री सन् १८९५ में हुई थी। यह बैंक सेन्ट्रल

बैङ्क ही की तरह भारतीय प्रबन्धकों के ही हाथ में है। सन् १९५४ में इसके कुल मिलाकर ३१२ दफ्तर थे। देश के विभाजन के साथ-साथ पश्चिमी पञ्जाब में जो दंगे हुये थे उनसे इसकी बड़ी हानि हुई। किन्तु इसके प्रबन्धकों ने बड़ी सावधानी से काम लिया था। उन्होंने इसका प्रधान कार्यालय तो पहले से ही लाहौर से हटाकर दिल्ली भेज दिया था। इसके अतिरिक्त इसने पञ्जाब में ऋण भी कम दे रक्खा था। सन् १९५१ में युद्ध काल में स्थापित भारत बैङ्क इसमें मिल गया। साधनों की दृष्टि से यहाँ के सम्मिलित पूँजी वाले बैङ्कों में इसका स्थान चौथा है। अन्य भारतीय बैङ्कों की तरह इसके ऊपर भी बड़े आक्रमण हुये हैं किन्तु इसने उन्हें भली-भाँति सँभाला है।

जमा प्राप्त करने के लिये यह ऊँची दर का ब्याज नहीं देता। किन्तु इतने पर भी अन्य बैङ्कों की अपेक्षाकृत इसके लाभ की दर बहुत ही कम रहती है।

बैङ्क आफ बड़ौदा

बैङ्क आफ बड़ौदा सन् १९०९ में स्थापित हुआ था। इसकी पहली शाख सन् १९१९ में खोली गई थी। सन् १९५२ में इसके कुल दफ्तरों की संख्या २५ थी और उनमें से अधिकांश काठियावाड़ और गुजरात में थे। इसने विदेशों में भी शाखायें खोलनी प्रारम्भ कर दी है। इधर यह बड़ौदा में रिजर्व बैङ्क का एजण्ट भी नियुक्त कर दिया गया है। यह नकद का अनुपात बहुत अधिक रखता है—प्रायः यह १५ प्रतिशत रहता है। साधनों की दृष्टि से यहाँ के सम्मिलित पूँजी के बैङ्कों के बीच में इसका पाँचवाँ स्थान है। इसके ग्रास लाभ (Gross Profit) की दर बहुत कम है। जिस क्षेत्र में यह काम करता है उसमें द्रव्य बहुत है। अतः, बैङ्कों और महाजनों में परस्पर बड़ी प्रतियोगिता रहती है जिससे ऋण पर कम ब्याज मिलता है।

यूनाइटेड कमर्शियल बैङ्क

यूनाइटेड कमर्शियल बैङ्क सन् १९४४ में स्थापित किया गया था। इसकी पूँजी भी सेन्ट्रल बैङ्क को छोड़कर पाँचों बड़े बैंकों की पूँजी से अधिक थी। यह

भी होनहार बैङ्क मालूम होता है। इसकी शाखायें विदेशों में भी हैं और यह विनिमय बैङ्किंग का काम भी करता है।

इण्डियन बैङ्क

इण्डियन बैङ्क की रजिस्ट्री सन् १९०७ में हुई थी। यह अब भी दक्षिणी भारत का सबसे बड़ा बैङ्क है। इसका प्रधान दफ्तर मद्रास में है। इसके अधिकांश दफ्तर सन् १९३५ के बाद खोले गये हैं। इसके अधिकांश हिस्से नट्टू-कोटाई चट्टियों के हाथ में हैं। अतः, इसे उन्हीं का बैंक कहा जा सकता है। अधिकांश ऋण भी इन्हीं लोगों को दिया जाता है। चट्टी लोग स्वयं महाजन हैं और बैंक तथा ऋण लेने वालों के बीच में मध्यस्थ का कार्य करते हैं। यह बैंक इनके वैयक्तिक दायित्व पर ऋण देना अधिक पसन्द करता है। माल की जमानत से यह यही जमानत अच्छी समझता है। यही कारण है कि यह सरकारी साख-पत्रों में भी अधिक रकम नहीं लगाता। इसकी अधिकांश लागत, ऋण के रूप में है। इससे इसकी कभी कोई विशेष हानि भी नहीं हुई है। दूसरे बैंक इससे इस बात का सबक सीख सकते हैं। वे भी देशी महाजनों को मध्यस्थ बनाकर काम कर सकते हैं।

बैंक आफ मैसूर

बैंक आफ मैसूर सन् १९१२ में स्थापित हुआ था। यद्यपि इसके साधन बहुत बड़े हैं किन्तु इसे रिजर्व बैंक की तालिका में केवल सन् १९४३ में ही सम्मिलित किया गया था। इसके पहले शायद ऐसा इसलिये नहीं हुआ था कि इसकी ब्रिटिश भारत में कोई शाख नहीं थी। इधर कई वर्षों से यह १४ प्रतिशत लाभ की बँटनी करता आ रहा है।

सदस्य बैंकों के दायित्व

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि कौन से बैंक सदस्य बैंक बन सकते हैं। इनके कुछ दायित्व होते हैं :—

(१) प्रथम तो प्रत्येक सदस्य बैंक को रिजर्व बैंक में अपनी चालू जमा का कम से कम ५ प्रतिशत और स्थायी जमा का २ प्रतिशत बैलन्स रखना पड़ता है। इसके लिये इसे रिजर्व बैंक के उस दफ्तर का नाम बताना पड़ता है

जहाँ यह अपना मुख्य खाता रक्खेगा। सदस्य बैंक अपने हिसाब रिजर्व बैंक के उन सभी दफ्तरों में रख सकते हैं जो ऐसे स्थान में हों जहाँ उनके भी दफ्तर हैं। यदि किसी सदस्य बैंक का दफ्तर किसी ऐसे स्थान में नहीं है जहाँ रिजर्व बैंक के दफ्तर हैं तो वह रिजर्व बैंक के किसी भी दफ्तर में अपना हिसाब रख सकता है।

(२) दूसरे, सदस्य बैंक को रिजर्व बैंक विधान की ४२ (२) धारा में जो फार्म दिया हुआ है उसी के अनुसार अपनी स्थिति की एक साप्ताहिक रिपोर्ट रिजर्व बैंक के पास और एक केन्द्रीय सरकार के पास भेजनी पड़ती है। जहाँ के लिये रिजर्व बैंक यह समझता है कि वहाँ की भौगोलिक स्थिति के कारण साप्ताहिक रिपोर्ट नहीं आ सकती, वहाँ पर वह मासिक रिपोर्ट ही मँगा सकता है। यह रिपोर्ट उसी दफ्तर को जाती है जहाँ मुख्य खाता रहता है।

यदि (२) में दी हुई रिपोर्ट समय पर नहीं भेजी जाती अथवा (१) में दिया हुआ न्यूनतम बैलन्स रिजर्व बैंक के पास नहीं रक्खा जाता तो सजा दी जाती है। यदि रिपोर्ट नहीं भेजी जाती तो जितने दिन की देर होती है उतने दिनों तक १०० रु० प्रति दिन के हिसाब से जुर्माना लगता है। और यदि न्यूनतम बैलन्स नहीं रक्खा जाता तो एक सप्ताह तक तो जितना बैलन्स कम होता है उस पर बैंक दर से २ प्रतिशत अधिक ब्याज लगता है और यदि यह दूसरी रिपोर्ट भेजने की तारीख के बाद भी कम रहता है तो बैंक दर से ५ प्रतिशत अधिक ब्याज लगता है। यह दोनों जुर्माने माँगने पर उसी समय देने पड़ते हैं और इन्हें वही दफ्तर माँगता है जिसमें उस सदस्य बैंक का मुख्य खाता होता है। यह जुर्माना न देने पर वह अदालत द्वारा भी वसूल किया जा सकता है। कुछ बैंक न्यूनतम बैलन्स न रख कर ब्याज दे देते थे। अतः, यह रोकने के लिए, रिजर्व बैंक के सन् १९४० के एक विधान से रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह अपराधी बैंक को और अधिक जमा प्राप्त करने से रोक सकता है और उन कर्मचारियों को भी सजा दे सकता है जिनकी जानकारी में वह अपराध किया जाता है।

उनके अधिकार

सदस्य बैंकों को कुछ अधिकार भी प्राप्त हैं :—

(१) उन्हें अच्छे बिलों की डिस्काउण्टिंग के रूप में अथवा अच्छे साख-पत्रों की जमानत पर ऋण के रूप में रिजर्व बैंक से आर्थिक सहायता प्राप्त हो सकती है। कौन से बिल अच्छे हैं और कौन से साख-पत्र अच्छे हैं यह बात स्पष्ट रूप से रिजर्व बैंक विधान की १७वीं धारा में दी हुई है। रिजर्व बैंक की ऋण देने की नीति और किस प्रकार की आर्थिक सहायता वह सदस्य बैंकों को दे सकता है, वह सब उसके ७ दिसम्बर, सन् १६३८ के एक स्मरण-पत्र में दिये हुये हैं। संसार के अन्य देशों में जो नीति बरती जाती है, उसी के अनुसार और इस देश में बैंकिंग का उचित ढङ्ग से विकास करने के उद्देश्य से सदस्य बैंकों को उधार देने के समय रिजर्व बैंक केवल उन साख-पत्रों पर ही ध्यान नहीं देता, जिनके आधार पर ऋण माँगा जा रहा है बल्कि इन बातों पर भी ध्यान देता है कि प्रार्थी बैंक की लागतें साधारणतः किस प्रकार की हैं, उसका व्यवसाय कैसे किया जाता है। उदाहरणार्थ वह जमा प्राप्त करने के लिये ब्याज की बहुत ऊँ[illegible] तो नहीं देता, जब बाजार में रुपये की टान नहीं रहती तब वह रिजर्व बैंक से उधार [illegible] अपनी शक्ति से अधिक व्यवसाय तो नहीं करता और चीजों पर तथा साख-पत्रों [illegible]ट्टे के लिए ऋण तो अधिक नहीं देता [illegible] बिना जमानती काम तो बहुत नहीं [illegible]। इस सम्बन्ध में यह [illegible] ध्यान रखना चाहिये कि रिजर्व बैङ्क केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकता है। फिर, इस बात का विश्वास मिल जाने के लिये कि वह जो ऋण की सुविधा दे रहा है उसका दुरुपयोग तो न किया जायगा, वह मनचाही कोई भी बात पूछ सकता है अथवा किसी प्रकार की कोई भी शर्त लगा सकता है और ऋण लेने वाले बैङ्क को यह बात बतानी पड़ेगी तथा शर्त पूरी करनी पड़ेगी। अन्तिम यह कि अन्य बैङ्कों की तरह रिजर्व बैङ्क भी अपने विवेक के अनुसार कोई कारण बताये बिना ही किसी बैङ्क के बिल डिस्काउण्ट करने की अथवा उसे साख-पत्रों पर ऋण देने की मनाही कर सकता है। किन्तु यदि सदस्य बैङ्क उचित ढङ्ग पर काम करते हैं तो आवश्यकता पड़ने पर उचित जमानत पर उन्हें रिजर्व बैङ्क से अवश्य ही अल्पकालीन आर्थिक सहायता मिल सकती है। सन् १६४६ में बङ्गाल

में जो बैङ्को के ऊपर संकट पड़ा था और १९४७ में उन पर जो पंजाब में संकट पड़ा था, उस समय उसने उनकी सहायता की थी। इसने कुछ निम्न श्रेणी की जमानतों पर ऋण देने के लिये सरकारी आज्ञा प्राप्त कर ली थी।

(२) उन्हें जो दूसरा अधिकार प्राप्त है, वह रियासती दर पर इधर से उधर रुपया भेजने के सम्बन्ध का है। रिजर्व बैङ्क ने, सन् १९४० को रुपया भेजने की सुविधा नाम की जो योजना घोषित की थी, उसके दूसरे परिशिष्ट के अनुसार और सन् १९५१ में उसमें जो संशोधन हुआ है उसके अनुसार कोई भी सदस्य बैङ्क रिजर्व बैङ्क के किसी भी दफ्तर साख अथवा एजेन्सी में उसके किसी भी दफ्तर, शाख, उपशाख इत्यादि का जो खाता है, उसके बीच में डाक से अथवा तार से भारत में निम्न प्रकार से रुपया भेज सकता है :—

(अ) रिजर्व बैङ्क के दफ्तर और शाख में उसके जो खाते हैं उनके बीच में कोई भी खर्च दिये बिना १०००० रु० अथवा उससे गुणित कोई भी रकम;

(ब) अपने किसी भी दफ्तर से अथवा साख से अथवा उपशाख इत्यादि से यदि वहाँ रिजर्व बैङ्क की [illegible] एजेन्सी है तो उसके द्वारा रिजर्व बैङ्क [illegible] अपने मुख्य खाते में सप्ताह केवल एक बार ५००० रु० अथवा उससे गुणित कोई भी रकम किसी भी खर्च के बिना।

(स) मुख्य खाते ही की कोई भी रकम एक पैसा रु० सैकड़ा के खर्च पर, किन्तु न्यूनतम खर्च १ रु० से कम नहीं मिलना चाहिये।

(द) रिजर्व बैंक अथवा उसकी एजेन्सियों में जो दूसरे खाते हों उनके बीच में।

५००० रु० तक $\frac{1}{32}$% न्यूनतम शुल्क १ रु०) ५००० रु० से ऊपर $\frac{1}{64}$% न्यूनतम शुल्क ३ रु०) २ आना।

(२) रिजर्व बैंक के और उसके एजेण्ट के खजानों या अन्य व्यक्तियों के पक्ष में टी० सी० और ड्राफ्ट, इत्यादि।

५००० रु० तक १/३२% न्यूनतम शुल्क १ रु०) ५००० रु० से अधिक १/६४% न्यूनतम शुल्क ३ रु० २ आ०) तार का व्यय इसके अतिरिक्त लिया जाता है।

गैर सदस्य वैंकों के दायित्व

वैसे तो सन् १९४९ के भारतीय कम्पनी विधान में जो नियम दिये हुये हैं उनका पालन सभी वैंकों को करना पड़ता है। किन्तु सदस्य वैंकों की तरह ही नियत रिपोर्ट देने और न्यूनतम वैलन्स रखने के सम्बन्ध में उनके भी कुछ दायित्व हैं जिन्हें हमें यहाँ पर विशेष रूप से समझ लेना चाहिये :—

(१) गैर सदस्य वैंकों को सन् १९३८ के पहले तक तो अपनी रिपोर्टें प्रान्तीय रजिस्ट्रारों के पास भेजनी पड़ती थीं। किन्तु उस वर्ष के फरवरी महीने से प्रत्येक रजिस्ट्रार को इन रिपोर्टों की एक लिपि रिजर्व वैङ्क के पास भेजनी पड़ने लगी और वैंक रजिस्ट्रार के पास एक लिपि न भेजकर तीन लिपियाँ भेजने लगे। किन्तु १९४८ से रिजर्व वैङ्क सीधे यह रिपोर्ट मँगवाने लगा है।

(२) वे अपने चालू जमा की और स्थायी जमा की कम से कम क्रमशः १ प्रतिशत और २ प्रतिशत नकदी अपने पास रखते हैं। नया विधान पास होने के पहले २ प्रतिशत के स्थान पर १२ प्रतिशत ही था।

यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि इनकी रिपोर्टें मासिक होती हैं, सदस्य वैंकों की तरह साप्ताहिक नहीं और वह प्रतिमास के अन्तिम शुक्रवार की होती हैं न कि प्रति सप्ताह के शुक्रवार की।

उनके अधिकार

(१) सन् १९४० से रिजर्व वैंक ने रुपया भेजने की जो योजना घोषित की है उसके तीसरे परिशिष्ट के अनुसार और सन् १९५१ में उसमें जो संशोधन हुआ है उसके अनुसार उन गैर सदस्य वैंको को भी जिनके नाम रिजर्व वैंक की स्वीकृत तालिका में दिये हुये हैं उन रियायती दरों पर रुपया भेजने का अधिकार दिया गया है जो सदस्य वैंकों के सम्बन्ध में १ (द) में दिया हुआ है। स्वीकृत तालिका में आने के लिए इन वैंकों को निम्न शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं :—

(अ) इन्हें भारतीय बैंकिंग विधान के अनुसार बैंक होना चाहिये।

(ब) इन्हें भारतीय बैंकिंग विधान में दिये हुये नियमों के अनुसार व्यवसाय करना चाहिये।

(स) इनकी पूँजी इनका कोष मिलाकर कम से कम ५०००० रु० होनी चाहिये।

(२) गैर सदस्य बैंकों को अपने सम्बन्ध की सभी बातों पर रिजर्व बैंक की सम्मति भी प्राप्त हो सकती है।

(३) १५ फरवरी, सन् १६४५ से कोई भी गैरसदस्य बैंक निम्न शर्तों के साथ रिजर्व बैंक के यहाँ अपना हिसाब भी खोल सकता है :—

(अ) उसे अपने व्यवसाय के विस्तार के अनुसार कम से कम कुछ बैलन्स अवश्य रखना चाहिये और यह १०००० रु० से कम तो होना ही नहीं चाहिये।

(ब) यह खाता साधारण खाता नहीं है अर्थात् इस पर चेकें नहीं काटी काटी जा सकतीं। हाँ, इसे रुपया भेजने के लिए और बैंकों के अन्य पारस्परिक कामों के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है।

प्रश्न

(१) सम्मिलित पूँजी के बैङ्कों का किस प्रकार वर्गीकरण किया गया है? सदस्य बैङ्कों के विषय में आप क्या जानते हैं?

(२) सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैङ्कों की वर्तमान स्थिति क्या है? उनके कार्यों का एक विस्तृत वर्णन दीजिये और उनके सम्बन्ध की विशेषतायें बताइये।

(३) द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैङ्किंग पर क्या प्रभाव पड़ा है? यह प्रभाव आपकी समझ से अच्छा हुआ है अथवा बुरा? इनके भविष्य के विषय में आप क्या सोचते हैं?

(४) सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैङ्कों की क्या कठिनाइयाँ हैं और उनके क्या दोष हैं? उनके सुधार के लिए अपने सुझाव रखिये।

(५) सम्मिलित पूँजी के कुछ महत्वपूर्ण भारतीय बैंकों के विषय में टिप्पणियाँ लिखिये।

(६) सदस्य बैंकों के कौन-कौन से दायित्व और अधिकार हैं ?

(७) रिजर्व बैंक गैरसदस्य बैंकों से किस तरह से अपना सम्बन्ध रखता है ? उसने उन्हें कौन-कौन सी सुविधायें दे रक्खी हैं।

अध्याय १७

स्टेट बैंक आफ इण्डिया

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की भी माँग हुई। अतः, १ जुलाई, १९५५ से वह स्टेट बैंक आफ इण्डिया के रूप में परिणत कर दिया गया। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कृषि साख व्यवस्था का यहाँ कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं था। कृषि ऋण का अधिकांश ऋणदाताओं और देशी बैंकरों द्वारा ही उपलब्ध होता था। अतः गोरावाल समिति ने सुझाव दिया कि एक स्टेट बैंक होना चाहिये जिसका कार्य-क्षेत्र ग्रामों में ही हो, और यह बैंक सरकारी बैंक होना चाहिये। किन्तु क्योंकि इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का भी प्रश्न था; अतः, यह सुझाव रक्खा गया कि कोई नया स्टेट बैंक स्थापित न करके इम्पीरियल बैंक तथा राज्यों से सहायता प्राप्त अन्य बैंकों को मिला कर एक स्टेट बैंक बना दिया जाय। स्टेट बैंक आफ इण्डिया पूर्ण रूप से सरकारी बैंक नहीं है। इसके ५५ प्रतिशत अंश रिजर्व बैंक के लिये सुरक्षित कर दिये गये हैं, शेष व्यक्तिगत रह सकते हैं। किसी भी व्यक्ति के पास २०० से अधिक अंश नहीं रह सकते। इम्पीरियल बैंक के प्रत्येक ५०० रु० के अंश के लिये पूर्ण प्राप्त पर १७६५ रु० १० आने और आंशिक रूप से प्राप्त पर ४३१ रु० १२ आने ४ पाई० की दर से भुगतान दिया गया है। यह दर बाजार दर के अनुसार ही थी। स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रु० है। इसकी निर्गमित पूँजी ५,६२,५०,००० रुपये की है जो सौ सौ रु० के ५,६२,५०० अंशों में विभक्त है।

प्रबन्ध

स्टेट बैंक आफ इण्डिया का प्रबन्ध २० संचालकों से निर्मित एक केन्द्रीय परिषद् और बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के तीन स्थानीय कार्यालयों के तीन स्थानीय परिषदों द्वारा होता है जिनमें प्रत्येक में तीन सदस्य हैं। केन्द्रीय परिषद् का निर्माण निम्न रूप से होता है : —

(१) एक अध्यक्ष तथा एक उप-अध्यक्ष जिनकी नियुक्ति सरकार करती है।

(२) अधिक से अधिक दो प्रबन्ध संचालक—ये केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति पर केन्द्रीय परिषद् द्वारा नियुक्त होते हैं।

(३) रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अंशधारियों के द्वारा चुने गये ६ संचालक।

(४) रिजर्व बैंक की सलाह से केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत आठ संचालक।

(५) केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत एक संचालक।

(६) रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत एक संचालक।

स्थानी परिषदें वह सब कार्य कर सकती हैं जो कि केन्द्रीय परिषद् द्वारा उन्हें करने के लिये दिये गये हैं।

कार्य

स्टेट बैंक रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि की तरह काम करता है। इसके अतिरिक्त यह व्यापारिक बैंकिंग के भी काम करता है। कुछ ऐसे काम हैं जो कि यह नहीं कर सकता है। यह केवल जोखिम बचाने की दृष्टि से रक्खे गये हैं। यह बैंक दूसरे बैंकों को भी अपने में मिला सकता है।

इम्पीरियल बैंक के सभी कार्यालय स्टेट बैङ्क के कार्यालय हो गये हैं। इनके अतिरिक्त इसे चार सौ अन्य कार्यालय भी गाँवों और छोटी-छोटी मंडियों में पाँच वर्ष के अन्दर अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित अवधि के अन्दर खोलने हैं। इसका ध्येय ग्रामीण साख की उपलब्धि में सुधार करना है। अतः, प्रत्येक तहसील में इसकी एक शाख होगी।

नई शाखाओं के खोलने से इसे जो हानि होगी उसकी पूर्ति के लिये एक कोष खोलने का आयोजन किया गया है जिसमें रिजर्व बैङ्क के इसमें निर्धारित अंशों पर दिया गया लाभांश अथवा रिजर्व बैङ्क और केन्द्रीय सरकार द्वारा दिया गया धन रक्खा जायगा। अभी इम्पीरियल बैङ्क का सुरक्षित कोष ही इसका सुरक्षित कोष है। लाभांश वितरित करने के पहले इसे बढ़ाया जा सकता है।

महत्त्व

स्टेट बैङ्क आफ इण्डिया का देश की बैंकिंग प्रणाली में प्रविष्ट होना देश के बैंकिंग और आर्थिक संगठन के लिये बहुत ही महत्त्व रखता है। यहाँ के बैंकिंग संगठन की एक बहुत बड़ी कमी यह थी कि हमारा एक बहुत बड़ा ग्रामीण तथा अर्ध-शहरी क्षेत्र आधुनिक बैंकों से लगभग रिक्त था। स्टेट बैंक आफ इण्डिया को जो एक निर्धारित अवधि के अन्दर इनमें चार सौ कार्यालय खोलने हैं, उससे तथा उन सरकारी कोषागारों (treasuries) के जो बैंकिंग के कार्य नहीं करते थे अब बैङ्किग के कार्य करने और इन सबसे उत्पन्न राशि स्थानान्तरण की सुविधा से ग्रामीण क्षेत्रों में बैङ्किग की सुविधाओं के विस्तार को अवश्य ही एक बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा। इसके अतिरिक्त इस बैङ्क के पास इम्पीरियल बैङ्क आफ इण्डिया की सम्पूर्ण जमा राशि जो देश के वाणिज्य बैङ्कों की जमा राशि की चौथाई है के प्रारम्भ ही से उपलब्ध होने से ग्रामीण साख की समस्या को सुलझा लेने की इसके पास एक बहुत बड़ी शक्ति है। यह व्यावसायिक सिद्धान्तो पर काम करते हुये भी जनहित का ध्यान रक्खेगा और इस सम्बन्ध में इसे सरकारी निर्देश भी दिये जा सकेंगे। यह सब बातें इसके विधान में दी हुई हैं, अतः देश इससे बड़ी-बड़ी आशायें रख सकता है।

प्रश्न

(१) स्टेट बैंक आफ इण्डिया के कार्य बताइये तथा यह भी बताइये कि इसका प्रबन्ध कैसे किया जाता है ?

(२) 'स्टेट बैंक आफ इण्डिया से देश को बहुत-सी आशायें हैं।' इसे समझाइये।

अध्याय १८

विनिमय बैंक

विनिमय बैंकों के प्रधान दफ्तर भारतवर्ष के बाहर हैं। यद्यपि इनका विशेषण यह बतलाता है कि यह केवल विनिमय का ही काम करते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। विनिमय का व्यवसाय करने के अतिरिक्त ये साधारण व्यापारिक बैंकों के काम भी करते हैं। इसके यह अर्थ हुये कि ये माँग पर वापस होने की शर्त पर रुपया उधार भी देते हैं; लागत लगाते हैं, अन्य प्रकार से ऋण देते हैं, व्यापारिक साख-पत्र निकालते हैं, जमा प्राप्त करते हैं और आढ़त के अन्य कार्य करते हैं। किन्तु विशेषतः ये विदेशी बिल खरीदते और डिस्काउण्ट करते हैं तथा विदेशी करन्सी देते हैं और यही एक ऐसी बात है जिससे यह देश के अन्य बैंकों से भिन्न हैं। भारतवर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता करने का काम इन्हीं के हाथ है। प्रेसीडेन्सी बैंक यह काम कर ही नहीं सकते थे, अतः इन्हें इसमें विशिष्टता प्राप्त करने का बड़ा अच्छा अवसर मिल गया। फिर इम्पीरियल बैंक भी इसे सन् १९३४ तक नहीं कर सकता था और उसके बाद भी उसने ऐसा नहीं किया। जहाँ तक सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों का प्रश्न है, उनमें से तो कोई भी कुछ दिनो पहले तक तो इमे कर ही नहीं सकता था। यह काम तभी किया जा सकता है जब इसके करने वाले के साधन बहुत अच्छे हों। हाँ, अब कुछ सम्मिलित पूँजी वाले बैङ्क अवश्य ऐसे हैं जो इसे कर सकते हैं, किन्तु विनिमय बैङ्क इसे बहुत दिनों से करते आ रहे हैं, इससे ये उनकी बराबरी नहीं कर सकते। सेन्ट्रल बैङ्क आफ इण्डिया ने सन् १९३६ में लंदन में सेन्ट्रल एक्सचेञ्ज बैंक की स्थापना की थी, किन्तु सन् १९३८ में वह बार्कले बैंक लंदन में मिल गयी। सन् १९५२-५३ मे फिर इसने विदेशों में शाखायें खोलना प्रारंभ किया। बैंक आफ इण्डिया की शाखायें कई स्थानों में है। लंदन की इसकी शाखा १९४६ में और जापान में १९४९-५० में खुलीं।

यूनाइटेड कमर्शियल बैंक की भी कई स्थानों में शाखायें हैं। इसकी लंदन की शाखा १९५३ में खुली। बैंक आफ बड़ोदा ने १९५२-५३ मे विदेशों में शाखायें खोलना प्रारंभ किया है। पाकिस्तान भारत का अंग था। अतः, विभाजन के पहले की भारतीय बैंकों की पाकिस्तानी शाखायें अब उनकी विदेशी शाखायें हैं। हाँ, पाकिस्तान में जो स्थिति है उसके कारण भारतीय बैंक धीरे-धीरे वहाँ अपनी शाखायें बन्द करते जा रहे हैं। जिन स्थितियों में विनिमय बैंक यहाँ खुले थे वह तो हमें पूर्णरूप से विदित ही है। अब, हमें उनकी वर्तमान अवस्था, उनके कार्य करने के तरीके और उनमें जो दोष हैं उन्हें दूर करने के तरीके देखने हैं।

वर्तमान स्थिति

इस देश में जो विदेशी बैंक काम कर रहे हैं उनमें अन्य विदेशी बैंको की संख्या १५ तथा पाकिस्तानी बैंकों की ५ है। प्रथम के सब मिलाकर भारतवर्ष में ६५ दफ्तर हैं तथा द्वितीय के पाँच हैं। इनमें से सबसे अधिक काम लायड्स बैंक के हाथ में है। दूसरा स्थान ग्रिन्डेल बैंक का, तीसरा नेशनल बैंक आफ इण्डिया का, चौथा चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया और चाइना का और पाँचवाँ मार्केंटाइल बैंक का है। इसके अतिरिक्त चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया और चाइना ने इलाहाबाद बैंक से सम्बन्धित होने के कारण जिसके बहुत से दफ्तर हैं, यहाँ का बहुत कुछ काम ले रखा है।

क्योंकि ये बैंक अपनी भारत की स्थिति के सम्बन्ध में पहले कोई अंक नहीं निकालते थे, अतः इनकी यहाँ की पूँजी और सुरक्षित कोष के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु नये बैंकिंग विधान ने परिस्थिति बदल दी है। तो भी सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों और स्टेट बैंक के जमा की तुलना में इनकी जमा भी कम नहीं है। ये माँग पर देय जमा पर भी ब्याज देते है। अतः, भारतीय बैंकों को भी ऐसा ही करना पड़ता है जिससे हम यह कह सकते हैं कि इस दोष का दायित्व इन्हीं के ऊपर है।

उनके कार्य के तरीके

इनमें हमें केवल उनके यहाँ के विदेशी व्यापार को सहायता देने के तरीके

देखना है। इनके अन्य काम करने के तरीके तो वही हैं जो अन्य बैंकों के हैं। विदेशी व्यापार की सहायता में दो काम आते हैं: (१) भारतीय बन्दरगाहों से विदेशी बन्दरगाहों और विदेशी बन्दरगाहों से भारतीय बन्दरगाहों के बीच में जो व्यापार होता है उसकी सहायता करना, और (२) भारतीय बन्दरगाहों से अन्दरूनी शहरों और अन्दरूनी शहरों से भारतीय बन्दरगाहों के बीच में जो व्यापार होता है उसकी सहायता करना। प्रथम के सम्बन्ध का सारा काम और दूसरे के सम्बन्ध का कुछ काम इन्हीं बैंकों के हाथ में है। इनकी अन्दरूनी शहरों में बहुत-सी शाखायें हैं और इनसे यहाँ के कुछ बैंक भी सम्बन्धित हैं। अतः, यह दूसरे प्रकार का काम उन्हीं से कराते हैं।

भारत और विदेशों के बीच के व्यापार के हिसाब का निपटारा बिलों से होता है। जब यहाँ से माल बाहर भेजा जाता है, तब विदेश में आयात करने वाले पर एक बिल लिखा जाता है अथवा जब वह अपनी साख लंदन की बिल स्वीकृत करने वाली किसी कोठी में अथवा वहाँ के किसी बैंक में खोल लेता है तब यह बिल उस कोठी अथवा बैंक पर ही लिखा जाता है। फिर, इसे या तो यहाँ पर काम करने वाला कोई विदेशी बैङ्क खरीद लेता है अथवा उससे इसे भुना लिया जाता है। ऐसे बिल की रकम प्रायः स्टर्लिङ्ग में होती है। अतः, यह बैंक उसका मूल्य उस दिन के विनिमय दर से यहाँ की करन्सी में देते हैं। प्रायः यह बिल अधिकार-पत्रों के साथ और ६० दिन के दर्शनी होते हैं। कभी-कभी बिल्कुल दर्शनी अथवा ६० दिनों से अधिक के दर्शनी बिल भी लिखे जाते हैं। फिर प्रायः यह स्वीकृति पर अधिकार-पत्र देने की शर्त के होते हैं, भुगतान पर अधिकार पत्र देने की शर्त के नहीं होते। यहाँ पर प्रायः सभी देशों के बैङ्क हैं जो अपने यहाँ के लोगों का अच्छा हवाला देते हैं जिससे यह स्वीकृति पर अधिकार-पत्र देने की शर्त पर आयात कर सकते हैं। फिर, जब यह लोग किसी लंदन की कोठी अथवा बैङ्क के यहाँ साख खोल लेते हैं तब तो हवाले की भी आवश्यकता नहीं रहती और स्वीकृति पर अधिकार-पत्र देने की शर्त के ही बिल लिखे जाते हैं। अतः, जब न तो अच्छा हवाला मिलता है और न वह लंदन की किसी कोठी अथवा बैङ्क में साख ही खोल सकते हैं, तभी भुगतान पर अधिकार पत्र देने की शर्त के बिल लिखे जाते हैं

और ऐसा बहुत कम होता है। दर्शनी बिल की अपेक्षाकृत तीन महीनों की अवधि के बिलो की दर अधिक होती है। उसमें उतने दिन का ब्याज भी सम्मिलित रहता है।

विदेशी बैङ्क खरीदे हुये अथवा डिस्काउण्ट किये हुये बिल माल के आयात करने वाले के अथवा जिसके यहाँ साख खुल जाती है, उसके यहाँ भेज देते हैं और वहाँ पर उसकी स्वीकृति हो जाती है। इसके बाद अधिकारी बैङ्क इसे खुले बाजार में डिस्काउण्ट करा सकते हैं और इस तरह से यहाँ पर उनकी शाख ने जितना रुपया दिया है उसके बराबर का स्टर्लिङ्ग उन्हें मिल जाता है। हाँ, यदि उन्हें द्रव्य की आवश्यकता नहीं होती अथवा उसे अधिक लाभ के कामो में नहीं लगा सकते तो इन्हें अपने ही पास रखते हैं, भुनाते नहीं।

आयात की भी दो प्रकार से सहायता की जाती है। एक तो प्रायः भारतीयों के आयात करने पर और दूसरी विदेशियों के आयात करने पर होती है। पहले में विदेशी निर्यातकर्ता इस देश के आयातकर्ता पर ६० दिनों का दर्शनी बिल लिखकर उसे किसी ऐसे बैङ्क से डिस्काउण्ट करा लेते हैं जिसका काम भारत में होता है। जो बैङ्क डिस्काउण्ट करते हैं उन्हें निर्यातकर्ता गिरवीं पत्र (Letters of Hypothecation) भी दे देते हैं, जिससे वे इन बिलों के पूर्ण अधिकारी हो जाते हैं। फिर, यह उन्हे अपनी यहाँ की शाख द्वारा यहाँ के आयातकर्ता के यहाँ भेजवा देते हैं जो उन पर अपनी स्वीकृति दे देते हैं, किन्तु इन्हें माल के अधिकार-पत्र नहीं प्राप्त होते। वह तो बिलों की शर्त के अनुसार केवल उनके भुगतान पर ही दिये जा सकते हैं। किंतु उन्हें इन्हें प्राप्त करना तो आवश्यक ही रहता है क्योंकि इनके बिना माल तो छुड़ाया नहीं जा सकता और माल न छुड़ाने पर क्षति (Demurrage), इत्यादि देनी पड़ती है। अतः, वह इन्हें बैङ्कों से धरोहर (Trust) पर ले लेते हैं, और माल पाने पर भी उन्हें धरोहर की तरह ही रखते हैं। इसके लिए ये बैङ्कों को धरोहर की रसीद (Trust Receipt) दे देते हैं। अतः, जब तक बिलों का भुगतान नहीं हो जाता तब तक यह माल बैंक का ही समझा जाता है। इस सुविधा को देकर ये बैंक आयातकर्ताओं से काफी लाभ उठा लेते हैं।

दूसरा तरीका प्रायः विदेशियों के सम्बन्ध में प्रयोग में लाया जाता है।

भारतीयों के लिए तो बहुत कम अच्छा हवाला दिया जाता है। अतः, वह लंदन की किसी कोठी अथवा वहाँ के किसी बैंक के यहाँ साख भी बहुत कम खोल पाते हैं। जहाँ ऐसा हो जाता है वहाँ यह तरीका भारतीयों के लिए भी प्रयोग में आता है। इस तरीके में विदेशी निर्यातकर्ता लंदन की उस कोठी अथवा वहाँ के उस बैंक के ऊपर बिल कर लेते हैं जिसके यहाँ आयातकर्ता साख खोल लेता है। यह साख किसी विनिमय बैंक के यहाँ भी खोली जा सकती है। विदेशी निर्यातकर्ता के यहाँ जब इण्डेन्ट भेजा जाता है, तभी यह साख खोलने की सूचना भी उसके यहाँ भेज दी जाती है। ऊपर वाला धनी माल सम्बन्धी अधिकार पत्र पा जाने पर इस पर अपनी स्वीकृति दे देता है। अतः, निर्यातकर्ता अब इसे भुना भी सकता है। आयातकर्ता बिल पकने की तारीख के पहले बिल का मूल्य ऊपर वाले धनी के यहाँ भेज देता है जिससे वह उचित समय पर उसका भुगतान कर देता है।

यहाँ के आयात के सम्बन्ध के बिल प्रायः स्टर्लिङ्ग ही में होते हैं। जब वह यहाँ के आयातकर्ता के ऊपर लिखे जाते हैं तब उनमें लिखने की तारीख से उनके धन में वहाँ पहुँचने की सम्भावित तारीख तक का ब्याज भी सम्मिलित कर लिया जाता है। यदि वह लंदन की किसी कोठी के अथवा बैंक के ऊपर के होते हैं तब उन्हें वहीं पर वहाँ के डिस्काउण्ट दर पर भी भुना लिया जाता है। डिस्काउण्ट की यह दर प्रथम तरह के बिलों में जो ब्याज सम्मिलित होता है, उसकी दर की अपेक्षाकृत कम होती है। फिर, डिस्काउण्ट तो केवल उसी अवधि के लिए किया जाता है जो इनके पकने में बाकी रहती है। इस सबसे यह स्पष्ट है कि गैरभारतीय आयातकर्ता और ऐसे भारतीय आयातकर्ता भी जो लंदन में साख खुलवा सकते हैं, अन्य भारतीयों की अपेक्षाकृत बहुत लाभ में रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी है कि जिन भारतीयों की साख लंदन में खुल जाती है उन्हें साख खोलने वाले को साख के धन का १५ से २० प्रतिशत पहले से दे देना पड़ता है। गैरभारतीयों को ऐसा नहीं करना पड़ता। अतः, इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय आयातकर्ता हर हालत में गैरभारतीय आयातकर्ता की अपेक्षाकृत हानि ही में रहता है।

हमारे प्रायः सभी आयात और निर्यात के बिल स्टर्लिङ्ग में लिखे जाते हैं।

केवल चीन और जापान से जो व्यापार होता है उसके सम्बन्ध में ही वह अन्य करन्सियों में लिखे जाते हैं। चीन के व्यापार होने पर तो वे रुपयों में और जापान से व्यापार होने पर वे येन में लिखे जाते हैं।

साधारणतया तो भारत के व्यापार की विषमता (Balance of trade) भारत ही के पक्ष में रहती है। अतः, इन बैंकों के पास स्टर्लिङ्ग बच जाता है और उसे रिजर्व बैंक खरीद लेता है। वह इनके आधार पर यहाँ नोट निकालता है। जब कभी यहाँ के व्यापार की विषमता यहाँ के विपक्ष में होती है तब विनिमय बैंक रिजर्व बैंक से स्टर्लिङ्ग खरीद सकते हैं और रिजर्व बैंक स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटियाँ बेचकर उन्हें स्टर्लिङ्ग दे देते हैं। इससे नोट वापस हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि रिजर्व बैंक को कोई भी बैंक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य देशों की करन्सी एक न्यूनतम धनराशि की होने पर बेच और उससे खरीद सकता है।

विदेशी बैंकों के यहाँ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता करने के तरीकों में दोष

विदेशी बैंकों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता करने के तरीकों में जो दोष हैं वह तो ऊपर के वर्णन से स्पष्ट ही है :—

(१) हमारे निर्यात तथा आयात दोनों के बिल स्टर्लिङ्ग में लिखे जाते हैं। अतः, उनका लंदन के द्रव्य बाजार में भुनाया जाना आवश्यक हो जाता है। यदि बिल रुपयों में लिखे जाने लगें तो यहाँ के द्रव्य बाजार को अवश्य ही काफी प्रोत्साहन मिल जाय।

(२) भारतीय आयातकर्ताओं को प्रायः बिलों के भुगतान पर अधिकार पत्र मिलने की शर्त पर आयात करना पड़ता है। यह इस कारण है कि विनिमय बैंक उनका अच्छा हवाला नहीं देते। इससे उनकी जो हानि होती है, उससे तो हम अवगत हो ही चुके हैं।

(३) जिन भारतीयों की लंदन में साख खुल जाती है, उन्हें भी इसके लिए १५ से २० प्रतिशत तक की रकम पहले से ही देनी पड़ती है। गैरभारतीय आयातकर्ताओं को ऐसा नहीं करना पड़ता।

(४) बिलों के साथ जो अधिकार-पत्र होते हैं, उन्हें उनकी जाँच के लिए गैरभारतीयों के तो दफ्तरों में भेज दिया जाता है, किन्तु भारतीयों को इसके लिए बैंकों के दफ्तरों ही में बुलाया जाता है।

(५) विदेशी बैंक यहाँ के आयातकर्ताओं को अपने-अपने यहाँ के जहाजों से माल मँगाने के लिए विवश करते हैं।

(६) बीमे के लिये भी यह उन्हें गैरभारतीय कम्पनियों ही के यहाँ बीमा कराने को कहते हैं।

(७) विनिमय के कन्ट्राक्टों के देर में पूरा करने पर भारतीय आयात-कर्ताओं को जुर्माना देना पड़ता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त इनमें कुछ अन्य दोष भी हैं :—

(१) यद्यपि ये लोग यहाँ पर बहुत दिनों से काम करते चले आ रहे हैं तो भी इन्होंने अभी तक ऊँचे-ऊँचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति नहीं की है।

(२) यहाँ के बैंकों ने जब जब विनिमय का काम करना प्रारम्भ किया तब-तब इन लोगों ने उन्हें असफल बनाने का प्रयत्न किया।

(३) इन्होंने अपनी शाखायें देश के भीतरी शहरों में भी खोल दी हैं, जिससे यह भारतीय बैंकों से अन्य कामों में भी होड़ करते हैं।

(४) इन्होंने सम्मिलित पूँजी वाले भारतीय बैंकों से भी अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, जिससे ये उन्हें अपने लाभ के लिये काम में लाते हैं।

विनिमय बैंकों को लाइसेन्स देने और उन पर अन्य प्रतिबन्ध लगाने का प्रश्न

इन बैंकों के ऊपर जो उपर्युक्त बातों का दोषारोपण किया जाता था उसके कारण इन्हें लाइसेन्स देने और इन पर अन्य प्रतिबन्ध लगाने का प्रश्न कई बार उठा। बैंकिंग विषयक अनुसंधान करने वाली केन्द्रीय कमेटी ने इनके सम्बन्ध में मुक्तद्वार नीति का बड़ा विरोध किया था। जर्मनी, जापान, कनाडा आदि बहुत से देशों में विदेशी बैंकों को लाइसेन्स देने का चलन है। अस्तु १९४९ के बैंकिंग विधान के अनुसार अन्य बैंकों की तरह अब इन्हे भी रिजर्व बैंक से लाइसेन्स लेना पड़ता है। जो बैंक उक्त विधान पास होने के समय यहाँ पर काम कर रहे

थे, उन्हें तो लाइसेन्स मिल ही गया है। नये वैंकों को यह मिलने में अवश्य रुकावट पड़ेगी। पुराने वैंकों के उचित व्यवहार न करने के कारण अपना उनके देश में भारतीयों से भेद भाव होने के कारण वे रद्द भी किये जा सकते हैं जैसा वैंको नेश्नल अल्ट्रा मेरिनो के साथ किया जा चुका है। लाइसेन्स की शर्तों में एक शर्त यह भी है कि ये यहाँ का हिसाब अलग रक्खें दूसरे, अब कोई वैंक भारतवर्ष में अपनी नयी शाख तब तक नहीं खोल सकता, जब तक कि रिजर्व वैंक उसकी आज्ञा न दे दे। नये वैंकिंग विधान के अनुसार रिजर्व वैंक इनके ऊपर अन्य वैंकों की तरह अन्य कई नियन्त्रण लगा सकता है। अतः, आशा है कि अब यह यहाँ के लोगों की कोई विशेष हानि नहीं कर सकेंगे। रिजर्व वैंक को इस बात पर विशेष तौर से ध्यान रखना चाहिये कि यह यहाँ के भारतीय वैंकों को खरीद न सकें। फिर, यह वैंक अपने काम में स्वयं ही कुछ सुधार करके देश में प्रिय पात्र बन सकते हैं।

विदेशी वैंकों के काम करने के सम्बन्ध में सुझाव

(१) इन्हें भारतीय आयातकर्ताओं के सम्बन्ध के वैसे ही हवाले देने चाहिये, जैसे ये गैरभारतीय आयातकर्ताओं के सम्बन्ध के देते हैं।

(२) इन्हें भारतीय आयातकर्ताओं को लन्दन की बिल स्वीकार करने वाली कोठियों और वैंकों के यहाँ उनसे १५ या २० प्रतिशत पेशगी दिलाये बिना ही शाख खोलने की व्यवस्था कर देनी चाहिये और यदि ये ऐसा न कर सकें तो इन्हें स्वयं ही उनके ऊपर के बिल स्वीकार कर लेने चाहियें।

(३) इन्हें बिलों के रुपयों में लिखे जाने में कोई रुकावट नहीं डालनी चाहिये। इसमें देश में बिल बाजार विकसित होगा।

(४) इन्हें अपने यहाँ भारतीयों को ऊँचे-ऊँचे पद देने चाहियें। इससे न केवल इनका काम ही बढ़ जायगा बल्कि भारतीयों से अच्छा सम्बन्ध भी स्थापित हो जायगा।

(५) इन्हें भारतीय वैंकों के साथ सहयोग से काम करना चाहिये और भारतीय चीजों का बहिष्कार नहीं करना चाहिये। इन्हें भारतीय बीमा कम्पनियों के साथ समझौता कर लेना चाहिये। भारतीय जहाज चलाने का भी प्रबन्ध हो रहा है। अतः इन्हें उनकी भी सहायता करनी चाहिये।

विदेशी बैंकों के काम करने के सम्बन्ध में सुझाव

(१) इन्हें भारतीय आयातकर्ताओं के सम्बन्ध के वैसे ही हवाले देने चाहिये, जैसे ये गैरभारतीय आयातकर्ताओं के सम्बन्ध के देते हैं।

(२) इन्हें भारतीय आयातकर्ताओं को लन्दन की बिल स्वीकार करनेवाली कोठियों और बैंकों के यहाँ उनसे १५ या २० प्रतिशत पेशगी दिलाये बिना ही शाख खोलने की व्यवस्था कर देनी चाहिये और यदि ये ऐसा न कर सकें तो इन्हें स्वयं ही उनके ऊपर के बिल स्वीकार कर लेने चाहियें।

(३) इन्हें बिलो के रुपयों में लिखे जाने में कोई रुकावट नहीं डालनी चाहिये। इससे देश में बिल बाजार विकसित होगा।

(४) इन्हें अपने यहाँ भारतीयों को ऊँचे-ऊँचे पद देने चाहियें। उससे न केवल इनका काम ही बढ़ जायगा बल्कि भारतीयों से अच्छा सम्बन्ध भी स्थापित हो जायगा।

(५) इन्हें भारतीय बैंकों के साथ सहयोग से काम करना चाहिये और भारतीय चीजों का बहिष्कार नहीं करना चाहिये। इन्हें भारतीय बीमा कम्पनियों के साथ समझौता कर लेना चाहिये। भारतीय जहाज चलाने का भी प्रबन्ध हो रहा है। अतः, इन्हें उनकी भी सहायता करनी चाहिये।

भारतीयों के विनिमय व्यवसाय करने के लिये सुझाव

किन्तु इतना सब होने पर भी भारतीयों को विनिमय का व्यवसाय अपने हाथ में तो लेना ही पड़ेगा। हम जानते हैं कि यहाँ पर बहुत से ब्रिटिश बैंक स्थापित हो चुके थे तो भी अमेरिका, जापान, फ्रान्स, डच इत्यादि के बैंक यहाँ पर स्थापित किये गये। इसका एक मात्र कारण यह है कि किसी देश के लोगों का उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कितना हाथ रहेगा यह बात इस पर निर्भर है कि उनके बैंक उन देशों में हैं अथवा नहीं जिनसे उनका व्यापार होता है। यह स्वाभाविक ही है कि किसी देश के बैंक ही उस देश के लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सहायता पहुँचा सकते हैं। जर्मन और जापानियों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी तरह से बढ़ सका था। बैंकिंग सम्बन्धी अन्वेषण करने वाली केन्द्रीय कमेटी और उसकी सहायता को आये हुये विदेशी अनुभवी व्यक्तियों

ने भी यही बात कही थी। हमारा जो व्यापारिक मिशन सन् १९४६ में चीन गया था, उसने यह कहा था कि वहाँ पर भारतीय बैंकों की बड़ी आवश्यकता है।

बैंकिङ्ग सम्बन्धी अन्वेषण करने वाली केन्द्रीय कमेटी ने एक सरकारी विनिमय बैंककी स्थापना करने की सिफारिश की थी इसके अनुसार उसकी पूँजी सम्मिलित पूँजी वाले भारतीय बैंको द्वारा खरीदी जाने की बात थी और उसकी कमी सरकार द्वारा पूरी करने की बात थी। कुछ सदस्यों की यह राय थी कि सरकार को ही सब हिस्से लेने चाहिये। वह सब हिस्सों के सरकार द्वारा खरीदे जाने के लिये इसलिये कहते थे कि विनिमय बैंको ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि किसी भी भारतीय बैंक को इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि उसके साथ में सरकार की पूरी सहायता हो। इस बैंक के ऊपर साधारण बैंकिंग का व्यवसाय करने की मनाही कर देने का भी सुझाव रक्खा गया था जिससे कि उसकी अन्य भारतीय बैंकों से किसी प्रकार की प्रतियोगिता न हो।

कुछ लोग सरकार द्वारा विनिमय बैंक खोले जाने के पक्ष में नहीं थे। कमेटी के एक सदस्य श्री सूबेदार ने यह काम रिजर्व बैंक के एक विभाग द्वारा करवाने का सुझाव रक्खा था। उनके अनुसार इस व्यवसाय का हिसाब अलग रखने की और इसकी हानि पूरा करने के लिये इसके एक अलग सुरक्षित कोष रखने की आवश्यकता थी। उनका यह विचार था कि सरकार विनिमय का बैंक न खोलेगी। फिर, वह सरकार को कोई भी व्यवसाय देने के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि रिजर्व बैंक यह काम भली-भाँति कर सकता है।

बैंकिंग सम्बन्धी अन्वेषण करने वाली कमेटी का एक सुझाव और था कि यह व्यवसाय करने के लिये एक ऐसा बैंक होना चाहिये जिसका नियन्त्रण भारतीयों के हाथ में भी हो और उन देशों के लोगों के हाथों में भी हो जिनसे उनका व्यापार है। वे कहते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भिन्न-भिन्न देशों के लोगों के बीच में होता है। अतः, इसकी सहायता करने वाले बैंक के लिये यह आवश्यक है कि उसके नियन्त्रण में सब देशों के लोगों के प्रतिनिधियों का हाथ हो। ऐसे बैंक की रुपयों की पूँजी भारतीयों की और अन्य करन्सियों की पूँजी विदेशियों की होती और इसका लाभ सभी में बँटता।

एक मत यह भी था कि जिन ब्रिटिश बैंकों के हाथ में भारतवर्ष की विनि-

मय बैंकिंग का काम है उन्हें अपनी रजिस्ट्री यहां करा लेनी चाहिये और अपनी कुछ पूँजी रुपयों में कर लेनी चाहिये। साथ ही उन्हें यहाँ पर अपना एक प्रधान कार्यालय भी रखना चाहिये। इससे ब्रिटिश हिस्सेदारो को यह लाभ होगा कि वह यहाँ के व्यवसाय का लाभ उठा सकेंगे अन्यथा उन पर प्रतिबन्ध लग जायँगे और उनका व्यवसाय बन्द हो जायगा। इसमें इस बात की भी आवश्यकता है कि आधे से अधिक हिस्से भारतीयों के हाथ में आ जायँ। किन्तु ब्रिटेन के लोगों को यह योजना पहिले तो स्वीकृत न होती हाँ, अब परिस्थिति बदल जाने से ऐसा हो सकता है।

जो भी हो समस्या इतनी जटिल है कि इसका एक हल नहीं हो सकता। उपरोक्त सभी सुझाव यथासम्भव कार्य रूप में परिणित करने चाहिये। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कुछ व्यापारिक बैंको ने तो अपनी शाखायें विदेशों में खोलनी आरम्भ कर दी हैं। उन्हें ऐसा करने में प्रोत्साहन देना चाहिये। हमारा व्यापार एशिया और यूरोप के देशों से बढ़ सकता है। वहीं हमारे बैंक भी खुलने चाहिये। वहाँ इसमें हमें बहुत अधिक कठिनाई भी नहीं पड़ेगी। अब हमारी स्वयम् की सरकार है। अतः, वह जिस देश में भी हमारे बैंक खुलने में अड़चन हो उस देश की सरकार पर प्रभाव डाल कर वह अड़चनें यथासम्भव दूर करा सकती है। सरकार का स्वयम् का विनिमय बैंक खोलना शायद उचित नहीं होगा। यही बात रिजर्व बैङ्क के साथ भी है। हाँ, भारतीयो और गैर भारतीयो के सम्मिलित बैंक भी खुल सकते हैं। इससे भारतीय बैंकों की विदेशों में शाखाये खोलने में जो अड़चनें हैं वह भी दूर हो जायँगी। ब्रिटिश बैंक तो अब अवश्य ही भारतीयो से साझा करने को तैयार हो जायँगे।

भारतीय बैंकों की विदेशों में शाखायें खोलने में कठिनाइयाँ

भारतीय बैंको की विदेशों में शाखाऐं खोलने में कुछ कठिनाइयाँ हैं जिन्हें सरकार अपने प्रभाव से दूर कर सकती है। साथ ही अन्य देशो के लोगो के साथ साझे और वर्तमान विनिमय बैंकों के भारत में ही रजिस्ट्री करा लेने से भी ये कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। इन्हें भी हमें यहाँ समझ लेना चाहिये—

(१) विदेशी विनिमय कार्य करने के लिये कुशल कर्मचारी चाहिये। अभी तक भारतवर्ष में अभाव है। इसके लिये एक तो विशेष शिक्षा का

प्रबन्ध होना चाहिये। दूसरे साझे की स्थिति में विदेशी कर्मचारी भी दिलचस्पी से काम कर सकते हैं।

(२) भारतीय बैंकों को विदेशों में उसी प्रकार जमा नहीं प्राप्त हो सकती जिस प्रकार इस देश में विदेशी बैंकों को होती है। इसका एक कारण तो यह है कि विदेशों में राष्ट्रीय भावना अधिक है; अतः, वहाँ के लोग अपने ही बैंकों में जमा करते हैं। दूसरे, भारत में तो विदेशी बैंकों के यहाँ जमा रखनी इसलिये भी लाभदायक है कि उनसे विनिमय कार्य में सहायता मिलती है। अपने बैंकों से यह सहायता नहीं मिलती। किन्तु विदेशियों के तो अपने बैंक विनिमय का काम करते हैं। अतः, उन्हें दूसरे बैंकों में जमा रखने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा। तीसरे, भारतीय बैंकों में जमा निकालने में बड़ा समय लगता है। साझे की स्थिति में ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी।

(३) भारतीय बैंकों के प्रधान कार्यालय भारत में हैं जहाँ द्रव्य बाजार नहीं है। अतः, उन्हें न तो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य परिस्थिति का ज्ञान ही है और न आयात-निर्यात बिल ही डिस्काउण्ट, इत्यादि के लिये प्राप्त हो सकते हैं। साझे की स्थिति में यह कठिनाई भी दूर हो जायगी।

(४) भारतीय बैंकों को विदेशों में वह सुविधायें नहीं प्राप्त हो सकतीं जो वहाँ के बैंक को हैं। इसके विपरीत कहीं-कहीं तो उनके लिये वैधानिक अड़चनें भी हैं। साझे के बैंकों को यह कठिनाई भी नहीं पड़ेगी।

(५) भारतीय बैंकों की पूँजी और जमा विदेशी बैंकों की तुलना में बहुत कम है। अतः, वे विनिमय कार्य कर भी नहीं सकते। इस कार्य में कुछ दिनों तक तो हानि भी होती है। अतः, उसे सहन करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

प्रश्न

(१) विदेशी बैंकों के हाथ में विनिमय के व्यवसाय का एकाधिपत्य क्यों है ? क्या उनको विनिमय बैंक कहना न्यायसंगत है ?

(२) विदेशी बैंकों का यहाँ के भीतरी व्यवसाय में क्या हाथ है और भारतीय बैंकिंग पर उनका क्या प्रभाव है ?

(३) भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आर्थिक सहायता कैसे की जाती है ? इस सम्बन्ध में जो क्रम हो उसका विवरण दीजिये ?

(४) यहाँ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आर्थिक सहायता देने का जो व्यवसाय है उसमें क्या दोष हैं ? उसे समझाइये।

(५) जो विदेशी बैंक यहाँ पर काम कर रहे हैं उनके विरुद्ध कौन सी शिकायतें है ? उनके सुधार के लिए अपने सुझाव रखिये।

(६) विनिमय बैंकों को लाइसेन्स देते समय उन पर कौन से प्रतिबन्ध लगाने चाहिये ? इस सम्बन्ध में अपने सुझाव रखिये। आपकी राय में इन्हें अपने को किस प्रकार से सुधारना चाहिये ?

(७) भारतीयों को विनिमय के काम में कैसे भाग लेना चाहिये ? इस सम्बन्ध में आप को जो कहना हो कहिये।

(८) भारतीय बैंकों की विदेशों में शाखायें खोलने की क्या कठिनाइयाँ हैं ?

अध्याय १६

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया सन् १६३४ के अपने विधान के अनुसार १ अप्रैल, सन् १६३५ को स्थापित किया गया था। प्रारम्भ में यह हिस्सेदारो का बैंक था, किन्तु बैंक आफ इङ्गलैण्ड के राष्ट्रीयकरण के बाद इसके राष्ट्रीयकरण का भी प्रस्ताव पास हुआ। अतः, १ जनवरी, १६४६ से यह हमारी महासभा के ३ सितम्बर, १६४८ के विधान के अनुसार जिसकी विज्ञप्ति १८ अक्टूबर को हो चुकी थी, सरकारी बैंक हो गया। इसकी पूँजी ५ करोड़ रुपये है जो १००-१०० रु० के हिस्सो में बँटी थी और पहले हिस्सेदारो के पास थी। किन्तु राष्ट्रीयकरण होने पर प्रत्येक १०० रु० के हिस्से के लिये सरकार ने हिस्सेदारों को ११८ रु० १० आने दिये जो उस समय इनका बाजार भाव था। इसमें से १८ रु० १० आ० तो नकदी में और १०० रु० १६७०-७५ तीन प्रतिशत प्रथम विकास ऋण के एक ऋण पत्र में दिये गये। इसके बाद ही सरकार ने नये केन्द्रीय और स्थानीय मडल के संचालको के नाम घोषित कर दिये। केन्द्रीय मडल में अब सरकार द्वारा नियुक्त एक शासक और दो उपशासक, चारो स्थानीय मंडलों

में से एक-एक संचालक, छः अन्य संचालक तथा एक सरकारी कर्मचारी हैं। स्थानीय मंडलों में प्रत्येक में सरकार द्वारा नियुक्त तीन संचालक हैं। राष्ट्रीयकरण के पहले इन मंडलों की व्यवस्था भिन्न थी। उस समय केन्द्रीय मंडल के आठ सदस्य और स्थानीय मंडलो के पाँच-पाँच सदस्य हिस्सेदारों द्वारा चुने जाते थे। केन्द्रीय मंडल के शासक और उपशासक उसी की सिफारिश पर सपरिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इनके अतिरिक्त चार अन्य संचालक और एक सरकारी अफसर भी सपरिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा ही नियुक्त किये जाते थे। स्थानीय मंडलो में तीन-तीन सदस्य केन्द्रीय मंडल द्वारा नियुक्त किये जाते थे। हिस्से बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास तथा जब तक बर्मा भारतवर्ष से पृथक् नहीं हुआ था तब तक रंगून क्षेत्र के हिसाब से बँटे हुये थे। प्रत्येक क्षेत्र के हिस्सेदारों के अलग-अलग रजिस्टर थे और प्रत्येक रजिस्टर में दर्ज हिस्सेदार केन्द्रीय मंडल के और अपने-अपने स्थानीय मंडलो के अपने पृथक्-पृथक् प्रतिनिधि चुनते थे। हिस्से भी कुछ लोगों को नहीं मिल सकते थे। यह इसलिये था जिससे साम्राज्य के बाहर के लोग रिजर्व बैङ्क के मालिक न हो सकें।

नये विधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार बैङ्क शासक की सम्मति से बैंकों को कोई भी ऐसी आज्ञा दे सकती है जो वह देश के हित में आवश्यक समझती है। वैसे तो बैंक तथा सरकार के बीच में प्रारम्भ ही से पूर्ण एकता थी, किन्तु इस विधान से यह बात पूर्णतः स्पष्ट कर दी गई है कि अन्त में सरकार की राय ही चलेगी। हाँ, वैसे आशा यही है कि बैंक के अनुभवी कर्मचारियों की राय ही मानी जायगी।

राष्ट्रीयकरण के पहले बैंक की आय में से हिस्सेदारों को उनके हिस्सों पर तीन प्रतिशत लाभ की बँटनी हो जाती थी और शेष सरकार को मिल जाता था। अब सभी लाभ सरकार का होता है।

स्थानीय मन्डल कुछ विशेष कार्य और कुछ वह कार्य जो केन्द्रीय मन्डल उन्हें सौंपता है करते हैं। केन्द्रीय मन्डल की बैठकें साल में कम से कम छः बार और प्रत्येक तिमाही में कम से कम एक बार होनी आवश्यक है।

इसके काम

इसके काम दो प्रकार के हैं—(१) केन्द्रीय और (२) साधारण।

[१] केन्द्रीय

(१) भारतवर्ष में नोट निकालने का एकमात्र अधिकार—इस बैंक को भारतवर्ष में नोट चलाने का एकमात्र अधिकार दिया गया है। नोट चलाने के लिये इसका एक अलग विभाग है जिसके सम्पत्ति और पाउने बैंकिंग विभाग से अलग रक्खे जाते हैं। नोट विभाग की सम्पत्ति सोने के सिक्कों और सोने में, विदेशी सिक्योरिटियो में, रुपयों में (जुलाई सन् १९४० से रुपयो के नोट भी सम्मिलित हैं), रुपये की सिक्योरिटियों में और व्यापारिक बिलों में रक्खी जाती है। इसका कम से कम ४० प्रतिशत सोने में और विदेशी सिक्योरिटियों में रहना चाहिये और उसमें भी सोना कम से कम ४० करोड़ रुपये का रहना चाहिये। सोना २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला के हिसाब से लगाया जाता है। विदेशी सिक्योरिटियो में उन सभी देशों की सिक्योरिटियाँ सम्मिलित हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य हैं। पहले केवल स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटियाँ ही रह सकती थीं। शेष सम्पत्ति रुपयों में, भारत सरकार की रुपयों की सिक्योरिटियो में और देशी बिलो और प्रण-पत्रों में रहती है।

बैंक अभी तक चालीस प्रतिशत से अधिक सोने और विदेशी सिक्योरिटियों में रखता है।

(२) सदस्य बैंकों की नकदी रखने का अधिकार—प्रत्येक सदस्य बैंकों को इसके पास अपनी चालू जमा का कम से कम पाँच प्रतिशत और स्थायी जमा का दो प्रतिशत रखना पड़ता है। इसका उद्देश्य यह है कि यह आवश्यकता पड़ने पर उसे सदस्य बैंको की सहायता के लिए काम में ला सके। इससे यह खुले बाजार की नीति अपना कर अर्थात् सरकारी सिक्योरिटियों और बिल सीधे ही खरीद और बेच कर सदस्य बैंकों की जमा घटा-बढ़ा कर उनकी साख देने की नीति भी प्रभावित कर सकता है। ऐसा बैंक दर नीति द्वारा भी किया जा सकता है। व्यापारिक बैंकों को उधार देने की जो इसकी नीति है उसका संकेत तो पहले ही किया जा चुका है। अन्तिम यह कि यह कृषि सम्बन्धी साख भी उन्हीं शर्तों पर दे सकता है जिनका वर्णन कृषि सम्बन्धी साख के अध्याय में किया जा चुका है।

(३) रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्थिर रखने के उद्देश्य से एक निश्चित दर पर विदेशी करन्सियों का क्रय-विक्रय करने का दायित्व—प्रथम तो जो कोई इससे लंदन की सुपुर्दगी के लिए तैयार स्टर्लिङ्ग माँगता था और उसका क्रय मूल्य कानूनन ग्राह्य करन्सी में देता था उसे तो इसे प्रति रुपया कम-से-कम १ शिलिंग ५$\frac{४९}{६४}$ पें० देना अनिवार्य था। दूसरे, इसे प्रति रुपये अधिक-से-अधिक १ शि० ६$\frac{३}{१६}$ पें० के हिसाब से स्टर्लिङ्ग खरीदना भी पड़ता था। हाँ, प्रत्येक हालत में कम-से-कम दस हजार पौंड का काम होना चाहिये था। इधर जब से भारत अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष का सदस्य बन गया है तब से इस पर सरकार की निश्चित शर्तों पर किसी भी करन्सी के क्रय-विक्रय का दायित्व रख दिया गया है। इसे सरकार की विनिमय की आवश्यकतायें भी पूरी करनी पड़ती हैं। अतः, इसके लिये पहले तो यह प्रति सप्ताह स्टर्लिङ्ग क्रय के लिए टेन्डर माँगता था, किन्तु युद्धकाल से यह सीधे ही स्टर्लिङ्ग खरीदने लगा था और अब सभी करन्सियाँ खरीदता है।

(४) भारतवर्ष में सरकारी काम करने और बिना ब्याज बैलन्स रखने का अधिकार—इसके लिए अप्रैल ५, सन् १९३५ को इसके और केन्द्रीय सरकार के बीच में एक समझौता हुआ था। यह सरकार के हिसाब में रुपया प्राप्त करता है और जो उसका बैलन्स होता है, उसमें से उसके हिसाब में भुगतान देता है और उसके विनिमय भेजने के और बैंकिङ्ग के दूसरे काम कुछ चार्ज लिए बिना ही करता है। जिन स्थानों पर उसकी शाखा अथवा आढ़त नहीं है, उनमें सरकार के खजानों और उपखजानों द्वारा यही काम होता है। यह सरकारी ऋण की भी व्यवस्था करता है और नए ऋण निकालता है। अपने दफ्तरों, शाखाओं, आढ़तों, खजानों तथा उपखजानों में यह नोट विभाग का करन्सी चेस्ट रखता है। इनमें वह सरकार के काम के लिए और जनता का रुपया इधर-से-उधर भेजने के लिए काफी नोट और रुपया रखता है।

सरकारी ऋण दीर्घकालीन अथवा अल्पकालीन दोनों हो सकते हैं। रिजर्व-बैंक करन्सी और फाइनेन्स की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में इसका विस्तृत विवरण देता है। दीर्घकालीन ऋण जिन कागजों के रूप में निकाले जाते हैं, वे अनेक प्रकार के होते हैं और उन सबको सरकारी सिक्योरिटियाँ कहते हैं।

अल्पकालीन ऋण ट्रेजरी बिलों के रूप में निकाले जाते हैं और ये प्रायः तीन महीने की अवधि के होते हैं। दिल्ली को छोड़कर रिजर्व बैंक के अन्य सभी दफ्तरों में और बैंकिंग विभाग की शाखाओं में इनके क्रय की व्यवस्था टेण्डर पर अथवा बीच वाली दर पर की जाती है। टेण्डर माँगने का जब निश्चय हो जाता है तब टेण्डर माँगने की तारीख, टेण्डर के धन, उनकी अवधि और उनकी स्वीकृति हो जाने पर उनका रुपया जिस तारीख को देना पड़ेगा वह तारीख, इत्यादि यह सब एक विज्ञप्ति द्वारा निकाल दिये जाते हैं और मुख्य-मुख्य बैंकों, दलालों तथा कोठियों को भेज दिये जाते हैं। टेण्डर में बिल की शर्तें, टेण्डर देने वाला जितने के बिल लेना चाहता है, प्रति बिल वह जितना रुपया, आना और पैसा प्रत्येक १०० रु० के लिये देना चाहता है, दिये रहते हैं। ट्रेजरी बिल केवल २५०००, ५००००, १ लाख, ५ लाख, १० लाख और ५० लाख रुपयों के होते हैं। जब बीच की दर पर ट्रेजरी बिल बेचने का निश्चय होता है तब प्रायः टेण्डर की स्वीकृति की विज्ञप्ति के साथ यह विज्ञप्ति भी दे दी जाती है। प्रायः ट्रेजरी बिल बड़े-बड़े बैंक ही ले लेते हैं।

यदि और थोड़े समय के लिये रुपयों की आवश्यकता होती है तो यह रिजर्व बैंक से वेज ऐन्ड मीन्स के रूप में (Wages & Means Advances) ले लिये जाते हैं।

१ अप्रैल, सन् १६३७ को प्रान्तीय स्वराज्य के प्रादुर्भाव के साथ-साथ ही रिजर्व बैंक का भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों के साथ एक समझौता हुआ था। कुछ बातें छोड़कर जैसे अन्तर्प्रान्तीय भुगतान के सम्बंध में रुपया भेजने और वेज ऐण्ड मीन्स के रूप में ऋण देने के सम्बंध में शेष सभी बातों में यह समझौते वैसे ही थे जैसा केन्द्रीय सरकार के बीच का समझौता था। स्वतंत्र प्रान्तों अब स्टेट्स को जो अधिकार प्राप्त हैं उनके अनुसार उन्हें उसी प्रकार दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन ऋण लेने का भी अधिकार है जिस प्रकार केन्द्रीय सरकार को है। हाँ, स्टेट सरकारों को बैंक के पास एक कम-से-कम बैलन्स भी रखना पड़ता है जो उनके और बैंक के बीच में समय-समय पर निश्चित होता रहता है। इसमें यदि कोई कमी हो जाती है तो वह वेज एन्ड मीन्स से पूरी की जाती है। एक राज्य से दूसरे राज्य में जब रुपया भेजा जाता है तब

बैंक उसी दर से कमीशन लेता है जिस दर से वह कमीशन सहकारी समितियों और बैंकों से लेता है। उसी राज्य के अन्दर रुपया भेजने के लिए कोई कमीशन नहीं लिया जाता है।

यह बैंक भिन्न-भिन्न सरकारों को आर्थिक समस्याओं पर अपनी सम्मति भी देता है।

(५) **कुछ साधारण काम करने का दायित्व**—उपर्युक्त काम केन्द्रीय बैंकिंग के मुख्य काम हैं। इनके अतिरिक्त कुछ साधारण काम भी हैं जिन्हें यह बैंक करता है। इसमें निम्न काम हैं :—(१) भिन्न-भिन्न प्रकार की करन्सी देना, (२) रुपया भेजने की सुविधा देना, (३) निकासगृह की व्यवस्था करना, (४) आर्थिक मामलों में मन्त्रणा देना, (५) बैङ्किग के अङ्क एकत्रित करके उन्हें जनता के सम्मुख रखना, इत्यादि।

यदि हम पहले (१) अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार की करन्सी देने को लें तो बैङ्क को नोट के लिये रुपये और रुपयों के लिये नोट देना आवश्यक है। जुलाई, सन् १६४० से रुपयों में भारत सरकार के एक-एक रुपये के नोट भी सम्मिलित हैं। इसे रेजगारी भी निकालनी और वापस लेनी पड़ती है। चूँकि रुपया, रुपये के नोट और रेजगारी बनाने का अधिकार केवल सरकार को ही है, अतः, ऐसा नियम है कि सरकार बैङ्क की आवश्यकता के अनुसार नोटों के विनिमय में इन्हें दे और यदि यह उसके पास अधिक हो तो उससे वापस ले ले।

अब यदि हम (२) अर्थात् रुपया भेजने की सुविधा लें तो इसके लिये यह अपने नोट चलाने के विभाग के दफ्तरों, शाखाओं, आढ़तों, खजानों तथा उप-खजानों में करन्सी के चेस्ट रखता है और इसमें काफी नोट और सिक्के रखता है जिससे सरकारी लेन-देन हो सके और रुपया इधर से उधर भेजा जा सके। पहली अक्टूबर, सन् १६४० से इसने जनता, सहकारी बैंकों और समितियों, सदस्य बैंकों, कुछ गैरसदस्य बैंकों तथा देशी महाजनों का रुपया रियायती कमीशन लेकर स्थानान्तरण करने की एक योजना निकाली है। फिर सन् १६५१ में इसमें और भी रियायत की गई। सहकारी बैंकों के लिये सदस्य बैंकों और गैर-

सदस्य बैङ्कों के लिये कमीशन के जो दर हैं उन्हें तो हम पीछे देख ही चुके हैं। देशी महाजनों के लिये भी वही दर हैं जो गैरसदस्य बैङ्कों के लिये हैं।

जनता के लिए निम्न दर हैं :—

५,००० रु० तक		५,००० रु० के ऊपर	
प्रतिशत दर	न्यूनतम चार्ज	प्रतिशत दर	न्यूनतम चार्ज
२ आ०	४ आ०	१ आ०	रु० ६—४—०
ड्राफ्ट, इत्यादि के लिये			
	रु० १—०—०		
टी० टी० के लिये (तार खर्च अलग)			

जहाँ तक (३) अर्थात् निकासगृह की व्यवस्था का प्रश्न है, उसे इसने कलकत्ता और कानपुर छोड़कर उन सभी स्थानों में ले लिया है जहाँ इसके दफ्तर और शाखाएँ हैं। कलकत्ते में इसकी व्यवस्था क्लिअरिङ्ग चैम्बर्स असोसियेशन की साधारण कमेटी द्वारा नियुक्त एक निरीक्षक के हाथ में है और कानपुर में यह स्टेट बैङ्क के हाथ में है। अन्य स्थानों में भी जहाँ रिज़र्व बैङ्क के दफ्तर अथवा शाखायें नहीं हैं, उन स्थानों में भी यह काम स्टेट बैङ्क ही के हाथ में है। यद्यपि रिज़र्व बैङ्क को निकासगृहों के सम्बन्ध में नियम बनाने के अधिकार प्राप्त हैं तो भी उसकी आवश्यकता नहीं समझी गई है और सब निकासगृह अपने-अपने नियमों के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक काम कर रहे हैं।

इसके बाद (४) अर्थात् आर्थिक मामलों पर मंत्रणा देने का काम है। रिज़र्व बैङ्क भिन्न-भिन्न सरकारों, सदस्य बैङ्कों और गैरसदस्य बैङ्कों, सरकारी समितियों और बैंकों और भूमि बन्धक संस्थाओं को आर्थिक मामलों पर मंत्रणा देता है। संक्षेप में यह सबों को मंत्रणा देने के लिये तैयार है।

अन्त में (५) अर्थात् बैंकिंग सम्बन्धी अंक एकत्रित करने और उसे जनता के सम्मुख रखने का काम है। प्रथम तो यह अपने नोट विभाग और बैंकिंग विभाग का साप्ताहिक हिसाब केन्द्रीय सरकार के पास भेजता है और उन्हें पत्रों में निकालता है। दूसरे, यह सदस्य बैंकों से प्राप्त सूचना भी एक में करके उनकी

एक साप्ताहिक रिपोर्ट निकालता है। फिर, इसने अब करन्सी और अर्थ सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट तथा यहाँ के बैंकों की अंक सम्बन्धी तालिका निकालने का काम भी अपने हाथ में ले लिया है। अन्तिम यह है कि यह अंकों का एक मासिक विवरण (Monthly statistical summary) और अपनी वार्षिक रिपोर्ट (Annual Report) भी निकालता है।

(२) साधारण बैंकिंग के काम

(१) बिना ब्याज जमा प्राप्त करना और उसे वसूल करना।

(२) भारतवर्ष में ही लिखे हुये और देय विनिमय बिलों और प्रणपत्रों का क्रय, विक्रय तथा फिर से डिस्काउण्ट करना—ये (१) व्यापारिक लेन-देनों से, (२) खेती के कामों से अथवा कृषि के विक्रय से और (३) भारत सरकार की अथवा किसी स्थानीय सरकार की प्रतिभूतियाँ रखने से अथवा उनमें लेन-देन करने से उत्पन्न होते हैं। इनमें से प्रथम का क्रय, विक्रय और फिर से डिस्काउण्ट तो तभी किया जा सकता है जब उन पर दो या दो से अधिक ऐसे हस्ताक्षर हों जिनमें से एक किसी सदस्य बैंक का है; दूसरे का तब किया जा सकता है जब एक हस्ताक्षर किसी सदस्य बैंक का अथवा किसी राज्य सहकारी बैंक का है और तीसरे का तब किया जा सकता है जब केवल किसी सदस्य बैंक का ही हस्ताक्षर हो। इनमें पकने की अवधि रियायती दिन छोड़ कर ९० दिन से अधिक की नहीं होनी चाहिये। कृषि साख के लिये यह पन्द्रह मास तक की हो सकती है।

(३) (अ) सदस्य बैंकों से कम से कम एक लाख रुपये की बराबरी की स्वीकृत करन्सियाँ खरीदना और बेचना।

(ब) अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य देशों में लिखे हुये अथवा उनके ऊपर किये हुये उन बिलों का क्रय-विक्रय और फिर से डिस्कांउट करना जो क्रय की तारीख से ९० दिनों के अन्दर पकने वाले हों। हाँ, यदि इनका क्रय-विक्रय और फिर से डिस्काउन्ट भारतवर्ष में किया जाता है, तो वह सदस्य बैंक से होना चाहिये।

(स) अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष के सदस्य बैंकों के पास बैलंस रखना।

(४) भारतवर्ष में स्थानीय अधिकारियों, सदस्य बैंकों और राज्य सहकारी बैंको की माँग पर देय अथवा अधिक से अधिक नव्वे दिन और कृषि साख के लिये पन्द्रह माह की अवधि पर देय ऋण देना। ये स्टाकों, कोष (Funds) और धरोहर की सिक्योरिटियों की प्रतिभूति पर (अचल सम्पत्ति की जमानत पर नहीं), सोने अथवा चाँदी अथवा उनके अधिकार-पत्रों पर, उसके द्वारा लिये जाने योग्य बिलों पर और किसी सदस्य बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक के उन प्रण-पत्रों पर जो माल के ऐसे अधिकार-पत्रों के आधार-स्वरूप हैं और जो नकद साख लेने के लिये अथवा वास्तविक व्यापार के लेन-देनों के सम्बन्ध में अधि-निकर्ष के लिये अथवा कृषि सम्बन्धी कामों अथवा कृषि की चीजों के विक्रय के लिये या तो उसे हस्तान्तरित कर दिये गये हैं अथवा उसके नाम कर दिये गये हैं अथवा उसके पास गिरवीं रख दिये गये हैं, उनकी प्रतिभूति पर ही दिये जा सकते हैं।

(५) यूनियन सरकार को अथवा किसी ऐसी सरकार को ऋण देना जिनकी स्वयं की आय है। किन्तु यह ऋण देने की तारीख से तीन महीनो के अन्दर वापस हो जाना चाहिये।

(६) अपने दफ्तरों पर देय दर्शनी ड्राफ्ट देना अथवा बैंक पोस्ट बिल निकालना।

(७) ऐसी विदेशी सरकारी सिक्योरिटिओं का क्रय और विक्रय करना जो क्रय की तारीख से दस वर्षों के अन्दर पकने वाली हों।

(८) भारत सरकार की अथवा किसी स्थानीय सरकार की किसी भी अवधि की सिक्योरिटियाँ अथवा भारत के किसी ऐसे अधिकारी की सिक्योरिटियाँ खरी-दना और बेचना जिन्हें केन्द्रीय मण्डल की सिफारिश पर यूनियन सरकार ने इस योग्य स्वीकार कर लिया है। यदि उपर्युक्त अधिकारी किसी सिक्योरिटियों के मूलधन और ब्याज के भुगतान का दायित्व ले लेते हैं तो यह उन्हें भी खरीद और बेच सकता है। इन सब सिक्योरिटियों का सम्मिलित मूल्य किसी एक समय पर बैंक के हिस्सों की पूँजी, सुरक्षित कोष और उसके बैंकिंग विभाग के जमा के दायित्व के $\frac{3}{4}$ से अधिक और नहीं हो सकता। जो सिक्योरिटियाँ एक वर्ष के बाद पकने वाली हैं वह पूँजी तथा सुरक्षित कोष और बैंकिंग विभाग के जमा के

दायित्व से १/८ से अधिक और जो सिक्योरिटियाँ दस वर्ष के बाद पकने वाली हैं वह पूँजी तथा सुरक्षित कोष और बैंकिंग विभाग के जमा के दायित्व से १/८ से अधिक की नहीं हो सकती हैं।

(९) द्रव्य, सिक्योरिटियाँ तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुयें रखना तथा उनका मूल्य ब्याज इत्यादि सहित वसूल करना।

(१०) यदि बैंक के हाथ कोई चल अथवा अचल संपत्ति उसके पाउने के संबन्ध में आ जाय तो उसे बेचना और उसका मूल्य वसूल करना।

(११) यूनियन सरकार अथवा किसी स्थानीय सरकार अथवा अधिकारी की तरफ से सोना अथवा चाँदी खरीदने और बेचने के लिये, बिल, सिक्योरिटियाँ अथवा किसी कम्पनी के हिस्से खरीदने, बेचने, हस्तान्तरित करने अथवा सुरक्षित रखने के लिये, किसी सिक्योरिटियों के मूलधन, ब्याज अथवा लाभ की बँटनी वसूल करने के लिये, और वसूल की हुई रकम उसके मालिक की आज्ञानुसार भारत में अथवा कहीं भी बिलो से भेजने के लिये तथा सरकारी ऋण की व्यवस्था करने के लिये अढ़तिये के तौर पर काम करना।

(१२) सोने के सिक्के और सोना खरीदना और बेचना।

(१३) किसी अन्य देश के केन्द्रीय बैंकों के यहाँ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के यहाँ एकाउण्ट खोलना, उनसे आढ़त के संबन्ध स्थापित करना, उनके अढ़तिया का काम करना और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के हिस्से खरीदना।

(१४) एक महीने के अन्दर के लिये ऋण लेना और उसके लिये जमानत देना। यह ऋण भारतवर्ष में केवल किसी सदस्य बैंक से अपनी पूँजी की रकम तक का और बाहर किसी केन्द्रीय बैंक से किसी भी रकम तक का लिया जा सकता है।

(१५) बैंक नोट बनाना और चलाना।

(१६) कोई ऐसा काम करना जो इसके उपर्युक्त कामों के संबन्ध में होने चाहिये।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि यह बैंक जनता से इस तरह से काम नहीं कर सकता कि जिससे उसकी और किसी सदस्य बैंक की प्रतियोगिता हो सके। हाँ,

यह ऐसा तभी कर सकता है जब उसके केन्द्रीय मण्डल की अथवा किसी ऐसे अधिकारी की सम्मति में जिसे केन्द्रीय मण्डल ने अपनी शक्ति दे दी है देश के व्यापार, व्यवसाय, उद्योग-धन्धों और कृषि के हित में साख का नियन्त्रण करने के लिये ऐसा करना आवश्यक है। इसे कुछ काम करने की मनाही भी कर दी गई है।

यह बैंक जो काम नहीं कर सकता

(१) यह बैंक व्यापार नहीं कर सकता और न किसी व्यावसायिक, औद्योगिक तथा किसी अन्य प्रकार की संस्था में कोई सीधा हित ही उत्पन्न कर सकता है। अब स्टेट बैंक अवश्य ही इसके हाथ में आ गया है। यदि किसी ऋण की वसूली में कोई व्यवसाय इसके पास आ जाय तो इसे उन्हें शीघ्र ही बेच देना चाहिये।

(२) यह अपने हिस्से अथवा किसी दूसरे बैंक अब केवल स्टेट बैंक को छोड़ कर अथवा किसी कम्पनी के हिस्से न तो खरीद सकता है और न उनकी प्रतिभूति पर ऋण ही दे सकता है।

(३) यह अचल सम्पत्ति और उसके अधिकार-पत्रों के रेहन पर अथवा उनकी किसी अन्य प्रकार की प्रतिभूति पर न तो ऋण ही दे सकता है और केवल अपने काम के लिये छोड़ कर न कोई अचल सम्पत्ति खरीद ही सकता है।

(४) माँग पर वापस होने की शर्त के अतिरिक्त यह न तो ऋण दे सकता है, न बिल कर सकता है अथवा स्वीकार कर सकता है और न चालू खातों पर ब्याज ही दे सकता है।

बैंक का सङ्गठन

यह बैंक १ अप्रैल, सन् १९३५ को संस्थापित हुआ था। हाँ, इसके विधान को तो गवर्नर जनरल की स्वीकृत ६ मार्च, सन् १९३४ ही को प्राप्त हो चुकी थी, किन्तु संस्थापना के पहले बहुत कुछ काम करना था, इसी से इतनी देर लगी। १० दिसम्बर, सन् १९३४ को सपरिषद् गवर्नर जनरल ने इसके प्रथम

शासक और उपशासक नियुक्त किये और तीन दिन बाद संचालकों का केन्द्रीय मण्डल बना। यह प्रथम केन्द्रीय मण्डल भी सपरिषद् गवर्नर जनरल ने ही बनाया था। फिर, इसके हिस्से निकाले गये और इसके साथ ही अन्य प्रारम्भिक कार्य किये गये। इसमें इसके दफ्तर और शाखाओं के लिये उपयुक्त इमारतों की व्यवस्था की गई और सरकार के केन्द्रीय विभाग से तथा इम्पीरियल बैंक से इसके लिये कुछ कर्मचारी लिये गये। फिर इसके और सरकार के और इम्पीरियल बैंक के बीच में काम करने के सम्बन्ध में समझौते हुये और कार्य करने के लिये नियम बनाये गये। इनमें बैंक के साधारण नियम थे, चुनाव के नियम थे, हिस्सेदारों की बैठकों, सदस्य बैंकों, नोटों की वापसी, खर्च और कर्मचारियों के लिये नियम थे। जिस दिन यह संस्थापित हुआ उसी दिन से इसने नोटों का, सुरक्षित कोष रखने का, स्टर्लिङ्ग क्रय का और सिक्योरिटियों की व्यवस्था का काम करन्सी कन्ट्रोलर से ले लिया और सरकार के भिन्न हिसाब रखने, सरकारी ऋण और निक्षेपगृह का काम इम्पीरियल बैंक से ले लिया। ४ जुलाई, सन् १९३५ को बैंक की पहली दर घोषित की गई और दूसरे दिन सदस्य बैंकों ने अपनी जमा का आवश्यक अङ्ग इसके पास भेजा। हाँ, बैंक के अपने नोट पहले-पहल सन् १९३८ में ही निकल सके।

बैङ्क का मुख्य कार्यालय जिसे केन्द्रीय कार्यालय भी कहा जाता है अब स्थायी रूप से बम्बई में ही है। हाँ, मन्त्री का विभाग शासक के साथ-साथ कलकत्ते और बम्बई दोनों में अदलता बदलता रहता है। इस विभाग का सम्बन्ध शासकीय मण्डल की कमेटी की साधारण वार्षिक बैठकों से रहता है। यह केन्द्रीय सरकार से करन्सी और विनिमय, भिन्न-भिन्न सरकारों के ऋण और ट्रेजरी बिल निकालने और उनकी व्यवस्था और वेज और मीन्स के ऋण सम्बन्धी प्रश्नों पर लिखा-पढ़ी करता है। इसके अन्य विभाग मुख्य अकाउन्टेण्ट का विभाग, कृषि सम्बन्धी साख विभाग और विनिमय नियन्त्रण विभाग हैं और इनमें से प्रत्येक के उपविभाग हैं।

मुख्य अकाउण्टेण्ट का उपविभाग नोट विभाग का हिसाब रखता है और उसका निरीक्षण करता है। यह बैङ्क के व्यय की व्यवस्था करता है, नोटों की

वापसी की अपीलें सुनता है, राशि, स्थानान्तरण करता है और बैंक की अन्य सब प्रकार की व्यवस्था करता है।

कृषि सम्बन्धी साख विभाग के तीन अंग हैं। (१) कृषि साख, (२) बैंकिंग, और (३) अंक तथा अन्वेषण। (१) कृषि साख के कार्यों का विस्तृत अध्ययन हम कृषि सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था के अध्याय में कर चुके हैं। (२) बैंकिंग विभाग सदस्य तथा गैर सदस्य बैंकों की समस्त समस्यायों की व्यवस्था करता है, बैंकों और सरकार को आर्थिक समस्यायों पर सम्मति देता है और आवश्यकता पड़ने पर इनके सम्बन्ध की रिपोर्टें तैयार करता है। (३) अंक और आविष्कार विभाग भिन्न-भिन्न अंक एकत्रित करके प्रकाशित करता है। यह भिन्न-भिन्न समस्यायों पर आविष्कार भी करता है।

विनिमय नियन्त्रण विभाग युद्ध काल में बना था और भारत रक्षा विधान के अनुसार बैंक को जो मुद्राओं, सोना, चाँदी, साख-पत्रों और विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करने का काम दिया गया था उसे करता था। इधर इसके लिये प्रथक नियम बन गये हैं।

बैंक के दूसरे कार्यालय और शाखायें या तो बैंकिंग विभाग के या नोट विभाग के हैं। बैंकिंग विभाग के वर्तमान कार्यालय बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में हैं तथा शाखायें कानपुर, नागपुर और बँगलौर में हैं। इसी प्रकार नोट विभाग की शाखायें बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, दिल्ली और मद्रास में हैं। इसका एक कार्यालय लन्दन में भी है।

साख नियन्त्रण

किसी केन्द्रीय बैंक का सबसे मुख्य कार्य साख नियन्त्रण होता है। इसके लिये रिजर्व बैंक सभी मान्य उपायों को काम में ला सकता है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि ४ जुलाई, सन् १९३५ को इसकी पहली बैंक दर घोषित हुई। यह ३½% थी। २८ नवम्बर सन् १९३५ को यह ३% कर दी गई। तब से १४ नवम्बर, १९५१ तक यह यहीं रही जब फिर यह ३½% कर दी गई। वस्तु स्थिति यह थी कि इन १६ वर्षों में इसे प्रयोग में लाना आवश्यक ही नहीं समझा गया। युद्ध काल में साख नियन्त्रण के अन्य तरीके काम में

लाये गये, जैसे कुछ वस्तुओं के आधार पर ऋण देने की मनाही कर दी गई, कुछ के आधार पर कम ऋण देने के लिये कहा गया इत्यादि। बैंक दर इस लिये नहीं बढ़ाया गया कि ऐसा करने से सरकार को ऋण मँहगे पड़ते। १९५१ में भी यही स्थिति थी, किन्तु इससे पूँजी निर्माण में बाधा प्रतीत हो रही थी। फिर, विदेशो में भी विशेषतः इंगलैण्ड में भी बैंक दर बढ़ा दी गई थी, अतः कम दर पर विदेशी पूँजी उपलब्ध न होती। इसके अतिरिक्त, द्रव्य स्फीति की तीव्रता के कारण जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संतलन में विषमता आ गई थी। बैंकों ने भी पिछले वर्षों में असीमित मात्रा में ऋण दिये थे जिन्हें नियन्त्रित करना आवश्यक था। सहकारी साख-पत्रों के दाम गिर रहे थे और सरकार को ऋण मिलने में कठिनता हो रही थी। अतः, बैंक दर बढ़ाया गया। इसकी प्रतिक्रिया बाजार में तुरन्त हुई। इम्पीरियल बैंक की दर पहले २$\frac{3}{4}$% से ३% और फिर ३$\frac{1}{2}$% हो गई। विनिमय बैंकों के तथा अन्य बैंकों की दरें भी बढ़ीं। बैंक दिये हुये ऋण वापस माँगने लगे तथा उन पर अधिक प्रतिभूतियाँ देने के लिये बल देने लगे। इस प्रकार द्रव्य बाजार में चारो ओर द्रव्य संकुचन होने लगा और वस्तुओं के मूल्य गिरे। व्यापारिक बैंक द्रव्य की आवश्यकता पड़ने पर अभी तक इसे अपने पास के सरकारी साख-पत्र बेच दिया करते थे, किन्तु बैंक दर को अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से अब इसने उन्हें यह सूचित कर दिया कि भविष्य में साधारणतः यह उन्हें नहीं खरीदेगा वरन् उनके आधार पर ऋण दे देगा। तो भी भारत का द्रव्य बाजार अभी पूर्णतः रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में नहीं है। एक तो यह अपनी अधिकांश आवश्यकतायें महाजनों से पूरी कर लेता है जिनके ऊपर इसका कोई नियन्त्रण ही नहीं है। दूसरे वह बैंक भी जो इसके नियन्त्रण में हैं अब तक द्रव्य की पूर्ति के लिये इसके पास नहीं आते थे। उनके पास यथेष्ट जमा तो है ही जिसे वह जब और किसी काम में नहीं ला सकते सरकारी साख पत्रों में लगाये रहते हैं। अभी तक आवश्यकता पडने पर वे इन्हें रिजर्व बैंक को बेच देते थे, अर्थात् उससे ऋण नहीं लेते थे और इस प्रकार इसकी बैंक दर का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। किन्तु अब जब यह उन्हें खरीदने के तैयार नहीं हैं तब बैंकों को इनके आधार पर ऋण लेने के अतिरिक्त अन्य

कोई उपाय नहीं रह जाता जिसका अर्थ है बैंक दर का पहले से अधिक प्रभावशाली होना।

साख नियन्त्रण का एक तरीका बाजार में प्रत्यक्ष काम करना भी है। वैसे तो रिजर्व बैंक केवल अनुसूचित बैंको और सहकारी बैंकों के माध्यम से ही काम कर सकता है, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर यह प्रत्यक्ष भी बाजार में साख-पत्र खरीद, बेंच और बिल डिस्काउण्ट कर सकता है। किन्तु भारत में साख-पत्रों के बाजार बहुत कम हैं और बिल भी अधिक प्रयोग में नहीं आते। बिलों के अधिक प्रयोग के लिये सन् १९५१ से इसने एक योजना निकाली है। किन्तु एक सबसे बड़ी कमी यह है कि देश में अभी तक अनुज्ञाप्राप्त गोदाम नहीं हैं जिनमें माल रख कर उनके आधार पर बिल लिखे जा सकें। किन्तु अब रिजर्व बैंक को अन्य बैंकों पर बहुत अधिक अधिकार प्राप्त हो गये हैं जिससे वह इसकी नीति का पालन करते हैं और इसे बाजार में प्रत्यक्ष काम करने की आवश्यकता शायद न पड़े। जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं युद्ध काल में साख नियन्त्रण के कुछ अन्य तरीके काम में लाये गये।

इसकी सफलतायें

यह बैंक बहुत बड़ी आशायें लेकर स्थापित किया गया था। सर्वप्रथम तो इससे यह आशा थी कि यह करन्सी की मात्रा का नियन्त्रण करेगा। इसके लिये नोट करन्सी निकालने का तो इसे एकाधिपत्य दिया गया था और अन्य प्रकार की जो मुद्रायें सरकार निकालती है वह भी इसी के माध्यम से बाजार में आ सकती हैं। जिस समय इसकी स्थापना हुई थी वह समय मन्दी का था, किन्तु सरकार चुप थी। यह भी चुप ही रहा। हाँ, युद्ध आरम्भ होने से परिस्थिति स्वयं ही बदल गई। जो हो उस समय के लिये तो यह कहा जा सकता है कि यह अपनी शैसवावस्था में था। किन्तु युद्ध काल में जो करन्सी की मात्रा अत्यधिक बढ़ गई, उसका दायित्व तो इसी पर है। करन्सी की मात्रा बढ़ने के कारण चीजों के दाम बढ़ गये और जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। फिर, नोटों के पृष्ठ पर घटते मूल्य स्टर्लिंग रक्खे गये जिससे देश को और भी हानि उठानी पड़ी।

दूसरे, जब इसकी स्थापना हुई थी तभी रुपये का विनिमय मूल्य कमज़ोर था। देश में इसके अवमूल्यन की माँग थी। किन्तु इसने कुछ न किया और हमारी स्टर्लिङ्ग निधि गिरती रही। हाँ, युद्ध काल में यह स्थिति स्वयं बदल गई।

तीसरे, यह साख नियन्त्रण में भी असफल रहा। तालिकाबद्ध बैंकों के याचित देनों के पाँच प्रतिशत और आवधिक देनों के दो प्रतिशत की धनराशि उन्हें जो इसके पास रखने के लिए बाध्य किया जाता है वह इतनी कम है कि उससे इसमें कोई सहायता नहीं मिलती। फिर हम यह भी देख चुके हैं कि बाजार अधिकांश साख प्राप्त के लिये बैंकों पर निर्भर नहीं है, और बैंक भी इससे ऋण न लेकर इसे सरकारी साख पत्र बेच देते थे जिससे बैंक दर का भी साख नियन्त्रण पर कोई प्रभाव नहीं था। हाँ, अब जब यह सरकारी साखपत्र खरीदने के लिए तैयार नहीं हैं तब स्थिति अवश्य बदल गई है।

चौथे, यह जनता का विश्वास देश की करन्सी पर नहीं ला सका। इसके लिये करन्सी का मूल्य प्रायः स्थिर रहना चाहिये। किन्तु भारतीय रुपये का मूल्य बराबर गिरता रहा। ऐसी स्थिति में जनता अपनी बचत करन्सी में न रख कर सोने, चाँदी, इत्यादि में रखती है जिससे देश में पूँजी उचित मात्रा में नहीं प्राप्त हो पाती।

पाँचवें, इससे यह भी आशा थी कि यह देशी महाजनों को भी अपने नियन्त्रण में ला सकेगा और कृषि साख को सुविधायें दे सकेगा। किन्तु देशी महाजनों को तो यह अपने नियन्त्रण में नहीं ला सका। हाँ, कृषि साख की सुविधाओं के लिये जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके हैं, इसने कुछ प्रयत्न किये हैं, यद्यपि अनुज्ञाप्राप्त गोदामों के स्थापित न होने से यह अधिक लाभप्रद नहीं प्रमाणित हो रहे हैं।

छठे, इसके खुलने के पहले वर्ष के विभिन्न महीनों में ब्याज की विभिन्न दरें हो जाती थीं। जिन महीनों में से व्यापार अधिक होता है उनमें द्रव्य की कमी प्रतीत होती थी। इसे दूर करने के लिये इम्पीरियल बैंक १२ करोड़ की करन्सी सरकार के नोट विभाग से प्राप्त कर सकता था, यद्यपि वह ऐसा नहीं करता

था। किन्तु रिजर्व बैङ्क के खुलने के बाद ब्याज की दरें प्रायः एक सी रही है। जिन महीनों में द्रव्य की अधिक आवश्यकता पड़ती है उनमें इसके नोटों की मात्रा इसके बैंकिंग विभाग के नोटों में कमी करके वह पूरी कर ली जाती है। यह १२ करोड़ रु० से बहुत अधिक होती है।

सातवें, यह बैङ्क बैंकों का फेल होना रोकने के उद्देश्य से भी स्थापित किया गया था। किन्तु सन् १६३८ में ही जब त्रावणकोर नेशनल एण्ड क्विलन बैङ्क को सहायता की आवश्यकता पड़ी तब इसने कुछ नहीं किया और वह फेल हो गया। फिर, बनारस बैंक फेल हुआ। हाँ, इसने १६४७ में बंगाल में संकट पड़ने पर और देश के विभाजन से उत्पन्न परिस्थिति से पंजाब और दिल्ली के बैंकों पर संकट पड़ने पर उनकी सहायता की जिससे परिस्थिति सँभल गई।

इसके ऊपर कुछ अन्य आरोप भी हैं। एक तो इसने हमारी डालर निधि को देश का हित ध्यान में रक्खे बिना खर्च हो जाने दिया। दूसरे, ब्रिटिश साम्राज्य और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के मुनाफाखोरों का सोना बढ़े हुये मूल्य पर यहाँ पर बेच कर उन्हें लाभ कमाने का अवसर दिया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह ब्रिटिश सरकार की नीति का किसी विरोध के बिना पालन करता रहा।

किन्तु जब से देश में अपनी सरकार हो गई है, हमारा एक पृथक् बैंकिंग विधान बन गया है, और इसका राष्ट्रीयकरण हो गया है तब से यह क्रान्तिकारी कदम उठा रहा है और अधिक सफल हो रहा है। अब इसे यहाँ काम करने वाले सभी बैंकों को अपने नियन्त्रण में रखने के लिये अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त हो गये हैं, जिससे उनका सञ्चालन देश हित में किया जा रहा है। जब किसी बैंक का काम उसके जमा कर्ताओं के हित में होता नहीं दिखाई देता तो उसे नई जमा लेने से रोक दिया जाता है, जैसे ज्वाला बैंक को जमा लेने से रोक दिया गया था। बैंकों का निरीक्षण होता रहता है। आवश्यकता पड़ने पर उनके अनुज्ञापत्र रद्द कर दिये जाते हैं। बैंक के नेशनल अल्ट्रामैरिनों को इस लिये भारत में काम करने की मनाही कर दी गई कि उसके देश में भारतीय बैंकों से भेदभाव की नीति बरती जाती थी। हाँ, देशी बैंकर अब भी इसके नियन्त्रण

में नहीं हैं। किन्तु स्टेट बैंक का कार्यक्षेत्र बढ़ने पर वे इसके नियन्त्रण में आ जायेंगे।

इधर इसने देश में एक बिल बाजार के विकास के लिये भी बड़े ठोस कदम उठाये हैं जिन्हें हम आगे चलकर देखेंगे। कृषि साख के लिये भी इधर इसने जो कुछ किया है उसका अध्ययन हम कर ही चुके हैं। १ सितम्बर, १९५१ से तालिका बद्ध बैंकों, सहकारी बैंकों तथा महाजनों द्वारा राशि स्थानान्तरण में भी पहले से आधा व्यय लिया जाने लगा है। इससे भी देश के व्यापार को अधिक सुविधा प्राप्त हो गई है।

साख नियन्त्रण के लिए भी इधर इसने बड़े महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। सन् १९४९ में बैंकों से जमा राशि निकाली जाने लगी और व्यवसाय में द्रव्य की कमी प्रतीत होने लगी। अतः, इस परिस्थिति में सामना करने के लिये इसने तालिकाबद्ध बैंकों से सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदनी प्रारम्भ कर दी है। द्रव्य की मात्रा बढ़ गई। साथ ही इससे उन्हें इनके आधार पर ऋण भी दिया। इसने बैंकों को सट्टे के लिए ऋण देने से रोकने की भी चेष्टा की। रुपये के अवमूल्यन के बाद इस सम्बन्ध में इसने जो आज्ञा निकाली थी उससे मूल्य स्तर बहुत बढ़ने से रुके। सन् १९५१ में द्रव्य संकुलन के लिये इसने जो बैंक दर में पहली बार उलट फेर किया था वह और उसके प्रभाव को भी हम देख चुके हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अब यह अधिक सजग और प्रभावशाली है।

इसका स्थिति विवरण

रिजर्व बैंक का स्थिति विवरण दो विभागों में विभाजित रहता है (१) बैंकिंग विभाग और (२) नोट प्रसार विभाग। ऐसा बैंक आफ इंगलैण्ड की ही देखादेखी किया गया है। यहाँ पर दोनों विभागों के स्थिति विवरण दिये जाते हैं—

नोट विभाग का स्थिति विवरण

देनें		सम्पत्ति/पावने	
नोट :—		(क) स्वर्ण मुद्रा/धातु	
१ चलन में		(१) भारत में	
२ बैंकिंग विभाग में		(२) विदेशों में	
		(ख) विदेशी साखपत्र	
		(ग) रुपये	
		(घ) भारत सरकार के साखपत्र	
		(ङ) बिल तथा अन्य व्यावसायिक विषय	

बैंकिंग विभाग का स्थिति विवरण

पूँजी/देनें		सम्पत्ति/पावने	
प्राप्त पूँजी		नोट	
संचिति		रुपये	
जमा :—		अन्य मुद्रायें	
केन्द्रीय सरकार की		क्रीत तथा भुनाये गये बिल	
अन्य सरकारों की		आन्तरिक	
बैंकों की		सरकारी	
अन्य लोगों की		विदेशी	
देय बिल		विदेशों में जमा	
अन्य देनें		सरकारों को ऋण	
		अन्य ऋण	
		विनियोग	
		अन्य सम्पत्ति	

प्रश्न

(१) रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कैसे हुआ ? इससे उत्पन्न परिवर्तन समझाइये ।

(२) रिजर्व बैंक के केन्द्रीय और व्यापारिक बैंकिंग के कार्य बताइये यह कौन से कार्य नहीं कर सकता है ?

(३) रिजर्व बैंक की स्थापना के पहले कौन-कौन से प्रारम्भिक काम करने पड़े थे । इसके दफ्तरों और विभागों के संगठन के विषय में आप जो कुछ जानते हों बताइये ।

(४) रिजर्व बैंक ने अब तक क्या-क्या किया है ? आपकी समझ मे अब उसे क्या करना चाहिये ?

(५) आपकी समझ में रिजर्व बैंक को साख नियंत्रण के लिए जो अधिकार दिए गए हैं वह काफी हैं या नहीं ? इस सम्बन्ध में आपके क्या सुझाव हैं ?

(६) रिजर्व बैंक की सफलता तथा असफलता पर अपने विचार व्यक्त कीजिये ।

(७) रिजर्व बैंक की एक कल्पित बैलन्स शीट बनाइये और उसकी प्रत्येक मद समझाइये ।

अध्याय २०

बैंकिंग विधान

सन् १९४९ के पहले भारतवर्ष में कोई पृथक बैंकिंग विधान नहीं था। हाँ, एक बैंकिंग कम्पनी को एक साधारण कम्पनी से पृथक् करने के लिए १९१३ के कम्पनी विधान में कुछ अनुच्छेद अवश्य थे :—

(१) जब साझे के साधारण संगठन में साझियों की संख्या २० हो सकती है तब बैंकिंग के संगठन में यह केवल १० ही हो सकती है ।

(२) बैंकिंग के काम करने वालों को रजिस्ट्रार के यहाँ अपने काम करने के सभी स्थानों का नाम भेजना आवश्यक है ।

(३) बैंकिंग कम्पनी को रजिस्ट्रार के यहाँ नियत समय पर अपनी बैलन्स शीट भेजनी आवश्यक है और उसमें जमानत पर किये गये ऋण और जमानत के बिना दिये गये ऋण अलग-अलग अनिवार्य हैं।

(४) दूसरा काम करने वाली कम्पनियो का निरीक्षण तो उनके १० प्रतिशत सदस्यों की प्रार्थना पर किया जा सकता है, किन्तु बैंकिङ्ग की कम्पनियों में ऐसा तभी हो सकता है जब कम से कम २० प्रतिशत सदस्यो की ऐसा करने की प्रार्थना हो।

किन्तु देश में यह राय थी कि बैंकिङ्गके नियन्त्रण के लिये इतना ही यथेष्ठ नहीं है। केन्द्रीय कमेटी तो एक विशेष विधान के पक्ष में थी। हाँ, विदेशी विशेषज्ञों ने कुछ संशोधन मात्र करने की ही सलाह दी थी। अतः, भारत सरकार ने उन्हीं की राय के अनुसार सन् १९३६ में कम्पनी विधान में निम्न संशोधन किये:—

(१) बैंकिङ्ग कम्पनी की एक परिभाषा दी। किन्तु यह संतोषजनक नहीं थी। रिजर्व बैङ्क के कार्यकर्ताओ ने यह शिकायत की थी कि ब्रिटिश भारत में ऐसे बहुत से गैरसदस्य बैङ्क थे जो उक्त परिभाषा के अनुसार बैङ्कों की श्रेणी में नहीं आते थे। अतः, वह रिजर्व बैंक को वह सूचना नहीं देते थे जिसे देना उनके लिये अनिवार्य कर दिया गया था।

(२) कोई बैंकिङ्ग कम्पनी तब तक रजिस्टर्ड न हो, जब तक वह अपने योजना-पत्र उद्देश्यो के अन्तर्गत यह न लिख दे कि वह केवल जमा प्राप्त करने के तथा बैंकिङ्ग कम्पनी की परिभाषा में दिये हुये कामों में से कुछ अथवा सब काम ही करेगी, जो कम्पनियाँ पहिले काम कर रही थीं, उन्हें यह विधान पास होने के दो वर्षों के अन्दर ही अपने गैर बैंकिङ्ग के कार्य बन्द कर देने होगे।

(३) उक्त विधान पास होने के दो वर्षों के बाद से कोई बैंकिङ्ग कम्पनी किसी भी ऐसे मैनेजिङ्ग एजेण्ट द्वारा नहीं चलाई जा सकेगी जो बैंकिङ्ग का काम न करता हो।

(४) कोई बैंकिङ्ग कम्पनी तब तक अपना व्यवसाय नहीं प्रारम्भ कर सकती जब तक कि उसके इतने हिस्से न बिक जायँ कि उसके पास कम से कम

पचास हजार रुपये आ जायँ। संचालकों को इस सम्बन्ध का एक प्रमाण-पत्र भी देना होगा।

(५) कोई बैंकिङ्ग कम्पनी अपनी अप्राप्त पूँजी पर कोई ऋण नहीं ले सकेगी।

(६) रिजर्व बैंक के सदस्य बैंकों को छोड़कर प्रत्येक बैङ्क को लाभ की बँटनी करने के पहले उसमें से उस समय तक कम से कम २० प्रतिशत सुरक्षित कोष में डालना पड़ेगा जिस समय तक यह सुरक्षित कोष उसकी प्राप्त पूँजी के बराबर न हो जाय। इसे किसी सरकारी अथवा ट्रस्ट साख-पत्रों में लगाना पड़ेगा अथवा रिजर्व बैङ्क के किसी सदस्य बैङ्क के पास रखना पड़ेगा। जो बैंकिङ्ग कम्पनियाँ इस समय भी काम कर रही हैं उन पर यह नियम विधान पास हो जाने के दो वर्षों बाद लागू होगा।

(७) रिजर्व बैंक के सदस्य बैंकों को छोड़कर प्रत्येक बैंक को अपनी माँग पर देय दायित्व का कम से कम ५ प्रतिशत और अन्य दायित्व का कम से कम १½ प्रतिशत अपने पास नकदी में रखना अनिवार्य होगा। यदि इसका उल्लंघन किया जायगा तो कम्पनी के प्रत्येक जिम्मेदार कर्मचारी पर जितने दिन तक यह उल्लंघन रहेगा, उतने दिन का प्रतिदिन जुर्माना लगेगा।

(८) कोई बैंकिङ्ग कम्पनी केवल अपनी सहायक कम्पनी को छोड़ कर न तो अन्य कोई सहकारी कम्पनी बना सकेगी और न उसके हिस्से ले सकेगी।

(९) यदि कोई बैंकिङ्ग कम्पनी अपना ऋण नहीं दे सकती है तो यदि वह इस बात की प्रार्थना करती है और उसके साथ ही रजिस्ट्रार की रिपोर्ट भी है तो अदालत यह आज्ञा दे सकती है कि कुछ दिनों तक उसके ऊपर कोई कार्रवाई न की जाय। रजिस्ट्रार की आज्ञा बिना भी उसे थोड़े दिनों की छूट दी जा सकती है।

(१०) कोई ऐसा व्यक्ति जिसके ऊपर कम्पनी का ऋण चाहिये उसका आडीटर भी नहीं नियुक्त किया जा सकता। न यदि किसी के आडीटर नियुक्त होने के बाद वह कम्पनी का ऋणी हो जाय तो वह कम्पनी का आडीटर ही रह सकता है। आडीटरों को उस बैठक में भी उपस्थित होने की आज्ञा दे दी गई जिसमें उनके द्वारा आडिट किया हुआ हिसाब रक्खा जाय। ऐसी बैठक में वह

हिसाब के विषय में बोल भी सकता है। यदि कोई आडीटर विधान में दिये हुये किसी नियम का उल्लंघन करता है तो उस पर १००) तक जुर्माना लग सकता है।

(११) प्रत्येक कम्पनी को, चाहे वह बैंकिंग की हो अथवा अन्य किसी तरह की, अपने सदस्यों के रजिस्टर के साथ-साथ उनकी सूची भी रखनी पड़ेगी।

(१२) जिस एफ (F) फार्म पर कम्पनियों को अपनी बैलन्स शीट तैयार करनी पड़ती है उसमें भी बैंकिङ्ग कम्पनियों के लिये कुछ अधिक ब्योरे भरने पड़ेंगे। लागत के मूल्यांकन का ढङ्ग भी लिखना पड़ेगा अर्थात् वह क्रय मूल्य अथवा बाजार मूल्य है। फार्म जी (G) में भी उन्हें अपनी आर्थिक स्थिति के विषय में एक विशेष सूचना देनी पड़ेगी और उसे बैलन्स शीट की लिपि के साथ-साथ दफ्तर में दिखलाना पड़ेगा। विदेशी बैंकों को भी फार्म एच (H) में कुछ सूचनायें देनी पड़ेंगी।

(१३) प्रत्येक कम्पनी संचालक को चाहे वह बैंकिंग की हो अथवा अन्य किसी व्यवसाय के सम्बन्ध की हो, हिस्सों के हस्तान्तरित करने के आवेदन-पत्रों पर अपनी स्वीकृति की सूचना अधिक-से-अधिक दो मास के अन्दर दे देनी पड़ेगी।

फिर, १६३६ में रिजर्व बैंक ने कुछ संशोधन पास करने के लिये सुझाव दिये। किन्तु प्रथम संशोधन १६४३ में पास हुआ। यह रिजर्व बैंक की वह शिकायत दूर करने के उद्देश्य से किया गया जो बैंकों के उसे वह सूचना न भेजने के सम्बन्ध की थी जो उन्हें उसके पास भेजना अनिवार्य था। अतः, तब से कोई भी ऐसी संस्था जो अपने नाम के आगे 'बैंक' शब्द लगाती थी, बैंक मानी जाने लगी।

सन् १६४४ में निम्न संशोधन पास हुये:—

(१) कोई बैंकिंग कम्पनी चाहे वह ब्रिटिश भारत में गठित हुई हो अथवा बाहर किन्तु यदि भारतवर्ष में काम करती है तो यह विधान पास होने के दो वर्ष बाद किसी मैनेजिङ्ग एजेण्ट द्वारा नहीं चलाई जा सकती। न वह कोई ऐसा व्यक्ति ही रख सकती है जिसका प्रतिफल अथवा जिसके प्रतिफल का कुछ

भी अंश कमीशन के रूप में अथवा कम्पनी के लाभ के प्रतिशत के रूप में देने का निश्चय हुआ हो। न वह किसी से एक बार में पाँच वर्षों से अधिक तक उसे चलाने का कोई समझौता कर सकती है।

(२) जिस बैंकिंग कम्पनी का इस विधान के अनुसार सन् १९४७ की १५ जनवरी को अथवा उसके बाद संगठन हुआ है। वह इस सन् १९४४ के विधान के लागू होने के दो वर्ष बाद ब्रिटिश भारत में उस समय तक व्यवसाय नहीं कर सकती जिस समय तक वह निम्न शर्तें पूरी नहीं कर देती :—

(१) उसकी क्रीत पूँजी उसकी अधिकृत पूँजी की आधी है और उसकी प्राप्त पूँजी भी उसकी क्रीत पूँजी की आधी है।

(२) उसके हिस्से केवल साधारण हैं अथवा यदि सपक्ष भी हैं तो वह यह संशोधन पास होने के पहिले के हैं।

(३) प्रत्येक हिस्सेदार का मताधिकार उसकी पूँजी के अनुपात में है।

किन्तु एक पृथक बैंकिङ्ग विधान की आवश्यकता के कारण सन् १९४४ के नवम्बर में एक बैंकिङ्ग बिल यहाँ की व्यवस्थापिका सभा में रक्खा गया और वह उक्त सभा भङ्ग होने पर और दूसरी सभा बनाने पर समाप्त हो गया तब सन् १९४६ में एक नया बिल रक्खा गया। किन्तु यह भी स्वीकृत नहीं हो पाया। अतः, निम्न आदेश निकाले गये :—

(१) भारत सरकार रिजर्व बैंक से किसी भी बैंक का निरीक्षण करने के लिये कह सकती है, और यदि उसकी रिपोर्ट अच्छी न हो तो उसे जमा प्राप्त करने की अथवा रिजर्व बैंक की दूसरी तालिका से निकाल देने की आज्ञा दे सकती है। ऐसा कई बैंकों के साथ किया जा चुका है।

(२) कोई देखनहार मुद्दती प्रण-पत्र न निकाल सके। कुछ बैंक ऐसा करने लग गये थे जिससे वह करन्सी नोट का काम करते थे।

(३) कोई बैंक रिजर्व बैंक की आज्ञा बिना न तो कोई नई शाखा खोल सकेगा और न कोई शाखा बदल सकेगा। रिजर्व बैंक आज्ञा देने के पहले प्रार्थी बैंक के इतिहास, व्यवस्था, आर्थिक स्थिति, लाभ की सम्भावना, जनहित इत्यादि ध्यान रक्खेगा।

१९४६ का बैंक बिल १९४७ में केन्द्रीय सभा में आया। किन्तु उसी वर्ष

स्वतन्त्रता बिल पास हो गया। अतः, सरकार ने एक नया बिल रखने का निश्चय किया जो १६४८ में रक्खा गया और १६४६ में पास हुआ। १६४७ के एक आदेश द्वारा रिजर्व बैंक को कुछ साधारण जमानतों पर भी ऋण देने की आज्ञा दे दी गई जिससे वह उस समय के संकट में पड़े हुये बैंकों की सहायता कर सकें। किन्तु इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी और यह १६४८ में समाप्त हो गया। इसके बाद फिर यह उसी वर्ष बैंकिङ्ग कम्पनियों के नियन्त्रण सम्बन्धी आदेश में सम्मिलित कर लिया गया। इसमें रिजर्व बैंक को बैंकों की साधारण तथा किसी भी विशेष बैङ्क की उधार देने की नीति निर्धारित करने और ऋण का उद्देश्य, उस पर जमानत तथा ब्याज इत्यादि निश्चित करने का अधिकार भी दे दिया गया। साथ ही उसे निम्न अधिकार भी दे दिये गये :—

(१) बैंकों से उनके देने और पाउने की मासिक सूचना और उधार तथा विनियोग के किस्मों की छमाही सूचना मँगाने का अधिकार।

(२) बैंकों को उनके हिस्सों पर ऋण देने अथवा उनके संचालकों को अथवा उन फर्मों तथा निजू कम्पनियों को जिनमें कोई संचालक कोई अपना हित रखता हो, बिना जमानती ऋण देने की मनाही करने का अधिकार।

(३) प्रत्येक बैङ्क से भारतीय प्रान्तों में उसके देने का कम से कम ७५ प्रतिशत कुछ विशेष पाउनों में रखवाने का अधिकार।

(४) बैङ्कों के एकीकरण के लिये इससे पूर्व आज्ञा प्राप्त करने का अधिकार।

(५) कुछ स्थितियों में बैङ्कों का इतिकर्ता नियुक्त होने का अधिकार।

१६४६ के विधान में उपर्युक्त बातों के साथ-साथ कुछ अन्य बातें भी सिम्मलित हैं। इसकी विशेष बातें निम्नाङ्कित हैं :—

१. परिभाषा—बैंकिंग व्यवसाय वह है जिसमें उधार देने तथा विनियोग करने के उद्देश्य से जनता से राशि जमा की जाय और फिर वह उसकी माँग पर चेक द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार के आदेश द्वारा भुगतान की जाय। बैंकिंग का व्यवसाय करने के लिये नाम के साथ बैंक, बैंकर अथवा बैंकिंग का प्रयोग करना आवश्यक है। बैंकिंग के कार्य भी विधान में दिये हुये हैं।

२. प्रबन्ध प्रतिनिधि Managing Agents—बैंकों का प्रबन्ध प्रबन्ध-प्रतिनिधियों द्वारा नहीं किया जा सकता। प्रबन्ध दिवालियों को, अन्य कंपनियों के प्रबन्धकों को किसी अन्य प्रकार का व्यवसाय करने वालों को भी नहीं सौंपा जा सकता। प्रबन्धकर्ताओं को किसी भी प्रकार का कमीशन तथा लाभ के रूप में पारिश्रमिक भी नहीं दिया जा सकता।

३. अनुज्ञापत्र Licenses—प्रत्येक बैंक के, रिजर्व बैंक से एक अनुज्ञापत्र प्राप्त करना अनिवार्य है। पुराने बैंकों के लिये भी यह आवश्यक है। इसके लिये रिजर्व बैंक उनके हिसाब-किताब की जाँच करता है। इसमें निम्न बातों का विशेष ध्यान रक्खा जाता है :—

(१) जमाकर्ताओं की जमा राशि भुगतान करने की क्षमता है अथवा नहीं।

(२) प्रबन्ध जमाकर्ताओं के हित में हो रहा है अथवा नहीं।

(३) भारत के बाहर पंजीयित बैंकों के सम्बन्ध में यह भी देखा जाता है कि ऐसे देशों में भारतीय बैंकों के विरुद्ध कोई प्रतिबन्ध तो नहीं है और वह भारत में भारतीय कानून का पालन करते हैं। सितम्बर, १९५२ में बैंकों नेशनल अल्ट्रामेरिनो को अनुज्ञापत्र नहीं दिया गया।

एक बार अनुज्ञापत्र मिलने के बाद वह समाप्त भी किया जा सकता है।

४. नवीन कार्यालय—नवीन कार्यालय रिजर्व बैंक की आज्ञा प्राप्त किये बिना नहीं खुल सकते। उसी शहर, नगर या ग्राम के अतिरिक्त अन्य कहीं कार्यालयों का स्थानान्तरण भी नहीं हो सकता। विदेशों में भी कार्यालय खोलने की आज्ञा लेनी पड़ती है।

५. पूँजी और संचिति—एक से अधिक राज्यों में काम करने के लिये कम से कम पाँच लाख की प्राप्त पूँजी और संचिति होनी चाहिये। बम्बई अथवा कलकत्ते अथवा दोनों में व्यवसाय तभी किया जा सकता है जब यह कम से कम दस लाख रुपये हों। भारत से बाहर पंजीयित बैंकों को भारत में व्यवसाय करने के लिये वह पूँजी तथा संचिति कम से कम १५ लाख रुपये रखना चाहिये। बम्बई और कलकत्ते में कार्यालय होने पर यह बीस लाख होना चाहिये।

क्रीत पूँजी अधिकृत पूँजी की आधी और प्राप्त पूँजी क्रीत पूँजी की आधी होनी आवश्यक है। पूँजी केवल सामान्य अंश बेच कर ही प्राप्त की जा सकती है। हाँ, यदि जुलाई १९४४ के पहले के पूर्वाधिकारी अंश भी हैं तो वह रहने दिये गये है। एक अशकारी मत समस्त मतों के ५% से अधिक नहीं हो सकते।

प्राप्त पूँजी के ही बराबर संचिति होनी चाहिये। जब तक ऐसा न हो तब तक लाभ का २०% लाभांश बाँटने के पहले इसमें स्थानान्तरित करना आवश्यक है।

६. ऋण व्यवस्था—अपने ही अंशो की जमानत पर ऋण नहीं दिया जा सकता। किसी बैंक के संचालक भी उस बैङ्क से ऋण नहीं ले सकते। जिस साझे और कम्पनी इत्यादि में वह सम्मिलित हैं उसे भी ऋण नहीं दिया जा सकता।

७. माल के क्रय-विक्रय का व्यवसाय—कोई बैंक ऐसा व्यवसाय स्वयम् के लिये अथवा औरो के लिये नहीं कर सकता। हाँ, यदि किसी ऋण के सम्बन्ध में कोई माल उसके पास आ जाय तो वह उसे बेच सकता है।

८. व्यवसाय बन्द करना अथवा एकीकरण—कोई बैंक अपना व्यवसाय तभी बन्द कर सकता है जब रिजर्व बैंक उसे ऐसी आज्ञा दे दे और रिजर्व बैङ्क ऐसा तभी करता है जब उसे यह विश्वास होता है कि उसमें अपनी देनदारी का भुगतान करने की क्षमता है। एकीकरण की योजना में न्यायालय द्वारा स्वीकृत होनी आवश्यक है और न्यायालय ऐसा तभी करता है जब रिजर्व बैङ्क यह प्रमाणित कर देता है कि यह जमाकर्ताओं के हित में घातक नहीं होगा।

विधान द्वारा निश्चित रिजर्व बैङ्क के अधिकार

वैसे तो विधान ने रिजर्व बैङ्क को अन्य बैङ्कों पर जो अधिकार दिये हैं उनमें से अधिकांश तो ऊपर दिये ही जा चुके हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी अधिकार हैं जिनका संकेत ऊपर नहीं हुआ है। रिजर्व बैङ्क के बैंकों पर निम्न अधिकार हैं :—

१. वह किसी भी बैंक का माँग देनदारी का कम से कम ५% तथा काल देनदारी का कम से कम २% अपने पास रख सकता है।

२. प्रत्येक बैंक को अपना एक मासिक विवरण इसके पास भेजना पड़ता है।

३. यह बैंकों को ऋण देने से रोक सकता है अथवा इस सम्बन्ध के कोई भी प्रतिबन्ध उन पर लगा सकता है।

४. प्रत्येक बैंक को इससे एक अनुज्ञापत्र लेना पड़ता है। यह अनुज्ञापत्र रद्द भी किया जा सकता है।

५. कोई बैंक इसकी आज्ञा के बिना कोई नया कार्यालय नहीं खोल सकता। कार्यालयों के स्थानान्तरण और बन्द करने के सम्बन्ध में भी इसकी आज्ञा प्राप्त करनी आवश्यक है।

६. यह किसी बैंक का निरीक्षण कर सकता है। उसकी उन्नति के सम्बन्ध में सुझाव दे सकता है। उसे समाप्त करवा सकता है।

७. इसे बैंकों के विलीयन सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं।

बैंकिंग विधान से लाभ

बैंकिंग विधान से बहुत लाभ होता है :—

१. जमा कर्ताओं के हितों की रक्षा होती है। बैंकिंग विधान न होने से बैंकों पर कोई नियन्त्रण नहीं था जिससे जमाकर्ताओं की जमा सुरक्षित नहीं थी। अतः, बैंकों के फेल होने पर उनकी हानि होती थी।

२. बैंकों के फेल होने से अपरिमित पूँजी की जो हानि होती थी वह अब नहीं होगी।

३. बैंकों के फेल न होने से अब जनता का उन पर विश्वास बढ़ता जायगा जिससे देश में विनियोग प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा।

४. रिजर्व बैंक को जो अधिकार मिले हैं, उनमें वह बैंकों का सुव्यवस्थित संगठन कर सकेगा।

इस विधान की कमियाँ

तो भी इस बैंकिंग विधान में बहुत सी कमी हैं :—

१. छोटे-छोटे बैंकों और महाजन बैंकरों के ऊपर अभी भी किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है।

२. यद्यपि सहकारी बैंक व्यापारिक बैंकों जैसा ही काम करते हैं तो भी उन पर वैसा नियन्त्रण नहीं है।

३. देश के द्रव्य बाजार को संगठित करने के लिये इसमें कुछ भी नहीं किया गया है।

४. अभी तक बैंक सम्पत्तिहीनता के कारण नहीं वरन् सम्पत्ति के तरल न होने के कारण फेल होते रहे हैं तो भी इसमें इसके लिये कोई ध्यान नहीं रक्खा गया है।

प्रश्न

(१) बैङ्कों के नियन्त्रण के लिये बैंकिङ्ग विधान बनने के पहले जो कदम उठाये गये थे उनका एक संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(२) भारतीय बैंकिंग विधान की मुख्य-मुख्य बातें बताइये।

(३) भारतीय बैङ्किग विधान द्वारा रिजर्व बैङ्क को बैङ्कों को नियंत्रण में रखने के सम्बन्ध में कौन-कौन से अधिकार दिये गये हैं?

अध्याय २१

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

द्वितीय महायुद्ध के समय यह अनुभव हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति के लिये प्रत्येक राष्ट्र की उन्नति आवश्यक है। कुछ राष्ट्र तो पहले ही से पिछड़े हुये थे, कुछ की दशा युद्ध काल में बिगड़ चुकी थी और शेष की युद्ध काल के बाद बिगड़ने की सम्भावना थी। प्रथम महायुद्ध के बाद संसार के देशों की जो स्थिति थी उसकी पुनरावृत्ति होने देना बुद्धिमानी नहीं थी। अतः, मित्र राष्ट्रों ने इस बार युद्ध की समाप्ति पर एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की संस्थापना का निश्चय किया। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष की संस्थापना का उद्देश्य तो करन्सियों का अनावश्यक विलोपन रोकना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक विषमता के निपटारे की व्यवस्था करना था और

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की संस्थापना का उद्देश्य राष्ट्रों को उनके औद्योगिक विकास के लिये पूँजी प्रदान करना था।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष का सम्बन्ध है, इसका विवरण द्रव्य विषयक अध्यायों में उपलब्ध है। यहाँ पर हमें अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का अध्ययन करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी १० अरब डालर है जिसमें से ६ अरब १० करोड़ के हिस्से तो उन ४४ राष्ट्रों के लिये नियत कर दिये गये थे जो यह योजना बनाने के पक्ष में थे। शेष शत्रु राष्ट्रों के लिये छोड़ दिए गये थे। प्रायः प्रत्येक राष्ट्र का इसमें वही हिस्सा रक्खा गया था जो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में नियत था, हाँ, परिस्थिति के अनुसार कुछ का अधिक और कुछ का कम भी कर दिया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की और अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष की सदस्यता एक साथ ही हो सकती है। भारत का हिस्सा इन दोनों में ४० करोड़ डालर रक्खा गया था। मित्र राष्ट्रों में से रूस न तो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और न अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का ही अब तक सदस्य बना है। भारतवर्ष दोनों का ही सदस्य है। उसने अपनी निर्धारित रकम दे दी है। अन्तर्राष्ट्रीय कोष और बैंक प्रत्येक की व्यवस्था १२ संचालकों के एक-एक मण्डल के हाथ में है। इनमें संयुक्त राष्ट्र, रूस, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स और चीन को स्थायी प्रतिनिधित्व प्राप्त था। किन्तु रूस के इनके सदस्य न बनने के कारण भारतवर्ष का पाँचवाँ स्थान हो जाने से इन पर उसका स्थायी प्रतिनिधित्व हो गया है। शेष ७ सञ्चालक अन्य सदस्य देशों द्वारा मिलकर चुने जाते हैं।

जिस सदस्य देश को अपने विकास अथवा पुनर्निर्माण के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को अपनी योजनायें बतला कर उससे उन्हें गारण्टी करवा लेता है। फिर, वह प्रमुख द्रव्य बाजारों में उदाहरणार्थ लन्दन तथा न्यूयार्क में ऋण ले सकता है। वहाँ सफल न होने पर स्वयं बैंक इसे ऋण देता है। इससे यह लाभ है कि जिन देशों के पास अतिरिक्त द्रव्य है वह बैंक की गारन्टी के कारण उसे लगा सकते हैं और जिन्हें आवश्यकता है वे इसी कारणवश उसे प्राप्त कर सकते हैं। बैंक गारण्टी की हुई

रकम पर कम से कम १ प्रतिशत और अधिक से अधिक १½ प्रतिशत फीस ले सकता है। कर्ज लेने वाले को ऋणदाता को सूद भी देना पड़ता है।

बैंक ने मई १९४७ में पहले-पहल फ्रान्स को २५ करोड़ डालर का ऋण दिया। फिर बाद में २६·३ करोड़ डालर का ऋण निदरलैण्ड्स, डेनमार्क, लक्जम्बर्ग और चाइल को मिलाकर दिया। इसके बाद तो यह बराबर दिये जा रहे हैं। इनकी ६½ वर्षों से ३० वर्षों तक के बीच में वापसी की शर्त है और इन पर २½ से ३½ प्रतिशत तक का ब्याज है। साथ ही एक प्रतिशत का कमीशन है जो एक विशेष कोष में एकत्रित किया जा रहा है। लक्जमवर्ग का ऋण बेल्जियन फ्रैन्क और निदरलैण्ड्स का स्विस फैन्क में था और अन्य ऋण प्रायः संयुक्त राष्ट्र के डालर में हैं। यूरोपीय देशों को पहले जो ऋण दिये गये थे वह उनकी युद्ध के कारण बिगड़ी हुई परिस्थिति ठीक करने के लिये दिये गये थे किन्तु बाद में उन्हें तथा अन्य देशों को भी ये ऋण वहाँ की विद्युत्शक्ति, यातायात, कृषि और औद्योगिक विकास के लिये दिये गये हैं। भारतवर्ष भी इस प्रकार के पाँच ऋण ले चुका है।

बैंक ने संसार के प्रमुख द्रव्य बाजारों में कुछ ऋण भी लिये हैं। इनमें से प्रथम दो तो संयुक्त राष्ट्र के द्रव्य बाजार से लिये गये थे। फिर, अन्य बाजारों से विशेषतः स्विस बाजार से लिये गये हैं।

बैंक एशियाई तथा अन्य पिछड़े हुये देशों की बड़ी सहायता कर रहा है।

प्रश्न

(१) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के संगठन और उसकी कार्य व्यवस्था के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?

अध्याय २२

देश का विभाजन और उसका बैंकिंग पर प्रभाव

१५ अगस्त १९४७ को देश का विभाजन हो गया। इसके साथ ही गवर्नर जनरल ने उस वर्ष का पाकिस्तान (द्रव्य प्रणाली और रिजर्व बैंक) आर्डर निकाला जिससे पाकिस्तान की करन्सी और बैंकिंग प्रणाली के पृथक चलाने वाली मशीनरी स्थापित होने तक दोनों देशों में एक ही द्रव्य प्रणाली चलाने का आयोजन किया गया। इसमें अन्य बातों के साथ-साथ ३० सितम्बर सन् १९४८ तक के लिए कुछ बातें करेन्सी और मुद्रण सम्बन्धी भी थीं। मुख्यतः रिजर्व बैंक को उक्त तारीख तक पाकिस्तान में भी नोट चलाने का एकाधिकार दिया गया। साथ ही उसे इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वह ३१ मार्च १९४९ के बाद पाकिस्तान के लिए 'पाकिस्तानी सरकार' छपे हुये नोट निकाले।

मार्च १९४९ में बैंक और भारत तथा पाकिस्तान सरकारो के बीच में जो बातें हुई उनसे संयुक्त 'द्रव्य समझौता' ३० जून १९४८ को ही तोड़ देने का निश्चय हुआ। अतः, इसके अनुसार एक नया आदेश निकाल कर बैंक का केवल ३० जून १९४८ तक ही पाकिस्तानी करन्सी चलाने का अधिकार सीमित कर दिया गया।

अप्रैल १९४८ से रिजर्व बैंक ने पाकिस्तान सरकार के छपे हुए नोट पाकिस्तान में चलाना प्रारम्भ कर दिया था। उसी दिन से वहाँ पर एक रुपये के नोट तथा अन्य पाकिस्तानी सिक्के भी चलने लगे थे। ये सब केवल पाकिस्तान ही में विधानतः ग्राह्य थे।

जुलाई १९४८ से स्टेट बैंक आफ पाकिस्तान बन गया। यह सरकार और हिस्सेदारों का मिला जुला बैंक है। इसकी ३ करोड़ रु० की पूँजी में से ५१%

पूँजी तो सरकार की है और शेष हिस्सेदारों की है। इसका प्रबन्ध दस संचालकों के एक संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है, जिनमें से एक गवर्नर कहलाता है, छै सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं और तीन कराची, लाहौर तथा ढाका के स्थानीय मण्डलों की ओर से एक-एक करके आते हैं। इसके भी रिजर्व बैंक-आफ इण्डिया ही की तरह के तीन स्थानीय मण्डल हैं। उसके दफ्तर कराची, लाहौर, ढाका चटगाँव और पेशावर में हैं। कराची और लाहौर में तो रिजर्व बैंक के पहले से ही दफ्तर थे। ढाका में रिजर्व बैंक ने पाकिस्तानी सरकार की प्रार्थना पर अप्रैल १९४८ से एक दफ्तर खोल लिया था। अतः, ये तीनों दफ्तर स्टेट बैंक आफ पाकिस्तान के दफ्तर बन गये। बाद में दो अन्य दफ्तर भी खुले। जुलाई १९४८ से यह बैंक पाकिस्तानी नोट निकाल और अन्य कार्य कर रहा है।

रिजर्व बैङ्क आफ इंडिया ने अप्रैल १९४८ से जून १९४८ तक में ५१-५७ करोड़ रुपयों के पाकिस्तानी नोट निकाले थे। अतः, स्टेट बैङ्क आफ पाकिस्तान की स्थापना पर वह सब नोट उक्त बैङ्क के दायित्व मान लिए गए और रिजर्व बैंक नोट विभाग के इसी मूल्य के पाउने उसे दे दिए गए। दिए जाने वाले पाउनों में ३·३२ करोड़ रुपयो के एक-एक रुपये के पाकिस्तानी नोट और सभी मुद्रायें भी थीं। भारत सरकार के पाकिस्तान में चलने वाले नोट तब से बराबर पाकिस्तान में एकत्र करके रिजर्व बैङ्क को वापस दिये और उनके स्थान पर उससे उसके अन्य पाउने लिए जा रहे हैं।

बैङ्किग विभाग के पाउनो में से भी लगभग १२० करोड़ रुपये के पाउने जो पाकिस्तानी सरकारों और बैङ्कों के उसके पास केवल बैलन्स थे वे स्टेट बैंक आफ पाकिस्तान को हस्तान्तरित कर दिए गये। इसमें अधिकांश स्टर्लिङ्ग के रूप में थे।

पाकिस्तान स्थित बैंकों का नियन्त्रण स्टेट बैंक आफ पाकिस्तान के हाथ में है। उसके भी सदस्य तथा गैरसदस्य बैंक और उनके भी दायित्व तथा अधिकार हैं। यद्यपि वह बैंक भी रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ही की तरह काम करता है तो भी अभी हमारे पास उसके सम्बन्ध की पूरी सूचनायें नहीं हैं।

यहाँ पर देश के विभाजन के उपरान्त पंजाब और दिल्ली में जो हिन्दू-

मुस्लिम दंगे हुए उनसे बैंकों की जो हानि हुई उसका भी संकेत कर देना आवश्यक मालूम पड़ता है। बैंकों ने विभाजन के पहले ही पंजाब, इत्यादि से प्रायः अपने बहुत से पाउने हटा दिए थे। वहाँ पर उन्होंने अपनी लागतें भी कम लगा रक्खी थीं। जिनके प्रधान दफ्तर वहाँ थे उन्होंने उन्हें दिल्ली हटा लिया था। किन्तु तो भी दंगों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। लोगों की सम्पत्ति लुट गई। लाखों व्यक्ति भारत से पाकिस्तान और पाकिस्तान से भारत चले आये। उनकी अधिकांश संपत्ति वहीं रह गई। जिनकी बैंकों में जमा थी उन्होंने तो वह दूसरे राज्य में भी जाकर माँगी किन्तु जिनके ऊपर कर्ज था उनका पता ही नहीं लगा। कर्जदारों की संपत्ति लुट गई थी। ऐसी स्थिति में सचमुच बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो गई। किन्तु बैंकों को मदद दी गई। जमा लौटालने के सम्बन्ध में उन्हें समय दिया गया। उन्हें ऋण भी दिया गया। फिर, शरणार्थियों की संपत्ति के सम्बन्ध में दोनों सरकारों के बीच में समझौते भी हो रहे हैं। जो हो, स्थिति का बहुत अच्छे ढङ्ग से मुकाबला किया गया।

भविष्य में भारत और पाकिस्तान के बीच में आर्थिक सहयोग आवश्यक होगा। दोनों में बैंकिंग की एक ही सी स्थिति है वरन् पाकिस्तान को भारतीय बैंकों का सहारा और उनसे सबक लेना पड़ेगा।

प्रश्न

१—देश के विभाजन से कौन-कौन सी बैंकिंग समस्यायें उठ खड़ी हुईं और उनका किस प्रकार निराकरण किया गया?

अध्याय २३

दोष और भविष्य

पिछले अध्यायों में भारतीय बैंकिङ्ग के क्रमिक विकास का दिग्दर्शन कराया गया है। अब, इस अध्याय में हम उसके दोष और भविष्य का अध्ययन करेंगे।

एक अच्छे सङ्गठित द्रव्य बाजार की कमी—भारतवर्ष के द्रव्य बाजार में निम्न संस्थायें हैं :—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया, सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंक, विनिमय विदेशी बैंक, साख सम्बन्धी सहकारी संस्थायें, भूमि-बन्धक बैंक, ऋण दफ्तर, निधि, चिट फन्ड और ऋणदाताओं से लेकर अनेक प्रकार के देशी महाजन जिन्हें बैंकर्स भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ दिनों पहले तक सरकार भी काफी भाग लेती थी। निस्सन्देह उसकी नीति तो अब रिजर्व बैंक के हाथ में है, किन्तु आज भी उसके डाक घर हैं जो बैंकिङ्ग का काफी काम करते हैं। वह बचत और लागत के लिए जो कुछ करते हैं, उसका अध्ययन तो हम कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त वे द्रव्य इधर से उधर भेजने की और वी० पी० से इसकी वसूली करने की सुविधा भी देते हैं।

रिजर्व बैंक की स्थापना के पहले इन सब के बीच में किसी प्रकार की साम्यता नहीं थी। उन्हें एक नेता की भी आवश्यकता थी। रिजर्व बैंक की संस्थापना से यह कठिनाइयाँ तो कुछ अंशों तक दूर हो गई हैं। उसका आधुनिक बैंकों पर पूर्ण नियन्त्रण है। इधर युद्ध काल में और विशेषतः १६४६ के बैंकिंग विधान के पास हो जाने के बाद से तो यह बहुत ही दृढ़ हो गया है। किंतु इसके अतिरिक्त ऋण दफ्तर, चिट फंड, निधि और ऋणदाताओं सहित बहुत से देशी महाजन हैं जिनके ऊपर इसका बिल्कुल भी नियन्त्रण नहीं है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का भारतीय बाजार दो सङ्गठन मिला कर बना है—एक आधुनिक बैंकों का और दूसरा देशी महाजनों का, और इनमें से आधुनिक बैंकों का सङ्गठन रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में है किंतु देशी महाजन बिल्कुल स्वतंत्रता पूर्वक काम करते हैं। जहाँ तक इनकी पारस्परिक साम्यता का प्रश्न है, वह भी आदर्शरूप में नहीं है।

यह दोष दूर करने के लिए पहले ही कुछ सुझाव रक्खे जा चुके हैं। इसमें देशी महाजनों को रिजर्व बैंक से सम्बन्धित करना और भिन्न-भिन्न वर्गों में साम्यता उत्पन्न करना सम्मिलित है।

बिल बाजार न होना

यहाँ के द्रव्य बाजार का एक अन्य दोष बिल बाजार न होना है। इसके निम्न कारण हैं।

(१) भारतवर्ष के बैंक सरकारी साखपत्रों में लागत लगाना अधिक पसन्द करते हैं। रिजर्व बैंक की संस्थापना के पहले उन्हें यह विश्वास ही नहीं था कि इम्पीरियल बैंक उनकी हुण्डियाँ डिस्काउण्ट कर देगा। उसने उनका कोई स्तर तो नहीं रक्खा था और किसी भी हुन्डी को स्तर के अनुसार नहीं है, कह करके डिस्काउण्ट करने से इनकार कर देता था। फिर, बैंक स्वयं भी उससे हुंडियाँ डिस्काउण्ट कराने के स्थान पर सरकारी साख-पत्रों के अधिकार पर ऋण लेना अधिक पसन्द करते थे क्योंकि हुंडियों के भुनाने में उन्हें इस बात का डर रहता था कि इम्पीरियल बैंक उनके ग्राहकों का नाम जान जाने के बाद उनके प्रतिद्वंद्वी होने के नाते कहीं लाभ न उठा ले। इसके अतिरिक्त यदि इम्पीरियल बैंक सरकारी साख पत्रों के आधार पर ऋण देना मना कर देता था अथवा वही इसके लिये इम्पीरियल बैंक के पास नहीं जाना चाहते थे तो इन्हें बाजार में बेचा जा सकता था। हाँ, रिजर्व बैङ्क की संस्थापना से अब यह सब कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं, किंतु पुरानी प्रथा तो चल ही रही है।

सरकारी साख-पत्रों की लोकप्रियता का एक अन्य कारण उनके द्वारा काफी ऊँची आय मिलना भी था। किंतु अब ऐसा नहीं है।

(२) माल के अधिकार पत्र चालू न होने के कारण यहाँ पर व्यापारिक बिलो और सहायक बिलों के बीच में भेद करना असम्भव सा हो जाता है। इसके लिये गोदाम होने चाहिये और गोदामो की रसीदें हस्तान्तरित करके माल की बिक्री होनी चाहिये जिससे उनके सम्बन्ध के जो बिल हो उनके सुबूत के लिये यही गोदामों की रसीदें रहें। ऐसा करने से व्यापारिक बिलो और सहायता के लिये किये गये बिलों में भेद किया जा सकेगा।

(३) नकद साख की प्रणाली चालू होने से भी बिलों की कमी रहती है। ऋण का यह रूप भी बैंक और ऋण लेने वालों दोनो की दृष्टि में अच्छा है। किंतु बिलों के और अधिक लाभ हैं, अतः, उन्हें नकद साख की अपेक्षा अधिक उपयोग में लाना चाहिये।

(४) पहले यह बिल इसलिये भी पसन्द नहीं किये जाते थे कि इन पर स्टाम्प ड्यूटी बहुत लगती थी, किन्तु इधर तो यह दोष दूर कर दिया गया है।

(५) बिल तो विदेशी हैं। अतः, उनमें विदेशी भाषा का प्रयोग होने के

कारण वह यहाँ पर अधिक लोकप्रिय हो ही नहीं सकते। हमारे यहाँ विदेशी भाषा जानने वाले लोग तो बहुत कम हैं। किन्तु हुण्डी तो यहाँ पर बहुत दिनों से चालू है। हाँ, इसकी इबारत इतनी कठिन है कि उसे याद रखना कुछ मुश्किल अवश्य है। उसे कुछ सादी बना देना चाहिये। फिर, इनके सम्बन्ध में अच्छा अधिकार देने वाले पुर्जों का विधान अवश्य लागू है, किन्तु स्थानीय चलन का भी अधिक महत्व है। अतः, उनके भिन्न-भिन्न स्थानो में भिन्न-भिन्न होने के कारण उन सबका एकीकरण हो जाना आवश्यक है।

(६) देशी व्यापार के कारण जो बिल उत्पन्न होते हैं वे प्रायः स्टर्लिङ्ग में होते हैं। यदि वह यहाँ की करंसी में हों तो यहाँ पर एक बिल बाजार बन जाय।

(७) यहाँ पर इंगलिस्तान की तरह पर बिलों पर स्वीकृति देने वाली कोठियाँ नहीं हैं। बैंक भी अपने ग्राहकों की ओर से बिल नहीं स्वीकार करते। यदि वह व्यवसाय बढ़ाया जाय तो भी यहाँ पर बिल बाजार अवश्य बन जाय।

(८) अन्य देशों में कृषि सम्बन्धी बिलों का भी प्रयोग होता है। इन्हें सम्भावित बिल (Anticipatory Bills) कहते हैं, और यह अमेरिका में बहुत प्रयोग में लाये जाते हैं। अतः, यह यहाँ भी प्रयोग में आ सकते हैं। सहकारी गोदाम समितियाँ भी स्थापित की जा सकती हैं, जो कृषकों को उनका सदस्य होने पर उपज के ऊपर ऋण दे सकती हैं। इसके लिये वे समितियाँ उन पर (कृषकों पर) बिल कर सकती हैं। फिर, ये समितियाँ उन्हें जिले की सहकारी संस्था से और वे उन्हें सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों से अथवा रिजर्व बैंक से भुना सकती हैं। जिस तरह से सहकारी समितियाँ बिलों का प्रयोग कर सकती हैं, उसी तरह से ऋण देने वाले महाजन भी उनका प्रयोग कर सकते है।

बिल बाजार की स्थापना के लिये रिजर्व बैङ्क द्वारा दी गई सुविधायें :—इधर रिजर्व बैंक ने बिल बाजार की स्थापना के लिए कुछ ठोस कदम उठाये हैं जो निम्नांकित हैं :—

(१) यह अनुज्ञापत्र प्राप्त बैंकों को यदि उनकी जमा कम से कम पाँच

करोड़ रुपया है बिलों और प्रतिज्ञा पत्रों के आधार पर ऋण देता है। ऋणों की वापसी शीघ्र ही अथवा ९० दिन की अवधि पर हो सकती है।

(२) यह ऋण बैंक दर से ½ प्रतिशत कम दर पर दिया जाता है।

(३) पहले तो इन पर के मुद्रांक कर का आधा और अब एक आना प्रति हजार से अधिक जो कर रिजर्व बैंक सहन करता है।

इसके अन्तर्गत लिये ऋण धीरे-धीरे लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

करन्सी की इकाई पर अविश्वास

भारतीयों का अपनी करन्सी की इकाई पर विश्वास नहीं है। जहाँ तक हो सकता है वह अपनी बचत सोने, चाँदी तथा भूमि की संपत्ति में रखते हैं। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो उनका यह अनुभव है कि यहाँ की करन्सी का मूल्य मनमाना कर दिया जाता है। देश के अन्दर तो वह परिवर्तित हो ही नहीं सकती और इसका मूल्य दिन पर दिन गिरता ही जाता है। फिर, यहाँ के भूमिपति बड़ी मान-मर्यादा की दृष्टि से देखे जाते थे। इनका बड़ा प्रभाव है। हमारी स्त्रियों को भी गहनों का बड़ा शौक है। इसका एक आर्थिक कारण भी है। हमारे यहाँ विधवाओं को केवल उनका स्त्री धन छोड़कर जिसमें केवल उनका गहना ही रहता है और किसी धन पर अधिकार नहीं है। बैंक बैलन्स और सब साख-पत्र मर्दों में ही होते हैं, स्त्रियों को उनका उत्तराधिकार नहीं मिलता।

किन्तु अब स्थिति बदल रही है। जमींदारी प्रथा नष्ट हो रही है। स्त्रियों को भी उत्तराधिकार दिया जाने वाला है। अतः, स्थिति सुधरने की आशा है।

बैंकों पर अविश्वास

बैंकों पर अविश्वास स्थाई और अस्थाई दोनों हो सकता है। पश्चिमीय देशों में भी अविश्वास है, किन्तु वह केवल संकटकाल के ही समय रहता है। भारतवर्ष में वह स्थाई भी है और ऐसे समय में भी हो जाता है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि संकटकाल के लिये जो रक्षा के उपाय किये जाते हैं उनसे दैनिक रक्षा और दैनिक रक्षा के लिये जो उपाय किये जाते हैं, उनसे संकटकाल के समय की रक्षा होती है। किन्तु सुविधा के विचार से इनका अध्ययन अलग-अलग ही किया जाना चाहिये।

स्थाई अविश्वास

एक तो बैंकों के लगातार फेल होने से उत्पन्न हो जाता है। कोई भी ऐसा वर्ष नहीं होता जब कुछ बैंक फेल न होते हों, किन्तु इनका यहाँ पर उतना अधिक महत्व नहीं है जितना उन देशों में है जहाँ की बैंकिंग प्रणाली बहुत उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी है, अथवा बैंकिंग अथवा कम्पनी विधान अधिक सख्त हैं। सन् १९३६ के भारतीय कम्पनी विधान के संशोधन के पहले बैंक शब्द के कोई ऐसी परिभाषा नहीं थी कि वह केवल अच्छी संस्थाओं के नाम के साथ ही लग सकता। अतः, बहुत सी संदेहयुक्त संस्थायें भी बैंक कही जाती थीं और उनके फेल होने से बैंक का फेल होना समझा जाता था। तब से बैंक की परिभाषा बन गई है और उसकी पूँजी कम से कम पचास हजार रुपया होनी चाहिये इसके अतिरिक्त उनका इतना ही सुरक्षित कोष भी होना चाहिये। किन्तु पुराने बैंक वैसे ही चल रहे हैं।

अब हम देखेंगे कि प्रायः बैंक क्यों फेल हुये।

(१) एक तो बैंक प्रायः कानून ढीले होने के कारण, जनता की अज्ञानता के कारण और बुरे तथा बेईमान प्रबन्धकों के कारण फेल हुये हैं। इसके जो बैंक शिकार हुये हैं उनमें पूना बैंक, पूना; अमृतसर नेशनल बैंक, अमृतसर; हिन्दुस्तान बैंक, मुलतान; शिवराम अय्यर बैंक, मद्रास; पायनियर बैंक, बम्बई और क्रेडिट बैंक आफ इंडिया जो क्रमशः १९२४, १९२३, १९१४, १९३२, १९१६ और १९१३ में फेल हुये, ये विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं। क्रेडिट बैंक आफ इण्डिया के व्यवस्थापक ने अपनी नियुक्ति के समय संचालकों से अपनी बैंकिंग और एकाउन्टेन्सी की अनभिज्ञता दिखलाते हुये एक मजबूत कमेटी बनाने की माँग रक्खी थी। बैंक फेल होने तक भी जैसा कि उसने स्वयं कहा था, उसने कुछ भी नहीं सीखा था।

यह कमी कानूनन दूर की जा सकती थी जिसकी आवश्यकता यहाँ पर सन् १९१३-१४ के संकटकाल के समय से ही प्रतीत होने लगी थी। किन्तु वह केवल १९३६ में ही अंशतः और १९४९ में पूर्णतः पूरी हो सकी। नये विधान में विशेषतः इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि जनता बैंकों के अज्ञान तथा

बेईमान संस्थापकों से बच सके। यदि संचालक अथवा व्यवस्थापक और आडीटर गलत बात कहते हैं तो कई परिस्थितियों में वह जुर्म करते हैं। फिर, इनके ऊपर द्रव्य के गलत उपयोग का, गलत तरीके पर रोक रखने का और अमानत में खयानत करने का जिसमें कोई काम करके अथवा न करके कर्त्तव्य विमूढ़ होने का अपराध भी सम्मिलित है, अपराध लग सकता है। गलत हिसाब रखने पर भी सजा देने का नियम रक्खा गया है।

(२) दूसरे, बहुत से बैंक इसलिये भी फेल हुये हैं कि उन्होंने बैंकिङ्ग के कोष से उद्योग-धन्धों को भी आर्थिक सहायता दी थी। इनमें से लाहौर के पिउपिल बैंक और अमृतसर बैंक और टाटा इन्डस्ट्रियल बैंक के नाम जो क्रमशः सन् १९१३, १९१४ और १९२३ में फेल हुये थे, विशेष उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः भारतवर्ष में लोग जर्मनी और जापान के तरीके पर सम्मिलित बैंकों के पक्ष में हैं, किन्तु यहाँ पर यह इसलिये सम्भव नहीं है कि यहाँ की बैंकिङ्ग की प्रणाली अँग्रेजी बैंकिङ्ग प्रणाली के सदृश्य विकसित हुई है और उसकी यह विशेषता है कि व्यापारिक बैंकिङ्ग और औद्योगिक बैंकिङ्ग अलग-अलग ही रहें। हाँ, कुछ बड़े बैंक विशेष आज्ञा से यह काम करें, तो कोई हर्ज नहीं है।

(३) तीसरे, बहुत से बैंक इस कारण भी फेल हुये हैं कि उनके अफसरों ने सट्टेबाजी में भाग लिया था। ऊपर के कुछ बैंक इसलिये भी फेल हुये थे, किन्तु इंडियस स्पेशी बैंक के सन् १९१४ में फेल होने का यही एक कारण था। बैंक के प्रारम्भ से ही इस बात की खबर थी कि बैंक सट्टेबाजी में फँसा हुआ था, किन्तु यह कहा जाता था कि यह गलत है और छिपाया जाता था। श्रीचुन्नीलाल सरैय्या जो बैंक के व्यवस्था संचालक थे और जिनका नाम इससे सम्बन्धित था, बहुत ही चतुर व्यक्ति थे। वह ऊपरी सजावट में होशियार थे और वर्ष के अन्त में अच्छी बैलन्स शीट दिखला देते थे। किन्तु अन्त में एक साधारण हिस्सेदार ने जिससे इनकी वैयक्तिक शत्रुता कही जाती थी, इसके भंग करने की प्रार्थना हाईकोर्ट में दी। पहले तो हिस्सेदारों और संचालकों ने इसका विरोध किया और सब ठीक मालूम पड़ने लगा, किन्तु फिर श्री चुन्नीलाल का यकायक हृदय की गति रुक जाने से देहान्त हो गया और संचालकों ने स्वेच्छा से बैंक की

प्रतिक्रिया करने के लिए प्रार्थना-पत्र भेज दिया, बाद की जाँच से आरोप ठीक ही निकला।

(४) चौथे और अन्तिम, प्रायः बैङ्क इस कारण भी फेल हुये हैं कि जनता का मत किसी न किसी समय उनके विरुद्ध हो गया। उन्हें तो अभाग्य का शिकार ही समझना चाहिये। इनमें से एक तो मेरठ का बैङ्क आफ अपर इंडिया था जिसकी रजिस्ट्री सन् १८६३ में हुई थी। यह सन् १९१४ तक बराबर उन्नति दिखलाता रहा, किन्तु उस वर्ष यकायक फेल हो गया। इसके जमा करने वालो और हिस्सेदारों दोनों को पूरा रुपया मिला। दूसरा, शिमला का अलायंस बैङ्क था। सन् १८७४ में संस्थापित होकर यह सन् १९२३ तक काम करता रहा, किन्तु उस वर्ष फेल हो गया। इसे तो इस कारणवश बुरे दिन देखने पड़े कि बोल्टन ब्रदर्स ने जो इसके लन्दन के अढ़तिया थे, इसके १५० लाख रुपये जो उनके ऊपर चाहिये थे, नहीं दिये। इसके एक दूसरे ऋणी अर्थात् पंजाब ट्रस्ट आफ इंडिया की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। बैङ्क संचालकों ने अपनी सन् १९२२ की रिपोर्ट में यह बात साफ कह दी थी। अस्तु बोल्टन ब्रदर्स वाली खबर फैलते ही जमा निकलनी प्रारम्भ हो गई और बैङ्क फेल हो गया। इस सम्बन्ध में ट्रावनकोर नेशनल क्विलन बैङ्क का भी फेल होना उल्लेखनीय है। इसने सन् १९३८ में भुगतान देना बन्द कर दिया। भुगतान के समय इसकी स्थिति वैसी ही थी, जैसी उस समय थी जब दो वर्ष पहले त्रावनकोर नेशनल बैङ्क और क्विलन बैङ्क दोनों एक हुए थे। इन दोनों बैंकों का पहले का इतिहास बहुत ही उज्ज्वल था। फिर, रिजर्व बैंक की संस्थापना के बाद इसका इस प्रकार फेल होना कुछ ठीक नहीं था और विशेषतः इसलिये कि यह उसका एक सदस्य बैंक था। रिजर्व बैंक ने इसकी सहायता क्यों नहीं की, यह तो पहले ही बताया जा चुका है। फिर, ज्वाला बैंक फेल हुआ। इसे सरकार ने जमा प्राप्त करने की मनाही कर दी थी। अतः, जनता का इस पर से विश्वास उठ गया और वह जमा निकालने लगी और बैंक फेल हो गया। किन्तु अब तो रिजर्व बैङ्क प्रायः बैङ्कों की सहायता करता है। १९४६ के बंगाल के और फिर १९४७ के पंजाब के संकट के समय इसने बहुत से बैंक फेल होने से बचाये।

बैंकों के प्रति स्थाई अविश्वास होने का दूसरा कारण है एक अच्छा बैंकिङ्ग

विधान न होना। अच्छे बैंकिंग विधान से जनता का कई प्रकार से विश्वास बढ़ जाता है। प्रथम तो इनके कारण अच्छी व्यवस्था रहती है और शक्ति के साथ-साथ उसके दुरुपयोग की कम सम्भावना होती है। इस सम्बन्ध में सन् १९३६ का कम्पनी विधान और १९४९ का बैंकिङ्ग विधान पास करके जो कुछ भी किया गया है, उसका उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। दूसरे, इससे हिसाब की ठीक विज्ञप्ति भी हो जाती है। भारतीय कम्पनी विधान में बैलन्स शीट का एक रूप दिया हुआ है, जिसके अनुसार सब कम्पनियों को अपनी बैलन्स शीट बनानी पड़ती है। हाँ, बैंकों को कुछ विशेष बातें दिखानी पड़ती हैं। किन्तु यह असंतोषजनक ही है। उनके लिए तो बैलन्स शीट का एक पृथक् रूप ही होना चाहिये। ऊपर जिन विधानो का उल्लेख किया गया है, उन्होंने भी ऐसा न किया। हाँ, पुरानी बैलन्स-शीट में कुछ सुधार अवश्य कर दिये। जब बैलन्स शीट में कुछ सूचनाये नहीं रहतीं तो उसके कई प्रभाव पड़ते हैं। प्रथम तो जो बैंक अच्छे है उनकी अच्छी स्थिति का पता नही लगता। दूसरे, बुरे बैंको के सम्बन्ध में अनभिज्ञ जनता को कुछ नही मालूम हो पाता। तीसरे, उपयुक्त अंक नहीं प्राप्त हो पाते। चौथे और अन्तिम यह है कि अन्तिम लेखों के सम्बन्ध में कोई सदृश्यता न होने से तुलना करने में कठिनाई पड़ती है। उपर्युक्त के अलावा बैंकिङ्ग के कानून का यह ध्येय होता है कि इन्हें जब कठिनाइयाँ पड़े तब उन्हें वह दूर कर दें। वे जमा करने वाले की रक्षा करते हैं और यह कई प्रकार से हो सकती है। ऐसा इसलिए ही नहीं किया जाता कि इन लोगों की रक्षा का अधिकार अन्य व्यापारियो के लेनदारो की रक्षा के अधिकार से अधिक है, बल्कि इसलिए कि किसी बैंक के फेल होने से अन्य व्यापारियों पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।

संकट के समय उत्पन्न अविश्वास को दूर करने के लिये सुझाव-संकट के समय जो अविश्वास पैदा हो जाता है, उसे दूर करने के लिये बहुत से सुझाव रक्खे जा चुके हैं। प्रथम तो सरकार को उस समय बैंको की सहायता करनी चाहिये। किन्तु भारत सरकार इस सम्बन्ध में बराबर हिचकिचाती रहती थी। इसका मुख्य कारण यही था कि वह विदेशी थी। सन् १९१३-१४ के बैंकिंग के संकटकाल में यद्यपि जनता बहुत कुछ कहती रही, किन्तु इसने कुछ भी

न किया। हाँ, उस समय वाइसराय ने यह अवश्य कहा था कि यदि कुछ करने की आवश्यकता पड़ी तो वह कुछ ही बैङ्कों के सम्बन्ध में की जायगी और उसी समय के लिए होगी। सन् १९२३ में जब अलायन्स बैङ्क ने भुगतान करना बन्द कर दिया तब उसने इम्पीरियल बैंक को इस बात का आदेश दिया कि वह उसका काम अपने हाथ में ले ले और उसके चालू खातों पर अचल खातों पर ५० प्रतिशत फौरन दे दे और इस तरह से उसके एक प्रधान कर्मचारी ने जो दस वर्ष पूर्व कहा था, उसे पूरा किया। जिन कारणों से यह किया गया था, वह भी बड़े मार्के के थे। पहिले तो अर्थ सचिव ने यह कहा था कि यह इसलिए किया गया था कि अँग्रेजी और भारतीय द्रव्य बाजारों में उस समय जो अच्छी स्थिति थी वह वैसी ही बनी रहे, जिससे सरकार को ऋण लेने में सुविधा रहे और साथ ही उसके अच्छे बजट के कारण जो अच्छा प्रभाव पड़ा था वह भी बना रहे। किन्तु बैङ्क के चालू और स्थायी खातों की जमा केवल ७ करोड़ रु० थी। अतः, इतने का हित बचाकर उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति करने की बात बड़ी विचित्र थी। अतः, यह बात समझ कर फिर उन्होंने यह कहा कि यह इसलिए किया गया था कि यह भारतीय अर्थ और बैंकिंग के हित के लिए बहुत ही आवश्यक था और इससे अन्य अच्छे बैंकों को जो असुविधा होती, वह रुक गई। अतः, इस तरह से अनजाने में उन्होंने सरकार की जिम्मेदारी बढ़ा दी। किन्तु यहाँ के लोगों ने दूसरी ही बात सोची। उनका यह ध्यान था कि यह अलायन्स बैंक के अधिकांश ग्राहकों के अंग्रेज होने के कारण उनके हित की रक्षा के लिए किया जा रहा था। इस बात की परीक्षा का समय सन् १९३८ में त्रावनकोर बैंक के फेल होने के समय आया, किन्तु उस सम्बन्ध में उसने कुछ नहीं किया। हाँ, यह कहा जा सकता है, उस समय तक स्थिति बहुत कुछ बदल गई थी। प्रान्तीय सरकारो के अधिकार बढ़ाये जा चुके थे। अतः, इस सम्बन्ध की जिम्मेदारी उनकी हो गई थी। इस सम्बन्ध में मद्रास सरकार ने जो कुछ किया वह प्रशंसनीय था। त्रावनकोर बैंक की अधिकांश शाखायें उसी प्रान्त में थीं। अतः, जो कुछ किया गया, वह स्वाभाविक ही था। जब बैंक के ऊपर संकट आया तभी मद्रास सरकार ने रिजर्व बैंक से सम्मति ली और इससे जाँच कराने के लिए कहा गया। किन्तु वह समय जाँच का नहीं था। फिर, प्रधान

मंत्री ने जनता से शान्ति रहने की अपील की और कहा कि वह अफवाहों में विश्वास न करे। उन्होंने यह भी घोषित किया कि अन्य बैंकों की भी जाँच की जायगी और कोई गड़बड़ी नहीं होगी। इसके दो महीने बाद उन्होंने यह विज्ञप्ति निकाली कि वहाँ के सदस्य बैंक की स्थिति बहुत अच्छी है और जिन लोगों ने रिजर्व बैंक से सहायता ली थी, उन्होंने भी उसे वापिस कर दिया है और यदि आवश्यकता पड़ेगी तो रिजर्व बैंक फिर उसकी सहायता करेगा। यह सचमुच बड़े मार्के की बात थी। किन्तु जब कोई ऐसा बैंक है कि जिसकी शाखायें सारे भारतवर्ष में फैली हुई हैं तब तो केन्द्रीय सरकार को उठना पड़ेगा। सन् १९४६ में बंगाल में और १९४७ में पंजाब में जब बैंकों के ऊपर संकट पड़ा तब इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक और भारत सरकार ने जो कुछ किया, वह भविष्य के लिए आशा उत्पन्न करता है।

दूसरे केन्द्रीय बैंक भी बहुत कुछ स्थिति सुधार सकता है। अब वह कहाँ तक ऐसा कर सकता है, इसके विषय में भी पहले ही बताया जा चुका है। पहले हमारे देश में कोई कन्द्रीय बैंक नहीं था। किन्तु यह कमी रिजर्व बैंक की संस्थापन से दूर हो गई है। हाँ, जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, इस बैंक ने १९३८ में त्रावनकोर नेशनल एण्ड क्विलन बैंक की कुछ भी सहायता नहीं की। किन्तु १९४७ में पंजाब के संकट काल में इसने जो कुछ किया है उससे हम आशा करते हैं कि भविष्य में यह बराबर बैंकों की मदद करता रहेगा।

तीसरे, पत्रों और जनता की सम्मत्ति का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। सन् १९३१ के संयुक्त राज्य के आर्थिक सङ्कट के समय उन्होंने यहाँ के जमा करने वालों में एक देश प्रेम की लहर पैदा करके उनमें जो शान्त विश्वास पैदा कर दिया था, वह बहुत ही प्रशंसनीय था। किन्तु इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इङ्गलैण्ड के सङ्कट के बाद जब सङ्कट पड़ा तब वहाँ के पत्रों और जनता ने इसके विपरीत किया। भारतवर्ष में भी यही बात होती थी। विलायती और अँग्रेजी पत्र यहाँ के सम्मिलित पूँजी वाले बैङ्कों के विषय में बराबर झूठी अफवाहें उड़ाते रहे हैं। एक समय था जब यह पञ्जाब के मुख्य बैंक संस्थापक लाला हरिकिशनलाल के विरुद्ध ऐसा किया करते थे। फिर जनता

यहाँ आसानी से घबड़ाई जा सकती है। सेन्ट्रल बैंक के शत्रुओं द्वारा उड़ाई अफवाहों के कारण उस पर बराबर आक्रमण होते रहे किन्तु वह उन्हें बराबर सँभालता रहा। किन्तु अब भविष्य में स्थिति सुधारने की आशा की जा सकती है।

अंतिम बात यह है कि बैंक स्वयं इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कर सकते हैं। उन्हें गम्भीर परिस्थिति के कारणों से बराबर अपनी रक्षा का उपाय करते रहना चाहिये और उसका प्रभाव कम कर देना चाहिये। यह वह अपने सम्बन्ध में अधिक प्रकाशन करके कर सकते हैं। वे जमा करने वालों के प्रतिनिधियों को अपने सञ्चालक मंडल में लेकर उनमें विश्वास की मात्रा पैदा कर सकते हैं। चुनाव करने का अधिकार उन्हीं लोगों को दिया जा सकता है, जिनका एक औसतन न्यूनतम बैलन्स रहता है और ऐसे लोगों की सूची दो या तीन वर्षों में दुहराई जा सकती है।

अन्य प्रकार की बैंकिङ्ग की कमी

यहाँ के सम्मिलित पूँजी वाले बैंक केवल बैंकिङ्ग करने के लिए ही संस्थापति किये गये हैं। हाँ, औद्योगिक बैंकिंग का काम करने के लिए भी कुछ बैंक संस्थापित किये गए हैं, किन्तु उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिल पाई है। कृषि के अर्थ की कठिनाइयाँ दूर करने के लिये सहकारिता निकाली गई है किंतु यह सिद्धांत उद्योग-धन्धों के लिए अर्थ देने के लिए नहीं अपनाया गया है। भारतीय बैंकों ने विनिमय व्यवसाय प्रायः बिल्कुल छोड़ रक्खा है। अतः, उनके इसे अपनाने की बहुत आवश्यकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्यापारिक बैंकिंग और कृषि बैंकिंग के व्यवसाय के अतिरिक्त यहाँ पर किसी प्रकार के बैंकिंग के व्यवसाय पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है।

अँग्रेजी प्रणाली की पूरी नकल

हमारी बैंकिंग अँग्रेजी प्रणाली की पूरी नकल है, जिसके फलस्वरूप सादगी का भारतीय आदर्श पूरी तरह से ठुकरा दिया गया है। इसके फल-स्वरूप जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं उनका तो अध्ययन हम कर चुके हैं। यही कारण है कि इस देश में बैंकिंग, गाँवों में नहीं फैल सकी है।

विदेशी भाषा का प्रयोग

यहाँ पर बैंक अँग्रेजी भाषा का प्रयोग करते हैं। हम जानते हैं कि यहाँ के लोग पढ़े लिखे ही नहीं हैं, अँग्रेजी जानने की बात तो दूर रही। अतः, वे उनसे काम नहीं कर पाते। अँग्रेजी भाषा के प्रयोग के कारण अँग्रेजी जानने वाले लोगों की नियुक्ति की आवश्यकता पड़ती है और उनकी संख्या बहुत कम होने के कारण, उनके अभाव में बड़ी कठिनाई पड़ती है।

विदेशियों का प्रभाव

भारतीय बैंकिंग पर विदेशियों का प्रभाव था और उनकी वास्तविक सहानुभूति भारतीयों से नहीं थी। उनका उद्देश्य तो यहाँ लाभ कमाना था और यहाँ के लोगों को चूसना था। ये लोग न तो यहाँ विश्वास ही उत्पन्न कर सके और न यहाँ की समस्याओं को ही सुलझा सके। फिर, यहाँ के लोगों के साथ कोई निकटतम सम्बन्ध भी नहीं स्थापित कर सके। किन्तु अब परिस्थिति बदल रही है।

लोगों की कम आय

यहाँ की बैंकिंग की स्थिति इसलिये भी अच्छी नहीं है कि यहाँ के लोगों की आय बहुत कम है। उसकी धीमी उन्नति का कारण जितनी यहाँ की गरीबी है, उतनी अन्य कोई बात नहीं है। जो लोग आय कर देते हैं उनकी संख्या और आय की औसत, जमा करने वालों की संख्या, और औसत जमा की जाँच करने पर यहाँ के उस क्षेत्र की संकीर्णता का अनुमान किया जा सकता है जिसमें बैंकों को काम करना है। बहुत से सुशिक्षित लोग और उच्चतम समाज में रहने वालों के भी बैंकों में हिसाब केवल इसलिये नहीं हैं कि वह उनमें न्यूनतम बैलंस नहीं रख सकते। किन्तु ऐसा इसलिये किया जाता है कि इससे उन सिद्धान्तों का पालन होता है जिनका पालन होना बैंकिङ्ग की सफलता के विचार से बहुत ही आवश्यक है। बैंक इसीलिये न्यून बैलन्स निश्चित करते हैं कि उनके सदस्यों का एक न्यूनतम स्तर हो और उन्हें इतना लाभ भी हो सके कि वह उन्हें रखने का अपना खर्च पूरा कर लें।

बैंकिङ्ग में शिक्षा की कमी

बैंकिंग के सिद्धान्तों और प्रयोगों की शिक्षा पाये हुये भारतीयों की भी बहुत कमी है। १६ वीं शताब्दी के अन्त तक व्यवसाय तथा बैंकिंग की शिक्षा का तो यहाँ पर पूर्णरूप से अभाव ही था। इधर कुछ वर्षों से अवश्य इसकी व्यवस्था हो गई है किन्तु अभी तक जितनी सुविधायें दी जा चुकी हैं, लोग उनसे भी पूरा लाभ नहीं उठा रहे हैं। इसमें सफलता मिलने के लिये बैंकों और विश्वविद्यालयों में सहयोग की बड़ी आवश्यकता है।

बैङ्कों के संगठन की आवश्यकता

बैंकों का सगठन बहुत ही आवश्यक है। इसके उद्देश्य बैंकिंग के भिन्न-भिन्न वर्गों में अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना, उनकी समस्यायें सुलझाने के लिये उनके एकत्रित होने का प्रबन्ध करना, पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता कम करना, लेक्चरो और पढ़ाई का प्रबन्ध करके बैंक के कर्मचारियों को शिक्षा देना, पुस्तकालय और वाचनालय रखना और पत्रिकायें, इत्यादि निकाल कर बैंकिंग सम्बन्धी साहित्य निकालना है। पश्चिमीय देशो में उन्होंने अपने काम करने के ढङ्ग में बड़ी उन्नति की है और लोगों में सदाचार पैदा कर दिया है। ये आकस्मिक भय दूर करने में बहुत ही सफल होते हैं। अतः, इसलिये भी इनकी इस देश में बहुत ही आवश्यकता थी। अतः, १६४६ में भारतीय तालिकाबद्ध बैङ्कों में भारतीय बैङ्किंग सङ्घ की स्थापना की थी। इसका उद्देश्य उनके अधिकारो की रक्षा करना तथा देश में बैङ्किंग व्यवसाय को प्रोत्साहन देना है।

भविष्य

भारतीय बैङ्कों का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। देश में अब अपनी सरकार है। रिजर्व बैङ्क राष्ट्रीय बैंक है। इम्पीरियल बैंक भी स्टेट बैंक में परिणत हो गया है। रिजर्व बैंक अब देश के हित में काम करता है। उसकी करन्सी और साख नीति इसी ध्येय से चलती है। व्यापारिक बैंक अब उसके ऊपर अधिक निर्भर हैं उनके ऊपर इसका पूरा नियन्त्रण भी है। विदेशी विनिमय बैंक भी अब अपनी मनमानी नहीं कर सकते। उनके ऊपर भी रिजर्व बैङ्क का नियंत्रण है। देश के बैङ्क विनिमय बैंकिङ्ग में अधिकाधिक माँग रहे हैं एक केन्द्रीय औद्योगिक कारपोरेशन संग[illegible] है। फिर इस काम के लिये अन्य बैंक भी खुल सकते हैं।

रिजर्व बैङ्क की संस्थापना का एक ध्येय यहाँ के देशी महाजनों की स्थिति सुधारना और कृषि की आर्थिक सहायता करना भी था। यह उसने नहीं किया। किंतु अब स्टेट बैङ्क की स्थापना से यह समस्या भी हल हो जायगी। देश में एक बिल बाजार का विकास करके महाजनों को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। इसके लिये बड़े-बड़े गोदाम खुलने चाहिये। अब हमारे विदेशी बिल भी रुपयों में ही लिखे जायेंगे। अतः, इधर बड़ी उन्नति की सम्भावना है।

यहाँ पर एक प्रश्न बहुत महत्व का है और वह बैंकिंग व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण का है। समाजवादी तो इसके पूर्ण रूप से पक्ष में हैं। उनका कथन है कि बैङ्क कई गुना साख पैदा करके उससे लाभ कमाते हैं। अतः, यह काम राज्य को करना चाहिये। फिर, रक्षा के ध्येय से भी यह बहुत ही आवश्यक है। किंतु हमारी सरकार के सामने अभी बहुत से अन्य काम भी हैं। उसकी मशीनरी अभी पुरानी ही है। अतः इसके लिये हम फिलहाल ठहर सकते हैं। बैङ्कों का नियन्त्रण तो अब उसके हाथ में है ही। अतः, वह इनका राष्ट्रीयकरण किये बिना भी इन्हें जैसे चाहें वैसे चला सकती है। कुछ समय बाद तो यह होगा ही, किंतु इसमें बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं और यह आवश्यक भी नहीं है।

राष्ट्रीयकरण के स्थान पर आवश्यकता इस बात की है कि छोटे-छोटे बैङ्क परस्पर मिल कर और बड़े बैंकों में सम्मिलित हो कर देश का बैंकिंग संगठन सुदृढ़ बनायें।

प्रश्न

(१) भारतवर्ष की बैंकिंग की प्रणाली में कौन-कौन से दोष हैं? इन्हें दूर करने के उपाय बतलाइये।

(२) भारतवर्ष में बिल क्यों नहीं चालू है, अधिक चालू बनाने के लिये कौन से उपाय हैं?

(३) इस देश में बैङ्क फेल होने के कौन-कौन से कारण हैं? क्या इधर कुछ हालत सुधर गई है?

(४) देश की बैङ्किंग की प्रणाली में जनता को विश्वास उत्पन्न करने के लिये कौन-कौन से उपाय हैं? क्या इधर इस सम्बन्ध में कुछ [illegible] गया है?